आनन्दवर्धन

आचार्य आनन्दवर्धन के काव्यशास्त्रीय सिद्धान्त क्रम

पुनर्निर्धारण चिन्तन

लेखक

डॉ० रेवाप्रसाद द्विवेदी

साहित्यशास्त्राचार्य, एम्० ए०, पीएच्० डी०

अध्यक्ष

साहित्य विभाग

प्राच्य विद्या धर्म विज्ञान सकाय

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

प्रकाशक

मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी

भोपाल

प्रस्तावना

भारतीय काव्य-शास्त्र-चिन्तन की यात्रा में ध्वनि-सिद्धान्त मध्यवर्ती पड़ाव है, ठीक उसी तरह जैसे कौशाम्बी से भृगुकच्छ तक की यात्रा में उज्जयिनी। काव्य-शास्त्र में ध्वनि-सिद्धान्त का वही स्थान है, जो दर्शन के क्षेत्र में शांकर-अद्वैतवाद का। इससे पूर्व का काव्य-शास्त्रीय चिन्तन जैसे आनन्दवर्द्धन के अवतार की पूर्व-पीठिका थी और उसके बाद का चिन्तन उसी का प्रशस्ति-गान था या उस प्रशस्ति-गान में इसके स्वरूप को बाँधने के लिए चतुष्पाद छन्द को पंचपाद बनाने का उपक्रम।

पर्याप्त निर्मिति के एकत्र हो जाने पर उसके विषय में चिन्तन प्रारम्भ होता है। उसकी उत्पत्ति के कारण, प्रक्रिया और उपयोगिता पर विचार प्रारम्भ होता है। काव्य-शास्त्र के विषय में भी ऐसा ही हुआ। रामायण-महाभारत के अतिरिक्त जब और बहुत से काव्यों एवं नाटकों का निर्माण हो गया तो उनके वैज्ञानिक विवेचन की आवश्यकता का अनुभव किया गया। सम्भवत, काव्य से पहले नाटक लोकप्रिय हुए। इनका प्रचार सामान्य जनों में काव्यों की अपेक्षा अधिक हुआ। यह चिन्तन भी लम्बे समय तक चल चुका होगा जब इसे नाट्य-शास्त्र में अनुबिद्ध किया गया। नाट्य और काव्य दोनों के एक ही वृन्त में विकसित होने के कारण नाट्य-शास्त्र की बहुत सी बातें काव्य पर भी समान रूप से घटित हुईं। स्वतन्त्र रूप में काव्य-विषयक चिन्तन पाँचवीं ईस्वी शताब्दी से आरम्भ हुआ जान पड़ता है। सम्भव है, इससे पहले भी कुछ कार्य हुआ हो, किन्तु उसका कोई निश्चित प्रमाण हमारे सम्मुख नहीं है। यों भी चिन्तन की शैली से ऐसा लगता है कि इससे पूर्व काव्य के सम्बन्ध में शास्त्रीय ढंग से विचा-

रणा का अनुभव सम्भवतः विद्वानों ने यहीं किया। किन्तु जब यह प्रक्रिया प्रारम्भ हुई तो एक के बाद एक आचार्य सामने आये और १६वीं शताब्दी के अन्त तक यह क्रम चलता रहा। प्रत्यक्ष सौन्दर्य पर टिका हुआ चिन्तन धीरे-धीरे अमूर्त्त अप्रत्यक्ष की ओर बढ़ा और ध्वनि पर जाकर ठहरा। आनन्दवर्द्धन इस अनाहत नाद के प्रथम श्रोता थे। अनेक विरोधों के बावजूद आनन्दवर्द्धन का सिद्धान्त विद्वज्जनों में मान्य हो गया और जिन विद्वानों ने उसका विरोध किया, वे भी प्रकारान्तर से आनन्दवर्द्धन की पुष्टि ही करते गये और सामान्य पाठक को ऐसा लगने लगा जैसे सारा विवाद शब्दों पर ही टिका हुआ हो। एक बार सिद्धान्त रूप में प्रतिष्ठित हो जाने पर ध्वनि का प्रतिपादन काव्य-शास्त्र का अंग बन गया और हजार वर्ष बीत जाने के बाद आज भी आधुनिक भारतीय साहित्य-शास्त्र में इसी की गरिमा प्रतिष्ठित है।

आनन्दवर्द्धन का चिन्तन सूक्ष्म है। अभिनवगुप्त जैसे अनुयायियों ने उसे और भी सूक्ष्म बना दिया है। यहाँ तक कि जहाँ अभिनवगुप्त, आनन्दवर्द्धन से मतभेद प्रदर्शित करते हैं, वहाँ वह सामान्य पाठक की पकड़ में नहीं आता। परवर्ती आचार्यों ने आनन्दवर्द्धन का नेतृत्व स्वीकार करके भी जहाँ-तहाँ छोटा-मोटा अन्तर प्रदर्शित किया अवश्य, किन्तु उसे प्रायः विद्वानों ने गम्भीरतापूर्वक ग्रहण नहीं किया और इसीलिए छोटे मतभेदों की चिन्ता किये बिना आनन्दवर्द्धन और उनके अनुयायियों का एक पृथक् समाज बन गया।

आनन्दवर्द्धन का अध्ययन आज भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है, जितना वह १६वी शताब्दी तक था। आधुनिक काव्य को समझने के लिये ध्वनि-सिद्धान्त को गम्भीरतापूर्वक समझना आवश्यक है। बँगला और हिन्दी का रहस्यवादी काव्य एवं आज का अत्याधुनिक भारतीय काव्य बहुत कुछ ध्वनि-काव्य है। यों भी भारतीय भाषाओं के काव्य को समझने के लिए संस्कृत काव्य-शास्त्र का समझना अनिवार्य है।

इन सब बातों को ध्यान में रखकर अकादमी ने आचार्य ग्रन्थमाला का प्रकाशन प्रारम्भ किया, जिसमें आचार्य भरत से लेकर अप्पय दीक्षित तक १६ आचार्यों को स्थान दिया गया। आचार्य आनन्दवर्द्धन इसी चिन्तन-माला का मध्य-सुमन है। मुझे अत्यन्त संतोष है कि डॉ० रेवाप्रसाद द्विवेदी ने मेरे अनुरोध पर इस ग्रन्थ को उसी गम्भीरता, सूक्ष्म चिन्तन और तुलनात्मकता के साथ प्रस्तुत किया है, जिसकी अपेक्षा मैंने उनसे की थी। जहाँ तक मेरी जानकारी है, हिन्दी

में यह प्रबन्ध अपने ढंग का प्रथम है, जिससे न केवल संस्कृत साहित्य-शास्त्र के अध्येताओं अपितु सामान्य साहित्य-प्रेमियों को भी लाभ होगा। यह प्रबन्ध विश्व-विद्यालयों की उच्च कक्षाओं के विद्यार्थियों के लिए मार्ग-दर्शक का कार्य करेगा, इसमें सन्देह नहीं।

डॉ० प्रभुदयालु अग्निहोत्री
संचालक
मध्यप्रदेश हिंदी ग्रन्थ अकादमी

भोपाल,
२१ मार्च, १९७२

प्रावेशिकी

मध्यप्रदेश में, उसकी 'हिन्दी ग्रन्थ अकादमी' ने 'संस्कृत साहित्य समीक्षा' ग्रन्थमाला के अन्तर्गत 'आनन्दवर्धन' पर मोनोग्राफ लिखने का कार्य १९६९ के दिसम्बर में मुझे दिया और उसके लिए अवधि दी एक वर्ष की। यह समय मेरे जीवन का सङ्क्रमणकाल था, तथापि मैंने अकादमी के इस कार्य को स्वीकार कर लिया, क्योंकि मैं सोचता था कि यह कार्य केवल तीन महीनो की अपेक्षा रखता है। किन्तु आनन्दवर्धन के ध्वन्यालोक का विषय उसके अक्षर-अक्षर से सङ्कलित करना आरम्भ किया तो लगा 'मैं जिसे सर्षप समझता था वह सुमेरु है'। विदित हुआ कि आनन्दवर्धन और उनके सम्प्रदाय के परवर्ती आचार्यों के सिद्धान्त बहुत भिन्न हैं। फलतः मोनोग्राफ का कार्य शोधग्रन्थ के कार्य में परिणत हो गया और मुझे लगा कि

आनन्दवर्धन की मूल स्थापनाओं को उनके बाद की पहली शताब्दी ने ही बदल दिया था। ध्वन्यालोक के मुख्य व्याख्याकार अभिनवगुप्त आनन्दवर्धन के ठीक १०० वर्ष बाद हुए थे। उन्होंने लोचन में आनन्दवर्धन के सिद्धान्तों को केवल भित्ति बनाया, उस पर जो चित्र अङ्कित किये वे उनके अपने सिद्धान्तों के थे। यह अन्तर पाठकों को विलम्ब से समझ में आता है, क्योंकि अभिनवगुप्त ने अपनी 'अभिनव' बात 'गुप्त' ढंग से लिखी है। इस ढंग से कि उससे यही प्रतीत होता है कि वे जो कुछ लिख रहे हैं वह सब आनन्दवर्धन को भी उसी रूप में मान्य है। ध्वनिसिद्धान्त पर ध्वन्यालोक के मुख्य अधिवक्ता मम्मट हैं। वे भी आनन्दवर्धन से अधिक अभिनवगुप्त को ही अपना बैठे। मम्मट अभिनवगुप्त के १०० वर्ष बाद अर्थात् आनन्दवर्धन के २०० वर्ष बाद हुए हैं। उनका ग्रन्थ है—काव्यप्रकाश। इससे स्पष्ट है कि आचार्य आनन्दवर्धन की ध्वनि-सम्बन्धी स्थापनाओं को उनके बाद की प्रथम शताब्दी में जितना बदला गया था, द्वितीय शताब्दी में उससे कुछ अधिक ही बदला गया। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ मम्मट के भी लगभग २०० वर्ष बाद हुए और पण्डितराज जगन्नाथ विश्वनाथ के भी लगभग ३०० वर्ष बाद।

ये आचार्य भी आनन्दवर्धन के ही प्रस्थान के आचार्य थे, किन्तु आनन्दवर्धन से बहुत दूर थे। परन्तु मम्मट, विश्वनाथ और जगन्नाथ ने मौलिक ग्रन्थ लिखे थे, अतः ये तीनों क्षम्य थे। ये 'अभिनव' अवश्य थे किन्तु 'गुप्त' नही थे। अकादमी की इच्छा के अनुसार हमें केवल 'आनन्दवर्धन' के काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों का निरूपण करना था, इसलिए एक ओर तो १७-वी शती के जगन्नाथ, १४-वीं शती के विश्वनाथ, १२-वी शती के मम्मट और ११-वीं शती के अभिनवगुप्त को लांघ कर ९-वी शती मे पहुँचना था और दूसरी ओर ध्वन्यालोक में प्राप्त इतर सामग्री के विस्तार से बचे रहना था। हमने ऐसा ही किया और मध्यवर्त्ती उक्त तीनों आचार्यों के सिद्धान्तों से तटस्थ रहकर केवल आनन्दवर्धन के सिद्धान्तों को उनके मूलरूप में खोजना आरम्भ किया। इस अध्यवसाय में जिन सन्दर्भों की खोज आवश्यक हुई उन्हे आनन्दवर्धन के पूर्ववर्त्ती आचार्यों [भरत, दण्डी, भामह, उद्भट और वामन] के उपलब्ध ग्रन्थों से खोजा, और धैर्य के साथ खोजा। तब प्रतीत हुआ कि :

१. आनन्दवर्धन ['रक्तस्त्वं०' में] जिस व्यतिरेक की बात कर रहे है वह दण्डी का व्यतिरेक है, मम्मट का नही,

२. आनन्दवर्धन ध्वनिभेदों को संख्या में नही बांधते, अतः उनके ध्वनिभेद न तो अभिनवगुप्त के भेदों के समान ३५ है, न प्रतीहारेन्दुराज के भेदों के समान २० और न मम्मट के भेदों के समान ५१,

३. आनन्दवर्धन जिस ध्वनि की व्यञ्जना पद से मानते हैं उसे केवल अलङ्कार रूप ही मानते है, अभिनव और मम्मट के समान वस्तुरूप में भी नहीं,

४. आनन्दवर्धन व्यञ्जना से भिन्न अमुख्य शब्दवृत्ति को गुणवृत्ति और भक्ति कहना अधिक पसन्द करते है, मम्मट के समान लक्षणा कहना नहीं,

५. गुणवृत्ति या भक्ति को भी वे भिन्न ही रूप में देखते है। वे एक ऐसी गुणवृत्ति भी स्वीकार करते है जिसमें न रूढि होती है और न प्रयोजन, फलतः जो न निरूढा होती है और न प्रयोजनवती। प्रयोजन होता भी है तो कही शब्दतः कथित रहता है। कहीं यदि व्यङ्ग्य भी होता है तो उसमें चारुत्व नही रहता। मम्मट के समान वे गुणवृत्ति को लक्षणा, तथापि निरूढा और प्रयोजनवती तक ही सीमित और प्रयोजन को भी नियमतः व्यङ्ग्य तथा चारुत्वयुक्त ही स्वीकार करते हों, ऐसी बात नही है।

६. आनन्दवर्धन काव्य को केवल एक ही रूप में देखते है—'ध्वनि'-रूप में। उनकी दृष्टि में ध्वनिकाव्य ही काव्य है।

७ गुणीभूतव्यङ्ग्य ध्वनि का निःस्पन्द है, जिसमे अलङ्कारप्रधान सभी काव्यो का समावेश हो जाता है। यह ध्वनि की हीन अवस्था है, किन्तु इस अवस्था मे भी किसी भी वाक्य को काव्य कहा जा सकता है।

८ उक्त दोनो काव्यो के अतिरिक्त तीसरा कोई काव्य नही होता। यदि तीसरे किसी प्रकार को कुछ कहा जाये तो केवल अकाव्य कहा जा सकता है। अकाव्य यानी काव्याभास या काव्यचित्र। चित्रकाव्य-नामक काव्य-भेद मम्मट ही स्वीकार करते है, आनन्दवर्धन नही।

९ आनन्दवर्धन काव्य को उत्तम, मध्यम और अन्य किसी कोटि में नही रखते, जबकि मम्मट उसे उत्तम, मध्यम, अधम तथा पण्डितराज जगन्नाथ उत्तमोत्तम, उत्तम, मध्यम तथा अधम कोटियो में विभक्त करते है।

१० आनन्दवर्धन अलङ्कारचिन्तन में रूढिग्रस्त न होकर उदार दिखाई देते है। है तो मम्मट भी ऐसे ही, किन्तु उनकी उदारता उतनी अनुदार है जितनी आनन्दवर्धन की अनुदारता।

११ आनन्दवर्धन गुणो को रसधर्म भी मानते है और शब्दार्थ-धर्म भी। वे उनकी दो स्वतन्त्र धाराएँ स्वीकार करते है। एक धारा वह जो केवल रस मे रहती है और दूसरी धारा वह जो केवल शब्दार्थ में। दोनो दो स्वतन्त्र धाराएँ है और दोनो वास्तविक है। ऐसा नही कि उनमें से एक अवास्तविक हो। उनके मत से शब्दार्थनिष्ठ गुण रसनिष्ठ गुणो के साथ रहने पर ही विशेष अच्छे लगते है, फलत रसनिष्ठ गुण शब्दार्थनिष्ठ गुणो के नियामक होते है। ये गुण ६ होते हैं, जिनमें से दो को माधुर्य, दो को ओज और दो को प्रसाद कहा जाता है। अभिनवगुप्त और मम्मट गुणों की संख्या केवल ३ मानते है और उन्हें केवल रसनिष्ठ ही मानते है।

१२ आनन्दवर्धन रस को काव्य की आत्मा मानते है, किन्तु वे रसनिष्पत्ति-प्रक्रिया को काव्यशास्त्र का विषय नही मानते। कदाचित् वे उसे 'मनःशास्त्र' का विषय मानते है और इसलिए उस दिशा में आगे नही बढते।

१३ ऐसा नही कहा जा सकता कि शब्दवृत्तियो को भी आनन्दवर्धन काव्य-शास्त्र का विषय स्वीकार करना चाहते है। इसीलिए वे इस विषय में उतना ही विवेचन करते है जितना अन्य शास्त्रो की ओर से उपस्थित पूर्वपक्षो के उत्तर के लिए आवश्यक है। वस्तुत यह भी मनोविज्ञान का ही विषय है।

अभिनवगुप्त और मम्मट रसनिष्पत्ति-प्रक्रिया और शब्दवृत्तियों के शास्त्रार्थ में ही अधिक परिश्रम करते दिखाई देते हैं। परवर्त्ती काव्यशास्त्र में ये ही दो मुद्दे पाण्डित्य की कसौटी मान लिये जाते हैं, जिससे परवर्त्ती साहित्य का अध्येता काव्यशास्त्र में ही अधिक श्रम करता है और उस काव्य को ही छोड़ बैठता है, जो काव्यशास्त्र का लक्ष्य है।

१४. और भी ऐसे अनेक तथ्य हैं जो परवर्त्ती ध्वनि-सम्प्रदाय में बदल दिये गये हैं।

इस ग्रन्थ में आनन्दवर्धन के सिद्धान्तों को उसी रूप में प्रस्तुत किया गया है जिस रूप में वे बिना खींचतान किये स्वाभाविक रूप में उनके ध्वन्यालोक से प्रकट होते हैं। आनन्दवर्धन को अभिनवगुप्त और मम्मट ने जिन-जिन अंशों में बदला है उनके प्रकरणों में अभिनवगुप्त और मम्मट के संशोधन पादटिप्पणियों में दे दिये गये हैं। इस प्रकार पूर्ण अवधान के साथ यह प्रयत्न किया गया है कि आनन्दवर्धन की मूल स्थापनाएँ अपने शुद्ध रूप में उभर कर ऊपर आ सकें, जहाँ तक साहित्यशास्त्र का सम्बन्ध है।

इतर सामग्री भी आनन्दवर्धन के ध्वन्यालोक और देवीशतक में कम नहीं है :

१. वे 'काव्य की आत्मा ध्वनि' का उद्घोष करनेवाले प्रथम आचार्य हैं, किन्तु स्वयं कविता करते हैं श्लेष की, श्लेष में भी शब्दभङ्ग-श्लेष की।
२. वे हैं तो अनुगामी वेद को अपौरुषेय मानने वाले आस्तिक दर्शनों के, किन्तु विद्यास्थानों में प्रमुखता देते हैं पुराणों को, जो वेद नहीं, वेद के अङ्ग हैं।
३. वे नाम तो लेते हैं हयग्रीव, शिव, शेष, सूर्य, चन्द्र, काम, लक्ष्मी, राधा, रुक्मिणी, पार्वती, सरस्वती, गङ्गा आदि अनेक देवों का, किन्तु भक्त हैं विष्णु के। वे विष्णु के अनेक रूपों से परिचित हैं, किन्तु मधुमथ, हरि, जनार्दन, वासुदेव, अब्धिशयन उनमें प्रमुख हैं। सबसे प्रमुख है नृसिंह रूप, जिसकी स्तुति से वे वृत्ति का आरम्भ करते हैं। यह भी महत्त्व की बात है कि ध्वन्यालोक में अन्य देवों की अपेक्षा विष्णु से सम्बन्धित पद्य अधिक हैं।
४. वे व्याकरण, मीमांसा, सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक और वेदान्त से तो अवगत हैं ही, बौद्धों से भी अवगत हैं, जिनके सामान्यलक्षण और स्वलक्ष-

णात्मक ज्ञान का वे खण्डन करते और उसके व्याज से आत्मनियतावाद का समर्थन करते हैं।

५ वे केवल संस्कृत नहीं, उसके परिशिष्ट प्राकृत और अपभ्रंश के भी विज्ञ वेत्ता हैं। वे इनमें रचना भी करते हैं।

६ उन्हें देशान्तरों की स्थिति का ज्ञान है और उनके परिप्रेक्ष्य में भारतीयता के मौलिक रूप का पार्थक्य उनका प्रिय विषय है।

७ सुरुचि और शिष्टता उनके प्रिय गुण हैं।

स्पष्ट ही आनन्दवर्धन का युग

१ कविता में श्लेष का युग था,

२ विद्यास्थानों में पुराणात्मक वेदान्त का,

३ साधना में प्राचीन पाञ्चरात्रीय वैष्णव भक्ति का,

४ दर्शन में शून्यवाद के विरुद्ध अद्वैतवाद के विजय का, तथापि कश्मीरी शिवाद्वैत के प्रागभाव का,

५ भाषा में प्राकृत और अपभ्रंश रूपी परिशिष्ट से समृद्ध तथा कालिदास से लेकर माघ और बाण तक के प्राञ्जल पटु कवियों की विविध अभिव्यक्तियों से परिष्कृत लौकिक संस्कृत का,

६ संस्कृतियों में भारतवर्ष की उदीच्य संस्कृति का तथा

७ सभ्यताओं में ललित और संयत व्यवहार की सामाजिक सभ्यता का।

ये तथ्य एक-एक न्यग्रोध-पादप हैं, जिन पर गुप्तयुग आदि के थोवनों से उड़े स्वर्ण-शुक छिपे हैं और अपने-अपने क्षेत्र की मिष्ट-मधुर कादम्बरी-कथाओं से एक उत्तम पानकरस को जन्म दे रहे हैं। हमें इनकी भाषा समझनी होगी और पहचानना होगा उसके घूंघट में छिपे संस्कृति-सुहागिन के ललित, वक्र, ऋजु, मुग्ध, स्मयमान एवं विकस्वर मुखपद्म को, उसके एक-एक किंजल्क की मधुगन्ध को। यह कार्य छोटा न होगा, सरल न होगा। तभी हम कह सकेंगे आनन्दवर्धन के अध्ययन को सर्वाङ्गसपूर्ण अध्ययन। प्रस्तुत ग्रन्थ में हमने आनन्दवर्धन की इस दिशा को अधिक विस्तार में नहीं अपनाया है।

काव्यशास्त्रीय अध्ययन में भी हम भरत से वामन तक की अपनी परम्परा से हट कर रुद्रदामन्, समुद्रगुप्त आदि के अभिलेखों, रामायण, महाभारत आदि

आकरग्रन्थों, रघुवंश, किरातार्जुनीय, भट्टिकाव्य, शिशुपालवध, कादम्बरी आदि काव्यों तथा कौटिलीय अर्थशास्त्र, कामशास्त्र आदि शास्त्रीय ग्रन्थों में विकीर्ण उन विविध उल्लेखों की ओर नही गये है जिनमे काव्यशास्त्रीय समीक्षातत्त्वों का स्पर्श दिखाई देता है। तदर्थ हमने उन ग्रन्थों का उल्लेख कर दिया है जिनमें इन्हें संगृहीत किया गया है। डॉ० राघवन् का 'भोजाज् शृङ्गारप्रकाश' उनमें से एक है। 'साहित्य' नामक तत्त्व पर भारतीय साहित्यशास्त्र ने शताब्दियों तक विचार-मन्थन किया और अनेक वादों को सिद्धान्तित किया था। उनका भी एक एक कर पूर्ण विश्लेषण यहाँ नहीं किया है, क्योंकि हम अपने अन्य ग्रन्थों में उनका विस्तृत विश्लेषण कर चुके हैं। उनके भी सन्दर्भ ही यहाँ दिये गये हैं।

समस्त सामग्री से सम्बन्वित सभी सन्दर्भ एकत्रित कर काव्यशरीर, काव्यभेद, काव्यप्रभेद, शब्दव्यापार, काव्यधर्म, काव्यकारण, काव्यप्रयोजन, काव्यशास्त्रप्रयोजन, कविशिक्षा तथा सहृदयशिक्षा नामक अनुच्छेदों में प्रस्तुत कर अन्त में सभी सिद्धान्तों को संक्षिप्तरूप में सूत्रित करते हुए उनकी युगों से प्राप्त प्राचीन समीक्षा का संक्षेप देने के पश्चात् पूर्ण ध्वन्यालोक का 'ध्वनिसार' नाम से संक्षेप भी हिन्दी अनुवाद के साथ दे दिया है। आरम्भ में परिचयखण्ड नाम से प्रथम अध्याय जोड़कर आनन्दवर्धन के जीवन और उनकी कृतियों का परिचय भी दे दिया है। इसी सन्दर्भ में अभिनवगुप्त को भी अपेक्षित गुरुता के साथ अपना लिया है, किन्तु तटस्थ रहते हुए।

अध्यायों और अनुच्छेदों के नाम यथासम्भव ध्वन्यालोक की ही अपनी पदावली में रखे गये है। काव्यस्वरूप, काव्यलक्षण आदि संज्ञाएँ छोड़कर हमने 'काव्यशरीर' संज्ञा इसीलिए अपनायी है कि उसे स्वयं आनन्दवर्धन ने 'शब्दार्थ-शरीरं तावत् काव्यम्' इस प्रकार अपनाया था, जिसका मूल दण्डी का 'शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावलिः' वाक्य था। 'शरीर' शब्द अतीव महत्त्व का शब्द है। इससे काव्य के बाह्य परिवेष और उसके लक्षण तथा व्यञ्जन नामक उन धर्मों का संकेत मिलता है जो किसी भी शरीर के अध्ययन के लिए रामायण से बौद्ध साहित्य तक प्रसिद्ध थे और बौद्ध साहित्य से अभिलेखयुग तक। विद्वानों की कल्पना है कि साहित्य के शब्दव्यापारों में गृहीत लक्षणा और व्यञ्जना कदाचित् मूर्तिकला के 'लक्षण' और 'व्यञ्जन' शब्दों के ही प्रभाव पर गृहीत शब्द है। यह सत्य है कि मूर्तिकला का प्रभाव भारतीय साहित्यशास्त्र पर पर्याप्त गम्भीरता के साथ पड़ा है, तथापि यह भी सत्य है कि 'व्यञ्जना'-शब्द साहित्य-शास्त्र या ध्वनिप्रस्थान ने व्याकरणशास्त्र से अपनाया है और लक्षणाशब्द

मीमांसाशास्त्र से। भरत के नाट्यशास्त्र में लक्षणनामक जिन शास्त्रीय तत्वों का विवरण मिलता है उन्हें सूक्तिकला के लक्षण-तत्वों से मिलाया जाये तो मिलाया जा सकता है, किन्तु आनन्दवर्धन के ध्वनिशास्त्र में उनकी कोई चर्चा नहीं मिलती। अतएव उन्हें हमने भी छोड़ दिया है।

ध्वनिसम्प्रदाय आरम्भकाल से ही एक विवादग्रस्त सम्प्रदाय रहा है। हमने इस विवाद का दिग्दर्शन भी सिद्धान्तसमीक्षा नामक अनुच्छेद में कराया है, किन्तु इस अवधान के साथ कि ध्वनिसम्प्रदायरूपी मुख्य धारा ही इस ग्रन्थ में हमारा प्रधान प्रतिपाद्य है। हम स्वयं ध्वनिसंज्ञा तथा ध्वनन-नामक या व्यञ्जना-नामक शब्दव्यापार को वैज्ञानिक स्वीकार नहीं कर पाते, किन्तु हमने जिस प्रकार अभिनवगुप्त और मम्मट के परिवर्तनों से आनन्दवर्धन के मूल सिद्धान्तों को बचाया है उसी प्रकार अपनी स्वयं की समीक्षा से भी।

हमने आनन्दवर्धन के तर्क न केवल उनके अपने रूप में ही यहाँ उपस्थित किये हैं, अपनी ओर से उनको बल देने हेतु कतिपय स्वस्थ और सहज दृष्टान्त भी उनके साथ यत्र-तत्र उपस्थित कर दिये हैं। ऐसा करते हुए हमने जहाँ आवश्यक हुआ है नीचे टिप्पणी देकर पाठकों को सावधान भी कर दिया है।

पादटिप्पणियों में अभिनवगुप्त तथा मम्मट के परिवर्तन भी दे दिये हैं और मूल में उपस्थित स्थापनाओं के उद्धरण भी। जहाँ उद्धरणों को पुनः पुनः उपस्थित करना आवश्यक प्रतीत हुआ है वहाँ उन्हें पुनः पुनः भी उपस्थित किया है, किन्तु यह ध्यान रखते हुए कि ग्रन्थ का कलेवर अनावश्यक रूप से न बढ़े। जहाँ उद्धरण देना आवश्यक नहीं था वहाँ केवल सन्दर्भ दे दिये हैं। ये सन्दर्भ दो प्रकार के हैं आनन्दवर्धन के ध्वन्यालोक के तथा स्वयं इसी पुस्तक के। ध्वन्यालोक के सन्दर्भ पृष्ठों में भी दिये गये हैं। तदर्थ ध्वन्यालोक का जो संस्करण अपनाया गया है वह है—

> चौखम्बासंस्कृतग्रन्थमाला से विक्रम संवत् १९९७ में प्रकाशित लोचन तथा लोचन की टीका बालप्रिया से युक्त संस्करण।

आवश्यकता पड़ने पर अन्य संस्करणों को भी अपनाया गया है, किन्तु सन्दर्भों के लिए नहीं, उस संस्करण के संस्कृतपाठ में संशोधन के लिए।

प्राकृत गाथाओं की संस्कृत छाया दी गयी है। प्राकृत रूप टिप्पणी में दे दिया गया है। ऐसा पाठकों की सुविधा के लिए किया गया है। भाषाविज्ञान की दृष्टि से इन गाथाओं का अध्ययन जिन्हें अभीष्ट हो वे भी इनसे लाभ उठा सकते हैं, यद्यपि उसका कोई दायित्व हमारे ऊपर नहीं आता। भाषा की दृष्टि से

ध्वन्यालोक का अध्ययन एक महत्त्वपूर्ण विषय है। आनन्दवर्धन ने कालिदास आदि प्राचीन कवियों और शास्त्रों, जिनमे काव्यशास्त्र भी सम्मिलित है, के उत्तम शब्द ज्यों के त्यों अपना लिये है। इस दिशा में कुछ निर्देश हमने किया भी है। इसी सन्दर्भ मे यह भी देखा जा सकता है कि आनन्दवर्धन प्राचीन कवियों में किस-किस कवि को कितना महत्त्व देते हैं। यह तो स्पष्ट ही है कि वाल्मीकि, व्यास और कालिदास को उनने सर्वाधिक महत्त्व दिया है। इनमें भी वाल्मीकि और व्यास को तो वे सिद्धरस और रससिद्ध कहते हैं। संस्कृत-काव्यशास्त्र में पहलीवार सबसे अधिक महत्त्व देकर भी और 'महाकवि' के पद पर बैठाकर भी वे कालिदास को 'विशृंखल' कहते है।

शृङ्गार के जो भाव हिन्दी की अभिव्यक्ति झेल नही सकती अथवा उनके श्लील भाव की रचा नही कर सकती उन्हे तभी प्रस्तुत किया है जब उनकी अपने मूलरूप मे ही आवश्यकता रही है, अन्यथा उन्हे तनिक परिवर्तित रूप में दिया गया है।

ग्रन्थ के मुद्रण में जितनी सावधानी बरती जानी चाहिए उतनी सावधानी बरतने का प्रयत्न भी किया है तथापि कुछ अशुद्धियाँ रह गयी है, उन्हे विज्ञ पाठक स्वयं सुधार लेंगे। उनमें कोई विशेष चिन्तन अपेक्षित नही है। किन्तु

भूल-सुधार

निम्नलिखित तीन अंशों में विषय की अशुद्धि है पाठक उन्हे अवश्य ही सुधार लें—

१. पृष्ठ १५ पर हमनें धर्मोत्तमा को धर्मोत्तरा की टीका लिखा है। बाद में विदित हुआ कि धर्मोत्तमा तथा धर्मोत्तरा या धर्मोत्तरी ये नाम एक ही टीका के है।

२. पृष्ठ ७० पर प्रथम पङ्क्ति में अभिनवगुप्त की माता का नाम विमला छपा है। उसे 'दुस्सला' समझें, जैसा कि पृष्ठ ६९ की आठवी पङ्क्ति में छपा है। प्रसिद्धि यही है कि अभिनवगुप्त की माता का नाम विमला है। हमने भी पहले यही लिख रखा था। दुस्सला नाम हमें बाद में मिला। एक संशोधन रह गया।

३. पृष्ठ ७४ पर अन्तिम पंक्तियों में हमने कुन्तक को अभिनवगुप्त के बाद का लिख दिया है। हमे विदित है ये दोनों आचार्य या तो समकालीन है या यदि पूर्ववर्ती है तो कुन्तक ही।

पृष्ठ १०२ पर छपी पंक्ति ८ में 'कदाचित् वे मुक्तककाव्य थे' के स्थान पर 'यदाचित् वे मुक्तक काव्य ने' छपा है। इस मुद्रणदोष को भी सुधार लें।

पूरे ग्रन्थ के सभी प्रूफ स्वय हमने देखे है। स्वय ग्रन्थकार जब प्रूफ देखता है तो अशुद्ध को भी शुद्ध बाँच जाता है। इसके लिए यदि कोई दोषी है तो प्रकृति।

ग्रन्थ निर्माण में निश्चित समय से १ वर्ष का समय अधिक लगा और पृष्ठ सख्या भी निश्चित से अधिक हो गयी, अथापि अकादमी के अधिकारी सज्जनो ने, विशेषत उसके विद्वान् सचालक विद्वद्वर डॉ० प्रभुदयालु जी अग्निहोत्री ने प्रसन्नता ही व्यक्त की। मैं अकादमी और उसके योग्य सचालक डॉ० अग्निहोत्री का आभारी हूँ।

'बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्यय चेत' के अनुसार अपने इस श्रम को विद्वत्परितोष की मात्रा में प्रामाणिक मानूगा। सभी विद्वानो के सुझाव सादर आमन्त्रित करता हूँ।

ग्रन्थ पूर्ण होने पर इसे शिक्षक आदरणीय प० बलदेव जी उपाध्याय ने अकादमी के परामर्शदाता के रूप मे देखा और उनकी अपनी अनेक स्थापनाओ के विरुद्ध भी मुझे अपनी बात प्रस्तुत करने की अनुमति दी, उनकी इस उदारता के लिए मैं कृतज्ञ हूँ।

अभिनवगुप्त के साथ मतभेद होने पर मैंने यही काशी मे अपने गुरुजनो से परामर्श किया। उनने अनेक स्थलो में मुझे ठीक पाया। पौरुषेय वाङ्मय में मै किसी का भक्त नही हूँ। वे है। अथापि उनने तटस्थता से चिन्तन किया और मेरे विचार को महत्त्व दिया, यह उनकी महाशयता है। मैं भी यदि किसी का भक्त नही हूँ तो अभक्त या विरोधी भी नही हूँ। यहाँ भी अपना पुराना वाक्य दुहरा दूँ जिससे मैंने अपना लेखन आरम्भ किया है

श्रद्धा मन्ये मातर लोकमार्गे
सा वै सर्वा ओषधी सप्रसूते।
आन्वीक्षिक्या किन्तु मे भावबन्ध
सा ता एता निस्तुषा सविधत्ते॥[१]

श्रद्धा मेरी माँ है, किन्तु प्रिया है आन्वीक्षिकी ही, श्रद्धा भूमि है, अन्न उपजाने वाली, किन्तु भूसा हटाने वाली दाँवन या उडावनी है आन्वीक्षिकी ही, जहाँ तक लोकपथ का सम्बन्ध है।

---

१ व्यक्तिविवेक और अलङ्कारसर्वस्व के हमारे हिन्दी भाष्य का मगलपद्य।

इसी ग्रन्थ का उपसंहार वाक्य भी उपस्थित करना चाहता हूँ—

यह श्रम ध्वनिरूपी विश्वनाथ के प्राचीन मन्दिर का पुरोहित है—घुण्डि-राज गणपति ।[१]

संस्कृत-काव्यशास्त्र भारतीय प्रज्ञा या मानवीय सरस्वती का स्मेर, शुचि और शान्त शृङ्गार है। उसकी रचना भी एक से अनेक और अनेक से एक तक पहुँचकर शान्त होने वाली विश्व रचना ही है। वह समस्त अर्थों से गर्भित 'शब्द-स्फोट' और प्रतीयमान के एक और अद्वितीय तत्त्व को पीठिका बनाकर वाच्य अर्थ के द्वैतयुग्म तक पहुँचती और अन्त में रस के अद्वैत घन में जा डूबती ही है। वाच्य अर्थ उपमा के द्वैत से आरम्भ कर रूपक के अध्यारोप और अपह्नुति के अपवाद की सीढ़ियों पर चढ़ते-चढ़ते निगीर्याध्यवसाना अतिशयोक्ति के अद्वैत में पर्यवसित चित्रित किया जाता है और प्रतीयमान भी वस्तु तथा अलङ्कार के द्वैत से आरम्भ कर रस के अद्वैत में। भोजराज के शब्दों में अन्ततः यह सब है शब्द या ध्वनि का ही विवर्त्त। और इस प्रकार मानों काव्य के ही समान काव्यशास्त्र भी परम शैव जगद्धर के शब्दों—हृदय की 'ओं'-कार ध्वनि है जो अपने गर्भ में समस्त वाङ्मय को गुम्फित किये हुए है, जो सत् है, अक्षर है, पर है। आइये जगद्धर के ही शब्दों में हम इस ध्वनि की उपासना करें—

ओमिति स्फुरदुरस्यनाहतं गर्भगुम्फित-समस्त-वाङ्मयम्।
दन्ध्वनीति हृदि यत् परं पदं तत् सदक्षरमुपास्महे महः ॥[२]

रङ्ग पञ्चमी २०२८ वि०
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी

रेवाप्रसाद द्विवेदी

१. यही पृष्ठ ५४६ पर.
२. स्तुतिकुसुमाञ्जलि १।६

विषयानुक्रमणी

द्वितीय अध्याय

[पृष्ठ ८१–२३४]

तृतीय अध्याय

[पृष्ठ २३५–२८४]

चतुर्थ अध्याय

[पृष्ठ २८५–४२०]

पञ्चम अध्याय

[पृ० ४२१–४९६]

षष्ठ अध्याय

[पृ० ४९७–५६४]

परिशिष्ट

●

आनन्दवर्धन

प्रथम अध्याय

- विषयप्रवेश
- आचार्य आनन्दवर्धन

विषय-प्रवेश

मानव-मस्तिष्क जब अपने अतीत की ओर मुड़ता और उसकी अद्भुत उपलब्धियों का लेखा तैयार करने लगता है तो उसे लगता है कि कदाचित् 'अग्नि' और 'चक्र' की उपलब्धि उसकी महत्तम उपलब्धि है। स्थूल विश्व और पाँच भूतों के मिश्रण से निष्पन्न मानवाकार पिण्डों के लिए ये उपलब्धियाँ अवश्य ही महत्त्व रखती हैं। व्यक्तिगत जीवन से सामाजिक जीवन तक की हमारी महती यात्रा में इन उपलब्धियों ने बहुत साथ दिया है और आज भी ये साथ देती जा रही हैं। यह भी निश्चित है कि हम भविष्य में भी इनके कायल रहेंगे। किन्तु—

वाक्

सत्य यह है कि मानव, आज जो कुछ है वह अपने उदात्त संस्कारों और उदार *व्यवहारों पर टिकी समाज-संस्था का घटक है। मानव समाजरूपी महावस्त्र* का अन्यतम तन्तु है। समाज से पृथक् कर मानव के अस्तित्व की कल्पना एक विडम्बना है, उपहास है। और समाज? वह शरीरपिण्डों तक सीमित नहीं रहता। वह स्थूल से अधिक सूक्ष्म, दृश्य से अधिक अदृश्य और भौतिक से अधिक मानस तत्त्वों पर निर्भर है। ठीक भी है। मानव व्यक्तित्व एक पिटक है जो अपने भीतर अनेक पिटक लिए हुए है। उन अन्तर्निहित पिटकों में ही एक पिटक मन है। दूसरा पिटक बुद्धि है। तीसरा पिटक है चैतन्य। सामाजिक व्यवहार इन समस्त पिटकों को समेट कर चलता है। स्थूल 'अग्नि' और स्थूल 'रथचक्र' क्या इन समस्त इकाइयों की रक्षा में सक्षम है? इन सबकी रक्षा में जो उपयोगी है वह अग्नि और वह रथ चक्र भिन्न ही है। वह है 'वाक्'—रूपी अग्नि और 'वाक्'—रूपी रथ। वेद के द्रष्टा ऋषि ने इसीलिए कहा था 'वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता'—'ये समस्त भुवन 'वाक्' पर निर्भर हैं और 'वाग्वै अग्नि'—'वाणी ही है अग्नि'। फलतः मानव इतिहास की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है 'वाक् तत्त्व' की उपलब्धि।

भाषा :

वाक् और कुछ नहीं, एक प्राकृतिक वस्तु है। वाक् ध्वनि है, नाद है, स्वर है, शब्द है, आवाज है। अर्थ यह कि वाक् हमारी अति परिचित वस्तु है। हमने देखा कि 'वाक्' एक सामान्य वस्तु है और हम अपने स्वरयन्त्र (मुख-गह्वर) के सहारे इसे अनेक अनुच्छेदों में व्यक्त कर सकते हैं। हमारा मस्तिष्क इसके उपयोग की ओर गया और हमने इसे अन्य वस्तुओं से जोड़ना शुरू किया। फलतः हमने नाम की कल्पना की और शब्द तथा अर्थ के बौद्धिक संकेतों द्वारा हम अपने मन की बात प्रकट करने लगे। अर्थ यह कि हम बोलने भी लगे। और हमें 'भाषा' नामक महान् साधन प्राप्त हो गया। अब हम अधिक पास आ सके और हमारा समाज 'सम'—साथ साथ और समान रूप से 'अज'—चलने की वास्तविकता तक जा पहुँचा। हम सच्चे सामाजिक हो गए। सोचिए कितनी बड़ी है यह यात्रा, कितनी महत्त्वपूर्ण है यह संक्रान्ति। कितने न लगे होंगे इस उपलब्धि तक पहुँचने में हमारे युग? वस्तुतः इस उपलब्धि के बाद ही मानवता ने स्वयं को हँसमुख पाया और पाया कि वह सच्चे अर्थों में जीवित है। निश्चित ही 'भाषा' मानव की महत्तम उपलब्धि है।

वाङ्मय :

भाषा की दिशा में गए मानव ने प्रगति की। शब्द-कोशों का निर्माण किया। व्याकरण को जन्म दिया। और भी अनेक उपाय किए। उसने चाहा कि उसका अभिप्राय श्रोता तक अपने मूलरूप में पहुँच सके। वह बहुत दूर तक सफल हुआ, किन्तु उसकी सफलता एकदेशीय थी। कारण कि भाषा अभी तक प्रत्यक्ष की बराबरी नहीं कर पायी थी। भाषा से प्राप्त वस्तु हमारी चेतना पर अपना धूमिल प्रतिबिम्ब ही छोड़ती थी। एक कमी और थी। यह कि कभी कभी हम कहना कुछ चाहते थे और कहते कुछ थे। हमारी भाषा में यदि धर्मी का ज्ञान कराने की क्षमता रहती तो धर्म का ज्ञान कराने की नहीं और धर्म का ज्ञान कराने की क्षमता रहती तो धर्मी का ज्ञान कराने की नहीं। यानी हम अन्दाज से चलते और वाणी से अधिक प्रकरण आदि से बोलते और समझते थे। हमने दोनों दिशाओं में परिष्कार किया। प्रत्यक्ष तक पहुँचने के लिए काव्यभाषा का आविष्कार किया और सर्वाङ्गीण अभिव्यक्ति तक पहुँचने के लिए न्याय-भाषा का। काव्यभाषा संकेतों की भाषा थी, किन्तु उसमें वस्तु के बिम्ब को चित्रित करने की क्षमता प्रत्यक्ष से भी अधिक थी। न्यायशास्त्र ने धर्म और धर्मी के लिए अवच्छेदक और अवच्छिन्न शब्दों के परिच्छेद निकाले और वह भी अपने उद्देश्य में सफल हुई।

ये दोनों उपलब्धियाँ जिस मानव ने की वह सयोग से भारतीय मानव ही है। उसकी काव्यभाषा का प्रथम उदाहरण है ऋग्वेद और उसकी न्यायभाषा का प्रथम उदाहरण है 'चिन्तामणि'। हिन्दीजगत् ऋग्वेद से कदाचित् परिचित है। चिन्तामणि से उसका परिचय कदाचित नही के बराबर है। जब कभी विश्वभाषा का इतिहास अभिव्यक्ति की दृष्टि से लिखा जाएगा, तब तक यदि न्यायशास्त्र जीवित रहा तो हमारा विश्वास है कि उसे सर्वोच्च स्थान दिया जाएगा। माना जाएगा कि प्रामाणिक व्यवहार के क्षेत्र में भाषा का अन्तिम विकास न्यायशास्त्र की भाषा में ही हो सकता है।

सस्कृति और वाङ्मय

भारतीय मानव की मुख्य जाति आर्य जाति है, और जहाँ तक आर्य जाति का सम्बन्ध है, विश्व-मानव के इतिहास मे इसका अपना स्थान है। इसके दो मुख्य कारण है। (१) इसकी सस्कृति और (२) इसका वाङ्मय। आर्य-सस्कृति के दो सोपान है। (१) भोग और (२) मोक्ष। किसी भी सस्कृति को जिन तत्त्वों के आधार पर सस्कृति कहा जाता है उन तत्त्वो को आर्य सस्कृति के सदर्भ में हम इन्ही दो अर्धों में विभक्त पाते है। भोग उसका पूर्व अर्ध है और मोक्ष पर अर्ध। आर्य सस्कृति का सिद्धान्त है—'विज्ञान जहाँ तक पहुँचता है वह 'पूर्व' अर्ध ही है। 'पर' अर्ध तक उसकी गति नही। जो पर है वही उत्कृष्ट है, शिव है, शाश्वत है, वही चिन्मय है, आनन्दमय है'। जो सस्कृति इस बिन्दु पर पहुँच जाती है उसमे लौकिक रीतिरिवाजो, भाषाव्यवहारों और वेष-भूषाओ से बँधी सभ्यता का परिवेष सदा चिपटा नही रहता। सभ्यता वहाँ विविधता लिए रहती है, क्योंकि सभ्यता केवल पूर्व अर्ध तक सीमित रहती है और पूर्व अर्ध स्वय ही विविधतामय होता है। इसीलिए सभ्यता के घटक रीतिरिवाज, भाषा-व्यवहार और वेषभूषा भी वहाँ विविध ही होते है। किन्तु इतने पर भी वह जाति जहाँ रहती है वहाँ सास्कृतिक एकता रहती है अत वह राष्ट्र 'नेशन' भी होता है।

सामान्यत 'वाङ्मय' और 'सस्कृति' में बिम्ब और प्रतिबिम्ब सा सम्बन्ध रहता है। किन्तु, आर्य जाति ने यह भी कहा है कि कोई वाङ्मय ऐसा भी होता है जो अपौरुषेय होता है, अत वाङ्मय भी बिम्ब बनता है और सस्कृति भी प्रति-बिम्ब। फलत आर्य सस्कृति में उसका वाङ्मय केवल दर्पण नही माना जाता। यह जो अपौरुषेय वाङ्मय है इसके दो भाग है (१) वेद और (२) काव्य। ये भाग शैलीभेद से भिन्न है, वस्तुतस्तु दोनो एक है। दूसरे शब्दो में अपौरुषेय वाङ्मय

दो शैलियों मे व्यक्त हुआ है; एक शैली वह जिसे 'वेद' कहा जाता है और दूसरी शैली वह जिसे 'काव्य'। पुरुषशरीर या पुरुष-व्यक्तित्व इन शैलियों को प्रकट करता और इसीलिए वह ऋषि और कवि कहा जाता है। ऋषि वह होता है जो अपौरुषेय वाङ्मय को वेद-शैली मे व्यक्त करता है और कवि वह जो इसी वाङ्-मय को काव्य-शैली मे व्यक्त किया करता है।

जहाँ संस्कृति बिम्ब होती और वाङ्मय दर्पण होता है वहाँ वाङ्मय को आर्य जाति ने पौरुषेय माना। इस वाङ्मय को भी उसने दो रूपों मे स्वीकार किया। (१) शास्त्र तथा (२) काव्य। वस्तुत यहाँ भी भेद, शैली का ही। प्रतिपाद्य[1] मे दोनो एक थे।

वाङ्मय का विभाजन :

आर्य जाति ने अपने वाङ्मय को अनेक शाखाओं मे बाँटा। उसने इन शाखाओं को नाम दिया 'विद्यास्थान'। इनकी संख्या इस जाति ने न्यूनतम १४ और अधिकतम १८ मानी। १४ विद्यास्थानों मे इस जाति ने निम्नलिखित शाखाओं को गिना—

चतुर्दश विद्यास्थान :

१. ऋग्वेद
२. यजुर्वेद — वेद—१–४
३. सामवेद
४. अथर्ववेद
५. शिक्षा
६. कल्प
७. व्याकरण — वेदाङ्ग—५–१०
८. निरुक्त
९. छन्द
१०. ज्योतिष
११. पुराण
१२. न्याय

१. द्रष्टव्य महिमभट्ट का व्यक्तिविवेक, हमारे अनुवाद के साथ छपे संस्करण का पृष्ठ १००–१।

१३ मीमासा तथा
१४ धर्मशास्त्र।

अष्टादश विद्यास्थानो की सख्या करते समय निम्नलिखित चार विद्यास्थान और जोड दिए गए--

अष्टादश विद्यास्थान
१—१४ उक्त चतुर्दश
१५ गान्धर्ववेद [सगीतशास्त्र]
१६ आयुर्वेद
१७ धनुर्वेद तथा
१८ अर्थशास्त्र।[1]

वाङ्मयशाखा और काव्य

स्मरणीय है कि इन दोनो गणनाओ में 'काव्य' का उल्लेख नही है। इस पर प्रतिक्रिया हुई और १०वी शती के समीक्षक तथा कवि राजशेखर ने कहा, 'काव्य १५वां विद्यास्थान है (यदि विद्यास्थानो की सख्या १४ है)।' सत्य यह है कि 'काव्य' की गणना अपौरुषेय विद्यास्थानो में 'वेद' के साथ तथा पौरुषेय विद्यास्थानो में 'पुराण' के साथ हो जाती है। 'वेद' और 'पुराण' का प्रतिपाद्य तो वह है ही जो काव्य का हुआ करता है, प्रतिपादन शैली भी, लगभग तीन चौथाई तक, वही है जो काव्य की हुआ करती है। वस्तुत वाङ्मय के क्षेत्र में वेदत्व, पुराणत्व और काव्यत्व एकमात्र शैली भेद है और ये तीनो शैलियां वेद, पुराण और काव्य तीनों में मिलती हैं।

वेदत्व वह शैली है जिसमें 'पर'-तत्त्व का सकेत होता है और पुराणत्व वह शैली है जिसमें उस सकेतित तत्त्व का आख्यानो द्वारा विशदीकरण रहता है। आर्ष काव्य मे ये दोनो ही विशेषताएँ हैं। पुराण-शैली 'पर' के साथ 'पूर्व' को भी लेकर चलती है और उस पूर्व में भी 'पूर्व' तथा 'पर' के दो प्रकोष्ठ, दो कक्ष बना लेती है। काव्य भी इस प्रकार की प्रवृत्ति से ओतप्रोत है। फलत काव्य एक शैलीमात्र है। वह 'विद्यास्थान'-भाव में पहुँचता है तो वेद और पुराण से भिन्न नही रहता। दूसरे शब्दों में काव्य, वेद और पुराण के प्रतिपाद्य को ही अपनी शैली से कहकर विद्यास्थान बनना है, फलत काव्य, वेद और पुराण से केवल

---

१ राजशेखर ने विद्या तथा विद्यास्थानों की गणना और भी अनेक प्रकारों से की है। द्र० काव्यमीमासा अध्याय—२।

शैली को लेकर भिन्न है। निष्कर्ष यह कि जो वेद और पुराण है वही काव्य है और जो काव्य है वही वेद और पुराण। इस निष्कर्ष से काव्य की व्याप्ति १४ विद्यास्थानों के एक तृतीयांश तक और १८ विद्यास्थानों के एक चतुर्थांश तक दिखायी देती है।

काव्य ही प्रमुख विद्यास्थान :

सत्य यह है कि १८ विद्यास्थानों मे मूलभूत विद्यास्थान ५ ही है। ४ वेद और पुराण। यदि चारों वेदों को 'वेद'-नामक एक इकाई मान लिया जाय तो विद्यास्थान केवल दो रह जाते हैं—(१) वेद और (२) पुराण। इन दोनों मे भी प्रधान वेद ही है। फलत. मूलभूत विद्यास्थान 'वेद' है। शेष सब इसीको समझने के लिए आविष्कृत उपाय है, अतएव वे अंग है। और जहाँ तक वेद का सम्बन्ध है वह शुद्ध रूप से अपने-आप मे 'काव्य' है। इस प्रकार काव्य ही है मूलभूत विद्यास्थान।

काव्यकोटि :

वेदात्मक काव्य अपौरुपेय है और पुराणात्मक काव्य पौरुपेय। प्रथम बिम्ब है और द्वितीय प्रतिबिम्ब। प्रतिबिम्ब भी दो का, एक तो अपौरुपेय बिम्ब का और दूसरे संस्कृति का। संस्कृति स्वयं भी प्रतिबिम्ब है, क्रियात्मक प्रतिबिम्ब, अतः काव्य का जो अंग संस्कृति का प्रतिबिम्ब है वह अवश्य ही प्रतिबिम्ब का प्रतिबिम्ब है और इसीलिए पश्चिमी दार्शनिक प्लेटो द्वारा काव्य को प्रतिकृति या प्रतिबिम्ब कहना उसके दार्शनिक रूप में भले ही अमान्य हो, हमारे व्यावहारिक रूप में वह उचित ही है।

संस्कृति का जो अङ्ग भोगात्मक है, सभ्यतात्मक है, उसका पूर्व अर्ध है, वह काव्यगत वैविध्य और उसकी अनन्तता, उसकी अक्षय्यता का स्रोत है। जगत्समूहों का आविष्कार और तिरोधान करनेवाली प्रकृति जितनी अनन्त है उतनी ही अनन्त है सभ्यता और उतना ही अनन्त है काव्य। किन्तु आर्यजाति का काव्य केवल वैविध्य तथा अनन्तता के द्वैत और द्वैत के वैचित्र्य से आगे भी पहुँचता है। वह इस वैचित्र्य में निगूढ एकता का भी संकेत छिपाये रहता है और वास्तविकता यह है कि वैचित्र्य के पूर्व अर्ध से एकता का पर अर्ध अधिक व्यापक है। सच्ची अनन्तता उसी की है। इस 'पर' का अभिलाप वाणी नहीं कर सकती। यह सदा प्रतीयमान रहता है। आर्य जाति के काव्य ने 'प्रतीयमानता' को ही अधिक महत्त्व दिया है। इस प्रकार 'आर्य-काव्य' विश्व की अनेक ऐसी उपलब्धियों में एक उपलब्धि है जिसमें पूर्णता है, विश्राम है।

'प्रतीयमानता' को आर्य-काव्य ने केवल परार्ध तक सीमित नहीं रखा। उसे पूर्वार्ध में भी प्रतिष्ठित पाया। फलतः काव्य की व्याप्ति मानव इतिहास में एक ऐसी व्याप्ति बन गयी जिसमें मानवता या मानवीय व्यक्तित्व अपनी समग्रता मे प्रतिबिम्बित हो उठा। यह आठ रसों की विचित्रता में भी देखा गया और अन्ततः शान्त रस की समाहिति में भी। शान्तरस शास्त्रीय भाषा का मोक्ष है और मोक्ष काव्यभाषा का शान्तरस। मानवात्मा की वैज्ञानिक उपलब्धियों ने आर्य-काव्य को आठ रस दिए तो आध्यात्मिक उपलब्धि ने नवम रस। अब शेष रहा ही क्या ? निश्चित ही मानव ने सृष्टि के आरम्भ से समाजसंस्था के विकास तक जो सोचा, जो बोला, जो लिखा वह सब काव्य की, काव्यात्मक व्यापक ब्रह्म की छाया में सोचा, उसके धरातल पर सोचा, उसके परिवेष में सोचा। उसका सोचा, बोला और लिखा काव्यब्रह्म की इयत्ता न पा सका और न पा सकेगा। काव्य की इयत्ता का क्षितिज प्रत्येक यात्रा में आगे ही बढ़ता दिखायी देगा।

काव्यसमीक्षा :

यह है आर्य जाति का काव्य। क्योंकि यह वेद और पुराण का ही, शैली-गत वैशिष्ट्य को लेकर प्रचलित दूसरा नाम है अतः इसमें वे सब विशेषताएँ हैं जो वेद और पुराण में प्राप्य हैं। इसमे छन्द भी हैं और छन्दोमुक्तता भी, इसमें आख्यान भी हैं और केवल सूक्तियाँ भी, इसमें श्रव्यता भी है और अभिनेयता भी, इसमें अनुष्ठान भी हैं और विश्रान्ति भी। अन्तर केवल शैली का है। आव-श्यक था इसकी शैली को पहचानना, यह पहचानना कि काव्यशैली की विशेषताएँ क्या हैं, वह किन तत्त्वों को लेकर नवीन है। इस दिशा में भी आर्य जाति ने प्रयत्न आरम्भ किया और तभी से प्रयत्न आरम्भ किया जब उसने 'वेद' का साक्षा-त्कार किया था।

काव्यशास्त्र का आदिरूप मीमांसाशास्त्र

वेद के ऋषि में उसमे निहित 'काव्य' के अतिशय की जिज्ञासा जागी थी। उसने कहा था—'का तेऽस्त्यरङ्कृतिः सूक्तैः'[1]—'हे इन्द्र! हे मेरे आत्मतत्त्व, मेरे व्यक्तित्व! तू अपनी सम्पूर्ण शक्ति के साथ सोच कि यह जो 'सु उक्त' है 'यह जो अन्य 'उक्त' से भिन्न 'शोभन' उक्त है इसमे तुझे क्या 'अरङ्कृति' दिखाई देती है। 'अरङ्कृति' का परवर्त्ती रूप है 'अलङ्कृति'। वेद मे इसका अर्थ था पर्याप्तता या पूर्णता। अभिप्राय यह कि वेद का ऋषि 'असूक्त' 'अ-सु-उक्त' की अपर्याप्तता

१ ऋग्वेद ७-२९-३।

५ उक्तिगत अन्य धर्म तथा

६ उक्ति-शक्तिया

काव्य अनुभविता से पृथक् करके नही देखा जा सकता, इसलिए कुछ चिन्तक काव्यशास्त्र मे निम्नलिखित तत्त्वो का भी विचार करते है

१ प्रतीयमान अर्थ

२ रस तथा

३ भाव।

इस स्थिति तक पहुँचने म काव्यशास्त्र को अनेक ऐसी विशेषताओ का भी अनुभव हुआ जिनका निराकरण अपेक्षित था, अत जिन्हे दोष कहा जाता था।

इस प्रकार हमारा समग्र काव्यशास्त्र निम्नलिखित शीर्षको मे विभक्त किया जा सकता है

१ काव्य प्रयोजन

२ काव्य कारण

३ काव्य-स्वरूप

४ काव्य-विशेषता

(क) गुण[1]

(ख) अलङ्कार

(ग) रीति

(घ) वृत्ति

(ङ) उक्तिवैचित्र्य या वक्रोक्ति

(च) शब्दशक्ति तथा

(छ) दोष

भारतीय काव्यशास्त्र की विशेषता

हम भारतीयों के काव्यशास्त्र की कुछ विशेषताएँ है। ये विशेषताएँ माध्यम और शैली इन दो रूपो में सामने आती है। इसका माध्यम है—सस्कृत भाषा।

सस्कृत भाषा

हमारा अन्य वाङ्मय अर्थात् दर्शन, पुराण आदि जिस सस्कृत-भाषा मे लिखा गया काव्यशास्त्र भी उसी भाषा मे लिखा जाता रहा। यद्यपि अथर्ववेद के

---

१ यहाँ गुण शब्द श्लेष, प्रसाद आदि के लिए ही प्रयुक्त नही है, अत इसमें भरत द्वारा प्रतिपादित लक्षण नामक काव्यविशेषताएँ भी आ जाती है।

पृथ्वीसूक्त[1] के द्रष्टा ने इस भूमिमण्डल को विविध भाषाओं से आच्छन्न बतला दिया था और यह सत्य भी है कि हम ईसवी सन् के ६०० वर्ष पहले भी अनेक भाषाएँ[2] बोलते थे तथापि काव्यशास्त्र का माध्यम हमारी संस्कृत भाषा ही रही। इस भाषा की कुछ विशेषताएँ हैं।

संस्कृत भाषा की विशेषता :

१ संस्कृत भाषा सदा ही शिष्ट समाज की भाषा रही है, जैसा कि इसके 'संस्कृत'—नाम से ही स्पष्ट है।

२ इस भाषा का वाङ्मय अति विशाल है जिसे लक्षणीय या समीक्षणीय सामग्री कहा जा सकता है, जिसका समीक्षण तत् तत् शास्त्रों को जन्म देता है।

३ इस भाषा का शब्दभण्डार इतना बड़ा है कि इसमें एक ही अर्थ के लिए अनेक शब्द चुने जा सकते हैं।

४ व्याकरण भी इस भाषा का इतना सर्वांगसंपूर्ण है कि इसकी वाक्य-रचना अर्थबोध के लिए तनिक भी असमर्थ नहीं रहती, फलतः जिसका अर्थ सुनिश्चित रहता है।

५. उच्चारण की दृष्टि से संस्कृत भाषा सन्धिबहुल भाषा है, इसके पद परस्पर में गुँथे हुए रहते हैं। इस कारण इस भाषा में छन्दोयोजना और कण्ठस्थीकरण अतीव सुकर होते हैं।

६. संस्कृत की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह उस आर्य-जाति की भाषा है जिसका आधिपत्य संपूर्ण पृथ्वी के लगभग तीन चतुर्थांश पर रहा है और जो आत्मदर्शन तथा विश्वदर्शन में सम्पूर्ण मानवता के बीच अग्रणी रही है। इसका दर्शन इतना सूक्ष्म रहा है कि इसकी सटीक व्यञ्जना के लिए इस जाति ने अपनी अभिव्यक्ति को लगभग २५०० वर्षों तक माँजा। इतना माँजा कि इसने विश्व के परम आश्चर्य 'नव्यन्याय' को खोज निकाला। 'नव्यन्याय' आर्यों की अभिव्यक्ति का चरम उत्कर्ष है। यह एक संयोग की बात है कि 'नव्य न्याय' संस्कृत भाषा के ध्वनि-समुदायों में ही बाँधा गया है। संभव है ऐसा भी कोई मेधावी उत्पन्न हो जो इसे अन्य भाषा में संक्रान्त कर दे।

---

१. 'जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसम्' ?

२. द्र. वाल्मीकीय रामायण सुन्दरकाण्ड—३०।१७-१९ श्लो०।

७ संस्कृत के पास ऋग्वेद के रूप में प्राप्त काव्यभाषा का प्रथम सोपान भी सुरक्षित है और नव्यन्याय के रूप में प्राप्त शास्त्रीय अभिव्यक्ति का अन्तिम सोपान भी। फलतः संस्कृतभाषा काव्य और शास्त्र दोनों की सूक्ष्म अभिव्यक्ति से समृद्ध है। संयोग की बात है कि परवर्ती संस्कृत काव्यशास्त्र भी नव्यन्याय की शैली में ही लिखा गया है।

शैली:

काव्य-शास्त्र के लेखन में आर्य-जाति या भारतीय प्रज्ञा ने जिस शैली को अपनाया वह अतीव मनोवैज्ञानिक शैली थी। इस शैली में संक्षेप भी था और विस्तार भी। इस शैली का आविष्कर्त्ता यह जानता था कि मानवमस्तिष्क को क्या प्रिय है। उसे यह विदित था कि मानव का मस्तिष्क संगीत के साँचे में आई भाषा को बड़ी ही सरलता के साथ याद कर लेता है, छन्दोहीन रचना को याद करने में उसे कठिनाई होती है। इन दोनों प्रकृतियों को पहचानते हुए संस्कृत भाषा के साहित्यविधाताओं ने अपने समस्त शास्त्र मुख्यतः पद्यों में लिखे। जिन्हें गद्य में भी लिखा उनमें सूत्रशैली को अपनाकर लिखा, जिससे अध्येता को कम से कम याद करना पड़े। ऐसा लिखा कि उसमें एक भी शब्द न तो अधिक कहा जा सकता था और न कम। यदि सूत्र को स्पष्ट करने की आवश्यकता पड़ी तो उस पर वृत्ति लिख दी गयी, जिसमें सूत्र का तात्पर्य-मात्र उसी प्रकार की संतुलित भाषा में दे दिया गया। भाष्य की रचना भी हुई, किन्तु काव्यशास्त्र में नहीं।

लेखशैली का मूल है विचार-शैली। हमारा विचार, हमारा चिन्तन जिस रूप में प्रतिष्ठित होता है लेखशैली उसी रूप को लेकर प्रकट होती है। चिन्तन में भी संस्कृत काव्यशास्त्र ने अत्यन्त वैज्ञानिकता रक्षित रखी। यह सोचा जाता रहा कि हम जिस तत्त्व को पहचानना चाहते हैं वह सजातीय और विजातीय तत्त्वों से पृथक् हो पाता है या नहीं। यदि हो पाता है तो किस अंश में। उस अंश की खोज पर संस्कृत वाङ्मय की प्रत्येक धारा में साहित्यकार का चित्त केन्द्रित रहा। काव्यशास्त्र में भी यह ध्यान आरम्भ से ही रखा जाता रहा। फलतः—

हमारा काव्यशास्त्र 'मानव की आवश्यकता' और 'वस्तु की वैज्ञानिकता' इन दोनों तथ्यों पर ध्यान रख कर तैयार किया गया। हम समझते हैं इतनी सटीकता विश्व की किसी भी अन्य भाषा के काव्यशास्त्र में निष्पन्न नहीं हुई। अतीत के प्रत्येक अनुच्छेद में, चाहे वह दशक हो, अर्धशती हो, शती हो या सहस्राब्दी हो, विश्व के कोने कोने में हुआ साहित्यविचार तुलना की कसौटी पर जब भी कसा जाता है, उक्त तथ्य स्पष्ट हो जाता है। यही कारण है कि संस्कृत के काव्यशास्त्र

की प्रवृत्ति संकलनात्मक या संग्रहणात्मक रही है। उसने तत्त्व की खोज की और वह जहाँ कहीं दिखायी दिया उसे वहीं से अपना लिया। फलतः संस्कृत के काव्य-शास्त्र में तात्त्विक विश्लेषण अधिक है, व्यावहारिक समीक्षण (Practical criticism) बहुत कम। संस्कृतमस्तिष्क व्यक्तिवादी कभी नहीं रहा। वह सदा ही तत्त्ववादी रहा है। इस कारण यदि कालिदास जैसा कवि भी प्राप्त हुआ तो संस्कृत-समीक्षक ने उसे ही लेकर अधिक कुछ लिखना अथवा उसी पर स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखना उचित नहीं समझा। इसमें दो कारण और थे (१) सुविधा की कमी तथा (२) व्यस्तता। अतीत ने प्रेस और कागज का आविष्कार नहीं किया था। उसने केवल लेखनी, मसी और पत्रों का आविष्कार किया था। इस-लिए लेख की उतनी सुविधा उसे प्राप्त नहीं थी जितनी आज के लेखक को प्राप्त है। व्यस्तता भी बहुत अधिक थी। उसे केवल साहित्य ही पढ़ कर संतुष्ट नहीं होना था। उसे सभी विद्यास्थान पढ़ने थे। उन सबके बीच जितना कुछ समय साहित्यशास्त्र को दिया जा सकता था उससे अधिक समय इस शास्त्र को वह नहीं दे सकता था। वस्तुतः एकाङ्गी अध्ययन जाति, देश और साहित्य को प्रतिष्ठा नहीं दिला पाता।

काव्यशास्त्र एक स्वतन्त्र शास्त्र :

काव्य भाषा का चिन्तन लेखबद्ध भी होने लगा। पहले यह एक आनु-षङ्गिक विषय के रूप में लिखा गया। मीमांसाशास्त्र का गुणवाद-निरूपण काव्य-शास्त्रीय निरूपण ही था। वाल्मीकीय रामायण, महाभारत, कौटलीय अर्थशास्त्र और अभिलेखों में भी इस दिशा में कुछ उक्तियाँ उपनिबद्ध की जाती रहीं।[1] ईसवी सन् के कम से कम २०० वर्ष पूर्व नाट्यशास्त्र लिखते समय भरत मुनि ने काव्यभाषा पर स्वतन्त्र अनुच्छेदों में विवेचन किया जिसका स्पष्टीकरण आगे किया जाएगा, किन्तु यह भी एक आनुषङ्गिक विवेचन ही था। किन्तु भरत का यह विवेचन स्वतन्त्र चिन्तन का दिशानिर्देश था काव्यशास्त्र के सन्दर्भ में। वैसा हुआ भी और भरत के बाद काव्यशास्त्र पर स्वतन्त्र ग्रन्थों की प्रसन्नसलिला भागीरथी बह निकली। इस धारा में भरत के बाद ईसा के नवम शतक तक जितने आचार्य हुए, उनमें आनन्दवर्धन अन्तिम आचार्य हैं। हम इस ग्रन्थ में इन्हीं के व्यक्तित्व और कार्य का अध्ययन करेंगे।

१. द्र. डॉ० राघवन् का 'भोजाज् शृङ्गारप्रकाश' (अंग्रेजी) विशेषतः

आचार्य आनन्दवर्धन[1]

आनन्दवर्धन एक आचार्य हैं। आचार्य भी सामान्य नहीं, अपितु प्रस्थान-प्रवर्त्तक। दर्शनशास्त्र में प्रस्थान-प्रवर्त्तक आचार्य के रूप में आदि शङ्कराचार्य अति प्रसिद्ध हैं। उन्होंने उपनिषदों का तात्पर्य 'अद्वैत' या 'ब्रह्माद्वैत' में प्रतिपादित किया। इसी क्षेत्र के अन्य आचार्य हैं, वल्लभाचार्य, निम्बार्काचार्य, मध्वाचार्य आदि। इनमें से प्रत्येक आचार्य ने एक नवीन बात कही और दर्शन को एक नवीन दिशा दी। आनन्दवर्धन भी ऐसे ही आचार्य हैं। इनका क्षेत्र साहित्य है। साहित्य का अर्थ है 'काव्य और काव्यशास्त्र'। इन दोनों पर अपने युग तक जो चिन्तन हुआ था आनन्दवर्धन ने उसको एक नवीन दिशा दी और प्राचीन चिन्तन का परिष्कार किया।

आनन्दवर्धन का समय

आनन्दवर्धन कवि भी थे अर्थात् कारयित्रीप्रतिभा के भी धनी थे। कवि के रूप में कल्हण ने इनका उल्लेख किया है और इन्हें कश्मीरनरेश अवन्तिवर्मा के साम्राज्यकाल में हुआ बतलाया[2] है। अवन्तिवर्मा का राज्यकाल है ८५५–८८३ ई० सन्। ९०० से ९२५ के बीच हुए, राजशेखर ने इनका उल्लेख किया है और इन्होंने स्वयं लगभग ८०० ई० के उद्भट का। आनन्दवर्धन ने बौद्धदर्शन के 'प्रमाण-विनिश्चय' ग्रन्थ की टीका 'धर्मोत्तरा' पर लिखी 'धर्मोत्तमा' नामक प्रटीका पर कोई वृत्ति लिखी थी[3]। धर्मोत्तमा का समय ८४७ ई० माना जाता है। आनन्द-

---

१ इस ग्रन्थ में ध्वन्यालोक का 'चौखम्बासंस्कृतग्रन्थमाला' का १९९७ वि० सं० में छपा लोचनसहित संस्करण अपनाया गया है।

२ मुक्ताकणः शिवस्वामी कविरानन्दवर्धनः।
प्रथां रत्नाकरश्चागात् साम्राज्येऽवन्तिवर्मणः॥ (राजतरङ्गिणी ५।३४)

३ ध्वन्यालोक के निर्माण के समय तक आनन्दवर्धन ने यह टीका लिखी नहीं थी, तब तक केवल यह निश्चय किया था कि वे टीका लिखेंगे। द्र० ध्व० तृतीय उद्योत का अन्तिम अंश। बाद में आनन्दवर्धन ने यह टीका लिखी भी और लोचनकार अभिनवगुप्त ने उसे देखा भी था। अब यह टीका प्राप्त नहीं है। द्र० लोचन ध्व० तृ० उ० अन्त तथा डॉ० कान्तिचन्द्र पाण्डेय का ग्रन्थ 'अभिनवगुप्त'।

वर्धन ने 'देवीशतक'[1] नामक संस्कृत काव्य लिखा है जो मिलता भी है। इसपर कय्यट की टीका है जिसका रचनाकाल है ९७७ ई०। लगभग इसी समय अभिनवगुप्त भी हुए है, जिनने आनन्दवर्धन के ध्वन्यालोक पर 'लोचन' नामक टीका लिखी है। इन सब परिस्थितियों से यह प्रमाणित है कि आनन्दवर्धन का ऊपर दिया स्थितिकाल ई० सन् ८५५-८८३ ठीक है। इसका अर्थ यह हुआ कि **आनन्दवर्धन ईसा की नवमी शती में और विक्रम की दशमी शती में हुए।**

पूर्ववर्ती आचार्य और उनका काव्यचिन्तन :

(क) आचार्य :

आनन्दवर्धन के समय तक संस्कृत में काव्य सम्बन्धी चिन्तन पर बने काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों का इतिहास ११०० वर्ष पुराना हो चुका था। इस अन्तराल में अनेक आचार्य हुए किन्तु उन सबकी कृतियाँ आज उपलब्ध नही है। जिनकी कृतियाँ उपलब्ध है वे है, 'भरत, दण्डी, भामह, उद्भट और वामन' ये पांच आचार्य। इनके समय और ग्रन्थों का विवरण इस तालिका से स्पष्ट है :

ग्रन्थकार	समय	ग्रन्थनाम
१. भरतमुनि	ईसा पूर्व २०० से ईसा की २००	नाटचशास्त्र[2]
२. दण्डी	ई० सन् ६६०-६८०	काव्यादर्श[3]
३. भामह	ई० सन् ७००-७२५	काव्यालङ्कार[4]
४. उद्भट	ई० सन् ७५०-८००	काव्यालङ्कारसारसंग्रह[5]
५. वामन	ई० सन् ८००	काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति[6]

---

१. काव्यमाला ९ गुच्छक।

२. नाटचशास्त्र बड़ौदा तथा कलकत्ता से, अनेक बार प्रकाशित।

३. काव्यादर्श अनेक बार प्रकाशित। उत्तम संस्करण पूना से श्री रंगाचार्य रड्डी की टीका के साथ १९३८ में प्रकाशित।

४. काव्यालङ्कार चौखम्भा, बिहारराष्ट्रभाषापरिषद् तथा दक्षिणभारत से अनेक बार प्रकाशित।

५. काव्यालङ्कारसारसंग्रह निर्णयसागर,

६. काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति निर्णयसागर तथा चौखंभा से प्रकाशित।
वामन के बाद रुद्रट नामक एक और आचार्य हुए जो आनन्दवर्धन के कुछ ही पहले के माने जाते है किन्तु आनन्दवर्धन उनसे परिचित नही है।

(ख) चिन्तन

इन आचार्यों में भरत ने काव्य के चार धर्मों की खोज की थी

१ रस

२ भूषण या लक्षण

३ दोषाभाव या गुण तथा

४ अलङ्कार[1]।

दण्डी से वामन तक हुए चिन्तन में केवल एक ही तथ्य नवीन दिखायी देता है वह है 'काव्यस्वरूप'। भरत ने इसपर विचार नहीं किया था। इन आचार्यों ने विचार किया और ये उत्तरोत्तर गम्भीरता में पहुँचते गये। जहाँ तक काव्यतत्त्वों का सम्बन्ध है उक्त चारों आचार्यों ने इस दिशा में कोई नई देन नहीं दी। इन्होंने भरत द्वारा उल्लिखित काव्यतत्वों का परिष्कार ही किया। ऐसा करते हुए इन आचार्यों ने निम्नलिखित दो तत्त्वों को स्वतन्त्र तत्त्व स्वीकार किया

१ रस तथा

२ भूषण या लक्षण,

फलत दण्डी से वामन तक भावात्मक काव्यतत्त्व के रूप में केवल दो ही तत्त्व शेष रहे

१ गुण और

२ अलङ्कार

दोषाभाव अभावात्मक था। भरत ने इसे गुणरूप माना था किन्तु वामन ने उनके सिद्धान्त को उलटकर स्वीकार किया और गुणाभाव को दोष स्वीकार किया।

इन आचार्यों के चिन्तन में गुणों और अलङ्कारों की विशेषताओं का आकलन गम्भीरता के साथ किया गया। फलत इनने काव्यतत्त्वों की कुछ नई सज्ञाएँ भी प्रस्तुत की। दण्डी ने गुणों की सहति को 'मार्ग' कहा। वामन ने उसे 'रीति' नाम से पुकारा। उद्भट ने अलङ्कारों के बीच गिने गये अनुप्रास में वर्णों की मैत्री पर ध्यान दिया और 'वृत्ति'-नामक एक नवीन तत्त्व की कल्पना की। इस प्रकार दण्डी से वामन तक काव्यधर्म कहे जाने वाले तत्त्वों की सज्ञा और सख्या चार हो गयी

---

१ (क) रस के लिए द्रष्टव्य नाट्यशास्त्र का षष्ठ अध्याय, शेष के लिए द्रष्टव्य १७वाँ अध्याय।

(ख) रस, गुण, दोष तथा अलङ्कारों का निरूपण आगे के स्वतन्त्र अध्यायों और अनुच्छेदों में होगा।

१. गुण
२. अलङ्कार
३. रीति तथा
४. वृत्ति,

वस्तुतः यह संख्या नामों तक ही सीमित थी क्योंकि वस्तुतः काव्यतत्त्व दो ही थे—(१) गुण और (२) अलङ्कार। रीति गुण का ही नामान्तर था तथा वृत्ति अनुप्रास का। दण्डी के अनुसार तो वृत्ति भी रीति-धर्म ही है, क्योंकि वृत्ति अनुप्रास-धर्म है और दण्डी ने अनुप्रास की गणना माधुर्यनामक गुण के अन्तर्गत की है। यदि उक्त दोनों काव्यतत्त्वों मे भरतमुनि का रस भी स्वतन्त्र रूप से जोड़ लें तो काव्यतत्त्व की संख्या तीन हो जाती है :

१. रस
२. गुण तथा
३. अलङ्कार।

प्रस्थान और संप्रदाय :

उक्त काव्यतत्त्वों के बीच प्रधानता और अप्रधानता का भी प्रश्न उठाया गया। आनन्दवर्धन के पूर्व यह प्रश्न केवल दो ही आचार्यों में दिखाई दिया (१) भरत में और (२) वामन मे।

भरत ने कहा था—'रसः काव्यार्थः[१]—'काव्य का प्रयोजन है रस' और वामन ने कहा :

(क) काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात्[२]
(ख) सौन्दर्यमलङ्कारः[३]
(ग) स दोषगुणालङ्कारहानादानाभ्याम्[४]
(घ) काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्मा गुणाः[५]
(ङ) तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः।[६]

---

१. स्मरणीय है कि ऐसा कोई वाक्य भरतनाट्यशास्त्र में नही मिलता। वहाँ सप्तम अध्याय के आरम्भ में 'काव्यार्थान् भावयन्तीति भावाः' केवल इतना ही लिखा मिलता है। 'रसः काव्यार्थः' वाक्य इसी भावलक्षण के आधार पर अभिनवगुप्त ने गढ़ा है। द्र० अभिनवभारती भाग–१ पृ० ३७८ व० सं०।
२–४ काव्यालंकारसूत्र १।१।१–३.
५–६ काव्यालंकारसूत्र ३।१।१–२.

'काव्य में ग्राह्यता आती है सौन्दर्य से, और सौन्दर्य है अलंकार, वह उत्पन्न होता है दोष के परिहार और गुण तथा (उपमा आदि) अलंकारों के आदान से। गुण उन धर्मों का नाम है जो काव्य में इस सौन्दर्य नामक अलंकार को उत्पन्न करते हैं। (उपमा आदि) अलंकार उस सौन्दर्य नामक अलंकार में केवल अतिशय लाते हैं।'

किन्तु

वामन ने गुणों और (उपमा आदि) अलंकार में गुणों को अधिक महत्त्व दिया। उनने लिखा

(१) रीतिरात्मा काव्यस्य[1]

(२) विशिष्टा पदरचना रीतिः[2]

(३) विशेषो गुणात्मा[3]

वामन ने भरत के मत का विरोध नहीं किया। उनने रस को कान्ति-नामक गुण में अन्तर्भूत माना और भरत के मत के साथ अपने मत का सामञ्जस्य स्थापित रखा।

जहाँ तक बीच के आचार्यों का सम्बन्ध है अर्थात् दण्डी, भामह और उद्भट का, उनने काव्यतत्त्वों की प्रधानता या अप्रधानता का कोई प्रश्न नहीं उठाया, किंतु भामह और उद्भट ने अपने ग्रन्थों का नामकरण 'अलङ्कार' शब्द के साथ किया। उद्भट ने तो अपने ग्रंथ में विवेचन भी केवल अलङ्कारों का ही किया, अन्य तत्त्वों का नहीं। ऊपर दी हुई तालिका से स्पष्ट है कि उद्भट के ग्रन्थ का नाम है 'काव्यालङ्कार-सारसंग्रह' तथा भामह के ग्रन्थ का नाम है 'काव्यालङ्कार'। इस प्रवृत्ति से अनुमान किया जाता है कि इन दोनों आचार्यों ने काव्यतत्त्वों में 'अलङ्कार' को ही महत्त्व दिया। दण्डी ने अपने ग्रन्थ का नाम 'अलङ्कार' पर तो नहीं रखा परन्तु उसमें कुल तीन परिच्छेद बनाये जिनमें अलङ्कारों का विवेचन ही अधिक मात्रा में किया। ऐसा समझना चाहिए कि दण्डी के काव्यादर्श की कुल कारिकाएँ ६६० हैं, उनमें अलङ्कारों का विवेचन लगभग ४६१॥ कारिकाओं में हुआ है। स्पष्ट ही दण्डी के सम्पूर्ण काव्यादर्श का दो तिहाई अंश अलङ्कारों से व्याप्त है। कदाचित् इसीलिए परवर्त्ती भामह ने ग्रंथ का नाम काव्यालङ्कार ही रखा और उद्भट ने 'काव्यालंकारसारसंग्रह', क्योंकि भामह ने अपने ग्रन्थ को काव्यालंकार कहकर भी उसमें अलंकारेतर (गुण आदि) तत्त्वों को भी स्थान दे

१–३ काव्यालंकारसूत्र १।२।६–८

दिया था। भामह और उद्भट के नामकरण की इस प्रवृत्ति से यह तथ्य उन्मेष पाता है कि ये आचार्य काव्यतत्त्वों में अलंकार को महत्त्व देते हैं।

प्रस्थान :

स्मरणीय है कि भरत से वामन तक [और उसके आगे भी] काव्य-शास्त्र के किसी भी आचार्य ने अपने मत के लिए 'संप्रदाय'-शब्द का प्रयोग नहीं किया है। इनमे से केवल वामन ने एक विशिष्ट शब्द का प्रयोग किया था। वह शब्द था 'आत्मा'। वामन ने, जैसा कि कहा जा चुका है, कहा था 'रीतिरात्मा काव्यस्य'—'काव्य की आत्मा है रीति'। यहाँ 'आत्मा' का अर्थ था 'प्रधान'। इस शब्द को लेकर परवर्ती साहित्यशास्त्र मे एक नवीन वर्गीकरण को जन्म मिला। वह वर्गीकरण था प्रास्थानिक वर्गीकरण। 'प्रस्थान'-शब्द दर्शन शास्त्र का शब्द था। आत्मतत्त्व के विवेचन मे जो मत उपस्थित होते थे उन्हे और उन पर बने ग्रन्थों को दर्शन मे प्रस्थान कहा जाता था। काव्यशास्त्र में भी काव्य के प्रधान तत्त्व को आत्मतत्त्व मानकर उसके विवेचन में जो मत उपस्थित हुए उन्हें प्रस्थान कहा गया। काव्यशास्त्र के इस 'प्रस्थान'-शब्द का प्रयोग सबसे पहले आनन्दवर्धन ने ही किया है। ध्वन्यालोक की आरम्भिक पंक्तियों में ही वे प्राचीन काव्य-शास्त्रीय तत्त्वों को 'प्रसिद्ध-प्रस्थान' कहते हैं। आधुनिक विद्वान् प्रस्थान को ही संप्रदाय-शब्द से पुकार रहे है। वस्तुतः

प्रस्थान और संप्रदाय में अन्तर :

प्रस्थान और संप्रदाय में अन्तर है। प्रस्थान का अर्थ है सिद्धान्त। सिद्धांत का अर्थ होता है अनेक तत्वों में किसी एक तत्त्व को प्रधान बतलाने वाला मत।[1] संप्रदाय, इसके विपरीत, गुरुशिष्य-परम्परा[2] मे पीढियों तक बहने वाली ज्ञानधारा का नाम है, भले ही उसमे किसी एक तत्त्व को प्रधान माना जाये या नही। उदा-

१. प्रस्थान-शब्द का प्रयोग तत्-तत् शास्त्रों के लिये ईसा पूर्व किसी शती से लेकर ईसा की किसी प्रारम्भिक शती मे बने 'शिवमहिम्नस्तोत्र' मे आता है 'त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति प्रभिन्ने प्रस्थाने०'। इस पर मधुसूदनसरस्वती ने 'प्रस्थानभेद' नामक एक टीका भी लिखी है जो सर्वदर्शन-संग्रह मे स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में भी छपी है।

२. ईसा पूर्व के जैमिनीय मीमांसासूत्र 'तुल्यं च साम्प्रदायिकम्' में संप्रदाय शब्द गुरु शिष्य-परम्परा के लिए ही आया है। भाष्यकारों ने उसका यही अर्थ किया है।

हरणार्थ वाचस्पति मिश्र अपनी भामती में बौद्ध-सिद्धान्तो को बडी ही बारीकी के साथ उपस्थित करते है। सर्वदर्शनसग्रह में माधवाचार्य जी ने भी बौद्ध आदि नास्तिक-दर्शनो को स्थान दिया है। ये सभी सिद्धान्त गुरुशिष्य-परम्परा से अनेक शताब्दियो से पढाए जाते आ रहे हैं। इन्हे वैदिक भी पढते है और अवैदिक भी। इन दोनो के अतिरिक्त वे भी पढते है जो न नास्तिक है और न आस्तिक। इस प्रकार की अध्ययन-परम्परा को सप्रदाय तो कहा जा सकता है किन्तु वैदिक प्रस्थान नही। नास्तिको के लिये वैदिक सिद्धान्तो को सप्रदाय कहा जा सकेगा प्रस्थान नही। इस प्रकार प्रस्थान का सम्बन्ध प्रधानता से है जबकि सप्रदाय का गुरुशिष्य-परम्परा से। यह परम्परा प्रस्थान अर्थात् प्रधान की भी हो सकती है और प्रस्थानेतर अर्थात् अप्रधान की भी।

फलत सप्रदाय भी दो प्रकार के होगे (१) जो प्राचीन परम्परा से प्राप्त बोधराशि तक सीमित होगे और (२) जो प्राचीन में से किसी एक तत्व को अथवा किसी नवीन तत्व को प्रधान मानकर उपस्थित किए गए प्रस्थान की परम्परा के रूप में सामने आयेंगे। द्वितीय को हम प्रास्थानिक सप्रदाय कहेंगे।

प्रस्थान भेद

सस्कृत के सपूर्ण काव्यशास्त्र में कुल मिलाकर ६ आचार्य ऐसे है जो किसी एक तत्व को प्रधान मानते हैं और इसलिए जिन्हे प्रस्थानप्रवर्तक आचार्य कहा जा सकता है। इनके प्रस्थान और नाम निम्नलिखित हैं—

१	रस-प्रस्थान	भरत
२	अलकार-प्रस्थान	दण्डी
३	रीति प्रस्थान	वामन
४	ध्वनि प्रस्थान	आनन्दवर्धन
५	वक्रोक्ति-प्रस्थान	कुन्तक
६	औचित्य प्रस्थान	क्षेमेन्द्र

पूर्वापर-सिद्धान्त

इनमें से औचित्य-प्रस्थान के प्रवर्तक है क्षेमेन्द्र, जो साहित्यशास्त्र में साक्षात् अभिनवगुप्त के शिष्य है अत जिनका समय ११०० ई० है। वक्रोक्ति-प्रस्थान के प्रवर्तक कुन्तक है जिनका समय वही है जो अभिनवगुप्त का है। ध्वनि-प्रस्थान स्वय आनन्दवर्धन का है। परिणामत आनन्दवर्धन के पूर्व काव्यशास्त्र के कुल ६ प्रस्थानो में से प्रथम तीन प्रस्थान अस्तित्व में आ चुके थे। इन सभी प्रस्थानो

मे से प्रत्येक की परम्परा नहीं चल सकी अतः इनके संप्रदाय[1] न बन सके। जिन प्रस्थानों की परम्परा चली वे केवल दो हैं—

१. अलंकार-प्रस्थान तथा

२. ध्वनि-प्रस्थान।

शेष प्रस्थानों मे वक्रोक्ति और गुण को अलंकार मे अन्तर्भूत मान लिया गया और रस तथा औचित्य को ध्वनि मे। वक्रोक्तिजीवितकार कुन्तक ने सालंकार शब्दार्थ-युग्म को काव्य माना था और कहा था अलंकार है वक्रोक्ति—

उभावेतावलङ्कार्यौ तयो पुनरलंकृतिः।
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गीभणितिरुच्यते॥[2]

कहा जा चुका है कि वामन ने गुण को सौन्दर्यजनक होने के कारण उपादेय माना था और सौन्दर्य को अलंकार ही कहा था। अलंकार शब्द का जो प्रयोग उपमा आदि के लिए होता है वह वामन की दृष्टि में अवान्तर प्रयोग है। सर्वथा, वामन के अनुसार अलंकार मुख्य और अमुख्य दोनों अर्थो में एक तत्त्व है। इस प्रकार गुण-प्रस्थान वस्तुत. सौन्दर्य-प्रस्थान है और इसीलिए वह अलंकार-प्रस्थान में अन्तर्भूत हो जाता है। रस ध्वनि का एक अंग है और औचित्य रस का अंग है।

वामन का सौन्दर्य-प्रस्थान :

सच पूछिए तो संस्कृत के सम्पूर्ण काव्यशास्त्र मे एक ही प्रस्थान और एक ही संप्रदाय है। वह है 'सौन्दर्य-प्रस्थान' और 'सौन्दर्य-संप्रदाय' उपमा आदि अलंकार और ध्वनि ये दोनों इसी सौन्दर्यप्रस्थान और सौन्दर्यसंप्रदाय के दो अवान्तर घटक या अवान्तर पक्ष हैं। परिणामतः ये दोनों ही पक्ष स्वतन्त्र प्रस्थान और स्वतन्त्र संप्रदाय न होकर सौन्दर्य प्रस्थान और सौन्दर्य संप्रदाय मे ही अन्तर्भूत हैं। कठिनाई यह है कि सौन्दर्य को वामन ने भी उतनी स्पष्टता के साथ काव्य का प्रधान तत्त्व नही कहा जितनी स्पष्टता के साथ उनने रीति को प्रधान तत्त्व कहा था, परिणामतः उन्ही के प्रस्थान में छिपे इस सौन्दर्यवाद पर दृष्टि नही जाती। यह एक छिपा हुआ रहस्य और निहित, निगूढ अथवा अर्थापत्तिलभ्य तत्त्व है। काव्यशास्त्र के जागरूक अध्येता और पटु गवेषक का ध्यान इस रहस्य की ओर अवश्य ही जाना चाहिए। आनन्दवर्धन ने भी ध्वनि को ध्वनि इसीलिए माना

---

१. द्र. पं० बलदेव उपाध्याय का 'भारतीय साहित्यशास्त्र'—भाग-१ पृ० १८५, आपने प्रस्थान शब्द के स्थान पर सिद्धान्त शब्द का प्रयोग किया है।

२. वक्रोक्तिजीवित १।१०

कि उसमे उन्हें चारुत्व की प्रधानता दिखलाई दी। चारुत्व सौन्दर्य का ही, जैसा कि हम आगे आ रहे काव्यलक्षण-अनुच्छेद में स्पष्ट करेंगे, प्रमातृप्रधान पक्ष है। जब हम सौदर्य से चारुत्व की ओर बढते है और प्रमेय से प्रमाता की ओर पहुँचते है तो हम चारुत्व को भी छोटा मानने और उससे आगे बढकर रस को प्रधान मान लेते है। चारुत्व—'चारु-सपेक्ष' तथ्य है, अत वह द्वैत-प्रधान है, रस उसकी अपेक्षा अनुभविता की अपनी आत्मा तक सीमित आस्वाद है, लय है, समाधि है, अत वह अद्वैतभूमिका है। ध्वनि का रस भी इसी रस की एक स्थिति है। परिणामत सौन्दर्यवाद ही रसवाद में बदल जाता है। तब लगता है कि रसप्रस्थान ही मुख्य और अन्तिम प्रस्थान है, किन्तु यह एक दूसरी अति होगी है, क्योंकि हम इसमें 'रमनीय' को अधिक स्थान नही दे पाते। सौन्दर्य और रस के एक-प्रधान पक्षों का समन्वय 'रसभोग'—प्रस्थान में माना जा सकता है, जिससे प्रवर्त्तक भट्ट-नायक है, किन्तु यह प्रस्थान ईसा की दसवी शती में ही समाप्त कर दिया गया। उसे पनपने नही दिया गया। अस्तु,

प्रसिद्ध प्रस्थान दो ही है अलकार-प्रस्थान और ध्वनि-प्रस्थान। वस्तुत इससे अधिक प्रस्थान हो सकते भी नही। काव्यजगत् में काव्य और उसके आस्वादयिता के अतिरिक्त तीसरी कोई वस्तु होती ही नही। अलकार-प्रस्थान काव्य-शरीर की विशेषताओ का आकलन प्रस्तुत करता है और ध्वनिप्रस्थान अनुभविता की चेतना पर अकित काव्यशरीरीय प्रतिबिम्ब की विशेषताओ का। तीसरा पक्ष हो सकता है तो कवि का हो सकता है, किन्तु कवि का व्यक्तित्व काव्य के व्यक्तित्व से समरस हो जाता है, अत उसका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नही रह जाता।

इतिहास की उक्त छानबीन से स्पष्ट है कि भारतीय काव्यशास्त्र के प्रमुख प्रस्थान=अलकारप्रस्थान और ध्वनिप्रस्थान में से आनन्दवर्धन के समक्ष काव्य-शास्त्र के एक प्रमुख प्रस्थान=अलकारप्रस्थान का सप्रदाय उपस्थित था। अभिप्राय यह कि उक्त दो अनुच्छेदो में विभक्त काव्यालोचन का आधा अश अर्थात् प्रथम अनुच्छेद आनन्दवर्धन के पहले ही बन चुका था और वह आनन्दवर्धन के समक्ष उपस्थित था। किन्तु

ध्वनिप्रस्थान का मूल

सत्य यह है कि जिस आधे अवशिष्ट अश की कल्पना का श्रेय आनन्दवर्धन को दिया जाता है उसका भी भावाङ्कन इसी (आनन्दवर्धन-पूर्ववर्त्ती) युग में हो चुका था। आनन्दवर्धन ने उसमें केवल प्रधानता के दर्शन किए और समस्त शाखा-प्रशाखाओं के साथ उसका निरूपण एक स्वतन्त्र ग्रन्थ द्वारा उसी प्रकार किया

जिस प्रकार अलंकार-पक्ष का निरूपण उद्भट आदि ने किया था। प्रमाणार्थ आनन्द-वर्धन ने, जैसा कि आगे आ रहे अध्यायों से स्पष्ट होगा, ध्वनि को 'वस्तु, अलंकार और रस' इन तीन भागों में देखा। उनके अनुसार ध्वनि का समग्र व्यक्तित्व केवल इन तीन इकाइयों मे आ गया। संयोग की बात है कि ये तीनों ही तत्त्व आनन्दवर्धन-पूर्ववर्त्ती आचार्यों के काव्यालंकारों मे भी यथावत् चर्चित है, अन्तर केवल विधा का है। पूर्ववर्त्ती आचार्यों ने इन्हे भिन्न ही विधा में प्रस्तुत किया है। उदाहरणार्थ वामन 'ओज'-नामक अर्थगुण का निरूपण करते और कहते हैं कि ओज का एक प्रकार वह भी है जिसमे 'वाच्य अर्थ कोई विशिष्ट अभिप्राय छिपाए रहता है'। जैसे कहा जाए कि 'देखिए इस सुकेशी का केशपाश' तो सुकेशी-शब्द का प्रयोग हो तो रहा है किसी सुन्दरी के लिए, परन्तु उसका अभिप्राय निकल रहा है 'केशपाश की शोभनता'। यह शोभनता कोई उपमा या रूपक जैसा पदार्थ नही है, जिसे अलंकार कहा जाए। यह एक वस्तु है। इसके लिए यहाँ किसी भी ऐसे शब्द का प्रयोग नही है जिसे उसका उसी प्रकार वाचक कहा जा सके जिस प्रकार राम शब्द को राम का वाचक माना जाता है या कृष्ण शब्द को कृष्ण का। निश्चित ही यहाँ 'केशपाश की शोभनता' प्रतीयमान है और इसीलिए उसे व्यङ्ग्य तथा ध्वनि कहा जा सकता है। यह ध्वनि वस्तुध्वनि ही है। अलंकार ध्वनि के लिए तो आनन्दवर्धन स्वयं लिखते है कि उद्भट ने एक अलंकार से दूसरे अलंकार को व्यक्त होता हुआ स्वीकार किया है। दीपक से उपमा की अशाब्दी प्रतीति उसका प्रमाण है। स्पष्ट ही अलंकारध्वनि की पहचान उद्भट ही कर चुके थे। जहाँ तक रस का सम्बन्ध है वामन का कान्तिनामक अर्थगुण और दण्डी, भामह तथा उद्भट के रसवदलंकार में उसका भी आकलन किया जा चुका था। अन्तर इतना ही है कि आनन्दवर्धन के पहले हुए इन आचार्यों ने 'ध्वनि' शब्द का प्रयोग नही किया था। भरत भी 'ध्वनि' संज्ञा का प्रयोग नहीं करते। इस प्रकार आनन्दवर्धन के पहले का काव्यचिन्तन भी सामाजिक-निरपेक्ष नही था। यह संभव ही कैसे होता कि कोई आचार्य काव्य का चिन्तन सामाजिकनिरपेक्ष अर्थात् अपनी स्वयं की आत्मा से निरपेक्ष होकर करता। अतः काव्यशरीर की आलोचना को उसके अनुभविता को, उनके आस्वादयिता की अन्तरात्मा से अत्यन्त दूर रखकर निष्पन्न हुई स्वीकार नही किया जाता। इस प्रकार यह कहना सर्वथा युक्तियुक्त है कि संस्कृत काव्यशास्त्र के

(१) अलंकार-सम्प्रदाय तथा
(२) ध्वनि-सम्प्रदाय

नामक दोनों सम्प्रदाय अपने मूल रूप मे आनन्दवर्धन के पूर्व ही अस्तित्व मे आ

चुके थे। अलंकारसम्प्रदाय तो प्रास्थानिक सम्प्रदाय का रूप भी ले चुका था। ध्वनिसम्प्रदाय को 'ध्वनि'-संज्ञा और प्रास्थानिकता मिलना अवशिष्ट था।

व्यञ्जना

ध्वनि का प्राण है व्यञ्जना। आनन्दवर्धन ने इसे एक व्यापार स्वीकार किया है। वस्तुतः इस व्यापार का अस्तित्व भी आनन्दवर्धन के पूर्व ही स्वीकार किया जा चुका था। भरत ने लिखा था—

(क) 'अष्टौ भावाः स्थायिनः।
त्रयस्त्रिंशद् व्यभिचारिणः।
अष्टौ सात्त्विकाः।
एते काव्यरसाभिव्यक्तिहेतवः[1]।'

(ख) काव्यार्थ-संश्रितैर्विभावानुभावव्यञ्जितैः
एकोनपञ्चाशद्भावैः अभिनिष्पद्यन्ते रसाः[2]।

(ग) नानाभावाभिनय-व्यञ्जितान् वागङ्गसत्त्वोपेतान्
स्थायिभावानास्वादयन्ति सुमनसः।[3]

(क) *आठ स्थायी, तीस संचारी तथा आठ सात्त्विक भाव यानी ४९* भाव काव्य रस की 'अभिव्यक्ति' कराते हैं।

(ख) काव्यार्थनिष्ठ विभाव तथा अनुभाव से ४९ भाव 'व्यञ्जित' होते और रस की निष्पत्ति कराते हैं।

(ग) स्थायिभाव नाना प्रकार के भावों के आङ्गिक, वाचिक तथा सात्त्विक अभिनयों से व्यञ्जित होते और तब सदस्यों के आस्वाद में आते हैं।

स्पष्ट ही इन उद्धरणों में भरत ने व्यञ्जना को स्वीकार किया है।

यद्यपि भरत ने यहाँ आई 'व्यञ्जना' को व्यापार नहीं कहा है, तथापि इससे यह सिद्ध नहीं होता कि व्यञ्जना को व्यापार मानने का श्रीगणेश आनन्दवर्धन से होता है, क्योंकि उद्भट ने पर्यायोक्त नामक अलंकार के लक्षण में इसे व्यापार भी कह दिया है यद्यपि वे इसे व्यञ्जना न कहकर 'अवगमन' कहते हैं—

---

१ नाट्यशास्त्र बड़ौदा संस्करण पृ० ३४८, सप्तमाध्याय।
२ नाट्यशास्त्र बड़ौदा संस्करण पृ० ३४९, सप्तमाध्याय।
३ नाट्यशास्त्र बड़ौदा संस्करण पृ० २८८, षष्ठ अध्याय।

पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते ।
वाच्यवाचकवृत्तिभ्यां भिन्नेनावगमात्मना ॥[1]

वह अलंकार पर्यायोक्त कहलाता है जिसमें कोई बात दूसरे ही प्रकार से कही जाती है, ऐसे प्रकार से जो वाच्य और वाचक की वृत्तियों (अभिधा तथा लक्षणा) से भिन्न 'अवगम'-स्वरूप होता है ।

अवगम का अर्थ अनुमान[2] भी किया जाता है, किन्तु आनन्दवर्धन के अनुसार इसका अर्थ व्यञ्जना भी बड़ी ही सरलता के साथ किया जा सकता है, क्योंकि व्यञ्जना के लिए 'अवगमन'-शब्द का प्रयोग आनन्दवर्धन ने किया भी है ।[3] इस प्रकार—

भारतीय काव्यशास्त्र के मुख्य और प्रास्थानिक संप्रदाय दो ही हैं—

१. अलंकार-संप्रदाय तथा
२. ध्वनि-संप्रदाय

एवं दोनों ही संप्रदायों के मूलतत्त्व 'अलंकार' एवं 'प्रतीयमान अर्थ' की पहचान आनन्दवर्धन के पूर्व भरत से वामन तक हो चुकी थी इतना ही नहीं, प्रतीयमान अर्थ के लिये अपेक्षित अतिरिक्त व्यापार और उसका विशिष्ट नाम 'व्यञ्जना' भी आनन्दवर्धन के पूर्व ही, न केवल चिन्तन के गर्भ में आ चुके थे, अपितु प्रकट भी हो चुके थे । केवल तब तक प्रतीयमान अर्थ, उसके आधार व्यञ्जनाव्यापार, उसके आश्रय शब्द तथा वाच्यार्थ एवं इन सबके आश्रय काव्य[4] में से किसी के लिए 'ध्वनि'-संज्ञा का प्रयोग नहीं हुआ था, न तो 'प्रतीयमान अर्थ' के इस पक्ष को ही महत्त्व दिया गया था । फलतः वामन तक भारतीय साहित्यशास्त्र में न तो ध्वनि-संज्ञा ही अपनाई गई थी और न उसके नाम पर चले संप्रदाय को संप्रदाय के रूप में देखा गया था । अर्थ यह कि—

प्राचीन चिन्तन और उसकी कमियाँ :

(क) भरत से वामन तक का ११०० वर्षों का समय काव्यचिन्तन के क्षेत्र में जिस दिशा की ओर अधिक बढ़ा वह काव्य के आस्वाद्य स्वरूप की दिशा

---

१. काव्यालंकारसारसंग्रह ।
२. ,, ,, के टीकाकार प्रतीहारेन्दुराज ने अवगमन का अर्थ व्यञ्जना नहीं किया क्योंकि वे ध्वनिविरोधी थे । लोचनकार ने अवगमन को व्यञ्जना ही माना है ।
३. ध्व० पृ० ४१७ 'न हि यैवाभिधानशक्तिः सैवावगमनशक्तिः ।'
४. लोचनकार ने इन पाँचों अर्थों में ध्वनिशब्द का प्रयोग माना है ।

थी, 'आस्वादयिता' की नहीं। आस्वादयिता उसमें अप्रधान था। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि आनन्दवर्धन के पहले का काव्यचिन्तन काव्य के प्रमेय-पक्ष को अधिक बल दे रहा था, प्रमातृ-पक्ष को नहीं। यह भी कहा जा सकता है कि काव्य यदि एक शरीरधारी व्यक्ति है तो आनन्दवर्धन के पूर्ववर्ती चिन्तन ने उसके स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर तथा इन शरीरों के तत्तद धर्मों पर स्वय को अधिक केन्द्रित किया। इसने इन तीनों से परे कहे जाने वाले 'चैतन्य' को उतनी गहराई से नहीं अपनाया। आनन्दवर्धन की दृष्टि से शब्द है काव्य का स्थूल शरीर, प्रथम अर्थ है उसका सूक्ष्म शरीर, गुणालकार है इनके धर्म और चैतन्य है प्रतीयमान अर्थ। और इसलिए भरत से वामन तक के काव्यचिन्तकों ने स्वय को स्थूल वैज्ञानिक सिद्ध किया था, सूक्ष्मदर्शी दार्शनिक नहीं। वे सूक्ष्मदर्शी दार्शनिक तब सिद्ध होते जब प्रतीयमान अर्थरूपी चैतन्य का चिन्तन करते।

(ख) वैज्ञानिक चिन्तन में भी एक कमी थी। वह थी व्यवस्था की। भरत से वामन तक के आचार्य यह तय नहीं कर सके थे कि उनने काव्य के जिन तत्त्वों की खोज की है उनमें से कितने तत्त्व कहाँ उपादेय हो सकते हैं। तब तक खोजे गए तत्त्वों में से प्रत्येक की सख्या इस प्रकार[1] थी—

१ रस ९
२ अलकार ५१
३ गुण २३ से अधिक
४ रीति ३
५ वृत्ति ३

(इन सबका पूर्ण विवरण आगे आने वाले इनके अपने प्रकरणों में दे दिया गया है।) वामन के युग तक आविष्कृत अलकार, गुण, रीति तथा वृत्तियों के अनेकानेक भेदों में से कठोर भेद को कोमल सन्दर्भ में और कोमल भेद को कठोर सन्दर्भ में अपनाया जा सकता था, क्योंकि तब तक इन तत्त्वों के सीमाविभाग और नियमन के लिए अपेक्षित मानदण्डों को मानदण्डों के रूप में स्वीकार नहीं किया गया था, यद्यपि उनका आविष्कार हो चुका था। ये मानदण्ड थे रस और भाव। भरत ने इनका विवेचन पर्याप्त मात्रा में किया था, किन्तु वह सब नाट्य

---

१ इन सभी तत्त्वों की गणना के लिए देखिए हमारे 'अलकारसर्वस्व' की भूमिका तथा काव्यालकारसूत्र पर लिखित प्रस्तावना। प्रकाशक-चौखम्बा, वाराणसी–१।

के सन्दर्भ में हुआ विवेचन था। काव्य के सन्दर्भ मे रस की मीमासा भरत मे नही के बराबर थी। दण्डी से वामन तक आचार्यों ने काव्य पर ध्यान केन्द्रित किया, किन्तु वे रस को उत्तरोत्तर भुलाते गए। दण्डी ने सभी रसो का उल्लेख किया, किन्तु भामह इस दिशा मे चुप्पी साधे दिखायी दिए, उद्भट का रसवदलंकार का सन्दर्भ भी रसविवेचन की दृष्टि से नगण्य था। वामन ने भी रसों को गिनाया किन्तु मानो पादटिप्पणी मे। इन आचार्यों के समक्ष सन्दर्भ काव्य या प्रबन्ध काव्य भी थे, किन्तु इनकी दृष्टि मुक्तक काव्यों पर अधिक आश्रित रही। प्रबन्ध काव्यो के प्रबन्धगुण से विभाव अनुभाव और संचारी भावों की जो संहिता भावक या सामाजिक के चित्तपट पर अंकित होती है उस पर इन आचार्यों का ध्यान वाञ्छित मात्रा मे नही गया। प्रबन्ध काव्यों मे जिसे सर्वोत्तम माना गया है वह है 'सर्गबन्ध' या 'महाकाव्य'। इस पर दण्डी की दृष्टि गयी थी, किन्तु उनने उसके लक्षण मे रस को कोई स्थान नही दिया। भामह ने रस को भी स्थान दिया, किन्तु उनका विवेचन नही किया।

आनन्दवर्धन का योगदान :

आनन्दवर्धन ने चिन्तन की उक्त धारा को बदला और उनने प्रमातृपक्ष की या आस्वादयिता की भूमिका पर आरूढ हो प्राचीन समस्त चिन्तन का सर्वेक्षण किया। इस सर्वेक्षण मे उन्हे शब्दार्थात्मक काव्यशरीर मे दो ही तत्त्व वास्तविक प्रतीत हुए (१) अलकार और (२) गुण। उनने वृत्तियों को अनुप्रासरूप ही पाया और रीतियो को गुणरूप। उन्हे यह भी प्रतीति हुआ कि अलंकार और गुण मे क्या अन्तर है तथा इनके आश्रय कौन है। इनकी और इनके भेद प्रभेदो के उपयोग की व्यवस्था और इनकी सीमा भी उन्हे समझ मे आई तथा वे इनकी हेयता तथा उपादेयता का क्षेत्रविभाग भी कर सके। विशेषता यह थी कि प्रमातृपक्ष पर आरूढ होकर वे अपने चिन्तन मे सन्तुलन बनाए रहे। उनने प्रमेयपक्ष के तत्त्वो की उपेक्षा नही की, केवल उनको दी जा रही प्रधानता का ही उनने समर्थन नही किया। उनने प्रधान पाया प्रमाता की अनुभूति को और प्रमेयपक्ष की सम्पूर्ण सामग्री को पाया उसका माध्यम, साधन या हेतु। माध्यम माध्यम ही होता है, लक्ष्य, लक्ष्य और फल नही। प्रधानता फल मे ही रहती है। यह फल उनकी दृष्टि मे चमत्कार या आह्लाद था। उनके अनुसार इसकी मात्रा जिसमें सर्वाधिक रहती है वह है प्रतीयमान अर्थ अर्थात् पूर्वकथित 'वस्तु, अलंकार तथा रस'। गुणो और अलंकारो मे भी इस प्रकार का आनन्द अनुभव मे आता है तथापि उसकी मात्रा उतनी मासल नही होती जितनी प्रतीयमान की।

आनन्दवर्धन ने गुणों का अस्तित्व केवल शब्द और वाच्य अर्थ में ही स्वीकार नहीं किया, उनसे परे रसरूपी प्रतीयमान अर्थ में भी स्वीकार किया, उनने उन्हीं गुणों को गुण माना जो रसरूपी आत्मा में भी रह सकते थे। ऐसे गुण केवल ३ थे माधुर्य, ओज और प्रसाद। शेष गुणों में वे गुणत्व नहीं देखते क्योंकि वे एकमात्र शब्दार्थ निष्ठ गुण हैं। कदाचित्[1] वे उन्हें भरत की ही नाँई दोषाभाव मानते हैं अर्थात् वे मानते हैं कि माधुर्य, ओज तथा प्रसाद के अतिरिक्त जिन गुणनामक विशेषताओं का उल्लेख किया जाता है वे विशेषताएँ न रहें तो काव्य के व्यक्तित्व में कमी आ जाती है। वे मानते हैं कि इनकी व्यवस्था रस-भूमिका से होती है अतः शब्दार्थगुण रसगुणों पर निर्भर रहते हैं, अतः गुणमात्र रस पर ही निर्भर रहते हैं, फलतः जिस संघटना या वर्णमैत्री को गुणों का आश्रय माना गया था वह भी उल्टे गुणों पर ही आश्रित रहती है। अलंकार भी तब तक अलंकार नहीं होते जब तक वे इस प्रतीयमान अर्थ का अलंकरण नहीं करते। जब अलंकार रसभूमिका से हट जाते और सामाजिक को उनके बोध के लिए रस-भूमिका से हट कर पृथक् परिश्रम करना होता है तब वे अलंकार नहीं रह जाते। इस प्रकार आनन्दवर्धन का मुख्य मानदण्ड प्रतीयमान अर्थ है।

वे इस अर्थ की प्रतीति के लिए व्यञ्जना-नामक वृत्ति को अपनाते हैं और उसे शब्दनिष्ठ अतिरिक्त शक्ति घोषित करते हैं। वे व्याकरण-शास्त्रियों का ध्वनि-शब्द अपनाते और व्यञ्जना से प्रतीत होने वाले प्रतीयमान अर्थ से युक्त काव्य को ध्वनि-काव्य की संज्ञा देते हैं, यदि वे प्रतीयमान अर्थ में चमत्कार अधिक देखते हैं। इस प्रकार आनन्दवर्धन का चिन्तन एक सम्प्रदाय बन जाता है, जिसमें निम्न-लिखित तीन नवीनताएँ रहती हैं—

१ प्रमाता, ज्ञाता, आस्वादयिता या विषयी के पक्ष की प्रधानता, अतएव प्रतीयमान अर्थ की काव्यात्मता,

२ व्यञ्जना-व्यापार की शब्दशक्तिता तथा

३ 'शब्द, वाच्य अर्थ, व्यञ्जनाव्यापार, प्रतीयमान अर्थ और इन सबसे युक्त काव्य', इन पाँचों की 'ध्वनि'-संज्ञा।

सूत्ररूप में यह कह सकते हैं कि आनन्दवर्धन की तीन ही नवीन स्थापनाएँ हैं (१) प्रतीयमान अर्थ की प्रधानता (२) व्यञ्जना का शब्दवृत्तित्व तथा (३) ध्वनि-संज्ञा।

उक्त दोनों सम्प्रदाय एकान्तवादी हैं। अलंकारवादी केवल अलंकार को ही

---

१ 'कदाचित्' इसलिए कि ऐसा कोई स्पष्ट उल्लेख ध्वन्यालोक में हमें नहीं मिला।

प्रधान मानते हैं और ध्वनिवादी केवल ध्वनि को। अन्तर यह है कि ध्वनिवाद अलंकारवाद पर आक्रमण भी करता है जबकि अलंकारवाद ध्वनिवाद पर नही। इस स्थिति मे अलंकारवाद को उदार भी कहा जा सकता है और ध्वनि-अनभिज्ञ भी। अनभिज्ञ तो कहा जा सकता नही, क्योंकि अलंकारवादी आचार्य ध्वनि के प्राण 'चमत्कार' से परिचित हैं, भले ही वे 'ध्वनि'-शब्द से परिचित न हों। वे व्यञ्जना को भी जानते हैं और प्रतीयमान अर्थ को भी। कहा जा चुका है और आगे काव्यलक्षण-अनुच्छेद मे भी कहा जाएगा कि वामन ने अलंकार को मूलतः 'सौन्दर्य' के रूप मे देखा था। सौन्दर्य और चमत्कार मे सौन्दर्य प्रमेय की ओर अधिक झुका प्रतीत होता है जबकि चमत्कार प्रमाता की ओर। वैसे हैं दोनों अन्योन्य-सापेक्ष। इस प्रकार अलंकार-वाद अपने भीतर ध्वनिवाद के 'चमत्कार' तत्त्व को छिपाए रहता है और वह प्रतीयमान अर्थ पर किसी भी प्रकार का कोई आक्रमण नही करता। वह एक वृद्धोचित क्रम दिखाई देता है। ध्वनिवाद इसके विरुद्ध अलंकारों को सौन्दर्य से हटाकर केवल 'उपमा' आदि तक सीमित रखता और उन्हे 'विकल्प' संज्ञा देता है। गुणों के प्रति भी वह ऐसा ही रुख अपनाता है। यह ध्वनिवाद की, ध्वनिसंप्रदाय की अनुदारता है। इस अनुदारता का एक युगान्तरव्यापी महत्त्व है जिसे ऐतिहासिक महत्त्व कहा जाना चाहिए। परवर्त्ती आचार्यो में 'कुन्तक' ने अपने वक्रोक्तिसिद्धान्त की स्थापना के पहले 'अलंकार' की अविभाज्य, समवेत, अनिवार्य और अपरिहार्य काव्यधर्म के रूप मे स्थापना की। मम्मट भी उसके सामने झुके, यद्यपि वे अपना 'काव्यप्रकाश' ध्वनिसंप्रदाय के क्रम पर बनाने चले थे। इस विवाद का विश्लेषण हमने अपने 'अलंकारसर्वस्व' की भूमिका में 'अलंकारतत्त्व' नामक अनुच्छेद मे कर दिया है। सर्वथा,

ईसा की नवम शती तक संस्कृत काव्यशास्त्र में सभी प्रमुख और प्रास्थानिक संप्रदाय अस्तित्व में आए दिखाई देते हैं। भले ही उन्हे

१. रससंप्रदाय
२. अलंकारसंप्रदाय
३. गुणसंप्रदाय और
४. ध्वनिसंप्रदाय

इन चार नामों से पुकारा जाए अथवा केवल

१. अलंकारसंप्रदाय तथा
२. ध्वनि-संप्रदाय

इन दो ही नामों से। इनमें हमारे आचार्य आनन्दवर्धन ध्वनि-संप्रदाय के प्रवर्त्तक आचार्य हैं।

आनन्दवर्धन का काव्यशास्त्र :

आनन्दवर्धन ने अपने प्रस्थान की स्थापना के लिए एक ही ग्रन्थ लिखा है। उसकी प्रसिद्धि इन दिनों 'ध्वन्यालोक' नाम से है। पहले उसे काव्यालोक और सहृदयालोक अथवा सहृदयहृदयालोक अधिक कहा जाता था। इस ग्रन्थ का महत्त्व सम्पूर्ण काव्यशास्त्र में सर्वातिशायी है। परवर्ती अन्य सम्प्रदाय इस ग्रन्थ की एक एक पंक्ति के विकास हैं।

परवर्ती अन्य सम्प्रदायों पर प्रभाव :

वक्रोक्तिसम्प्रदाय—आनन्दवर्धन के बाद हुए सम्प्रदायों में प्रथम सम्प्रदाय 'वक्रोक्ति'-सम्प्रदाय है। इसके प्रवर्तक हैं राजानक कुन्तक। इस सम्प्रदाय का रहस्य मंत्र है 'वक्र उक्ति' अर्थात् 'घुमावदार अभिव्यक्ति'। इसके लिए जिस दूसरे शब्द का प्रयोग कुन्तक ने किया है वह है 'भङ्गीभणिति' अर्थात् 'भङ्गिमापूर्ण भणिति'। वक्रोक्ति के जितने भेद कुन्तक ने खोजे हैं उनकी माला में धागे का कार्य यही भणिति करती है। वक्रोक्ति-सम्प्रदाय के समस्त वक्रोक्तिभेद संचारी भाव हैं और उनमें स्थायी भाव है यही 'भङ्गिमापूर्ण भणिति'। आनन्दवर्धन के समीक्षक बड़े गर्व के साथ कह सकते हैं कि वक्रोक्तिसम्प्रदाय का यह शब्द ध्वन्यालोक की देन है। ध्वन्यालोककार ने अनेक बार कहा है 'अलंकार आदि वाग्विकल्प'[1] हैं। इस 'वाग्विकल्प' को 'भङ्गीभणिति' से बड़ी खूबी के साथ मिलाया जा सकता है। आनन्दवर्धन ने स्वयं 'भणिति' शब्द का भी प्रयोग किया है और लिखा है

> य उपमाश्लेषादिरलंकारवर्गः प्रसिद्धः स भणितिवैचित्र्याद् उपनिबध्यमानः स्वयमेवानवधिर्धत्ते पुनः शतशाखताम्। भणितिश्च स्वभाषाभेदेन व्यवस्थिता सती प्रतिनियतभाषागोचरार्थवैचित्र्यनिबन्धनं पुनरपरं काव्यार्थानामानन्त्यमापादयति।

अर्थात्—उपमा आदि अलंकारों को भणितिवैचित्र्य के साथ उपस्थित किया जाए तो उनके कितने ही भेद सामने आ सकते हैं। भणिति अपनी विचित्रता से अर्थ में भी नवीनता ला देती है।

भणिति को कुन्तक ने वक्रोक्ति जीवित में 'अभिधा'[2] भी कहा है।

---

१ वाग्विकल्पानामानन्त्यात् ध्व० पृ० २५।

२ (क) विचित्रैवाभिधा वक्रोक्तिरित्युच्यते।

(ख) वक्रतावैचित्र्ययोगितयाऽभिधानमेवानयोरलंकारः।

(वक्रोक्तिजीवितवृत्ति विश्वेश्वर संस्करण पृ० ५१)

आचार्य आनन्दवर्धन भी अलंकारों को अभिधारूप वतलाते है—'अभिधाव्यापारेण[1] तदितरोऽलङ्कारवर्गः समग्र एव लक्ष्यते'। कुन्तक 'अभिधा की विचित्रता' की रट लगाए हुए है। आनन्दवर्धन 'उक्तिवैचित्र्य' शब्द का प्रयोग करते हैं :

किमिदमुक्तिवैचित्र्यम् ?
उक्तिर्हि वाच्यविशेषप्रतिपादि वचनम्।
तद् वैचित्र्यम्। (ध्व० पृ० ५४२)

आनन्दवर्धन ने 'सुवन्त, तिङन्त, कारकशक्ति, निपात, उपसर्ग आदि एक एक पद और पदांश से रसरूपी प्रतीयमान अर्थ की अभिव्यक्ति वतलाई है। कुन्तक उसी धारा मे इन सभी अनुच्छेदों मे वक्रता के दर्शन करते है। 'संवृति'[2]-तत्त्व का उल्लेख तो आनन्दवर्धन ने स्पष्ट रूप से किया ही है जिसे कुन्तक ने संवृति-वक्रता नाम से पुकारा है। कुन्तक ने माधुर्य ओज और प्रसाद के अतिरिक्त जिन लावण्य, सौभाग्य और आभिजात्य गुणो की कल्पना की है उनकी प्रेरणा भी आनन्दवर्धन के ध्वन्यालोक से ही मिलती प्रतीत होती है। ध्वन्यालोक मे ये शब्द विखरे पड़े है। इस प्रकार आनन्दवर्धन वक्रोक्ति के आचार्य को वहुत दूर तक प्रभावित करते दिखाई देते है।

औचित्यसंप्रदाय—'रससिद्ध काव्य का प्राण औचित्य' को वतलाता है—'औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्।' पहली वार आनन्दवर्धन के ध्वन्यालोक मे ही हमे 'औचित्य' की प्रतिष्ठा मिलती है। वे कहते है :

अनौचित्यादृते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम्।
औचित्योपनिवन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा ॥[3]

रसभङ्ग का सबसे बड़ा हेतु है अनौचित्य। औचित्य रस का सबसे बड़ा रहस्य है।

स्पष्ट ही औचित्यसंप्रदाय का जीवातु 'औचित्य' आनन्दवर्धन के इसी ग्रन्थ से लिया गया है।

महिमभट्ट :

आनन्दवर्धन के विरोधी आचार्य महिमभट्ट समस्त वाङ्मय को दो ही भागों मे विभक्त करते है—काव्य और अकाव्य। इन दोनों भागों में वे काव्य को [ब्रह्म

१. ध्वन्यालोक—पृ० १६२ आगे भी अनेक वार उद्धृत।
२. 'संवृत्याऽभिहितो०' ध्व० पृ० ५००-१ उदाहरण 'कानि कानि न चकार लज्जया' तथा पृ० ४६६-७।
३. ध्व० पृ० ३३०।

के समान] निर्विशेष और एकात्मा स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार काव्य में [उसी प्रकार] भेद और वर्ग संभव नहीं [जिस प्रकार ब्रह्म या परमशिव मे]। अपनी इस भूमिका पर आरूढ होकर महिमभट्ट काव्य के गुणीभूतव्यङ्ग्य-नामक भेद को भी उसी स्तर का स्वीकार करते हैं आनन्दवर्धन ने अपने ध्वनिकाव्य को जिस स्तर का स्वीकार किया था। यदि परवर्ती आचार्य मम्मट की भाषा मे बोला जाए तो यह कहा जाएगा कि काव्य केवल उत्तम ही होता है, उनके द्वारा स्वीकार किए गए मध्यम या अधम काव्य काव्य नहीं होते।

महिमभट्ट की यह स्थापना नवीन प्रतीत होती है। किन्तु इसका मूल स्वयं ध्वन्यालोक ही है। ध्वन्यालोक एकमात्र ध्वनि को ही काव्य मानना चाहता है। गुणीभूतव्यङ्ग्य नामक काव्यभेद को वे दबे स्वर मे किसी प्रकार काव्य मान लेते हैं। चित्रकाव्य नामक काव्यभेद को तो उनने सीधे अकाव्य कहा है। आगे आ रहे काव्यभेद नामक अध्याय मे ये तथ्य स्पष्ट होंगे।

महिमभट्ट अनुमान को प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति का कारण मानते और ध्वनि का शब्दशक्तित्व अमान्य ठहराते हैं। इस उद्भावना का स्रोत भी स्वयं ध्वन्यालोक है। अनुमानपक्ष स्वयं आनन्दवर्धन ने ही ध्वन्यालोक के तृतीय उद्योत में उपस्थित कर दिया था। आ रहे व्यञ्जनासिद्धि अध्याय मे यह तथ्य भी स्पष्ट है।

मम्मट :

मम्मट ने काव्यप्रकाश नाम से जिस उत्तम प्रासाद का निर्माण किया है उसका तो ९० प्रतिशत ध्वन्यालोक से ही लिया गया है। ९ प्रतिशत में वे अभिनवगुप्त आदि के ऋणी हैं और १ प्रतिशत हैं उनका स्वयं का चिन्तन। साहित्यदर्पण और चन्द्रालोक आदि की भी यही स्थिति है। जगन्नाथ तो मम्मट के विरोध मे खड़े होते और ध्वन्यालोक को ही उसमें प्रमाण मानते हैं। इस प्रकार ध्वनिप्रस्थान के सम्पूर्ण सम्प्रदाय का मूल स्तम्भ ध्वन्यालोक ही ठहरता है।

राजशेखर

बीच में राजशेखर नामक एक उर्वर प्रतिभा के आचार्य हुए हैं जो कवि भी थे। इनका समय अभिनवगुप्त और आनन्दवर्धन का सन्धिकाल है। ये स्वयं को दोनों प्रकार की प्रतिभा से युक्त मानते हैं कारयित्री और भावयित्री। कारयित्री *प्रतिभा वह है जिससे कविता की सृष्टि होती है और व्यक्ति 'कवि' कहलाता है।* भावयित्री प्रतिभा से इस 'कविता का अर्थबोध और आस्वाद' करना सम्भव होता है। इन दोनों प्रतिभाओं का किसी एक व्यक्ति में योग अति दुर्घट घटना हाती है। राजशेखर कहते हैं कि कसौटी सुवर्ण उत्पन्न नहीं कर सकती और पारसमणि

सुवर्ण की परीक्षा नहीं कर सकती। इसी प्रकार कवि कविता की समीक्षा नहीं कर सकता और भावक कविता का निर्माण नहीं कर सकता। जिस किसी व्यक्ति मे कविता के निर्माण और उसकी समीक्षा दोनों की शक्तियां दिखाई देती हैं वह अत्यन्त दुर्लभ व्यक्ति होता है। राजशेखर स्वयं को इसी प्रकार का व्यक्ति मानते हैं। कवि के व्यक्तित्व मे भी वे व्युत्पत्ति की अपेक्षा प्रतिभा को श्रेष्ठ मानते हैं।

राजशेखर का यह दर्शन आनन्दवर्धन से लिया गया दर्शन है। वे स्वयं को कवि और समीक्षक दोनों ही स्वीकार करते हैं। व्युत्पत्ति और शक्ति के विषय मे आनन्दवर्धन का यह मत प्रसिद्ध ही है कि :

अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कवेः।
यस्त्वशक्तिकृतस्तस्य स झटित्यवभासते॥ ध्व० पृ० ३१६।

राजशेखर ने कविशिक्षा मे 'संवाद' तत्त्व का विवेचन पर्याप्त सूक्ष्मता के साथ किया है और उसके चार भेद माने हैं। इनमे ३ भेद आनन्दवर्धन से ही लिए हैं। आगे आ रहे कविशिक्षा नामक पञ्चम अध्याय में इसका विवेचन विस्तार पूर्वक किया गया है।

इस प्रकार आनन्दवर्धन का ध्वन्यालोक अपने परवर्ती युगों के लिए एक आलोक स्तम्भ सिद्ध हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है कि ध्वन्यालोक एक हिमगिरि है जिसमे विविध विचारधाराओं के अनेक स्रोत फूटते हैं और आगे चलकर वे स्वतन्त्र जलवेणियों मे परिणत और प्रतिष्ठित होते दिखाई देते हैं। संस्कृत मे ऐसे ही ग्रन्थ को आकरग्रन्थ कहा जाता है। भरत के नाटयशास्त्र के बाद काव्यशास्त्र के इतिहास मे यह प्रतिष्ठा एकमात्र आनन्दवर्धन के ध्वन्यालोक को ही प्राप्त है।

ग्रन्थ परिचय

ध्वन्यालोक उद्योतनात्मक चार अध्यायों मे बना ग्रन्थ है। इसके तीन रूप हैं, (१) कारिका (२) वृत्ति तथा (३) उदाहरण। इनमें से—

कारिका :

उस वाक्य को कहते हैं जिसमें कोई सिद्धान्त या सूत्र श्लोक के द्वारा उपस्थित किया जाता[१] है।

वृत्ति :

वृत्ति मे इस कारिका का अर्थ स्पष्ट किया जाता[२] है किन्तु संक्षेप में।

---

१. नाटयशास्त्र ६।११ तथा काव्यमीमांसा अध्याय ३ बड़ौदासंस्करण पृष्ठ–५
२. काव्यमीमांसा–३, बड़ौदा संस्करण पृष्ठ–५

उदाहरण इसी स्पष्टीकरण मे सहायक के रूप मे अपनाए जाते है। ये कभी स्वय ग्रन्थकार के ही होते है और कभी अन्य कवियो के। भरत, दण्डी, भामह और उद्भट ने स्वय अपने ही पद्यो के उदाहरण दिये थे। वामन ने अन्य कवियो के पद्यो को भी आदर दिया। आनन्दवर्धन ने इन दोनो धाराओ मे वामन की धारा को अपनाया और वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, माघ, बाण आदि प्रसिद्धिप्राप्त कवियो की कृतियो से उदाहरणीय स्थलो का चयन किया। साथ ही अपने पद्य भी उपस्थित किए। आनन्दवर्धन के उदाहरणो में एक बहुत ही बडी नवीनता है। यह कि उनने प्राकृत गाथाओ को भी उदाहरण के रूप में अपनाया है। सस्कृत के काव्यशास्त्र में सस्कृतेतर भाषा के उदाहरणो का श्रीगणेश यही से होता है। वामन ने एक भी प्राकृत गाथा उद्धृत नही की थी। आनन्दवर्धन ने ऐसी अनेक गाथाएँ उपस्थित की है। इनमे बहुत सी गाथाएँ इनकी स्वय की है। आनन्दवर्धन प्राकृत भाषा के कवि भी थे। विषमबाणलीला उनकी प्राकृत कृति ही थी।

कारिकाएँ ध्वन्यालोक मे दो प्रकार की है। एक तो वे जो मूलकारिकाएँ है जिन्हें ध्वन्यालोक के प्रत्येक सस्करण मे मोटे अक्षरो में छापा गया है। दूसरी वे जो वृत्ति मे हुए विवेचन के अन्त म उसके सारसक्षेप के लिए बनाई गई है, अत जिन्हें सग्रह-कारिका कहा जाता है। इनमे से मूलकारिकाओं की सख्या[1] ११६ है और सग्रहकारिकाओं[2] की २६।

ग्रन्थकार :

कारिकाकार और वृत्तिकार—प्रसिद्धि यह है कि ध्वन्यालोक 'उक्त दोनो प्रकार की कारिकाएँ, वृत्ति और उदाहरण' इन तीन भागो में विभक्त एक ग्रन्थ है और उसके इन तीनो भागो के रचयिता है आनन्दवर्धन। किन्तु कुछ ऐसे प्राचीन उद्धरण मिलते है जिनसे प्रतीत होता है कि आनन्दवर्धन केवल 'वृत्ति'-भाग के निर्माता है। कारिकाओ में सग्रहकारिकाएँ ही उनकी बनाई हुई है। मूल-कारिका, जिनपर उनने वृत्ति लिखी है, किसी अन्य की है, जिसका नाम कदाचित् 'सहृदय' है। ये उद्धरण ध्वन्यालोक की प्रसिद्ध टीका 'लोचन' के है जिनके

---

१ ध्व० प्रथम उद्योत में १९, द्वि० उ० में ३३, तृ० उ० मे ४७ तथा चतुर्थ उद्योत में १७ कारिकाएँ है।

२ ध्व० पृष्ठ १९७, २२२, ३०२, ३१६, ३३०, ३३४, ३३५, ३६४, ३६५, ४५७, ४९७, ४९८, ५००, ५२०, ५४३, ५५१।

रचयिता अभिनवगुप्त हैं, जिनको काव्यशास्त्र का पतञ्जलि कहा जाता है। ये उद्धरण निम्नलिखित है—

१. ध्वन्यालोक के प्रायः सभी संस्करणों में मूलकारिका के रूप में छपा **'काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति'** यह प्रथम पद्य ध्वनि के विरोध में तीन वाद उपस्थित करता है—

क. **अभाववाद** अर्थात् ध्वनि नहीं है;

ख. **अन्तर्भाववाद** अर्थात् ध्वनि लक्षणा ही है तथा

ग. **अनिर्वचनीयतावाद** अर्थात् ध्वनि का निरूपण सम्भव नही है।

इनमे से, आगे आने वाली मूलकारिकाओं में प्रथम दो का निरूपण और खण्डन मिलता है, तृतीय का नही मिलता। तृतीय का निरूपण और खण्डन केवल वृत्ति मे मिलता है। इस असंगति और पूर्ति पर प्रथम उद्योत के अन्त मे लोचन में अभिनवगुप्त लिखते है :

> **एवं त्रिप्रकारमभाववादं भक्त्यन्तर्भूततां च निराकुर्वता अलक्षणीयत्वमेतन्मध्ये निराकृतमेव। अत एव मूलकारिका साक्षात् तन्निराकरणार्था न श्रूयते। वृत्तिकृत् तु निराकृतमपि प्रमेयशय्यापूरणाय कण्ठेन तत्पक्षमनूद्य निराकरोति।** **पृ० १६२–६३ ध्वन्यालोक।**

> इस प्रकार तीनों प्रकार के अभाववाद तथा भक्ति में ध्वनि के अन्तर्भाव का खण्डन करते-करते ग्रन्थकार ने ध्वनि के अलक्षणीयत्व का खण्डन भी कर ही दिया। इसीलिए मूलकारिका इस अलक्षणीयत्ववाद के खण्डन के लिए यहाँ नही मिलती। यह विषय केवल वृत्ति मे ही मिल रहा है। वृत्तिकार इसमे पुनरुक्तता नहीं देखते। वे देखते है कि इससे प्रतिज्ञातप्रमेय के प्रतिपादन मे कमी नही रहती और इसीलिए इसे स्वतः विदित हो जाने पर भी लिख देते है।

२. प्रथम उद्योत मे ध्वन्यालोक की कारिकाओं में ध्वनि का केवल लक्षण ही निर्धारित किया गया है। उसके भेदों का निरूपण द्वितीय उद्योत मे किया गया है। किन्तु वृत्ति मे प्रथम उद्योत में ही ध्वनि के दो भेद बतला दिए गए थे 'अविवक्षित वाच्य' तथा 'विवक्षितान्यपर वाच्य'। द्वितीय उद्योत के आरम्भ मे वृत्ति इस पुराने उल्लेख का स्मरण दिलाती और २।१ कारिका की अवतरणिका मे लिखती है :

> एवमविवक्षितवाच्य-विवक्षितान्यपरवाच्यत्वेन ध्वनिर्द्विप्रकारः प्रकाशितः, तत्राविवक्षितवाच्यस्य प्रभेद-प्रतिपादनायेदमुच्यते—

अर्थान्तरे सङ्क्रमितमत्यन्तं वा तिरस्कृतम्।
अविवक्षितवाच्यस्य ध्वनेर्वाच्यं द्विधा स्थितम् ॥ २।१ ॥

'इस प्रकार (प्रथम उद्योत में) ध्वनि को दो भेदो में विभक्त बतलाया—'अविवक्षित वाच्य तथा विवक्षितान्यपर वाच्य। उनमें से अविवक्षित-वाच्य (नामक प्रथम भेद) के प्रभेद बतलाने हेतु कहा जा रहा है

"—'अविवक्षित वाच्य' नामक ध्वनि में जो वाच्य अविवक्षित होता है वह दो प्रकार का होता है। वह या तो अर्थान्तर मे सङ्क्रमित हुआ करता है या अत्यन्त तिरस्कृत।"

इस पर अभिनवगुप्त लिखते हैं

(अ) वृत्तिकार सगतिमुद्योतस्य कुर्वाण उपक्रमते एवमित्यादि।

(आ) प्रकाशित इति मया वृत्तिकारेण सतेति भाव।

(इ) न चैतन्मयोत्सूत्रमुक्तम्, अपि तु कारिकाकाराभिप्रायेणेत्याह तत्रेति। तत्र द्विप्रकारप्रकाशने वृत्तिकारकृते यन्निमित्त बीजभूतमिति सम्बन्ध।

(ई) यदिवा तत्रेति पूर्वशेष, तत्र प्रथमोद्योते वृत्तिकारेण[1] प्रकाशित अविवक्षितवाच्यस्य य प्रभेदोऽवान्तरप्रकारस्तत्प्रतिपादनायेदमुच्यते।

(उ) तदवान्तरभेदप्रतिपादनद्वारेणैव चानुवादद्वारेणाविवक्षितवाच्यस्य य प्रभेद विवक्षितान्यपरवाच्यात् प्रभिन्नत्व तत्प्रतिपादनायेदमुच्यते, भवति मूलतो द्विभेदत्व कारिकाकारस्यापि सम्मतमेवेति भाव।

(अ) वृत्तिकार द्वितीय उद्योत की प्रथम उद्योत से सगति दिखलाने जा रहे हैं और लिख रहे है एवम् इत्यादि।

(आ) प्रकाशित का अर्थ है मेरे द्वारा ही किन्तु वृत्तिकार के रूप मे।

(इ) 'यह मैंने सूत्रविरुद्ध नही लिखा है, अपितु कारिकाकार (मूल-ग्रन्थकार) को भी यह अभिमत है' यह दिखलाने के लिए लिखा—'तत्र' आदि। 'प्रथम उद्योत में वृत्तिकार ने जो दो भेद बतलाए थे उसका जो मूल है वह कारिका द्वारा प्रतिपादित निम्नलिखित भेद है, यह है यहा 'तत्र' का अर्थ।

---

१ यहाँ 'अप्रकाशित' यह पाठ होना चाहिए। 'इण्डिया आफिस लन्दन' की लोचन प्रति में अप्रकाशित पाठ है भी।

(ई) अथवा इस 'तत्र' का अर्थ है पूर्वशेष अर्थात् वृत्तिकार ने प्रथम उद्योत मे ध्वनि के दो नाम ही गिनाए थे, उनके भेद नही दिखलाए थे। भेद दिखलाना शेष था। वह अब दिखलाया जा रहा है।

(उ) इस अवान्तर भेद को बतलाते हुए ही 'अविवक्षितवाच्य' इस संज्ञा द्वारा यह भी बतलाया जा रहा है कि अविवक्षितवाच्य विवक्षितवाच्य से सर्वथा विपरीत और भिन्न है। इसके दो भेद कारिकार को भी मान्य है।

३ द्वितीय उद्योत मे आई कारिकाओं मे विवक्षितवाच्य और अविवक्षितवाच्य नामक दोनों प्रकार की ध्वनियों को ध्वन्याभासों से पृथक् किया और अन्त मे कारिका लिखी

सर्वेष्वेव प्रभेदेषु स्फुटत्वेनावभासनम् ।
यद् व्यङ्ग्यस्याङ्गिभूतस्य तत् पूर्णं ध्वनिलक्षणम् ॥ २।३३ ॥

सभी प्रभेदों मे प्रधान व्यंग्य का स्फुटरूप मे जो भासित होना है, वही है ध्वनि का पूर्ण लक्षण।

इस अन्तिम कारिका की संगति लगाते हुए वृत्तिकार ने लिखा 'यतः = क्योंकि' अर्थात् क्योंकि स्फुट रूप मे अङ्गी होकर भासित होना ही ध्वनि का लक्षण है इसलिए विवक्षितवाच्य या अविवक्षितवाच्य मे जहां कहीं स्पष्टता रहती है वहां ध्वनित्व नही माना जाता। इस 'यतः' पर लोचनकार ने लिखा :

'उक्तमेव ध्वनिस्वरूपं तदाभासविवेकहेतुतया कारिकाकारोऽनुवदति' इत्यभिप्रायेण वृत्तिकृदुपस्कारं ददाति 'यत' इति।'

ध्वनि का लक्षण कारिकाकार पहले अनेक बार उपस्थित कर चुके हैं। द्वितीय उद्योत के आरम्भ मे उसे पुनः उपस्थित कर रहे हैं यह है अभिप्राय वृत्तिकार के 'यतः' शब्द का।

४. तृतीय उद्योत के आरम्भ मे आई :

अविवक्षितवाच्यस्य पदवाक्यप्रकाशता ।
तदन्यस्यानुरणनरूपव्यङ्ग्यस्य च ध्वनेः ॥३।१॥

अविवक्षितवाच्य और विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि के अनुरणनरूप व्यङ्ग्य (नामक भेद) पद तथा वाक्य से प्रकाशित होते हैं।

इस कारिका मे व्यञ्जकों का प्रतिपादन किया। इस पर वृत्तिकार ने संगति लगाते हुए अवतरणिका मे लिखा—

एव व्यङ्ग्यमुखेनैव ध्वने प्रदर्शिते सप्रभेदे स्वरूपे पुनर्व्यञ्जकमुखेन एतत् प्रकाश्यते-'अविवक्षित०' ॥

द्वितीय उद्योत में ध्वनि का स्वरूप 'व्यङ्ग्य' के भेदो का प्रतिपादन करते हुए बतलाया अब तृतीय उद्योग में व्यञ्जको के भेदो का प्रतिपादन करते हुए उसी ध्वनि का स्वरूप बतलाया जा रहा है।

वृत्ति के इस अश का जो 'व्यङ्ग्य' शब्द है उसकी व्याख्या करते हुए अभिनवगुप्त ने लिखा था—'व्यङ्ग्य यानी व्यङ्ग्यमुखापेक्षी व्यञ्जक, अर्थात् वाच्य अर्थ। वाच्य अर्थ व्यङ्ग्यमुखापेक्षी होकर ध्वनिभेदनिरूपण में सहायक होता है, जबकि 'पद' और 'वाक्य' स्वरूपत ।'

इस अश का अर्थ पूर्ववर्ती टीकाकार, कदाचित् चन्द्रिकाकार ने यह किया था—'व्यङ्ग्य अर्थात् वस्तु अलकार और रस,' द्वितीय उद्योत में इनके आधार पर ध्वनि का स्वरूप बतलाया, अत्र तृतीय उद्योत मे व्यञ्जक के आधार पर ध्वनिरूप बतलाया जा रहा है।' वस्तु, अलकार और रस की चर्चा कारिका में नही हुई थी, अत —

इस पर अभिनवगुप्त ने आपत्ति की और कहा—'वस्तु, अलकार और रस' नामक भेद कारिका मे नही आए हैं, ये केवल वृत्ति में आए हैं। अत कारिका की सगति में यह कहना कि पहले 'वस्तु अलकार और रस' नामक भेदो के आधार पर ध्वनिविवेचन हुआ था, अब व्यञ्जक के आधार पर वह किया जा रहा है' भ्रम उत्पन्न करता है। उससे यह प्रतीति होती है कि वस्तु आदि भेद कारिका में ही आए है। अत यह सगति अनुचित है। वस्तुत वस्तु, अलकार और रस का उल्लेख भिन्न व्यक्ति ने किया है (वृत्तिकार ने) तथा व्यङ्ग्यद्वारा ध्वनिभेद और उनके द्वारा ध्वनि-लक्षण का प्रतिपादन भिन्न व्यक्ति ने किया है (कारिकाकार ने) यदि दोनो का कर्त्ता एक ही व्यक्ति होता तो यह कहना ठीक होता कि 'पहले यह कार्य इस ढग से किया और अब यही कार्य इस ढग से किया जाने वाला है'। कर्तृभेद होने पर ऐसा कहना उचित नही—

'यस्तु व्याचष्टे–'व्यङ्ग्याना वस्त्वलकाररसाना मुखेन' इति स एवप्रष्टव्य एतत् तावत् त्रिभेदत्व न कारिकाकारेण कृतम्, वृत्तिकारेण तु दर्शितम्, न चेदानीं वृत्तिकारो भेदप्रकटन करोति, ततश्च 'इद कृतमिद क्रियत' इति कर्तृभेदे का सगति ।' (ध्व० पृ० २८९-९० लोचन)।

५ व्यञ्जका के भेद बतलाते हुए कारिका मे लिखा गया कि 'श, ष, रेफ सयोगयुक्त अनेक ढकार शृङ्गार के विरोधी होते है किन्तु वे ही बीभत्सादि के लिए

अनुकूल'। इसमें पहले अभाव दिखलाया गया था और पीछे सद्भाव। वृत्तिकार ने लिखा "कारिकाओं द्वारा 'अन्वय व्यतिरेक' प्रस्तुत करते हुए वर्णों की व्यञ्जकता का विवेचन किया गया"। यहां 'अन्वय' का उल्लेख पहले किया गया और व्यतिरेक का बाद में। अन्वय = सद्भाव और व्यतिरेक = अभाव है। इस प्रकार कारिका का क्रम वृत्ति में उलट गया। लोचनकार ने इसे पकड़ लिया और लिखा—

> **'कारिकाकारेण पूर्वं व्यतिरेक उक्तः ०० पश्चादन्वयः, वृत्तिकारेण तु ०० अन्वयः पूर्वमुपात्तः।'** ध्व० पृ० ३०३–३०४
>
> कारिकाकार ने पहले व्यतिरेक का उल्लेख किया, अन्वय का बाद में, किन्तु वृत्तिकार ने ०० पहले अन्वय का उल्लेख किया।

६. गुणों को संघटना पर आश्रित न मानने पर जब प्रश्न किया गया कि 'क्या होगा गुणों का आलम्बन, यदि संघटना को आलम्बन न माना जाए' तो वृत्ति में लिखा गया कि 'बतला ही दिया है इनका आलम्बन 'तमर्थमवलम्बन्ते' इत्यादि (कारिका के) द्वारा।' इस पर अभिनवगुप्त ने लिखा 'बतला ही दिया' अर्थात्—'हमारे मूलग्रन्थकार ने'—**'प्रतिपादितमेवेति अस्मन्मूलग्रन्थकृता इत्यर्थः[१]।'**

७. कालिदास ने कुमारसंभव में भगवती पार्वती के साथ शिव के संभोग का वर्णन चित्रित किया। वृत्तिकार ने इसे अनुचित बतलाया और यह पूछने पर कि 'इसमें क्या अनौचित्य है' उत्तर दिया 'इसमें औचित्य का उल्लंघन जिस प्रकार हुआ है वह आगे चलकर बतला ही दिया गया है।' इस पर लोचनकार ने लिखा 'बतला ही दिया गया है' अर्थात् 'कारिकाकार द्वारा'।

> **वृत्ति—कुमारसंभवे देवीसंभोगवर्णने यथा औचित्यत्यागस्तथा दर्शितमेवाग्रे।**
>
> **लोचन—दर्शितमेवेति कारिकारेणेति भूतप्रत्ययः।[२]**

८. कारिका में एक बार लिखा गया कि 'रस आदि के आधार पर बनाया गया काव्य अनन्तता को प्राप्त हो जाता है' फिर लिखा गया 'मधु मास में वृक्षों के समान दृष्टपूर्व अर्थ भी नवीन प्रतीत होने लगते हैं रसपरिग्रह के कारण'। इन दोनों के बीच सम्बन्ध प्रतिपादित करते हुए वृत्तिकार ने लिखा कि दूसरा वक्तव्य प्रथम वक्तव्य के समर्थन के लिए है। इस पर लोचनकार ने लिखा :

---

१. ध्व० पृ० ३१२।
२. ध्व० पृ० ३१८।

'यद्यप्यर्थानन्त्यमात्रे हेतुर्वृत्तिकारेणोक्त, तथापि कारिकाकारेण नोक्त इति भाव ।'

अर्थ अनन्तता को प्राप्त क्यो हो जाता है इसका एक हेतु वृत्तिकार ने तो दिया है (यह कि रस आदि के भेद अनन्त होते है अत उनको अपनाने से काव्य में अनन्तता आने की कारिकोक्त बात ठीक है) किन्तु कारिकाकार ने ऐसा हेतु नही दिया था अत अब अगली कारिका द्वारा कारिकाकार हेतु प्रस्तुत कर रहे है (मधुमास का दृष्टान्त देकर)

(ध्व० पृ० ५२६ ।)

भेदवाद पूर्वपक्ष

अभिनवगुप्त के इन उद्धरणो से प्रतीत होता है कि कारिकाओ का निर्माण पहले हो चुका था और वह एक स्वतन्त्र ग्रन्थ था, वृत्ति उसकी टीका के रूप मे बाद में लिखी गयी । इन उल्लेखो से यह भी प्रतीत होता है कि अभिनवगुप्त इन दोनो के रचयिताओ में भी भेद मानते है, क्योकि उनकी यह दृष्टि है कि जो तथ्य कारिका में नही कहा गया उसे लेकर अगली कारिकाओ की सगति लगाना असगत है ।

प्रश्न होता है 'यदि कारिकाकार और वृत्तिकार भिन्न है तो इनके नाम क्या है ? वृत्तिकार का नाम आनन्दवर्धन है क्योकि ध्वन्यालोक के अन्त में आए

सत्काव्यतत्त्व-नय वर्त्म—चिरप्रसुप्त-
कल्प मनस्सु परिपक्वधियां यदासीत् ।
तद् व्याकरोत् सहृदयोदयलाभहेतो
आनन्दवर्धन इति प्रथिताभिधान ॥

इस पद्य में वृत्तिकार ने स्वय को आनन्दवर्धन कहा है । जहाँ तक कारिकाकार के नाम का सम्बन्ध है वह एक समस्या है । ध्वन्यालोक मे आरम्भ से अन्त तक कारिकाकार के लिए किसी नाम का कोई स्पष्ट उल्लेख नही मिलता । ध्वन्यालोककार के लगभग समकालीन अभिधावृत्तिमातृकाकार मुकुलभट्ट और उनके शिष्य प्रतीहारेन्दुराज ध्वन्यालोककार के रूप मे 'सहृदय' नामक व्यक्ति का सांकेतिक उल्लेख करते है । अभिधावृत्तिमातृका के निम्नलिखित उद्धरण एतदर्थ प्रमाण है :

१ सम्बन्धसमवाययोस्तु वाच्यस्य विवक्षिताविवक्षितत्वेन नात्यन्त तिरस्कार । तत्र हि उपादानात्मिकाया लक्षणायामुपादाने वाच्यविवक्षाया वाच्यस्य विवक्षितत्वम्, तथाहि तत्र विवक्षितान्यपरवाच्यता सहृदयै काव्यवर्त्मनि निरूपिता ।

लक्षणा जहाँ सम्बन्ध और समवाय से होती है वहाँ वाच्य अर्थ विवक्षित भी रहता है और अविवक्षित भी, अतः उसका पूर्ण परित्याग नही होता। इनमे जो लक्षण उपादानात्मक होती है उसमे वाच्य अर्थ का वाच्य अर्थ के रूप मे ही उपादान रहता है और वह उसी रूप मे विवक्षित भी रहता है और इसीलिए काव्य शास्त्र मे 'सहृदयों'—ने इस स्थल को 'विवक्षितान्यपरवाच्यता'[1] का स्थल बतलाया है।

२. 'महति समरे शत्रुघ्नस्त्वम्' इत्यत्र हि शत्रुहननक्रियायाः कर्तृत्वं क्रियायोगनिबन्धनया लक्षणया अवगमयन्नपि स्वार्थं दाशरथिम् उपमानतया-पि प्रतिपादयति। तेन तस्य विवक्षितस्य स्वार्थतापि। यद्यपि चोपमेयपरत्वेनोपमानस्योपादानादेवंविधे विषयेऽत्यन्ततिरस्कृतवाच्यता सहृदयैः अंगीक्रियते तथापि क्रियायोगनिबन्धनलक्षणावसरे तावद् वाच्यस्योपमानत्वेनाङ्गीकृतत्वाद् अतिरस्कृतवाच्यतापि भवति।'

लक्षणा जहाँ 'क्रिया' को साधारण धर्म के रूप मे लेकर होती है वहाँ 'महा समर मे आप शत्रुघ्न है' इत्यादि स्थलों मे 'शत्रुघ्न' आदि शब्द एक ओर तो 'शत्रु को मारने वाला' इस अर्थ का ज्ञान कराते है और दूसरी ओर ये ही दशरथ जी के चौथे पुत्र 'शत्रुघ्नव्यक्ति' का भी उपमान-रूप से ज्ञान कराते है। इस कारण शत्रुघ्न आदि शब्द अपने अर्थ को भी बतलाते हैं। यद्यपि यहाँ शत्रुघ्न शब्द का अपना अर्थ 'चतुर्थ दशरथपुत्र' राजा मे अभिन्न बनाकर उपस्थित किया गया है अत. व्यक्तिरूप मे प्रतीति राजा की ही होती है और इसीलिए सहृदयों ने ऐसे स्थलों मे वाच्य अर्थ को सर्वथा छूटता हुआ स्वीकार किया है तथापि क्रियायोग से होने वाली लक्षणा मे वाच्य उपमानरूप मे अपनाया जाता है अतः वहाँ वह अतिरस्कृत भी रहता है।

३. 'तदेवं क्रियायोगनिबन्धनायां लक्षणायामन्तःसंक्रान्तनानार्थवशतः क्वचिद् वाच्यं तिरस्क्रियते, क्वचित् तु विवक्ष्यत इति स्थितम्। एतच्च सर्वं बहु वक्तव्यत्वादिह न निरूप्यते। लक्षणामार्गावगाहित्वं तु ध्वनेः सहृदयैर्नूतनतयोपवर्णितस्य विद्यत इति दिशमुन्मीलयितुमिदमत्रोक्तम्। एतच्च विद्वद्भिः कुशाग्रीयया बुद्धचा निरूपणीयम्।'

---

१. स्मरणीय है कि अभिधावृत्तिमातृका मे 'विवक्षितान्यपरवाच्य' आदि शब्दों के ऐसे भी अर्थ किए हैं जो ध्वन्यालोक आदि किसी भी ध्वनिप्रस्थानीय ग्रन्थ में नही मिलते।

इस प्रकार लक्षणा जहाँ क्रियायोग में होती है वहाँ बीच में अनेक अर्थों की प्रतीति होती है, अतः स्थिति यह है कि वहाँ वाच्य अर्थ कहीं छूट जाता है, किन्तु कहीं नहीं भी छूटता। इस विषय में बहुत कुछ कहना आवश्यक है अतः इसका पूरा विवेचन इस ग्रन्थ में हमें नहीं करना है (क्योंकि हमारा यह ग्रन्थ अभिधावृत्ति के लिए बनाया जा रहा है जबकि यह विषय लक्षणा और ध्वनि से सम्बद्ध है) कुछ चर्चा इसलिए कर दी कि सहृदयों ने अपनी नई उपलब्धि के रूप में प्रचारित 'ध्वनि' को लक्षणा-मूलक भी स्वीकार किया था। इस पर विद्वानों से प्रार्थना है कि वे कुशाग्र बुद्धि से गम्भीरतापूर्वक विचार करें।

संस्कृत में नामवाचक शब्द आदर व्यक्त करने के लिए बहुवचन के साथ बोले जाते हैं। अतः यहाँ उक्त तीनों स्थलों में आए 'सहृदयैः' शब्द का अर्थ 'सहृदय जी' भी किया जा सकता है।

मुकुलभट्ट के शिष्य[1] प्रतीहारेन्दुराज ने उद्भट के काव्यालङ्कारसारसंग्रह पर लघुविवृति नामक एक दीर्घविवृति लिखी है। कहा जा चुका है कि उद्भट ने केवल अलंकारों का निरूपण किया है, गुण और ध्वनि को उनके ग्रन्थ में स्थान नहीं मिला। प्रतीहारेन्दुराज इनकी भी चर्चा करते और ध्वनि के विषय में लिखते हैं

'ननु तत्र सहृदय-हृदयाह्लादिनः प्रधानभूतस्य स्वशब्द-व्यापारास्पृष्टत्वेन प्रतीयमानैकरूपस्य अर्थस्य सद्भावः तत्र तथाविधार्थाभिव्यक्तिहेतुः काव्य-जीवितभूतः कैश्चित् सहृदयैः ध्वनिरभिव्यञ्जकत्वभेदात्मा काव्यधर्मो-ऽभिहितः स कस्मादिह नोपदिष्टः। उच्यते, एष्वलङ्कारेष्वन्तर्भावात्।'

(पर्यायोक्तप्रकरण)

प्रश्न जहां केवल प्रतीयमान होकर प्रतीत हो रहे अर्थात् अपने अभिधा-व्यापार से सर्वथा अस्पृष्ट होकर प्रतीत हो रहे तथा सहृदयों के हृदय में

---

१ प्रतीहारेन्दुराज ने मुकुलभट्ट को अपना गुरु कहा है।

मीमांसासारमेघात् पदजलधिविधोस्तर्कमाणिक्यकोशात्
साहित्यश्रीमुरारेर्बुधकुसुममधोः शौरिपादाब्जभृङ्गात्।
श्रुत्वा सौजन्यसिन्धोर्द्विजवरमुकुलात् कीर्तिवल्यालवालात्
काव्यालंकारसारे लघुविवृतिमधात् कौङ्कणः श्रीन्दुराजः॥

(लघुविवृति उपसंहारपद्य)

आह्लाद को उपजा रहे अर्थ की प्रतीति होती है वहाँ कुछ सहृदयों ने ध्वनि नामक एक काव्यधर्म स्वीकार किया है और उसी को उनने काव्य की आत्मा कहा है। उसका निरूपण यहाँ क्यों नहीं किया गया। उत्तर: क्योंकि उसका अन्तर्भाव इन अलंकारों में ही हो जाता है।

प्रतीहारेन्दुराज ने 'कुछ सहृदय' इस प्रकार 'कुछ' विशेषण जोड़कर सहृदय शब्द को व्यक्तिवाचकता से कुछ दूर कर दिया है, किन्तु मुकुलभट्ट के प्रयोग व्यक्तिवाचकता की ओर ही अधिक झुके हुए हैं।

'सहृदय' शब्द के कुछ ऐसे ही प्रयोग स्वयं ध्वन्यालोक में भी मिलते हैं जिनसे प्रतीत होता है कि वे व्यक्तिवाचक हैं। यथा—

१. ध्वने. स्वरूपं लक्ष्ये सर्वत्र प्रसिद्धव्यवहारं लक्षयतां सहृदयानाम् आनन्दो मनसि लभतां प्रतिष्ठामिति प्रकाश्यते।'[1]

ध्वनि का स्वरूप महाभारत आदि में प्रसिद्ध है। सहृदय उसे वहाँ अनुभव कर रहे हैं। उनके चित्त में आनन्द प्रतिष्ठा को प्राप्त हो अतः इस ध्वनि-स्वरूप को हम यहाँ प्रकाशित करते हैं।

२. पूर्वोद्धृत 'सहृदयोदयलाभहेतो.'।

इन सब उल्लेखों के आधार पर कुछ विद्वानों[2] ने यही स्वीकार किया है कि कारिका के रचयिता 'सहृदय' नामक कोई विद्वान् थे। आनन्दवर्धन ने केवल वृत्ति का निर्माण किया। निम्नलिखित तथ्य इस स्थापना में सहायक सिद्ध होते हैं—

१. ध्वनिखण्डन पर लिखे गए भट्टनायक के ग्रन्थ हृदयदर्पण का नाम 'सहृदयदर्पण'।[3]
२. अभिनवगुप्त द्वारा ध्वन्यालोक को सहृदयालोक कहना।
३. अभिनवगुप्तद्वारा ही भरतनाट्यशास्त्र की टीका अभिनवभारती में ध्वन्यालोककार को सहृदय नाम से पुकारना 'सहृदयाः कथयन्ति'। (पृ० १७३)

ध्वन्यालोक के अध्ययन से प्रतीत होता है वृत्तिकार अवश्य ही कारिकाकार से भिन्न है। प्रतीत होता है कि—

---

१. ध्वन्या० पृ० ३८।
२. इ० हिस्ट्री आफ् संस्कृत पोयटिक्स = काणे।
३. अभिनवभारती १।४-५।

१ ध्वनितत्त्व की स्थापना और उसका विवेचन इस ग्रन्थ के निर्माण के बहुत पहले ही हो चुका था। 'काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्य समाम्नातपूर्व'—के 'समाम्नातपूर्व' पद की व्याख्या से यह तथ्य स्पष्ट है। क्योंकि ध्वनि पर ध्वन्यालोक के अतिरिक्त कोई ग्रन्थ नही मिलता, अत अवश्य ही वह 'कारिकात्मक' यही ग्रन्थ होगा जिस पर आनन्दवर्धन ने वृत्ति लिखी है।

२ १।८ कारिका—

सोऽर्थस्तद्व्यक्तिसामर्थ्ययोगी शब्दश्च कश्चन।
यत्नत प्रत्यभिज्ञेयौ तौ शब्दार्थौ महाकवे ॥

'प्रतीयमान अर्थ और उसकी अभिव्यक्ति मे समर्थ शब्दो की पहचान प्रयत्नपूर्वक करनी चाहिए। *क्योकि वही होते है महाकवि के शब्द और अर्थ।'*—जो स्पष्ट ही सहृदयशिक्षा के लिए लिखा गया है, किन्तु वृत्तिकार उसको 'कविशिक्षा' के लिए लिखा गया बतलाते है—

'व्यङ्ग्यव्यञ्जकाभ्यामेव सुप्रयुक्ताभ्या महाकवित्वलाभो महाकवीनाम्।'
(ध्व० पृ० ९८)

३ २।४ कारिका—

वाच्यवाचकचारुत्वहेतूना विविधात्मनाम्।
रसादिपरता यत्र स ध्वनेर्विषयो मत ॥

—की वृत्ति कारिका का पूरा अर्थ देने में असमर्थ है। वृत्ति से प्रतीत होता है कि उसमें ध्वनि को गुण अलकार आदि का भेदक सिद्ध किया जा रहा है जबकि कारिका में ध्वनि के प्रति उनकी अप्रधानता प्रतिपाद्य है।

४ वृत्तिकार कारिका का अर्थ करने में अनेक विकल्प प्रस्तुत करते है। यदि कारिकाकार ही वृत्तिकार हों तो विकल्प या अर्थ का अनिश्चय क्यो कर हो सकता है।—३।१९ के 'वृत्त्यनौचित्यमेव वा' की वृत्ति में लिखा गया

'वृत्ते व्यवहारस्य यदनौचित्यम्, यदि वा वृत्तीना भरतप्रसिद्धाना कैशिक्यादीना काव्यालङ्कारान्तरप्रसिद्धानामुपनागरिकादीना वा।'
अर्थात् वृत्ति यानी व्यवहार उसका अनौचित्य, अथवा वृत्ति यानी नाट्यशास्त्र में प्रसिद्ध कैशिकी आदि अथवा अन्य काव्यालङ्कारों में प्रसिद्ध उपनागरिका आदि का अनौचित्य।

५ गुण विवेचन में कारिकाकार गुणो को रस और शब्दार्थ युग्म दोनों में स्वीकार करना चाहते है, किन्तु वृत्तिकार अधिक प्रयत्न उन्हें रसधर्म सिद्ध करने का करते है। अभिनवगुप्त वृत्तिकार की ही दिशा में चलते है।

६. संवाद के प्रकरण में संवाद को 'वाक्यार्थ' और 'पदार्थ' के दो वर्गों में बाँटने का कोई उद्देश्य कारिका से प्रतीत नहीं होता, किन्तु वृत्ति 'अक्षरादिरचनेव योज्यते' पद्य की व्याख्या यह कहते हुए करती है कि इसके द्वारा 'पदार्थ-संवाद' का प्रतिपादन किया जा रहा है। वस्तुतः पदार्थसंवाद कोई संवाद नहीं होता। राजशेखर ने भी इसकी चर्चा नहीं की है जिसने संवादतत्त्व का विवेचन स्वयं ध्वन्यालोक के ही आधार पर किया है।

७. परिकरश्लोक और संग्रहपद्यों के अलावा भी कहीं कहीं स्वयं वृत्ति भी श्लोकरूप में लिखी गयी है उदाहरणार्थ :

(क) तत्र वाच्यः प्रसिद्धो यः प्रकारैरुपमादिभिः बहुधा व्याकृता सोऽन्यैः'

के आगे :

(अ) काव्यलक्ष्मविधायिभिः।

(आ) ततो नेह प्रतन्यते।

ये दो चरण लिखे मिलते हैं। अवश्य ही इनमें कोई एक वृत्ति है।

(ख) 'अवस्थादिविभिन्नानां वाच्यानां विनिबन्धनम्। भूम्नैव दृश्यते लक्ष्यते'—के आगे :

(अ) न तच्छक्यमपोहितुम्।

(आ) तत् तु भाति रसाश्रयात्।

ये दो चरण लिखे मिलते हैं। इनमें से भी अवश्य ही कोई एक चरण कारिकांश और कोई एक वृत्त्यंश।

(ग) प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।

यत् तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ॥१।४॥

की वृत्ति देखिए—

प्रतीयमानं पुनः अन्यदेव वाच्याद् वस्तु अस्ति वाणीषु महाकवीनाम्, यद् तत् सहृदयसुप्रसिद्धं प्रसिद्धेभ्यः अलंकृतेभ्यः प्रतीतेभ्यो वा अवयवेभ्यो व्यतिरिक्तत्वेन प्रकाशते लावण्यमिवाङ्गनासु ॥

ऐसा लगता है जैसे वृत्तिकार कारिका का पदच्छेद कर रहा है। यह प्रवृत्ति तब संभव न होती जब वृत्ति स्वयं कारिकाकार की ही होती। वैसा होने पर कारिकाकार अपनी कारिका का अर्थ अधिक उज्ज्वलता के साथ प्रस्तुत करता, जैसा कि वक्रोक्तिजीवितकार ने किया है।

इस प्रकार आपाततः यही प्रतीत होता है कि ध्वन्यालोक की कारिका और वृत्ति के रचयिता भिन्न ही व्यक्ति हैं।

ग्रन्थनाम—प्रश्न उठता है कि यदि कारिका और वृत्ति दोनों भिन्न ग्रन्थ हैं तो इनके नाम क्या हैं। उत्तर में अनेक कल्पनाएँ की जाती हैं। कहा जाता है—

कारिकाग्रन्थ का नाम 'ध्वनिकारिका एवं
वृत्तिग्रन्थ का नाम ध्वन्यालोक

है। ध्वनिकारिका का निर्माता कदाचित् सहृदयनाम या सहृदय उपाधिधारी विद्वान् है, अत ध्वनिकारिका को सहृदयकारिका भी कह दिया जाता है। क्योंकि काव्यशास्त्रीय सभी ग्रन्थ काव्यालंकार या काव्यलक्षण नाम से पुकारे जाते थे, अत ध्वनिकारिका को भी काव्यालङ्कार आदि कहा जाता रहा होगा और इसीलिए उस पर लिखी ध्वन्यालोक नामक वृत्ति को भी काव्यालोक कहा गया है। ध्वनिकारिका के नामान्तर सहृदयकारिका मे सहृदय शब्द लेकर तथा उसमें काव्यालोक या ध्वन्यालोक का आलोकशब्द जोड़कर कारिका तथा वृत्ति से युक्त पूरे ग्रन्थ को 'सहृदयालोक' भी कह दिया गया है। काव्यालोक तथा सहृदयालोक शब्द अभिनवगुप्त के लोचन तथा अभिनवभारती में मिलते भी हैं। 'ध्वनि'-कार शब्द सम्पूर्ण काव्यशास्त्र में प्रसिद्ध है। इस प्रकार कारिका ग्रन्थ का नाम 'ध्वनि' रहा होगा या ध्वनिकारिका एवं वृत्तिग्रन्थ का ध्वन्यालोक'।

अभेदवाद सिद्धान्त

हमें कारिकाकार और वृत्तिकार भिन्न नहीं लगते क्योंकि—

१ लोचनकार ने जहा 'सहृदयानामानन्दो मनसि लभतां प्रतिष्ठां' की व्याख्या की है वहाँ 'आनन्द' का अर्थ तो आनन्दवर्धन किया, परन्तु 'सहृदय' का अर्थ तन्नामक कोई व्यक्ति नहीं किया, प्रत्युत यही कहा कि 'इस ग्रन्थ का रचयिता (आनन्दवर्धन) सहृदयचक्रवर्ती है क्योंकि उसका मन अति स्वच्छ है।' यहां जो ग्रन्थकृत् शब्द है वह (काणे सा के अनुसार भी) वृत्तिग्रन्थ के रचयिता के लिए प्रयुक्त है (क्योंकि काणेसा के अनुसार अभिनवगुप्त कारिकाकार को 'मूलग्रन्थकृत्' कहते हैं)। अभिनवगुप्त ने यहाँ आनन्दवर्धन को ही ग्रन्थकृत् कहा है। यह तथा उनकी निम्नलिखित पंक्तियों से स्पष्ट है—

(क) आनन्द इति च ग्रन्थकृतो नाम। तेन स आनन्दवर्धनाचार्य एतच्छास्त्रद्वारेण सहृदयहृदयेषु प्रतिष्ठां गच्छत्विति भाव।

(ख) तथा मनसि प्रतिष्ठा एवंविधमस्य मन, सहृदयचक्रवर्ती खल्वयं ग्रन्थकृत् इति यावत्।

स्पष्ट ही अभिनवगुप्त आनन्दवर्धन को ही 'सहृदय' कह रहे हैं।

२. आगे जहाँ द्वितीय उद्योत के आरम्भ में ध्वनिभेदों का निरूपण किया जाने लगा, तब वृत्ति में आए 'ध्वनिः द्विप्रकारः प्रकाशितः' इस 'प्रकाशित' की व्याख्या में अभिनवगुप्त ने लिखा 'मया वृत्तिकारेण सता' = मैंने ही वृत्तिकार की हैसियत से।' यहाँ 'सता' का अर्थ अवश्य ही यही है कि कारिकाकार ही वृत्तिकार है।

३ मुकुलभट्ट ने लक्षणा के लिए जिन स्थलों को उद्धृत किया है वे वृत्ति में आए हैं। अतः स्पष्ट ही मुकुलभट्ट वृत्ति को भी सहृदयकृत मानते हैं यदि सहृदय का अर्थ कोई व्यक्ति हैं। वृत्ति में आनन्दवर्धन नाम रहते हुए भी उनके लेखक को सहृदय कहने का अर्थ और हो ही क्या सकता सिवाय इसके कि 'आनन्दवर्धन ही सहृदय हैं।' प्रतीहारेन्दुराज ने तो 'सहृदय' शब्द को 'कैश्चित्' विशेषण लगाकर व्यक्तिवाचकता से हटा ही दिया है। उनने भी जो उदाहरण दिए हैं वे एकमात्र वृत्ति में ही मिलते हैं। परवर्ती महिमभट्ट ने ध्वन्यालोक की एक एक पंक्ति का अध्ययन और अनुशीलन किया था! उनने स्पष्ट रूप से वृत्ति को कारिकाकार की ही कृति कहा है—

'किञ्च यत्र वाच्यस्यार्थस्य व्यञ्जकत्वं स चेद् ध्वनिः तर्हि तदनुमितस्य व्यञ्जकत्वे ध्वनित्वं न स्यात्, तस्य वाच्यत्वाभावात्, ततश्च 'एवंवादिनि' इत्यादौ ध्वनित्वमिष्टं न स्याद् इत्यव्याप्तिर्लक्षणदोषः। अथ, अर्थशब्देनोभयमपि संगृहीतम्, तस्योभयार्थविषयत्वेनेष्टत्वात्, यथाह—

'अर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मा यो व्यवस्थितः।
वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ॥' इति।

सत्यम्। किन्तु तमर्थमिति तच्छब्देनानन्तर्यात् प्रतीयमानस्यार्थस्य परामर्शे सति पारिशेष्याद्, 'अर्थो वाच्यविशेष' इति स्वयं विवृतत्वाच्च' अर्थशब्दो वाच्यविषय एव विधीयत इति नोभयार्थविषय.।'

(हमारा अनुवाद पृ० ८८ व्यक्तिविवेक)

महिमभट्ट के पूर्ववर्ती वक्रोक्तिजीवितकार भी ध्वन्यालोक के कारिकाकार और वृत्तिकार में ऐसा कोई अन्तर नहीं करते। वे दोनों की बातें अपनाते और दोनों के रचयिताओं को 'ध्वनिकार' कहते जाते हैं।

लोचनकार ने तृतीय उद्योत के आरम्भ की वृत्ति में आए 'व्यङ्ग्यमुखेन' शब्द की व्याख्या में जिस टीकाकार के मत का खण्डन यह कहते हुए किया है कि वह कारिका की संगति उस चर्चा से लगा रहा है जो वृत्ति में आई है, कारिका में नहीं (वह कदाचित् चन्द्रिकाकार है) वह भी अवश्य ही कारिका और वृत्ति के रचयिताओं में भेद नहीं मानता।

बहुत बड़ी बात यह है कि स्वयं आनन्दवर्धन ने 'सहृदय' शब्द की व्याख्या में यह स्पष्ट नहीं लिखा कि 'यह कारिकाकार का नाम है'। फिर ऐसी कौन सी रुकावट थी कि आनन्दवर्धन ने स्वयं यह नहीं लिखा कि 'कारिका उनके पूर्ववर्ती अमुक आचार्य की है'।

जहाँ तक लोचन में आए—(१) मूलग्रन्थकृत (२) ग्रन्थकृत् (३) कारिकाकार तथा (४) वृत्तिकार इन उल्लेखों का सम्बन्ध है इससे यह प्रतीत नहीं होता कि 'ध्वन्यालोक की कारिका के रचयिता उसकी वृत्ति के रचयिता से भिन्न हैं' अपितु यह प्रतीत होता है कि 'अभिनवगुप्त उन्हें भिन्न मानते हैं'। यह मान्यता दो प्रकार की हो सकती है वास्तविक और कल्पित। दूसरे शब्दों में अभिनवगुप्त कारिका और वृत्ति के रचयिताओं में जो भेद मान रहे हैं यह इस-लिए कि उन्हें यही ज्ञान है कि कारिकाकार और वृत्तिकार वस्तुतः भिन्न हैं अथवा यह जानते हुए भी कि दोनों अभिन्न हैं, वे ऐसा लिख रहे हैं। प्रश्न उठता है कि 'अभिन्न' को जान बूझ कर भिन्न कहने का उद्देश्य क्या हो सकता है। उत्तर में कहा जा सकता है कि अभिनवगुप्त यह नहीं चाहते कि कारिकाकार और वृत्ति-कार में अभेद होने पर भी केवल वृत्ति में आई स्थापनाओं की संगति कारिका से दिखायी जाए। वे चाहते हैं कि दोनों की स्थापनाएँ पृथक् रख कर देखी जाएँ।' यह भी चिन्तन का एक क्रम हो सकता है। वस्तुतः अभिनवगुप्त अभेद जानते हुए भी कारिकाकार और वृत्तिकार में अन्तर करके बोलने के आदि हैं। उदयाकर के पुत्र उत्पलदेव ने कारिकाओं में एक ग्रन्थ लिखा 'ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा'। फिर स्वयं ने उन कारिकाओं की वृत्ति लिखी। बाद में उन्होंने वृत्ति पर टीका भी लिखी। यानी 'कारिका, उनकी वृत्ति और वृत्ति की टीका' तीनों ही एक ही लेखक ने—उत्पलदेव ने, लिखी। अभिनवगुप्त ने ईश्वरप्रत्यभिज्ञा की कारिका और वृत्ति दोनों पर दो पृथक् टीकाएँ लिखी। कारिकामात्र पर 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी' और वृत्तिमात्र पर 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी'। प्रथम के आरम्भ में उनने लिखा :

वृत्त्या तात्पर्यं टीकया तद्विचार
सूत्रेष्वेतेषु ग्रन्थकारेण दृब्धम्।

अर्थात्—कारिकारूपी सूत्रों पर स्वयं ग्रन्थकार ने वृत्ति लिखी और उनका तात्पर्य स्पष्ट किया, फिर ग्रन्थकार ने ही उस वृत्ति पर टीका लिखी और वृत्ति पर विशद विचार किया।

स्पष्ट ही अभिनवगुप्त को यह तथ्य विदित है कि 'कारिका, उनकी वृत्ति और उसकी टीका' के रचयिता स्वयं उत्पलदेव हैं'। अभिनवगुप्त ने जब केवल

कारिकाओं पर विमर्शिनी लिखी तो उसमें स्वयं ग्रन्थकार की वृत्ति से कुछ बातें अधिक लिख दीं। इसकी सूचना देते हुए वे, उन्हें यह विदित होने पर भी कि कारिकाकार, वृत्तिकार तथा टीकाकार तीनों एक ही है, लिखते हैं—

> इयति च व्याख्याने वृत्तिकृता भरो न कृतः, तात्पर्यव्याख्यानात्, टीकाकारेणापि वृत्तिमात्रे व्याख्यातुमुद्यतेन नेदं स्पृष्टम्।
>
> (ई० प्र० वि०, १, पृ० २२–२३)
>
> अर्थात्—कारिका की इतनी बड़ी व्याख्या वृत्तिकार ने भी नहीं की, क्योंकि उन्हें कारिका का केवल तात्पर्य बतलाना था, टीकाकार ने भी इतना नहीं लिखा क्योंकि वे भी केवल वृत्ति की व्याख्याना तक सीमित थे।

डॉ० कान्तिचन्द्र पाण्डेय का कहना है कि अभिनवगुप्त और भी अनेक स्थलों में ऐसा ही लिखते और कृतिभेद से कृतिकार में भेद करके व्याख्या करते हैं।[1]

निष्कर्ष :

निष्कर्ष यह कि ध्वन्यालोक की कारिकाओं के रचयिता उसकी वृत्ति के रचयिता से अभिन्न है। भेद की दिशा अभिनवगुप्त की देन है।

अपनी वृत्ति में कारिका के अर्थ पर विकल्प प्रस्तुत करने, वृत्ति को भी कारिका के रूप में ही प्रस्तुत करने, नवीन अर्थ की उद्भावना करने आदि से उक्त निष्कर्ष पर चोट नहीं आती। इससे केवल इतना ही सिद्ध होता है कि वृत्ति कारिकानिर्माण के बहुत बाद लिखी गयी। वृत्ति लिखते समय कारिकाकार के मस्तिष्क में अनेक नई युक्तियाँ और नवीन सिद्धान्त आ चुके होंगे। उन्हें भी उनने उपनिबद्ध किया। कारिका और वृत्ति के निर्माण में बहुत वर्षों का अन्तराल ही वह कारण है जिससे वृत्ति में आई संग्रहकारिकाएँ मूलकारिकाओं से भिन्न ही प्रसिद्ध रहीं, उनमें मिश्रित नहीं हुईं। यद्यपि अभिनवगुप्त को कहीं कहीं इनमें भ्रम हुआ है। ४।४ कारिका के विषय में उन्हें संग्रहकारिका का सन्देह है।

जहाँ तक ध्वन्यालोक के पूर्व ध्वनिसिद्धान्त की प्रतिष्ठा का प्रश्न है उससे यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि ध्वन्यालोक के पूर्व भी ध्वनि पर ग्रन्थ लिखे जा चुके थे, जो अब नहीं मिलते। आज भी ऐसी अनेक कारिकाएँ कश्मीरी टीकाकारों की भिन्न भिन्न टीकाओं में उद्धृत मिलती हैं जिनसे पता चलता है कि वे किन्हीं ग्रन्थों की हैं, किन्तु वे उपलब्ध नहीं होते। प्रतीहारेन्दुराज की लघु-

---

१. द्रष्टव्य डॉ० का० च० पा० का अंग्रेजी ग्रन्थ 'अभिनवगुप्त' पृ० २०५.

विवृति[1] और जयरथ की विमर्शिनी[2] इसकी प्रमाण हैं। दशरूपक की टीका अवलोक इसका और भी प्राचीन प्रमाण है जिसमें ध्वनि का खण्डन किया गया है और जो कारिकाएँ उद्धृत की गयी हैं उन्हें 'काव्यनिर्णय' नाम के स्वतन्त्र ग्रन्थ से उद्धृत बतलाया गया है। यह ग्रन्थ आज तक अप्राप्य ही है। ध्वनि-विरोधी भट्टनायक का ग्रन्थ हृदयदर्पण भी प्राप्त नहीं होता। उसकी भी अनेक कारिकाएँ उद्धृत मिलती हैं।

ध्वन्यालोक को सहृदय-हृदयालोक कहना अथवा भट्टनायक के हृदयदर्पण को सहृदय-हृदयदर्पण कहना यह सिद्ध नहीं करता कि सहृदय कोई व्यक्ति है अथवा वह आनन्दवर्धन नहीं है।

यह हो सकता है कि आनन्दवर्धन की कारिकाएँ पूर्ववर्त्ती आचार्यों की कारिकाओं का परिष्कार हो, वैसे ही जैसे दण्डी की कारिकाओं का परिष्कार भामह की कारिकाएँ हैं, भामह की कारिकाओं का परिष्कार उद्भट की कारिकाएँ हैं, और उद्भट की कारिकाओं का परिष्कार मम्मट की कारिकाएँ। सम्भव है इसीलिए आनन्दवर्धन ने वृत्ति के पूर्व उस प्रकार यह नहीं लिखा कि 'हम अपनी कारिकाओं की वृत्ति लिख रहे हैं' जिस प्रकार वामन ने लिखा था।

आनन्दवर्धन के अन्य ग्रन्थ

आनन्दवर्धनाचार्य ने

१. अर्जुनचरित महाकाव्य[3]
२. देवीशतक स्तुतिकाव्य[4]

---

१ *विवक्ष्यमविवक्ष्य च वस्त्वलङ्कारगोचरे।*' से लेकर **प्रधानवद् गुणीभूते व्यङ्ग्ये प्रायेण ते तथा॥**'—तक ३ कारिकाएँ ऐसी हैं जो केवल लघुविवृति में ही मिलती हैं, अन्यत्र नहीं। द्रष्ट० काव्यालंकारसूत्र-वृत्ति-लघुविवृति का अन्त।

२ 'तात्पर्या शक्तिरभिधा लक्षणानुमितो, द्विधा—
अर्थापत्ति क्वचित्, तन्त्र, समासोक्त्याद्यलङ्कृति।
रसस्य कार्यता भोगो व्यापारान्तरबाधनम्।
द्वादशेत्थं ध्वनेरस्य स्थिता विप्रतिपत्तय॥'
अलंकारसर्वस्वविमर्शिनी पृष्ठ—२५, हमारा अनुवाद, चौखम्भा संस्करण।

३ ध्व० पृ० ३३६, ३८८

४ काव्यमाला—९

३. विषमवाणलीला प्राकृत काव्य[1]
४. तत्त्वालोक[2] दार्शनिक ग्रन्थ तथा
५. धर्मोत्तमावृत्ति[3]

नामक ग्रन्थों की भी रचना की थी। इनमें से केवल देवीशतक उपलब्ध है। शेष नही। शेष मे अर्जुनचरित तथा विषमवाणलीला का उल्लेख स्वयं आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक मे किया है। तत्त्वालोक तथा धर्मोत्तमावृत्ति का उल्लेख लोचनकार करते है। आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक मे इतना निर्देश किया है कि वे बौद्धमत की मीमांसा किसी स्वतन्त्र ग्रन्थ मे करने वाले है। उनने धर्मोत्तमा की टीका बाद में लिखी होगी।

व्यक्तित्व : कवि

उक्त काव्यों के अतिरिक्त आनन्दवर्धन ने अपने अनेक पद्य भी ध्वन्यालोक में उद्धृत किये है, जिनसे उनका कविकर्म बहुत स्पष्ट है। लगता है वे प्रतिभा के धनी एक उत्तम कवि है। रूपकध्वनि के लिए उद्धृत उनका निम्नलिखित पद्य सचमुच एक उत्तम काव्यशिल्प है :

लावण्यकान्ति - परिपूरित - दिङ्मुखेऽस्मिन्
स्मेरेऽधुना तव मुखे तरलायताक्षि।
क्षोभं यदेति न मनागपि तेन मन्ये
सुव्यक्तमेव जडराशिरयं पयोधिः॥ (ध्व० पृ० २६१)

विरोधध्वनि के लिए :

सर्वैकशरणमक्षयमधीशमीशं धियां हरिं कृष्णम्।
चतुरात्मानं निष्क्रियमरिमथनं नमत चक्रधरम्॥ (ध्व० पृ० २४६)

श्लेष के लिए :

श्लाघ्याशेषतनुं सुदर्शनकरं सर्वाङ्गलीलाजित-
त्रैलोक्यांचरणारविन्दललितेनाक्रान्तलोको हरिः।
बिभ्राणां मुखमिन्दु - रूपमखिलं चन्द्रात्मचक्षुर्दधत्
स्थाने यां स्वतनोरपश्यदधिकां सा रुक्मिणी वोऽवतात्॥
(ध्व० पृ० २३७)

---

१. ध्व० पृ० २६५, ३४६, ५३९, ५४०
२. ध्व० लोचन पृ० ९८, तथा महार्थमञ्जरी पृ० १४९, 'अभिनवगुप्त' पृ० २११
३. ध्व० लोचन तृतीयउद्योत का अन्त।

पद्य एक उत्तम उदाहरण है।

> ख येऽत्युज्ज्वलयन्ति लूनतमसो ये वा नखोद्भासिन
> ये पुष्णन्ति सरोरुहश्रियमपि क्षिप्ताब्जभासश्च ये।
> ये मूर्धस्ववभासिन क्षितिभृता ये चामराणा शिरा-
> स्याक्रामन्त्युभयेऽपि ते दिनपते पादा श्रिये सन्तु व ॥
> (ध्व० पृ० २४६-७)

पद्य में विरोध तथा व्यतिरेक से युक्त सभङ्ग-श्लेप की योजना प्रौढ कवित्व और गहन शब्दव्युत्पत्ति का परिणाम है।

विपमवाणलीला का निम्नलिखित अर्थान्तरन्यास कविकर्म का उज्ज्वल परिपाक छिपाए हुए है

> ताला जाअन्दि गुणा जादा ते सहिअएहि घेप्पन्ति।
> रइ - किरणानुगिहीआइं होन्दि कमलाइं कमलाइं॥
> [तदा जायन्ते गुणा यदा ते सहृदयैर्गृह्यन्ते।
> रविकिरणानुगृहीतानि भवन्ति कमलानि कमलानि॥]

उपमालकार के लिए तो आनन्दवर्धन की लेखनी कालिदास की लेखनी को छूती है। आगे उपमालकार के प्रकरण में दिए उदाहरणो से यह तथ्य प्रमाणित है। ऐसे ही अन्य पद्य भी आनन्दवर्धन के चूडान्त कवित्व के प्रमाण है।

चित्रबन्ध के लिए तो आनन्दवर्धन का देवीशतक ९७७ ई० से ही प्रसिद्ध है। हेमचन्द्र ने अपने काव्यानुशासन के पांचवें अध्याय की स्वकृत टीका में उसी से उदाहरण दिए है। इसीलिए वे अवन्तिवर्मा के शासनकाल के प्रतिनिधि कवियो मे गिने गए है। उनकी शास्त्रीय कृति ध्वन्यालोक भी कवित्व पूर्ण अभिव्यक्ति मे लिखी गयी कृति है। उस पर शास्त्रीय अभिव्यक्ति की दृष्टि से जो प्रहार महिम-भट्ट ने किया है वह उनकी ज्यादती है।

आचार्य

आचार्य के रूप में आनन्दवर्धन ने 'ध्वन्यालोक' की जो काव्य-समीक्षा प्रस्तुत की है वह कदाचित् विश्वसाहित्य मे बेजोड है। ध्वनिसिद्धान्त का 'ध्वनि' नाम भले ही कुछ समीक्षकों को पसन्द न हो, उसकी स्थापनाएँ और प्रतिपाद्य विषय सर्वमान्य है। कहा जा चुका है कि आनन्दवर्धन का सम्प्रदाय काव्य के प्रमातृपक्ष नामक एक महान् पक्ष को प्रधानता देने वाला सम्प्रदाय है। अपने आचार्यत्व पर भी आनन्दवधन को विश्वास है। वे स्वय को कवि और आचार्य

दोनों स्वीकार करते है। भगवद्भक्तिपरक निम्नलिखित पद्य मे वे कहते है कि 'हे भगवान् कवि, सहृदय और दार्शनिक आचार्यो की जो दृष्टि हैं मुझे उन सबका प्रसाद प्राप्त है और मै उन सबसे सम्पूर्ण विश्व का सर्वविध दर्शन करता आ रहा हूँ, किन्तु जो सुख मुझे आपकी भक्ति मे प्राप्त हुआ वह कहीं नही :

> या व्यापारवती रसान् रसयितुं काचित् कवीनां नवा
> दृष्टिर्या परिनिष्ठितार्थविषयोन्मेषा च वैपश्चिती।
> ते द्वे अप्यवलम्ब्य विश्वमनिशं निर्वर्णयन्तो वयं
> श्रान्ता नैव च लब्धमब्धिशयन ! त्वद्भक्तितुल्यं सुखम् ॥
> (ध्व० पृ० ५०८)

यहाँ 'कवि' शब्द के दोनों ही अर्थ हैं 'कवि भी और सहृदय भी'। काव्यों के व्यावहारिक अनुवीक्षण मे भी आनन्दवर्धन की दृष्टि अतीव विदग्धता लिए हुए है। कविशिक्षा अनुच्छेद मे यही प्रदत्त रामायण, महाभारत, कुमारसंभव, कादम्बरी तापसवत्सराज, रत्नावली, वेणीसंहार सेतुबन्ध आदि काव्यों के शिल्प की जो समीक्षा उनने प्रस्तुत की है वह अभिनवगुप्त के भी व्यावहारिक अनुवीक्षण का प्रतिमान है।

दार्शनिक :

आनन्दवर्धन भगवत्तत्त्व, अविद्या, सत्तत्त्व, असत् तत्त्व, सदसत्तत्त्व, अव्यक्ततत्त्व तथा पुरुषार्थो की चर्चा करते और उस समय एक उत्तम दार्शनिक भी दिखाई देते है। एक बार वे मोक्ष को भगवत्प्राप्तिरूप बतलाते है और एक बार भगवत्प्राप्ति का उपाय[1]। इससे प्रतीत होता है कि वे मुख्यत: भक्तिमार्गी है। लोचन से विदित होता है कि तत्त्वालोक नामक ग्रन्थ मे उनने 'परमेश्वराद्वैत' का प्रतिपादन किया था। 'परमेश्वर' शब्द से भी ब्रह्मतत्त्व के प्रति भक्ति प्रकट होती है। आरम्भ में उनने भगवान् नृसिंह की स्तुति की भी है।

दार्शनिक क्षेत्र के अन्य तत्त्वों का भी आनन्दवर्धन को ज्ञान है। वे मीमांसा के 'शब्द और अर्थ के बीच औत्पत्तिक सम्बन्ध' की चर्चा करते है। अभिधा, लक्षणा, भक्ति, गुणवृत्ति, के अनेक रूपों का उल्लेख बतलाता है कि वे अपने युग तक निष्पन्न सारस्वत साधना की उन गूढ ग्रन्थियों के रहस्यवेत्ता है जिनके बिना शास्त्रविचार सम्भव नहीं होता। व्याकरणशास्त्र के तो वे भक्त ही है। व्याकरण को वे प्रथम दर्शन मानते है। 'ध्वनि' शब्द को उनने उसी सम्प्रदाय से अपनाया

---

१. भगवत्तत्त्व, अविद्या आदि शब्द तथा मोक्ष के लिए द्रष्टव्य ध्वन्यालोक का चतुर्थ उद्योत।

है। प्रतिभातत्त्व के सन्दर्भ में जब वे 'समाधि' का उल्लेख करते हैं तो स्पष्ट हो जाता है कि वे योगशास्त्र की चित्तभूमिकाओं से अवगत हैं। तर्कशास्त्र के अनुमान-वाद को वे उपस्थित करते हैं। इस प्रकार आनन्दवर्धन पदशास्त्र = व्याकरण, प्रमाणशास्त्र = न्यायशास्त्र तथा वाक्यशास्त्र = मीमांसाशास्त्र के विज्ञ विद्वान् हैं। वेदान्त की ब्रह्मविद्या और योग की विभूति का भी उन्हें ज्ञान है। पुराण और काव्य के तो वे मानो पारदृश्वा हैं। काव्यशास्त्र की प्रत्येक बारीकी का ज्ञान तो उन्हें है ही। साङ्ख्यशास्त्र की प्रकृति का वे उल्लेख करते और उसकी महिमा का वर्णन भी करते हैं (ध्व० ४।१०)। इस प्रकार आनन्दवर्धन एक प्रौढ विद्वान् भी हैं।

दार्शनिकता और आलङ्कारिकता की दो पृथक् विशेषताओं को आनन्दवर्धन ने अपने व्यक्तित्व में एकरस कर दिया है। वे कहते हैं—'दर्शन में जो मोक्षतत्त्व है काव्य में वही शान्त रस है'। अर्थात् तत्त्व एक ही है, उसे शैलीभेद से भिन्न भाषा या सज्ञाओं में व्यक्त किया जा रहा है।

स्वभाव

आनन्दवर्धन का स्वभाव एक दुर्लभ स्वभाव है। वे अत्यन्त सतुलित और शिष्ट हैं। सतुलित इस दृष्टि से कि जब वे पूर्वपक्षों तथा अपने विरोधियों का खण्डन करते हैं, तो उनमें आक्रोश का लेश भी दिखाई नही देता, किन्तु जब वे विरोधियो की ओर से अपने ऊपर विरोधी तर्क का प्रहार स्वय करते हैं तो कुछ रूक्ष दिखायी देने लगते हैं। उनकी यह रूक्षता भी व्यङ्ग्यगर्भित चुटीली कहावत-सी रहती है। ध्वनि का विरोध प्रस्तुत करते हुए वे लिखते हैं—

१ ध्वनिर्ध्वनिरिति अलीकसहृदयत्वभावना - मुकुलितलोचनैर्नृत्यते तत्र हेतु न विद्म ।

२ काव्य तद् ध्वनिना समन्वितमिति प्रीत्या प्रशसञ्जड ।

झूठी सहृदयता से अन्धे लोग जो आँख बन्दकर ध्वनि ध्वनि रट रहे और नाच रहे है, समझ मे नही आता उसका कारण क्या है।
जिस काव्य में वक्रोक्ति आदि कुछ भी नही उसे ध्वनि से युक्त मानकर अच्छा बतलाने वाला जड ही है।

इस प्रकार वे कटुतापूर्ण प्रहार स्वय सहते हैं। दूसरो पर वे वैसा कोई आक्रमण नही करते। अभिनवगुप्त, मम्मट, सायण आदि में यह सन्तुलन नही है।

शिष्टता आनन्दवर्धन का स्थायी भाव है। वे दोषों की चर्चा करते हैं किन्तु नाम केवल दो दोषों का लेते हैं। ये दोष हैं श्रुतिदुष्टत्व[1] तथा ग्राम्यत्व। 'श्रुतिदुष्टत्व'[2] वही है जिसे बाद मे अश्लीलत्व कहा गया है। अश्लीलता अवश्य ही शिष्टताविरोधी तत्त्व है। ग्राम्यत्व भी उसी का भाई है।

इस प्रकार आनन्दवर्धन एक शिष्ट, सामाजिक, संस्कारसम्पन्न और विनीत व्यक्ति है।

वंश, देश :

आनन्दवर्धन कश्मीर देश के निवासी है। इनका वंश कश्मीर का अति प्रसिद्ध राजानक वंश है। इनके पिता का नाम 'नोण'[3] था। ये देवी के भक्त थे और पहुँचे हुए भक्त थे। देवी ने इन्हे स्वप्न मे आदेश दिया कि ये उनकी स्तुति मे काव्य लिखें। इसी आदेश पर इनने 'देवीशतक' नामक पाण्डित्यपूर्ण काव्य लिखा है। आनन्दवर्धन के व्यक्तिगत जीवन के विषय मे इससे अधिक सूचना नही मिलती।

ध्वन्यालोक से प्राप्त अन्य सूचनाएँ :

ध्वन्यालोक के अध्याय से कुछ ऐतिहासिक सूचनाएँ मिलती हैं। इनका संक्षिप्त विवरण—

१. काव्यशास्त्रीय ग्रन्थो के नाम

आनन्दवर्धन काव्यशास्त्र के लिए

(क) काव्यवर्त्म[4]

---

१. ध्व० पृ० ३०२, आदि.

२. ध्वन्यालोक ४ के अन्त की पुष्पिका आदि।

३. देवीशतक की पुष्पिका तथा हेमचन्द्रका काव्यानुशासन (काव्यमाला संस्करण २, पृ० २६९-७०) ध्वन्यालोक में इसका उल्लेख नही है। हेमचन्द्र ने देवीशतक के अनेक पद्यों के चित्रबन्ध उद्धृत किए है और उनकी व्याख्या की है। चक्रबन्ध के उदाहरणों में उनने—

देव्या स्वप्नोद्गमादिष्टदेवीशतकसंज्ञया।
देशितानुपमामाधादतो नोणसुतो नुतिम् ॥

पद्य उद्धृत कर 'नोणसुत' शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा 'नोणसुतः श्रीमानानन्दवर्धनाचार्यः'। (पृ० २७०)

४. अन्तिम मंगलपद्य

(ख) काव्यलक्षण[1] या काव्यलक्ष्म तथा
(ग) काव्यालकार[2] शब्दों का प्रयोग करते हैं।

७, वाल्मीकि रामायण का उत्तरकाण्ड आनन्दवर्धन के समक्ष था। आनन्द-वधन उसे वाल्मीकि की ही कृति मानते हैं। वे लिखते हैं—

> **रामायणे हि करुणो रस स्वयमादिकविना सूचित**
> **'शोक श्लोकत्वमागत' इत्येववादिना, निर्व्यूढश्च स एव**
> **सीतात्यन्तवियोगपर्यन्तमेव स्वप्रबन्धमुपरचयता[3] ॥**
>
> रामायण में करुण रस मुख्य हैं। इसका सकेत 'शोक श्लोकत्वमागन' कहकर स्वय वाल्मीकि ने ही रामायण के आरम्भ में दे दिया हैं। इसका निर्वाह भी सीता के अत्यन्त वियोग की घटना तक किया है।'

सीता के आत्यन्तिक वियोग की घटना उत्तरकाण्ड की ही घटना है। इस काण्ड के ४३ वें सर्ग से ४९ वें सर्ग तक के अश मे सीतापरित्याग का ही आख्यान है।

३ आनन्दवर्धन के समय तक महाभारत की अनेक व्याख्याएँ हो चुकी थी। चतुर्थ उद्योत में वे लिखते हैं—

> **महाभारतेऽपि शास्त्ररूपे काव्यच्छायान्वयिनि वृष्णि पाण्डवविरसावसान-वैमनस्य दायिनीं समाप्तिम् उपनिबध्नता महामुनिना वैराग्यजननतात्पर्यं प्राधान्येन स्वप्रबन्धस्य दर्शयता मोक्षलक्षण पुरुषार्थ शान्तो रसश्च मुख्य-तया विवक्षाविषयत्वेन सूचित । एतच्च अशेन विवृतमेवान्यैर्व्याख्या-विधायिभि ।[4]**
>
> महाभारत काव्यरूप में लिखा गया शास्त्र है। उसकी समाप्ति वृष्णि और पाण्डव वश के करुण अन्त में होती है। इस प्रकार की समाप्ति का उद्देश्य एकमात्र वैराग्य की उत्पत्ति है। वैराग्य का फल है मोक्ष। उसके लिए उपयुक्त रस हैं शान्तरस। महामुनि ने अपने प्रबन्धकाव्य में इन्हे ही दिखलाना चाहा हैं। यह तथ्य आशिक रूप से अन्य टीकाकारों ने भी स्पष्ट कर दी है।

---

१ ध्व० पृ० २५, ३१, ३५, काव्यलक्ष्म १।३ वृत्ति
२ ध्व० ३।१९ वृत्ति।
३ ध्वन्यालोक पृ० ५२९-३०
४ ध्वन्यालोक पृ० ५३०

४. आनन्दवर्धन के समय तक नाट्यशास्त्र की भी अनेक टीकाएँ बन चुकी थी। कुछ टीकाकार रसों में अङ्गाङ्गिभाव नही मानते थे। कुछ टीकाकार रस की साक्षात् व्यञ्जना मानते थे। कुछ टीकाकार रस की व्यञ्जना साक्षात् न मानकर परम्परया माना करते थे। कुछ टीकाकार एक रस में दूसरे रस को संचारी भाव मानते थे और कुछ स्थायी भाव।[१]

५. ध्वन्यालोक मे निम्नलिखित साहित्य और साहित्यकारों के उल्लेख मिलते हैं—

(क) कवि :

१. वाल्मीकि[२] आनन्दवर्धन वाल्मीकिजी को आदिकवि[३] कहते हैं और उनकी कृति को रामायण[४] नाम से पुकारते हैं। इसे वे सिद्धरस-तुल्य[५] कृति बतलाते और एक आदर्श काव्य कहते हैं।

२. व्यास. व्यास को आनन्दवर्धन महर्षि,[६] कविवेधा[७] और कृष्ण-द्वैपायन[८] कहते हैं। वे इनकी कृतियों में महाभारत,[९] हरिवंश[१०] तथा गीता[११] का उल्लेख करते हैं।

३ कालिदास. आनन्दवर्धन जिस प्रकार वाल्मीकि को आदिकवि और व्यास को महर्षि कहते हैं उसी प्रकार कालिदास को 'महाकवि'[१२] कहा करते हैं। महाकवि शब्द का प्रयोग करते ही यदि किसी का नाम लेना आवश्यक होता है तो आनन्दवर्धन तत्काल कालिदास का ही नाम लेते हैं **'द्वित्राः पञ्चषा वा महाकवय इति गण्यन्ते कालिदासादयः'**।[१३] वे कालिदास के कुमारसंभव[१४] का उल्लेख

---

१. ध्वन्यालोक पृ० ३७३ तथा ३८५.
२. ध्व० ८४, ८८, ३६५, ५४२, ५४३.
३. ध्व० पृ० ३६५.
४. ध्व० पृ० ३८, ३२८, ३३५, ५२१ × २, ५३३.
५. ध्व० पृ० ३३५.
६. ध्व० पृ० २८९, ३५०, ३६५.
७-८. ध्व० पृ० ५३२.
९. ध्व० पृ० ३८, ३२८, ३४६, ५२९ × २, ५३०, ५३१ × ५, ५३२.
१०-११. ध्व० पृ० ५३२.
१२-१३. ध्व० पृ० ९३.
१४. ध्व० पृ० २४८, ३१७, ५३९ × २.

करते और उनकी आलोचना एक तटस्थ समीक्षक के रूप में करते हैं। उनका कहना है कि कुमारसम्भव में व्युत्पत्ति की अपेक्षा शक्ति-तत्त्व[1] प्रधान है और इसलिए उसमें आए दोष दोष रूप में प्रतीत नहीं होते।

४ **बाणभट्ट**—आनन्दवर्धन बाणभट्ट[2] का उल्लेख असकृत् करते और उनकी अनेक गद्यपङ्क्तियाँ उद्धृत करते हैं। सुबन्धु और दण्डी उनके सामने मानो हैं ही नही। वे बाण को भट्ट बाण कहते और उन्हें रससमाहित कवि बतलाते हैं। रससमाहित कवि की बुद्धि मे अलकार खुद ही उपस्थित होते रहते[3] हैं। कादम्बरी के वर्णन को वे इसका उत्तम उदाहरण बतलाते हैं[4]। वे कादम्बरी और हर्षचरित[5] दोनो का नामोल्लेख भी करते हैं।

५ **सर्वसेन**—का उल्लेख आनन्दवर्धन ने इतिवृत्तयोजना मे रसानुरूपता रक्षित रखने हेतु किए जाने वाले परिवर्तन के लिए किया है।[6] वे उनके हरिविजय[7] का उल्लेख अनेक बार करते हैं।

६ **धर्मकीर्ति**—बौद्ध दार्शनिक हैं। आनन्दवर्धन इनका उल्लेख अनुरूप समाज के अभाव में विपण्ण विद्वान् के रूप में करते हैं।[8]

७ **अमरुक**—अमरुकशतक के एक एक पद्य को आनन्दवर्धन सरसता के लिए सौ सौ प्रबन्धो के बराबर बतलाते हैं।[9] इसके लिए उनका शब्द है रसस्यन्दी।

८ **आनन्दवर्धन**—आनन्दवर्धन ने स्वय अपनी काव्यकृतियो का भी उल्लेख किया है और अपने पद्य भी उदाहरण के रूप में उपस्थित

---

१ ध्व० पृ० ३१६
२ ध्व० पृ० ३४५
३ ध्व० पृ० २२२
४ ध्व० पृ० २२२
५ ध्व० पृ० २९७
६ ध्व० पृ० ३३५ अन्य सदर्भ २९८ -
७ ध्व० पृ० २९८, ३३५
८ ध्व० पृ० ४८९
९ ध्व० पृ० ३२५

किए[1] है। अपने अर्जुनचरित महाकाव्य में इनने कथावस्तु में रसानुरूप परिवर्तन किए थे। रसविरोध के परिहार का कौशल भी इस काव्य में अनोखा[2] था। आनन्दवर्धन ने अपने इस काव्य का उल्लेख इन्ही दो विशेषताओं के लिए किया[3] है। इनकी अपनी दूसरी कृति है प्राकृत रचना 'विषमबाणलीला'।[4]

(ख) काव्य :

आनन्दवर्धन ने निम्नलिखित काव्यों के भी उल्लेख किए है—

१. रामाभ्युदय[5]
२. रत्नावली[6]
३. नागानन्द[7]
४. वेणीसंहार[8]
५. तापसवत्सराज[9]
६. मधुमथनविजय[10]

(ग) आचार्य :

आचार्यों में आनन्दवर्धन निम्नलिखित व्यक्तियों का स्मरण करते हैं—

१. भरत[11]
२. भामह[12]

१. ध्व० पृ० २४३×२, २६१, २६५, ३३६, ३४५, ३८८, ४९१, ४९९, ५०७, ५३३, ५४८.
२. ध्व० पृ० ३३६.
३. ध्व० पृ० ३८८
४. ध्व० पृ० २६५, ३४६, ५३९, ५४०.
५. ध्व० पृ० ३०७.
६. ध्व० पृ० ३४०, ३४२.
७. ध्व० पृ० ३८९.
८. ध्व० पृ० ३४०.
९. ध्व० पृ० ३४२.
१०. ध्व० पृ० ३४५.
११. ध्व० पृ० ३३३, ३४०, ३६४.
१२. ध्व० पृ० ११९, ४३६.

३ भट्टोद्भट[1] (उद्भट) और
४ स्वयं अपना

(घ) दार्शनिक

दार्शनिकों में आनन्दवर्धन ने धर्मकीर्ति का उल्लेख किया है, किन्तु कवि के रूप में। यद्यपि उससे भी धर्मकीर्ति के अप्रतिम वैदुष्य का परिचय प्राप्त हो जाता है।

यहाँ जिन ग्रन्थों तथा साहित्यकारों का उल्लेख किया गया है वे वे ही हैं जिनका ध्वन्यालोक में नामोल्लेख हुआ है। आनन्दवर्धन ने इन नामों के अतिरिक्त बिना नाम के अनेक कृतियों से पद्य उद्धृत किए हैं। इनमें—

१ शिशुपालवध[2]
२ विक्रमोर्वशीय[3]
३ शाकुन्तल[4]
४ मेघदूत[5]
५ गाथासप्तशती[6]

ऐसी रचनाएँ हैं जिनके पद्य ध्वन्यालोक में पहचाने जा सकते हैं। शेष अनेक पद्यों के आकरग्रन्थों की कल्पना करना कठिन है। ऐसे ग्रन्थों में 'हनुमन्नाटक' तथा पाणिनि के 'जाम्बवतीपरिणय' आदि आ सकते हैं। अन्य कवियों में आनन्दवर्धन ने अपने समकालीन अथवा कुछ पहले हुए कवि 'मनोरथ' का पद्य भी उद्धृत किया है।

आनन्दवर्धनपूर्ववर्ती अन्यशास्त्रकार :

आनन्दवर्धन के पहले अन्य शास्त्रों के निम्नलिखित आचार्य हो चुके थे—

शास्त्र	आचार्य	ग्रन्थ	समय
१ व्याकरण	भर्तृहरि	वाक्यपदीय	ई० ७००
२ न्याय	महर्षि गौतम	न्यायदर्शन	ईसापूर्व

---

१ ध्व० पृ० २३६,२५८
२ ध्व० पृ० २७२ × २
३ ध्व० पृ० २०१,३५३
४ ध्व० पृ० २२४,२८९ आदि
५ ध्व० पृ० २८९ आदि
६ ध्व० पृ० २६९

३. मीमांसा	कुमारिलभट्ट	श्लोकवार्तिक	ई० ७००
४. सांख्य	ईश्वरकृष्ण	सांख्यकारिका	ई० ४००
५ वेदान्त	आदि शंकराचार्य	शारीरक भाष्य	ई० ७००
६. योग	पतञ्जलि	योगसूत्र	ईसापूर्व
७. बौद्ध	धर्मकीर्ति	प्रमाणवार्त्तिक	ई० ७००

इन आचार्यों के पहले उक्त शास्त्रों मे अन्य आचार्य भी हुए है, किन्तु आनन्दवर्धनयुगीन वातावरण मे छाये हुए आचार्य ये ही है। इनमे भी सर्वाधिक प्रभाव भर्तृहरि, कुमारिलभट्ट और धर्मकीर्ति का रहा है। भर्तृहरि का वाक्यपदीय ही है ध्वनिप्रस्थान का प्रेरणास्रोत।

ध्वन्यालोक की टीकाएँ :

ध्वन्यालोक का निर्माण नवम शती मे हुआ। उसके बाद १०० वर्षो के भीतर ही इसपर तीन टीकाएँ लिख दी गयी। ये है—

१. चन्द्रिका
२. विवरण तथा
३. लोचन

इनमें से प्रथम दो नही मिलतीं। लोचन अनेक बार छप चुका है। प्रथम दोनों टीकाओं का ज्ञान इसी लोचन मे हुए उनके उल्लेख और उद्धरणों से होता है।

लोचन :

लोचन का पूरा नाम 'काव्यालोकलोचन' है। 'सहृदयालोकलोचन' और 'ध्वन्यालोकलोचन' उसके अन्य नाम है। इसके रचयिता है 'अभिनवगुप्त'। इनने लोचन के विषय में लिखा है कि 'ध्वन्यालोक यदि एक आलोक है तो लोचन, लोचन है, जिसके बिना आलोक का साक्षात्कार सम्भव नही' 'किं लोचनं विनाऽऽलोको भाति'[1] विद्वानो की भी यही राय है। उनका कहना है कि ध्वन्यालोक के अध्ययन मे लोचन का वही स्थान है जो वेदान्तसूत्रों के अध्ययन में शारीरकभाष्य का या स्वयं शारीरक भाष्य के अध्ययन में भामती का[2]। कुछ

१. ध्वन्यालोक १ के लोचन का अन्तिम पद्य।
२. साहित्यशास्त्र के अध्येता इस प्रकार के उद्गार व्यक्त करते रहते है। डॉ० काणे ने ध्वन्यालोक को अष्टाध्यायी और वेदान्तसूत्र का स्थान दिया है। द्र० उनकी 'हिस्ट्री ऑफ् संस्कृत पोयेटिक्स' पृ० १५२, १९५१ संस्करण।

विद्वान् लोचन को व्याकरणमहाभाष्य की कोटि में रखते और कहते हैं कि जिस प्रकार पाणिनि की अष्टाध्यायी का यथार्थ महाभाष्य के बिना नही जाना जा सकता उसी प्रकार ध्वन्यालोक का यथाथ लोचन के बिना। ये उक्तियाँ अतिशयोक्तिपूर्ण[1] हैं, किन्तु इनमे बहुत दूर तक सत्यता भी है।

अभिनवगुप्त

प्राचीन ग्रन्थो में 'अभिनव' नाम के चार व्यक्तियो का उल्लेख मिलता है। इनमे से एक वे है जिनने आदि शकराचार्य से शास्त्रार्थ किया था और जो कामरूप देश म रहते[2] थे। शेष तीन १०वी शती के है जिनका निवासस्थान कश्मीर[3] है। लोचनकार अभिनवगुप्त इन्ही तीन कश्मीरी 'अभिनवो' मे से एक हैं। इनने इनके लोचन मे स्वय को 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा के रचयिता उत्पलदेव का प्रशिष्य कहा है[4]। ये वे ही अभिनवगुप्त हैं जो 'तन्त्रालोक के रचयिता[5] है। तन्त्रालोक कश्मीरी दर्शन का एक महान् और विशालकाय ग्रथ है जो मिलता है। इसके रचयिता कश्मीरी दर्शनो की समस्त शाखाओ के महान् आचार्य और साधक है। विद्वानो ने इनके ४२ से अधिक[6] ऐसे ग्रथो की सूची तैयार की है जो उक्त दर्शन की विविध शाखाओ पर लिखे गये है। इनके अतिरिक्त उक्त लोचन और नाट्यशास्त्र पर

---

१ अतिशयोक्तिपूर्ण इसलिए कि लोचन 'भाष्यो' की तुलना मे नही आता। यह तो टीकामात्र है। उसमें बहुत से आवश्यक और गम्भीर विषय छूट गये हैं। बहुत से विषय उटल भी गए है।

२ शकरदिग्विजय १५।१५८, इस सम्पूर्ण विवेचन का आधार ग्रथ है, डॉ० कान्तिचन्द्र पाण्डेय का ग्रन्थ 'अभिनवगुप्त'।

३ तन्त्रालोक ३७।५६, ६७, ८०

४ द्र० ध्वन्यालोक १।८ का लोचन पृ० ९८। डॉ० कान्तिचन्द्र पाण्डेय ने निर्णय सागरीय सस्करण के अनुसार लोचन मे तन्त्रालोक को उल्लिखित कहा है। वस्तुत वह तत्वालोक है। द्र० उनका अभिनवगुप्त, पृ० ३३।

५ प्रत्यभिज्ञा पर अभिनवगुप्त ने 'विमर्शिनी' नामक टीका लिखी है और उसके आरम्भ में भी स्वय को सोमानन्दात्मज लक्ष्मणगुप्त का शिष्य कहा है। तन्त्रालोक मे भी वे स्वय को सोमानन्दात्मज लक्ष्मणगुप्त का शिष्य बतलाते है। द्रष्टव्य तन्त्रालोक ३७।६१।

६ इसकी सूची के लिए द्रष्टव्य डॉ० का० च० पाण्डेय का 'अभिनवगुप्त' नामक ग्रन्थ।

लिखी अभिनवभारती ऐसी कृतियाँ है जिन्हे साहित्यशास्त्रीय कृतियाँ कहा जाता है। वस्तुतः ये दोनों कृतियाँ भी अपने मूल मे अभिनवगुप्त के दर्शन की ही कड़ियाँ है। इनके कुछ ग्रन्थों की सूची निम्नलिखित है—

१. बोधपञ्चदशिका
२. मालिनीविजयवार्त्तिक
३. परात्रिंशिका विवृति
४. तन्त्रालोक
५. तन्त्रसार
६. तन्त्रवटधानिका
७. ध्वन्यालोक-लोचन
८. अभिनवभारती
९. भगवद्गीतार्थ-संग्रह
१०. परमार्थसार
११. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृति-विमर्शिनी
१२. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा-विमर्शिनी
१३. पर्यन्तपञ्चाशिका
१४. घटकर्परकुलक-विवृति
१५. क्रमस्तोत्र
१६. देहस्थदेवताचक्र-स्तोत्र
१७. भैरवस्तोत्र
१८. परमार्थद्वादशिका
१९. परमार्थचर्चा
२०. महोपदेशविंशतिका
२१. अनुत्तराष्टिका
२२. अनुभवनिवेदन
२३. रहस्यपञ्चदशिका
२४. तन्त्रोच्चय
२५. पुरुरवोविचार
२६. क्रमकेलि
२७. शिवदृष्ट्यालोचन
२८. पूर्वपञ्चिका

२९ पदार्थप्रवेशनिर्णय-टीका
३० प्रकीर्णकविवरण
३१ प्रकरणविवरण
३२ काव्यकौतुकविवरण
३३ कथामुखतिलक
३४ लघ्वी प्रक्रिया
३५ भेदवाद-विदारण
३६ देवीस्तोत्रविवरण
३७ तत्त्वाध्वप्रकाशिका
३८ शिवशक्त्यविनाभावस्तोत्र
३९ बिम्बप्रतिबिम्बवाद
४० परमार्थसग्रह
४१ अनुत्तरशतक
४२ प्रकरणस्तोत्र
४३ नाट्यालोचन
४४ अनुत्तरतत्त्वविमर्शिनी।

समय

इनमें से क्रमस्तोत्र, भैरवस्तोत्र तथा ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृति-विमर्शिनी ऐसे ग्रन्थ हैं जिनमें अभिनवगुप्त ने इनका रचनाकाल भी दे दिया है।' तदनुसार

क्रमस्तोत्र—	**९९०–९९१ ई० स०**[1]
भैरवस्तोत्र—	**९९२–९९३ ई० स०** तथा
ईश्वर प्र० वि० विमर्शिनी	**१०१४–१५ ई० स०**

१ ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी में उसका रचनाकाल कलिसवत् ४११५ दिया है और लौकिक सवत् ९०। कलिसवत् का मान विक्रमसवत् से ३०४४ वर्ष अधिक होता है और ईसवी सन् से ३१०१ वर्ष। तदनुसार ई० प्र० वि० विमर्शिनी की रचना ईसा के १०१५ में ठहरती है। लौकिक सवत् उस समय ९० था अत यह वह सवत् है जो ईसा के ९२५ वर्ष बाद चला। क्रमस्तोत्र में लौकिक सवत् ६६ दिया हुआ है तथा भैरवस्तोत्र में ६८।

(क) इति नवतितमेऽस्मिन वत्सरेऽन्त्ये युगांशे,
तिथि-शशि जलधिस्थे मार्गशीर्षावसाने। →

सम्भवत १००० ई० का होगा। इस समय अभिनवगुप्त का वय ५० से अधिक नहीं था। सम्भवत वे इस समय केवल ४० ही वर्ष के रहे हो। क्योंकि इस समय तक उनका चित्त सामाजिकता के विविध सस्कारो से शबलित था। तन्त्रालोक लिखा जा चुका और सभी शास्त्रो का सार उसमें अभिनवगुप्त लिख गए, किन्तु उन्हें कश्मीर की अगूरी सुरा[1] और गौर सुन्दरिया[2] भूली नही थी। सुरा के विविध प्रभावो मे 'निर्विघ्न और निर्भीकतापूर्ण निधुवन विधि (मैथुन[3]) की गणना भी उन्हें तब तक प्रिय थी। वितस्ता[4], प्रवरपुर[5], कश्मीर[6] और उसके विचित्र पुष्पो[7] मे भी उनका चित्त रम रहा था। कोई तरुणी और साध्वी तरुणी, विधवा होती तो उनका चित्त दु खता था[8]। राजमन्त्रिपद का महत्त्व[9] भी उन्हे ज्ञात था। स्वजनो को भी वे जानते[10] थे। सुख सुविधाओ के बिना साहित्यसृष्टि का सम्भव न होना भी उनको विदित था[11]। स्पष्ट ही अभी तक अभिनवगुप्त 'अभिनव' थे।

तन्त्रालोक के निर्माण तक अभिनवगुप्त 'अभिनव' अवश्य थे किन्तु बालक नही थे। तब तक वे पच्चीसो गुरुओ[12] से भिन्न भिन्न शास्त्र पढ चुके थे। इतना ही नहीं अनेक अयोग्य गुरुओं को वे अयोग्य भी ठहरा[13] चुके थे। वे अब तक तत्त्वदर्शन मे भी लीन हो चुके थे[14]। वे ही नही, उनके छोटे भाई मनोरथ भी

---

१ तन्त्रालोक ३७।४२–४४

२ तन्त्रालोक ३७।४६

३ तन्त्रालोक ३७।४४ यन्निर्विघ्न निधुवनविधौ साध्वस सधुनोति।

४ तन्त्रालोक ३७।५१

५ तन्त्रालोक ३७।४७

६ तन्त्रालोक ३७।४०–४६

७ तन्त्रालोक ३७।४५

८ तन्त्रालोक ३७।७७–८०

९ तन्त्रालोक ३७।६६, परात्रिंशिका अन्तिम पद्य ५–७

१० तन्त्रालोक ३७।६७ आदि, सूची आगे दी जा रही है।

११ तन्त्रालोक ३७।७१

१२ तन्त्रालोक ३७।६०–६३ गुरुजनों की सूची आगे दी जा रही है।

१३ तन्त्रालोक ३७।६३

१४ तन्त्रालोक ३७।५७–५८

परम विद्वान् और भक्तिरस में प्रतिष्ठित हो चुके थे[१]। कोई रामदेव[२] या रामगुप्त[3] भी थे जो व्याकरण, न्याय, मीमांसा और त्रिकशास्त्र के सभी मार्गों में निष्णात होने पर भी अभिनवगुप्त को आदर देते थे। निश्चित ही इतना सब ४०-५० वर्ष बीते बिना सम्भव नहीं है। इस प्रकार यदि तन्त्रालोक की रचना १००० ई० में मानी जाए तो अभिनवगुप्त का जन्म संवत् ५० वर्ष पहले का मानना होगा। फलतः वे ९५० ई० में अवश्य ही इस धराधाम पर अवतीर्ण हो चुके होंगे।

निष्कर्ष :

निष्कर्ष यह कि अभिनवगुप्त ई० सन् ९५० से ई० स० १०३० के बीच विद्यमान थे।

वंश :

अभिनवगुप्त अत्रिगोत्रीय ब्राह्मण[४] थे। इनके पिता थे नरसिंहगुप्त,[५] जो चुखल[६] नाम से अधिक प्रसिद्ध थे। नरसिंहगुप्त के पिता थे वराहगुप्त[७] और वराहगुप्त जिनके बहुत बड़े वंश में हुए थे वे थे अत्रिगुप्त[८]। अत्रिगुप्त मध्यदेश[९] की अन्तर्वेदी के निवासी थे। अन्तर्वेदी में भी इनका निवास-जनपद कान्यकुब्ज[१०] था। उन दिनों इस जनपद पर यशोवर्मा[११] का राज्य था। ललितादित्य[१२] ने यशो-

---

१. तन्त्रालोक ३।६४; परात्रिंशिका अन्तिम पद्य—८.
२. परात्रिंशिका अन्तिम पद्य ९.
३. तन्त्रालोक ३७।६८.
४. तन्त्रालोक ३७।३८.
५. तन्त्रालोक ३७।५४.
६. तन्त्रालोक ३७;५४.
७. तन्त्रालोक ३७।५३.
८. तन्त्रालोक ३७।३८.
९. तन्त्रालोक ३७।३८, परात्रिंशिका अन्तिम पद्य ११.
१०-११. यशोवर्मा का विजेता ललितादित्य अत्रिगुप्त को कश्मीर ले गया इतने से ही उन्हें कान्यकुब्ज जनपद का माना जाता है। यशोवर्मा कान्यकुब्ज का ही राजा था।
१२. तन्त्रालोक ३७।३९.

वर्मा पर चढाई की और जीतने पर वह अत्रिगुप्त को अनुनयविनय[1] कर कश्मीर ले गया। वहाँ उसने उन्हे अचल संपत्ति देकर वितस्ता के किनारे प्रवरपुर के पास कहीं बसाया। तब से अन्तर्वेदी का यह ब्राह्मणवंश कश्मीरी हो गया। अभिनवगुप्त के एक चाचा भी थे। उनका नाम था वामन[2]। वामन अच्छे कवि थे। क्षेमगुप्त[3], उत्पलगुप्त, अभिनवगुप्त, चक्रगुप्त तथा पद्मगुप्त अभिनवगुप्त के चचेरे भाई थे। कदाचित् ये वामन के ही पुत्र हो।

अभिनवगुप्त की माता का नाम दुस्सला[4] था।

अभिनवगुप्त ने कश्मीरनरेश यशस्कर के ब्राह्मण मन्त्री वल्लभ, उनके पुत्र शौरि, उनके पुत्र कर्ण, कर्ण के मित्र मन्द्र, कर्ण की पत्नी अम्बा, कर्ण के पुत्र योगेश्वरिदत्त, अम्बा के भाई अभिनव और लुम्पक तथा मन्द्र की चाची वत्सला, जो शौरि की बहिन भी थी और पत्नी भी, का भी उल्लेख किया है। तन्त्रालोक उनने मन्द्र के अनुरोध पर उनके यहाँ जाकर वत्सला द्वारा दिए भवन में रहकर लिखा था। अम्बा, कर्ण और वत्सला का उल्लेख इनने बडी ममता के साथ किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह अभिनवगुप्त का मातृवंश रहा।

(द्र० तन्त्रालोक ३७ आह्निक)

वातावरण :

अभिनवगुप्त को जो वातावरण मिला था उसमें स्थायी भाव थी शिवभक्ति। अत्रिगुप्त से लेकर नरसिंहगुप्त तक सभी पूर्वज परम शिवभक्त थे। पितामह वराहगुप्त को तो इनने शिव का अवतार[5] ही कहा है। नरसिंहगुप्त 'संसारवृत्तान्तपराङ्मुख[6]' और 'शिवैकचित्त'[7] थे। शिवभक्ति ने इन्हें स्वयं वरण किया था यानी वह इनकी

---

१ तन्त्रालोक ३७।३९

२ अभिनवभारती भा० १ पृष्ठ २९६

३ तन्त्रालोक ३७।६७

४ अभिनवभारती अध्या० १०, कुछ विद्वान् अभिनवगुप्त की माता का नाम विमला या विमलकला भी मानते हैं। उनका आधार है परात्रिंशिका-विवृति आदि का यह मंगल—'विमलकलाश्रयाभिनवसृष्टिमहा जननी'। वस्तुतः यह अमान्य है।

५ तस्यान्वये महति कोऽपि वराहगुप्तनामा बभूव भगवान् स्वयमन्तकाले।

(तन्त्रालोक ३७।५३)

६-७ परात्रिंशिका अन्त पद्य—१२

स्वयंवर[१]-वधू थी। माता विमला भी उसी प्रकार नितान्त शिवभक्त थी। इस प्रकार के माता पिता से उत्पन्न पुत्र को 'योगिनीभू'[२] कहा जाता था। अभिनवगुप्त ऐसे ही थे। उन्हे यह संज्ञा प्राप्त है।

न केवल अभिनवगुप्त के अपने परिवार का, अपितु सम्पूर्ण कश्मीर प्रदेश का वातावरण भी शिवमय था। शिव और शारदा मे निष्ठा कश्मीर की तत्कालीन जनता का उल्लेखनीय गुण था।[3]

परिस्थिति :

अभिनवगुप्त की माता[४] शैशव मे ही नही रही। उनके न रहने से नरसिंहगुप्त भी अधिक अन्तर्मुखी हो गए। भक्ति के वातावरण मे वैराग्य भी आ धमका। परिणाम यह हुआ कि अभिनवगुप्त गुरुकुलों मे ही घूमते रहे और अन्ततः स्वयं भी विरक्त ही हो गए। न उनने गृहस्थी स्वीकार की और न शिव तथा साहित्य के अतिरिक्त कुछ और।[५]

गुरुजन :

जिन गुरुओं से अभिनवगुप्त ने विद्या प्राप्त की उनकी सूची इस प्रकार बनायी जा सकती है—

गुरुनाम		शास्त्रनाम
१. नरसिंहगुप्त चुखल	[स्वयं के पिता]	व्याकरण
२. वामनाथ	[एरक के पुत्र]	द्वैताद्वैत
३. भूतिराज		ब्रह्मविद्या
४. भूतिराजपुत्र	[कदाचित् हेलाराज[६]]	

१. तन्त्रालोक ३७।५४

२. स्त्री स्वयं को शिवा समझे और पुरुष स्वयं को शिव। ऐसी भूमिका में हुए गर्भाधान से उत्पन्न बालक कहलाता है 'योगिनीभू'। द्र० 'अभिनवगुप्त'— डॉ० का० च० पाण्डेय।

३. तन्त्रालोक ३७।३९, ४१

४. तन्त्रालोक ३७।५६–५७

५. तन्त्रालोक ३७।५८, ५९।

६. वाक्यपदीय की प्रसिद्ध संस्कृत टीका के रचयिता हेलाराज स्वयं को भूतिराज का पुत्र लिखते हैं। सम्भव है इन्दुराज इनके भाई हों। भूतिराज, हेलाराज और इन्दुराज नाम भी ऐसे ही हैं।

५ उत्पलदेव [सोमानन्द के पुत्र]
६ लक्ष्मणगुप्त त्रिक, क्रम, प्रत्यभिज्ञा
७ शम्भुनाथ [सोम के शिष्य]
८ चन्द्रनाथ
९ शर्मनाथ
१० भवनाथ
११ भक्तिनाथ
१२ विलासनाथ
१३ योगनाथ
१४ आनन्दनाथ
१५ अभिनन्दनाथ
१६ शिवशक्तिनाथ
१७ विचित्रनाथ
१८ धर्म
१९ शिव
२० वामन
२१ उद्भट
२२ भूतेश
२३ भास्करगुप्त[1]
२४ इन्दुराज ध्वन्यालोक, गीता
२५ तौत[2] नाट्यशास्त्र
२६ अन्य अनेक जिनके नाम अभिनवगुप्त ने लिए[3] नहीं।

इन सब गुरुओं में अभिनवगुप्त ने इन्दुराज को व्यास, वाल्मीकि और कालिदास[4] की पंक्ति में बिठाया है। इनके चरणों बैठकर अभिनवगुप्त ने साहित्य-

---

१ तन्त्रालोक ३७।६०–६२
२ अभिनवभारती तथा लोचन
३ तन्त्रालोक ३७।६२–६३
४ अभिनवभारती भाग—२, पृ० २९३
न हि सर्वो वाल्मीकि, व्यास कालिदासो भट्टेन्दुराजो वा।

शास्त्र पढ़ा और स्वयं को कृतकृत्य माना[1]। वे इन्हे गुप्त कहते और इनकी अनेक स्थापनाओं को बड़े आदर के साथ उद्धृत करते है।

अभिनवगुप्त की प्रतिष्ठा :

अभिनवगुप्त को उनके शिष्य शेष और शिव का अवतार मानते थे। एक शिष्य का पद्य है—

> अभिनवगुरुसारस्वतमार्त्तण्डमरीचिपरिचयोन्निद्रे।
> हृत्पुण्डरीककुहरे निवसति नियमेन मोक्षलक्ष्मीर्नः॥

अभिनवगुप्त श्रीगुरु हैं। वे सारस्वत सूर्य हैं। उनके रश्मिपुञ्ज से हमारा हृदयरूपी पुण्डरीक (उज्ज्वल कमल) खिल उठा है और उसे लक्ष्मी ने स्थायी रूप से स्वयं वरण कर लिया है। यह लक्ष्मी मोक्षलक्ष्मी है।

कितना विश्वास है अपने परम गुरु अभिनवगुप्त पर इस उक्ति के कवि को? यह प्रसिद्धि है कि अभिनवगुप्त ने बारह सौ शिष्य तथा शिष्याओं के साथ कश्मीर की श्रीनगर और गुलमर्ग के बीच भीरुवा नाम से प्रसिद्ध गाँव की इसी नाम की आज भी विद्यमान भैरव गुफा मे भैरवस्तोत्र का पाठ करते हुए प्रवेश किया[2] और वहीं अनन्तकाल के लिए समाधि ले ली। कश्मीर के मुस्लिम परिवार भी यह अनुश्रुति आनुवंशिक क्रम से सुनते आ रहे हैं।[3] इसमे सन्देह नहीं कि अभिनवगुप्त एक समाहित चेतना के योगी थे। यह उनके पद्यों से भी विदित होता है। वे छन्दः-

---

१. (क) भट्टेन्दुराजचरणाब्जकृताधिवासहृद्यश्रुतोऽभिनवगुप्तपदाभिधः।
(लोचनारम्भमंगल)

(ख) भट्टेन्दुराजादाम्नायं विविच्य च चिरं धिया।
कृतोऽभिनवगुप्तेन सोऽयं गीतार्थसंग्रहः॥
(गीता टीकारम्भ)

२. ३. डॉ० कान्तिचन्द्र पाण्डेय ने इस गुफा को स्वयं जाकर देखा है और अपने ग्रन्थ 'अभिनवगुप्त' में उसका विस्तारपूर्वक वर्णन भी दिया है। उनकी भेंट वहीं किसी मुसलमान साधु से भी हुई जिसने उत्तर में कहा था—'हमने हमारा दादा से सुना अवनाचारी बारह सौ सागिर्दों के साथ इनके अन्दर गया, बस फिर पीछू नहीं लौटा।' द्र० अभिनवगुप्त पृ० २५ भैरवस्तोत्र का पाठ करते हुए गुफा में प्रवेश की बात डॉ० काणे ने लिखी है।

शास्त्र के नियम भूल जाते हैं और उन्हें ह्रस्व तथा दीर्घ का ध्यान नही रहता। ऐसा लगता है कि इन्हें लिखते समय वे खोए हुए[1] हैं।

अभिनवगुप्त हमारी दृष्टि में

अभिनवगुप्त का जो चित्र ऊपर की पंक्तियो मे हमारे सामने उभरता है वे उसमें, निश्चित ही, एक महान् साधक, महान् दार्शनिक, महान् विद्वान् तथा महान् आचार्य दिखाई देते हैं। हमारा क्षेत्र साहित्य का है। अतः हमे देखना है कि अभिनवगुप्त इस क्षेत्र मे कितने मान्य हैं। कहना न होगा कि ये साहित्यक्षेत्र मे भी असाधारण ही हैं।

सुविधासम्पन्न :

असाधारणता का एक कारण सुविधा है। समीक्षा के पूर्व किसी भी समीक्षक को पूर्व समीक्षा के धरातल की आवश्यकता रहती है। अभिनवगुप्त के पहले साहित्यसमीक्षा अपने १२०० वर्ष बिता चुकी थी और तब तक उसका एक विशाल साहित्य बन चुका था। उसका, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, प्रमुख अंश और उसके प्रतिनिधि ग्रन्थ तब तक सुरक्षित थे। अभिनवगुप्त ऐसे भाग्यशाली थे कि उन्हें यह सम्पूर्ण ग्रन्थराशि उपलब्ध थी। भाग्यशाली इसलिए कि उनके बाद यह ग्रन्थराशि किसी को प्राप्त हुई ही नहीं। परवर्ती युग में इसका

---

१ अभिनवगुप्त बहुत ही अच्छा श्लोक बनाते हैं, किन्तु तन्त्रालोक मे वे छन्दोगत अशुद्धि करते दिखाई देते हैं। उदाहरणार्थ—

(क) सोऽनुग्रहीतुमथ शाम्भवभक्तिभाजं।
स्वं भ्रातरमखिलशास्त्रविमर्शपूर्णम्॥ (तन्त्रालोक ३७।६४)
यहां 'स्वं भ्रातरं निखिलशास्त्र' यह पाठ होना चाहिए।

(ख) तव किल नुतिरेषा सा हि त्वद्रूपचर्चेत्यभिनवपरितुष्टो लोकमात्मीकुरुष्व। (तन्त्रालोक ३७।८५)
यहाँ 'सा हि त्व०' को 'हि ते रूप' होना चाहिए। तन्त्रालोक की विवृति में जयरथ ने भी 'हि त्वद्रूप' पाठ ही उद्धृत किया है। यद्यपि उसकी व्याख्या 'तद्रूप' की है।

स्पष्ट ही प्रथम पद्य में दीर्घ के स्थान पर ह्रस्व लिखा गया है और दूसरे पद्य में ह्रस्व के स्थान पर दीर्घ।

कुछ अंश ही सुलभ हुआ। उदाहरणार्थ अभिनवगुप्त को भट्टनायक का हृदयदर्पण या सहृदयदर्पण भी प्राप्त था तथा अभिनवगुप्त के ही पुरखों की बनाई ध्वन्यालोक-टीका चन्द्रिका भी। उन्हे पूर्वचर्चित विवरण भी प्राप्त था। ध्वन्यालोक के आलोचक महिमभट्ट को हृदयदर्पण और चन्द्रिका दोनों ही नही मिल सके थे, जबकि वे अभिनवगुप्त के लगभग २५ वर्ष बाद ही हुए थे। अभिनवभारती और लोचन से विदित होता है कि अभिनवगुप्त को नाट्यशास्त्र की वे टीकाएँ भी प्राप्त थी जो लोल्लट, शंकुक और भट्टनायक ने बनाई थी। ये टीकाएँ अभिनवगुप्त के बाद किसी भी आलंकारिक आचार्य को प्राप्त हुई यह निश्चयात्मक रूप से नही कहा जा सकता। इस प्रकार अभिनवगुप्त प्राचीन परम्परा को उनके मूलभूत प्रमाणों से प्रमाणित रूप मे जानते थे, जबकि परवर्ती आचार्य इन परम्पराओं का अधिकांश अभिनवगुप्त के उद्धरणों पर जानते है।

अभिनवगुप्त को एक सुविधा और प्राप्त थी। यह कि उन्हे इन आलंकारिक ग्रन्थों के उत्तम अध्यापक भी प्राप्त थे। भट्ट इन्दुराज ऐसे ही एक अध्यापक थे। इन्दुराज को इन परम्पराओं का सुलझा हुआ बोध था। अभिनवगुप्त इनके अनुग्रह के आभारी है। अन्यथा एक विरक्त साधक को साहित्यशास्त्र की गम्भीर समस्याएँ अपने निश्चित समाधानों के साथ कैसे प्राप्त होती।

यह भी कहा जाता है कि अभिनवगुप्त को नृत्य-मुद्राओं के निरूपण के समय वे समस्त नर्तकियाँ सुलभ थी जो उन मुद्राओं का प्रयोग करने मे पटु थीं। रसास्वाद के लिए जिस ललित वातावरण की अपेक्षा हो सकती है वह भी उन्हें सुलभ बतलाया जाता है।

हृदयसम्पन्न :

सुविधाएँ अपने स्थान पर है। साहित्य में उनका तब तक कोई उपयोग नही जब तक आलोचक या भावक मे हृदय की तरलता और वर्णनीय वस्तु मे तन्मय होने की ऋजुता न हो। अभिनवगुप्त में ये गुण भी है। वे स्वयं अच्छे कवि है, यद्यपि उनकी कविता शास्त्रीय कविता है; वे अच्छे लेखक है, यद्यपि उनकी भाषा बहुत दूर तक अस्पष्ट भी है। अभिनवगुप्त जब किसी पद्य का व्यङ्ग्य अर्थ स्पष्ट करने लगते है तो लगता है कि उनका ललित हृदय ही भाषा रूप में परिणत हो गया है और वह भाषा समीक्षा की भाषा न रहकर एक गद्य काव्य बन गई है। अभिनवगुप्त की ललित भाषा का उत्तराधिकार पहली और अन्तिम बार केवल कुन्तक को ही मिला है। यह भाषा अभिनव की हृदयभाषा ही है क्योंकि लोचन मे ही नही अभिनवभारती में भी, और अभिनवभारती में ही नही दार्शनिक

ग्रन्थो की टीकाओ मे भी वे ऐसी ही भाषा का प्रयोग करते है। श्लोको मे भी उनकी यह उदार भाषा यथावत् रहती है।

आचार्यत्व

कहा जा चुका है कि अभिनवगुप्त चतुरस्र पाण्डित्य के धनी और विशिष्ट विद्वान् है। मीमासा जैसा उलझा शास्त्र भी उनके समक्ष स्फीत और विशद है। व्याकरण और तर्क पर भी उनका समान अधिकार है। किन्तु साहित्यशास्त्र के लिए तो वे मेरुदण्ड ही मान लिये गये। यहाँ तक कि मम्मट आदि परवर्ती साहित्यशास्त्रियो ने उनकी स्थापनाओ को अपनाकर स्वय ध्वन्यालोक को भुला दिया। अभिनवगुप्त ने साहित्यशास्त्र पर कोई मौलिक ग्रन्थ नही लिखा, केवल दो टीकाएँ लिखी है १ भरतनाट्यशास्त्र पर अभिनवभारती और २ यही लोचन। टीकाकार होते हुए भी अभिनवगुप्त भी 'आचार्य' पद पर अभिषिक्त है भगवान् शकराचार्य के समान। उनकी अपनी अनेक स्थापनाएँ है। वे काव्य की आत्मा रस को मानते और ध्वनि को ९ भेदो से ३५ भेदो तक आगे बढाते है।

अभिनवगुप्त आचार्य इसलिए भी है कि उनकी टीकाएँ ही है एकमात्र आधार जिनमे 'रस स्वरूप' का विवेचन परवर्ती युग को उपलब्ध हुआ। लोल्लट के उत्पत्तिवाद, शकुक के अनुमितिवाद और भट्टनायक के भुक्तिवाद की सोपान-परम्परा से आनन्दवर्धन के अभिव्यक्तिवाद की भूमिका तक रसनिरूपण की जो यात्रा है, जो सन्नति है, जो निरन्तरता है वह एकमात्र अभिनवगुप्त की टीकाओ की देन है। उक्त आचार्यों के मूलग्रन्थ तो कभी के नष्ट हो चुके थे। इतना ही नही रस के विषय मे अन्य अनेक मत भी प्रचलित थे। लोचन में उसने उनका भी सकेत दिया है। पण्डितराज जगन्नाथ ने अपने रसगगाधर में इन सबको अपनाया और रस पर ११ मत उपस्थित किए है। इस प्रकार साहित्य सम्प्रदाय का मौलिभूत सिद्धान्त माना जाने वाला रससिद्धान्त केवल अभिनवगुप्त की भित्ति पर चित्रित चित्र था। परवर्ती आचार्यों में मम्मट आदि ने उसी से अपने ग्रन्थ मे रस-विचार उपस्थित किया। रसविषयक स्पष्टीकरण को लेकर अभिनवगुप्त इतने अधिक प्रसिद्ध हुये कि रससम्प्रदाय के लिए प्रवर्तक आचार्य के रूप मे भरत को भुला सा दिया गया और आनन्दवर्धन भी मानो पूर्णिमा के नक्षत्र प्रतीत होने लगे।

समीक्षा

कहा जा चुका है कि अभिनवगुप्त ने ध्वन्यालोक पर लोचन पहले लिखा है भरतनाट्यशास्त्र पर अभिनवभारती बाद मे। हमें बडा ही खेद है यह कहते हुए कि ये दोनो ही टीकाएँ अभिनवगुप्त ने अपने आग्रहो के परिवेष में बँध कर

लिखी। उनका लोचन आलोक को अवश्य ही ग्राह्य बनाता है, परन्तु उसके शुद्ध रूप में नहीं, क्योंकि इस लोचन पर एक रंगीन चश्मा लगा हुआ है। अभिनवगुप्त ध्वन्यालोक के मत को तोड़-मरोड़ कर अपने तर्कों में अनुरूप बना कर प्रस्तुत करते हैं। अगले अध्यायों में दी अनेक पादटिप्पणियों से यह तथ्य हमने भलीभांति स्पष्ट कर दिया है। कुछ उदाहरण यहाँ भी प्रस्तुत कर दें—

(क) आनन्दवर्धन लिखते हैं 'कहीं लक्षणा वाच्यधर्माश्रय होती है' और उदाहरण देते हैं—'तीक्ष्णता के कारण ब्रह्मचारी अग्नि है'। यहाँ अग्नि की लक्षणा ब्रह्मचारी में हो रही है। इसका कारण ब्रह्मचारी की तीक्ष्णता है और वह यहाँ शब्द से कथित है। अभिनवगुप्त उसका अर्थ करते हैं—'वाच्य का जो अभिधारूपी धर्म, अर्थापत्ति के समान उसका संपोपण करने के लिए प्रवृत्त लक्षणा होगी वाच्यधर्माश्रया लक्षणा'[1]। कैसी है यह व्याख्या?

(ख) ध्वन्यालोक के अन्तिम पद्य—'इत्यक्लिष्टरसाश्रयोचित०'[2] की व्याख्या में अभिनवगुप्त चूक जाते हैं। वे इस प्रथम चरण को 'काव्य' का विशेषण मानते और उसी के अनुरूप खींचतान कर पूरी व्याख्या कर जाते हैं। यह नहीं विदित है उन्हे, कि प्रथम चरण ध्वनि का विशेषण है और वह कल्पवृक्ष की उस युग के पहले से प्रसिद्ध विशेषताओं का उल्लेख कर रहा है। कल्पवृक्ष ऐसे वृक्ष को कहा जाता था जिस पर ध्वज लगा रहता था और अलंकार लटके रहते थे। कालिदास नारद का वर्णन करते और उन्हें जंगम कल्पवृक्ष बतलाते है, कारण देते हुए लिखते हैं जिस प्रकार कल्पवृक्ष में सुवर्ण की बरोह होती है उसी प्रकार नारद के सिर पर गोरोचनरेखा-तुल्य जटाएँ हैं, जिस प्रकार कल्पवृक्ष मुक्ता-भरणों से सज्जित रहता है उसी प्रकार नारद जी भी शुद्ध और श्वेत मुक्ता-यज्ञोपवीत पहने हुए हैं :

गोरोचना - निकषपिङ्गजटाकलापः
संलक्ष्यते शशिकलामल-वीतसूत्रः।
मुक्तागुणातिशय-संभृत - मण्डन - श्री-
हेमप्ररोह इव जङ्गमकल्पवृक्षः[3] ॥

---

१. ध्व० पृ० ४३३.

२. कहीं कहीं 'नित्याक्लिष्ट०' पाठ है। वह निश्चित ही इस पद्य को मुक्तक सुभाषित का रूप देने के लिए बनाया गया पाठ है। सुभाषित के रूप में हमने परिशिष्ट—१ में 'नित्या०' पाठ ही रख दिया है।

३. विक्रमोर्वशीय—५.

अभिनवगुप्त का ध्यान न इस सास्कृतिक तथ्य की ओर है और न आनन्दवधन के पद्य-वाक्य की 'यत् तत्' पदो की योजना की ओर। वाक्य के आरम्भ में आया 'यत्'—शब्द आगे तत् शब्द की अपेक्षा रखता ही है। उक्त पद्य मे पूर्वार्ध में 'यस्मात्'—शब्द आता है। यदि उसे 'काव्य' के लिए प्रयुक्त माना जाए तो 'तत्' शब्द उत्तराध मे अप्राप्त रहता है, क्योकि ऐसा कोई 'तत्' पद उत्तरार्ध मे नही है जिसका सम्बन्ध 'काव्य' के साथ हो। फलत विधेयाश का ज्ञान ही नही होगा और यह काव्यवाक्य विधेयाविमर्श दोष की चपेट मे चला आता है। वस्तुत प्रथम और द्वितीय चरणा का सम्बन्ध तृतीय चरण मे आए 'ध्वनि' के साथ है। उसके साथ 'सोऽय' इस प्रकार 'तत्' पद का प्रयोग भी है। ध्वनि को ही कल्पतरु भी कहा गया है।

(ग) अभिनवगुप्त 'अर्थप्रकृति' शब्द का अथ करते है—'**अर्थे सपाद्ये कर्तु प्रकृति** 'अर्थात् 'अर्थ की निष्पत्ति के लिए अपेक्षित कर्त्ता की प्रकृति।' उसी प्रकार 'इतिवृत्त' का अर्थ अभिनवभारती में करते है '**इति एवम्प्रकारतया वृत्तम्**' 'इति अर्थात् इस प्रकार का यानी अभिनेय जो 'वृत्त' वह हुआ 'इतिवृत्त'। और इसे वे श्रव्यकाव्य की कथावस्तु मे भिन्न करने हेतु उसे केवल 'वृत्त' कहते है। अर्थात् अभिनवगुप्त के अनुसार श्रव्यकाव्य का कथानक होगा 'वृत्त' और दृश्यकाव्य का 'इतिवृत्त'[1]। कैसी है यह उनकी सूझ। आनन्दवर्धन 'इतिवृत्त' शब्द का प्रयोग केवल 'कथानक' के लिए करते है और इसी के लिए यह शब्द प्रसिद्ध भी है। अभिनवगुप्त के गुरु उत्पलदेव भी ऐसे ही भावुक थे। वे भी लिखते है 'नाट्य का अर्थ है रस' और 'रस ही है नाट्य'[2]।

अभिनवगुप्त से हमें इस बात का भी क्षोभ है कि वे परवर्ती सायण के समान गाली भी देते है। लिखते 'गधी को दुहने से क्या[3] लाभ'—'**अल गर्दभी-दोहेन**'। मीमासक पर बिगड जाते और लिखते है—'देखो यह मीमासक अपने नाती को अपना बाप मान रहा है'—'**नून मीमांसकस्य[4] प्रपौत्रं प्रति नैमित्तिकत्वम्**'। लिखते है—'भट्टनायक तो हाथी के समान आँख मीचे हुए है'—'**भट्टनायकेन यद् द्विवचन दूषित तद् गजनिमीलिकयैव[5]**'। सच यह है कि आनन्दवधन की ही अभि-

---

१ अभिनवभारती १९ वाँ अध्याय बडौदा सस्करण

२ ध्वन्यालोक पृ० ३३६

३ ध्व० लोचन पृ० १२१

४ ध्व० पृ० ६६

५ ध्व० लोचन पृ० १०४

व्यक्ति अटपटी है और उसमें जो दोष भट्टनायक दे रहे हैं वह दोष आता है, यद्यपि उसका निराकरण भी हो जाता है। बात यह है कि अभिनवगुप्त भावुक हैं। वे किसी पर अटूट श्रद्धा रखते हैं और किसी पर उतना ही आक्रोश। आनन्दवर्धन पर उनमें गहन श्रद्धा है और उनके विरोधियों पर आक्रोश। आनन्दवर्धन पर श्रद्धा है इसका प्रमाण यह है कि अभिनवगुप्त उनकी जिस बात को अमान्य समझते हैं उसे अमान्य नहीं कहते, चुपके से उसका परिष्कार या खींचतान कर उसका मान्य अर्थ कर देते हैं।

अभिनवगुप्त की इस प्रवृत्ति ने साहित्यशास्त्र के विद्यार्थी को उलझन में डाल दिया है। उसे पदे पदे तुलनात्मक अध्ययन करने हेतु जागरूक रहना होता है। यदि वह आँख बन्द कर अभिनवगुप्त का अनुयायी बन जाता है तो मम्मट के समान कहीं का कहीं जा पहुँचता है। हमें स्वयं यह अनुभव हुआ है।

अनुरोध :

ध्वन्यालोक के अध्येताओं से हमारा अनुरोध है कि वे इस ग्रन्थ का अध्ययन स्वतन्त्ररूप से करें। इसके लिए वे एकमात्र लोचन पर निर्भर न रहें।

सच यह है कि अभिनव के समय तक ध्वन्यालोक को बने हुए केवल १०० वर्ष बीते थे, अत: तब तक इसकी ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट हो रहा था। इस समय तक इस ग्रन्थ के गहन अध्ययन की कोई महत्त्वपूर्ण परम्परा नहीं बनी थी। इस कारण अभिनवगुप्त को भी इसकी कोई परम्परा प्राप्त नहीं थी। उन्हें इस ग्रन्थ के विषय में जो कुछ प्राप्त हुआ था वह एकमात्र उनके गुरु इन्दुराज से। यही कारण है कि अभिनवगुप्त परिकरश्लोकों और मूलकारिकाओं का अन्तर समझने में उलझे रह जाते हैं। ध्वन्यालोक के चतुर्थ उद्योत की चतुर्थ कारिका का लोचन इसमें प्रमाण है, जैसा कि हम पहले भी कह चुके हैं।

अभिनवगुप्त ने बहुत कुछ अपनी ओर से सोचा है। वह भी पूर्ण स्वस्थ क्रम में नहीं, प्रत्युत बहुत अधिक भावुकता और दूरान्वयी प्रवृत्ति से, जिसे खींचतान कहा जाए तो अनुचित न होगा।

सब कुछ के बाद भी हम अभिनवगुप्त के ऋणी हैं। यह उनका अनुग्रह है कि उनने साहित्यशास्त्र पर भी लेखनी उठाई। एक विरक्त महापुरुष साहित्यशास्त्र पर भी लेखनी उठाए यह भी अपने आप में एक उल्लेखनीय तथ्य है। अथवा यह कहना चाहिए कि हमारी साहित्यविद्या-रूपी पार्वती की यह विजय

है कि उसने एक विरक्त शिव को अपनी ओर आकृष्ट किया[1]। नैषध की यह उक्ति इस सन्दर्भ में विशेष रूप से उल्लेखनीय है

> इत स्तुतिः का खलु चन्द्रिकाया
> यदब्धिमप्युत्तरलीकरोति ॥[2]

चाँदनी की प्रशंसा इससे अधिक और क्या हो सकती है कि वह समुद्र में भी चंचलता पैदा कर देती है।

एक उद्भावना

अभिनवगुप्त ने चन्द्रिकाकार को 'अपने वंश का पूर्वपुरुष' लिखा है। वे भट्टनायक की अपेक्षा चन्द्रिकाकार के लिए कुछ उदार भी हैं। जहाँ कहीं भट्टनायक के खण्डन का अवसर आता है वे पूर्ण रूक्षता से बरसते दिखायी देते हैं, जबकि चन्द्रिकाकार का खण्डन बहुत दूर तक करने के बाद उन्हें यह कहकर छोड़ देते हैं कि 'अपने पूर्ववर्ती वंशधरों से अधिक कलह ठीक नहीं'। सोचना है यहाँ 'पूर्ववंश' का अर्थ क्या है। हम यह तो मानें ही कैसे कि अभिनवगुप्त के वंश में साहित्य-शास्त्र का अध्ययन-अध्यापन नहीं होता रहा होगा। इसलिए यह भी सोचना अस्वाभाविक नहीं माना जा सकता कि उन्हीं में से कोई चन्द्रिकाकार भी रहे होंगे, किन्तु बड़ा आश्चर्य है कि अभिनवगुप्त ने साहित्य का अध्ययन स्वयं अपने घर में न कर इन्दुराज से किया। यह भी आश्चर्य की बात है कि अभिनवगुप्त ने चन्द्रिकाकार को सदा चन्द्रिकाकार ही कहा। कहीं भी उनका नाम नहीं लिया। यहाँ तक कि अपने चाचा वामन को कवि के रूप में उद्धृत किया, अपने चचेरे भाई, अपने अन्य परिचितों को भी नाम ले लेकर, उनकी पारिवारिक स्थितियों को उपस्थित करते हुए स्मरण किया, किन्तु चन्द्रिकाकार को वे केवल चन्द्रिकाकार ही कहते रह गये। चन्द्रिकाकार के प्रति उनका हृदय अधिक आदर भी नहीं रखता। चन्द्रिकाकार ने 'चन्द्रिका' नाम कदाचित् इसलिए चुना था कि वे उसे ध्वन्यालोक का ही सौम्य प्रतिफल बतलाना चाहते थे। चन्द्रिका आखिर चन्द्र-बिम्ब से टकराकर प्रतिफलित हुआ, सूर्यप्रकाश ही है। प्रकाश की ही दूसरी संज्ञा है 'आलोक'। ध्वनि सूर्य का आलोक है। चन्द्रिकाकार का समीक्षक चित्त चन्द्रबिम्ब है और उससे निकली टीका चन्द्रिका अर्थात् ध्वन्यालोक का ही प्रति-फलन है, किन्तु उसकी अपेक्षा अधिक सौम्य, अधिक हृद्य और अधिक प्रासादिक।

---

१ कुमारसंभव ३ सर्ग
२ नैषधीयचरित ३।११६

अभिनवगुप्त ने इस आशय की ओर अपना कल्पक चित्त नहीं जाने दिया। वे लिखते हैं :

किं लोचनं विनाऽऽलोको भाति चन्द्रिकयापि[1] हि।

भला चन्द्रिका आलोक को कैसे प्रकाशित कर सकती है यदि लोचन न हो।

इसका अर्थ यह हुआ कि चन्द्रिकाकार को अपनी टीका का नाम चुनना नहीं आया और उससे आलोक के प्रकाशन में चन्द्रिका के समान उनकी टीका निष्प्रयोजन सिद्ध होती है। यह भी अर्थ निकल सकता है कि आलोक के समक्ष चन्द्रिका निष्प्रभ हो जाती है अतः वह उसका प्रकाशक नहीं बन सकती। अथवा यदि चन्द्रिका को कोई पृथक् द्रव्य मानें और उसमें विद्यमान प्रकाश को पृथक् तो यह सिद्ध होता है कि चन्द्रिका जिस प्रकाश को बिखेर रही है वह भी स्वतः प्रमाण नही हैं जब तक उसको लोचन की सहायता न मिले। सर्वथा अभिप्राय यह कि अभिनवगुप्त हमने जो अर्थ बतलाया है उस तक नहीं जाते और अपनी टीका की प्रशस्ति की ओर ही अधिक झुके दिखायी देते है। अपने कुटुम्ब के व्यक्ति के साथ वे इतना कठोर नहीं रह सकते।

हमें लगता है कि चन्द्रिकाकार ध्वनिसंप्रदाय के समर्थक थे और भट्ट-नायक विरोधी। दोनों ही ध्वन्यालोक के समीक्षक और कदाचित् टीकाकार भी थे। अभिनवगुप्त दोनों में अन्तर करना चाहते थे। यह अन्तर उनकी मान्यताओं के आधार पर ही सम्भव था। चन्द्रिकाकार की मान्यता अभिनवगुप्त की मान्यता से मिलती थी, अतः उनने चन्द्रिकाकार को अपने दल का मान उन पर अधिक आक्रमण नहीं किया। इसी तथ्य के द्योतक है उनके 'पूर्ववंश्य' और 'सगोत्र' आदि शब्द, जिनको वे चन्द्रिकाकार के लिए असकृत् प्रस्तुत करते है। इस प्रकार ये शब्द लाक्षणिक शब्द है। इनको अपने अभिधेयार्थ में अपनाना हमें उचित नहीं लगता[2]।

यह हुआ 'आनन्दवर्धन' का प्रास्ताविक खण्ड। अब हम आनन्दवर्धन के काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों का अध्ययन करेंगे।

●

---

१. ध्वन्यालोक-लोचन के प्रथम उद्योत के अन्त का मंगलपद्य।
२. म० म० काणे आदि ने इन शब्द का अभिधेय अर्थ ही अपनाया है।

द्वितीय अध्याय

- काव्यशरीर
- काव्यभेद
- काव्यप्रभेद

काव्यशरीर

भारतीय काव्यशास्त्र का प्रथम और प्रमुख विचारकेन्द्र होता है काव्य-शरीर। इसके अन्तर्गत काव्य की मौलिक विशेषता या लक्षण का भी विचार किया जाता है और शरीर के घटकों तथा भेदों का भी। इस अध्याय मे हम इन्ही पर आचार्य आनन्दवर्धन के विचारो का अध्ययन करेंगे।

लक्षण

काव्यलक्षण के विषय मे आनन्दवर्धन मुख्यत परम्परावादी है।

परम्परा

उनके समय तक इस विषय में दो परम्पराएँ चली आ रही थी। इनमें एक वह थी जिसमें केवल शब्द को काव्य माना जाता था और दूसरी वह जिसमें शब्द और अर्थ इन दोनों के समुदाय को। प्रथम के प्रवर्तक थे आचार्य दण्डी। इनने 'इष्ट अर्थ से अवच्छिन्न पदावली' को काव्य कहा था[1]। इनके 'इष्ट', 'अवच्छिन्न' और 'पदावली' शब्द व्याख्यासापेक्ष थे। इनका विश्लेषण ही कदाचित् शब्दार्थयुग्मवाद की दूसरी परम्परा का मूल है। इस दूसरी परम्परा का सूत्र सबसे पहले भामह में मिलता है। वे 'सहित शब्दार्थ' को काव्य कहते हैं[2]। भामह का भी 'सहित'-शब्द व्याख्यासापेक्ष था। इसके स्पष्टीकरण से दो धाराओं को जन्म मिला। एक वह धारा जो सहित शब्द को ही लेकर चलती है, फलत जिससे 'साहित्य'-शब्द

---

१ 'शरीर तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावलि'। (काव्यादर्श)

२ 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' (काव्यालकार-भामह)। इन दिनों कुछ ऐसे भी चिन्तक दिखायी दे रहे हैं जो इस वाक्य को भामह का काव्यलक्षण न मानकर उनके 'वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलङ्कृति' इस वाक्य को उनका काव्यलक्षणवाक्य मानते हैं। हम अपने 'साहित्यसदर्भ' में इसका निराकरण भली-भाँति कर चुके हैं। इनकी यह मान्यता परम्परानुमोदित नही है।

को जन्म मिलता है[1], दूसरी वह जिसमें सहितशब्द से साहित्य-नामक सम्बन्धतत्त्व की कल्पना की जाती है और उससे बँधे उन तत्त्वों का भी विचार किया जाता है जो शब्द और अर्थ से भिन्न हैं, किन्तु उनमें ही अनुस्यूत हैं। इस धारा में साहित्यशब्द को स्थान नहीं मिलता। इसमें स्वयं काव्यशब्द को ही स्थान दिया जाता है। कालक्रम से काव्यशब्द को महत्त्व देनेवाली धारा प्राचीन है। इसके प्रवर्त्तक हैं आचार्य वामन[2] जो आनन्दवर्धन के ५० या ७५ वर्ष पहले हुए हैं। द्वितीय धारा के प्रवर्तक स्वयं आनन्दवर्धन[3] हैं। वामन ने काव्यलक्षण निर्धारित करते हुए लिखा था—

> "काव्य ऐसे शब्दार्थयुग्म का नाम है जिसमें दोष न हों और गुण तथा अलंकार हों[4]।"

वामन के ३५० वर्ष बाद हुए मम्मट ने इस काव्यलक्षण में कोई कमी नहीं देखी, केवल इसमें आये अलंकारों की स्फुटता को ज्यों का त्यों स्वीकार नहीं किया। उन्होंने उसे वैकल्पिक माना और लिखा—

> "काव्य ऐसे निर्दोष शब्दार्थयुग्म का नाम है जो गुण तथा ऐसे अलंकारों से युक्त हो जो सर्वत्र स्फुट रहें, किन्तु जहाँ चमत्कार का कोई दूसरा कारण रस आदि उपस्थित हो वहाँ अस्फुट भी रह सकते हों[5]।"

आचार्य आनन्दवर्धन काव्यलक्षण के विषय में स्वतन्त्र रूप से कुछ नहीं लिखते। वे अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की तत्सम्बन्धी मान्यताओं का उल्लेख भर करते हैं। किन्तु उनके इन उल्लेखवाक्यों से भारतीय साहित्यशास्त्र में काव्यलक्षण पर ऐसा प्रकाश पड़ता है जो अत्यन्त मौलिक और अत्यन्त महत्त्वका है। इन वाक्यों पर अत्यन्त गम्भीरता के साथ ध्यान देना आवश्यक है। ये वाक्य ये हैं—

---

१. इस विषय में देखिए हमारा 'साहित्यसन्दर्भः'—खण्ड-२, अथवा नागरिका ९।१ में 'साहित्यतत्त्वविमर्शः'।

२. वामन—'काव्यं ग्राह्यमलंकारात्, सौन्दर्यमलंकारः, स दोषगुणालङ्कारहानादानाभ्याम्'। (१।१।१-३ सूत्र)।

३. देखिए पृ० ८५ पर दिया आनन्दवर्धन का काव्यलक्षणसम्बन्धी चतुर्थ वाक्य 'शब्दार्थयोः साहित्येन काव्यत्वम्'।

४. द्रष्टव्य इस पृष्ठ की पादटिप्पणी क्रमांक ५।

५. 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि'। सर्वत्र सालंकारौ, क्वचित्तु स्फुटालंकारविरहेऽपि न काव्यत्वहानिः। (काव्यप्रकाश—१)।

स्वचिन्तन

१ विशिष्टार्थप्रतिपत्तिहेतु शब्दसन्दर्भविशेषो हि काव्यम्[1]
२ वाच्यवाचकसमिश्र शब्दात्मा काव्यम्[2]
३ शब्दार्थशरीर तावत् काव्यम्[3]
४ शब्दार्थयो साहित्येन काव्यत्वम्[4]
५ सहृदय-हृदयाह्लादि-शब्दार्थमयत्वमेव काव्यलक्षणम्[5]
६ विविध-वाच्य-वाचक रचनाप्रपञ्च चारु काव्यम्[6]
७ काव्य हि ललितोचितसन्निवेशचारु[7]
८ वाच्याना वाचकाना च यदौचित्येन योजनम् ।
रसादिविषयेणैतत् कर्म मुख्य महाकवे ॥ ३।३२ ॥
९ इत्यक्लिष्ट-रसाश्रयोचित-गुणालङ्कार-शोभाभृतो
यस्माद् वस्तु समीहित सुकृतिभि सर्व समासाद्यते ।
काव्याख्येऽखिल-सौख्य धाम्नि विबुधोद्याने ध्वनिर्दर्शित
सोऽय कल्पतरूपमानमहिमा भोग्योऽस्तु भव्यात्मनाम् ॥ ४ । अन्त ॥

१ विशिष्ट अर्थ की प्रतिपत्ति (ज्ञप्ति और प्राप्ति[8]) कराने वाले एक विशिष्ट शब्दसन्दर्भ का नाम है काव्य ।

---

१ ये वाक्य कुछ अशो में मूलवाक्यो से भिन्न है। किन्तु भेद केवल विभक्तिगत है। उससे स्थापना में अन्तर नही पडता। (ध्वन्यालोक पृ० ३००)
२ ध्वन्यालोक पृ० १३५
३ ध्वन्यालोक पृ० १६
४ ध्वन्यालोक पृ० ५३८
५ ध्वन्यालोक पृ० २२
६ ध्वन्यालोक पृ० ८७
७ ध्वन्यालोक पृ० ४५
८ सस्कृत में प्रतिपत्ति के दोनो ही अर्थ होते हैं, प्राप्ति भी और ज्ञान भी। कालिदास का साहित्य इसका प्रमाण है। उसमें भी रघुवश का प्रथम पद्य—

वागर्थाविव सपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये ।
जगत पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ ॥

एतदर्थ पर्याप्त है। यहाँ कवि वाणी और अर्थ को जानना भी चाहता है और पाना भी।

२. काव्य वाच्यवाचक-संमिश्र भी है और शब्दात्मा भी[1]।
३. काव्य का शरीर है शब्द और अर्थ।
४. शब्द और अर्थ मिलकर काव्य कहलाते हैं।
५. किसी भी शब्दार्थयुग्म का सहृदयहृदयाह्लादक होना ही उसका काव्यत्व है।
६. काव्य विविध-वाच्य-वाचक-रचना-प्रपञ्च-चारु[2] होता है।
७. काव्य ललित और उचित सन्निवेश से चारु होता है।
८. महाकवि का मुख्य कर्म (काव्य)[3] वाच्य और वाचकों का रसादि-विषयक औचित्य के साथ संयोजन ही है।
९. काव्य एक ऐसा विबुधोद्यान[4] है जो समस्त सौख्यों का धाम है। इसलिए कि इसमें ध्वनिनामक एक ऐसा पदार्थ है जिसकी महिमा कल्पतरु के समान है, क्योंकि पुण्यात्मा जन इससे जो चाहते हैं वह प्राप्त करते रहते हैं। ऐसा क्यों न हो, ध्वनिनामक यह कल्पतरु अक्लिष्टरसाश्रयोचितगुणालंकारशोभाशाली जो ठहरा[5]।

---

१. अभिनवगुप्त ने इस वाक्य के वाच्यवाचकसंमिश्र-पद की व्याख्या 'वाच्य, वाचक और संमिश्र' इस प्रकार द्वन्द्व-समास मानकर की है। वस्तुतः यहाँ 'वाच्य और वाचक का सम्यक् मिश्रित रूप' यह व्याख्या की जानी चाहिए। इसी की व्याख्या है 'वाच्यानां वाचकानां च'—इत्यादि ऊपर उद्धृत कारिका।
२. 'विविध जो वाच्य और वाचक, उनकी जो विविध रचना'—इस प्रकार यहाँ विविधता की योजना वाच्य और वाचक में भी होनी चाहिए तथा उनकी रचना में भी। रचना का अर्थ लेना चाहिए, वाच्य + वाच्य की रचना वाचक + वाचक की रचना और वाचक + वाच्य की परस्पर में रचना। रचना = स्वयं आनन्दवर्धन के शब्दों में रसादिविषयक औचित्य के साथ संयोजन और कुन्तक के शब्दों में परस्परस्पर्धित्व के साथ संचयन तथा संगुम्फन।
३. काव्यं लोकोत्तरवर्णनानिपुणकविकर्म—काव्यप्रकाश—१
४. विबुध अर्थात् विशिष्ट विद्वान् तथा देवजन उनका उद्यान अर्थात् विहारस्थल तथा नन्दनवन।
५. इस पद्य का जो अर्थ अभिनवगुप्त ने लोचन में किया है वह ठीक नहीं है। उनने पूर्वार्ध के वाक्यार्थ को उद्यान का विशेषण माना है। परम्परा में कल्पवृक्ष एक ऐसा वृक्ष है जिसकी टहनियों पर आभूषण लटकते →

इन वाक्यों में जो प्रथम वाक्य है उसे हम दण्डी के 'इष्टार्थव्यवच्छिन्न पदावली' का अभिलापक तथा पण्डितराज के 'रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द ही काव्य है' इस काव्यलक्षण का उत्स कह सकते है। स्पष्ट ही आनन्दवर्धन शब्द-मात्र-काव्यतावाद को अपने ठीक रूप में ही इस वाक्य में उपस्थित कर रहे हैं।

द्वितीय वाक्य में दोनों ही परम्पराओं का स्मरण किया जा रहा है। इसमें जो वाच्य-वाचक-सम्मिश्र शब्द हैं उसमें शब्दार्थयुग्मवाद का उल्लेख है और भामह के 'सहित' शब्द से निष्पन्न 'साहित्य' तत्त्व का स्पष्टीकरण भी।

तृतीय वाक्य में आचार्य दोनों परम्पराओं का समन्वय करते और 'शब्दार्थ-युग्मवाद' को अधिक महत्त्व देते हैं।

काव्यीय तत्त्व

अगले वाक्यों में वे काव्येतर शब्दार्थयुग्म से काव्यात्मक शब्दार्थयुग्म का

→ रहते हैं। इसके लिए देखिए हमारा सागरिका ६।३ में 'कालिदास-साहित्ये देववृक्षा' लेख। कालिदास का ही 'मुक्तागुणातिशयसंभृतमण्डनश्रीः हेमप्ररोह इव जङ्गमकल्पवृक्षः' यह पूर्वोद्धृत वाक्य इसके लिए पर्याप्त है। यहां उचित गुणालङ्कार का अर्थ होगा उचित = अभ्यस्त जो गुण = माला, तदात्मक अलंकार तथा गुण और अलंकार। इन दोनों को आनन्दवर्धन ने ध्वन्याश्रित ही सिद्ध किया है। अक्लिष्टरसाश्रय का अर्थ कल्पतरुपक्ष में 'अकठोर रसा अर्थात् भूमि है आश्रय जिसका' भी होगा। ध्वनि के पक्ष में इस समस्त पद का अर्थ अक्लिष्ट अर्थात् पूर्णतः अभिव्यक्त रस है आश्रय जिनका ऐसे जो उचित गुण और उचित अलङ्कार उनकी अक्लिष्ट शोभा से मण्डित' अर्थ होगा। आनन्दवर्धन ने औचित्य का नियामक रस को ही माना है। रस भी ध्वनि का एक अंग है।

इस प्रकार इस पद्य का पूर्वार्ध ध्वनिपरक ही है। उसे काव्यपरक मानते हुए अभिनवगुप्त स्वयं आनन्दवर्धन के विरुद्ध जा रहे हैं। यदि ध्वनि शब्द का अर्थ ध्वनिनामक काव्य माना जाए तो उसमें कल्पतरु की उपमा लागू न होगी क्योंकि काव्य को यहाँ नन्दनवन कहा गया है। इस अर्थ में एक दोष भी आता है। वह है अविमृष्टविधेयांशत्व। इसलिए कि यदि पूर्वार्ध को काव्यपरक मान लिया जाता है तो काव्यप्रतिपादक वाक्य में 'तत्'-शब्दार्थ की आवश्यकता पड़ती है जो नहीं है। ध्वनिप्रतिपादक वाक्य में 'सोऽयं' इस प्रकार से वह प्राप्त है। एतदर्थ यही पृष्ठ ७९ भी देखें।

अन्तर करने वाले तत्त्वों का स्पष्टीकरण करते और उसके लिए एक अतीव क्रान्तिपूर्ण क्रम अपनाते दिखाई देते हैं। यह क्रम हमें तब समझ पड़ता है जब हम प्राचीन परम्परा पर ध्यान देते हैं। प्राचीन परम्परा में काव्य को काव्येतर शब्दार्थयुग्म से भिन्न करने वाले तत्त्व के रूप में एक ऐसे तत्त्व को स्वीकार किया गया था जिसको कहा तो जाता था 'अलङ्कार', परन्तु उससे बोध कराया जाता था गुण, रीति और वृत्ति का भी। भामह का काव्यालंकार इसका प्रमाण है। वह शब्दार्थसाहित्य को काव्य कहकर जब उसके धर्मों का प्रतिपादन करने लगता है तब हम देखते हैं कि उसके बीच उपमा आदि अलङ्कारों की गणना भी है और माधुर्य आदि गुणों, रीतिनामक वैदर्भ आदि मार्गों तथा अनुप्रास के भेदों में आने वाली वृत्तियों की भी। उद्भट तो वृत्तियों को अपने काव्यालङ्कारसंग्रह में बड़ी विशदता के साथ प्रस्तुत करते दिखाई देते है। आनन्दवर्धन अपने काव्यलक्षणवाक्यों में इनमें से किसी भी धर्म को स्थान नहीं देते। वे केवल दो शब्दों का प्रयोग करते है १. चारु और २. आह्लादक।

चारुत्व :

इनमें चारु शब्द एक सांकेतिक शब्द है। वह वामन के काव्यालङ्कारसूत्रों की ओर संकेत करता है। वामन ने काव्य को सौन्दर्य के कारण ग्राह्य माना था और सौन्दर्य के उपादान के रूप में स्वीकार किया था दोषाभाव तथा गुणालङ्कारोपादान को। आनन्दवर्धन ने सौन्दर्यशब्द को बदला और उसके स्थान पर चारुत्वशब्द को अपनाया। सौन्दर्यशब्द जिस अर्थ का बोध कराता है वह वस्तुनिष्ठ या विषयनिष्ठ अधिक प्रतीत होता है। चारुत्वशब्द उसे अनुभविता की ओर मोड़ता हुआ प्रतीत होता है। परन्तु उसकी मुख्य पीठिका विषय ही रहती है। फलतः उसमे अनुभविता को अधिक महत्त्व नहीं मिल पाता। चारु शब्द में एक कमी और है। वह यह कि इसमे आनन्दगत मात्रा का जो बोध होना है उसमें आतिशय्य ऐकान्तिक नहीं रहता। अतः आनन्दवर्धन ने दूसरा शब्द चुना और काव्य को चारु के स्थान पर—

आह्लाद :

आह्लादक कहना उचित समझा। आह्लादशब्द आनन्दगत पर्याप्ति या आतिशय्य का भी द्योतक है और वह अनुभव को महत्त्व देकर एक ऐसी बोधरेखा प्रस्तुत करता है जो काव्य से निकलकर आस्वादयिता तक पहुँचती और दोनों को अविनाभूत इकाइयों के रूप में प्रस्तुत करती है। इससे अर्थ यह निकलता है कि काव्यत्व का निर्णायक काव्यनिष्ठ धर्म नहीं, अपितु अनुभविता की आनन्दमात्रा है।

इस प्रकार वामन और आनन्दवर्धन कुल मिलाकर बात एक ही करते हैं सौन्दर्य की, किन्तु एक सौन्दर्यधारा के वामतट पर खड़े होकर और दूसरा दक्षिण तट पर। सर्वथा, आनन्दवर्धन का पक्ष फलपक्ष है और वामन का हेतुपक्ष। हेतु का हेतुत्व एक सापेक्ष धर्म है जो फलत्व की अपेक्षा रखता है। निदान हेतुपक्ष स्वयं में पङ्गु है। उसकी सार्थकता फल पर निर्भर है। इस प्रकार पक्ष आनन्दवर्धन का ही अधिक वैज्ञानिक ठहरता है।

आनन्दवर्धन का यह परिवर्तन सोद्देश्य है। इसका उद्देश्य है काव्यलक्षण की व्यवस्था ऐसी बनाना जिससे उसमें आवश्यकता पड़ने पर अलङ्कार, गुण, रीति और वृत्ति के अतिरिक्त भी किसी आह्लादक तत्त्व की गणना की जा सके। उन्होंने स्वय ही ऐसा किया भी। उन्होंने एक नवीन तत्त्व को काव्य में जोड़ा और उसी को सर्वाधिक आह्लादक प्रतिपादित किया। वह तत्त्व है वाच्य से अतिरिक्त एक प्रतीयमान अर्थ। आनन्दवर्धन की स्थापना है कि वही ऐसा तत्त्व है जो काव्य की आत्मा है। उसी से काव्य प्राणवान् और सजीव बनता है। उसके बिना काव्य-शरीर शवप्राय है और उसमें सन्निविष्ट गुण तथा अलङ्कारों की भूषा मृतक की भूषा से अधिक नहीं है। इसी अभिप्राय से आचार्य आनन्दवर्धन ने 'अलङ्कार'-तत्त्व को अनेकत्र 'वाग्विकल्प' कहा और उसे अनिवार्य महत्ता का तत्त्व स्वीकार नहीं किया। उन्होंने लिखा 'अलङ्कार तो शब्द और अर्थ के सन्निवेश की भङ्गिमाएँ हैं जो चाहे जितनी हो सकती हैं। उन्हें कोई अन्तिम सख्या देना न तो सम्भव हुआ है और न सम्भव है ही। इनकी गणना में ही काव्यार्थविचार को परिसमाप्त समझ बैठना अपूर्ण और स्थूल को पूर्ण और सूक्ष्म समझ बैठने की भ्रान्ति होगी।' इस प्रकार काव्यलक्षण में आनन्दवर्धन के बाद हुए मम्मट ने जो वैकल्पिकता 'अलङ्कार-तत्त्व के केवल उपमादिनामक घटकों को दी थी आनन्दवर्धन उसे गुणों तक ले आते दिखाई देते हैं। रीति और वृत्ति को वे गुण और अलङ्कार से भिन्न नहीं मानते। इस प्रकार काव्यलक्षण की दिशा में आनन्दवर्धन का मस्तिष्क अधिक पूर्ण है और तत्त्वमीमांसा की दृष्टि से अधिक सूक्ष्म भी। मम्मट का काव्यलक्षण उनकी अनुकृति मात्र है, वह भी एकाङ्गी और स्थूल।

रचना सन्निवेश

न केवल 'आह्लाद'-शब्द ही अपितु आनन्दवर्धन के कुछ अन्य शब्द भी ऐसे हैं जो काव्यलक्षण में गुण और अलङ्कारों की वैकल्पिकता के द्योतक हैं। वे शब्द हैं 'रचनाप्रपञ्च' और 'सन्निवेश'। रचना है वेणीबन्ध, केशपाश, चूर्णकुन्तल आदि और उनका प्रपञ्च है वेणीबन्ध को जातीपुष्प से मण्डित करना, केशपाश को कोकिल

के आकार का बनाना और चूर्णकुन्तल को मौक्तिक मालिकाओं से गूँथना आदि। इसी प्रकार 'सन्निवेश' है रञ्जन द्रव्य, परिधान तथा आभूषणों की वर्णमैत्री। आनन्दवर्धन के युग में इस मण्डनप्रियता का बोलबाला था क्योंकि उनका युग वह युग था जो सौन्दर्य और प्रसाधन के लिए अत्यन्त प्रसिद्ध गुप्तयुग की बिगड़ी रईसी लेकर बढ़ी सातवीं शती का परिशेष था। प्रसाधनरुचि का यह प्राधान्य दसवीं शती तक उतरता आता है।

सार :

आचार्य आनन्दवर्धन का कहना है जीवन के समान कला के क्षेत्र में यह मण्डन-प्रपञ्च तभी शोभा देता है जब इसका आश्रय जिसे शरीर कहा जा सकता है, अपने बाह्य और आभ्यन्तर दोनों रूपों में स्वस्थ, सुडौल और संस्कृत हो। अन्यथा वह भव्यता को तो जन्म दे सकेगा, चारुता या प्रियता को नहीं। भव्यता भी व्याजपूर्ण भव्यता होगी, स्वाभाविक अतः विश्रान्तिधाम और इसी-लिए आदरणीय नहीं। आनन्दवर्धन का अन्तर्मन मानों कालिदास के इस मन्त्र को जप रहा है "किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्" "जिनका शरीर सुन्दर और सुडौल अथवा मधुर होता है उनके लिए ऐसा कौनसा विधान है जो शोभा-वर्धक न बन जाता हो"। आनन्दवर्धन के उत्तराधिकारी कुशल कवि और पटु आलोचक राजशेखर ने भी इसी स्वर में अपना स्वर मिलाकर कहा था—"छेकाः पुनः प्रकृतिचङ्गिम-लोभनीयाः" "चतुर जन स्वाभाविक सुन्दरता पर रीझा करते हैं"। सौन्दर्यबोध की इस रुचि को आनन्दवर्धन ने पहचाना और उन्होंने 'चारुत्व' के पूर्व एक और तत्त्व को आवश्यक बतलाया। वह तत्त्व है 'सार'। उनके काव्य-लक्षणसम्बन्धी छठे वाक्य का शेष है—"काव्यस्य हि ललितोचितसन्निवेशचारुणः स एवार्थः साररूपतया स्थितः"—अर्थात् "काव्य यदि ललित और उचित सन्निवेश से चारु है तो वह तभी चारु है जब उसके पीछे प्रतीयमान रूपी 'सार' की पृष्ठभूमि निहित है। सारशब्द संस्कृत में बल और दृढ़तारूप स्थिरता के लिए प्रसिद्ध है। स्पष्ट ही—

संमिश्र :

आनन्दवर्धन काव्य के जिस व्यक्तित्व को सामने ला रहे हैं उसका सौन्दर्य उसकी चारुता, उसमें निहित आह्लादकता न तो ऐकान्तिक रूप से बाह्य है और न आभ्यन्तर, न स्थूल है और न सूक्ष्म। वह दोनों की एक 'संमिश्र' स्थिति है, जिसमें उपकरणों के ही साथ सबल घटककोशों की भी आवश्यकता है। प्रत्युत सबल घटककोशों की आवश्यकता पहले है। प्राचीन आचार्यों ने इस पर बल नहीं

दिया, इसलिए आनन्दवर्धन ने सौन्दर्यचिन्तन की दिशा को इस ओर आवर्जित करना आवश्यक समझा और अपनी उपरिचर्चित विचारक्रान्ति को काव्यलक्षण के सन्दर्भ में यत्र तत्र आनुषङ्गिक रूप से प्रस्तुत किया। हम इस प्रकरण में उनके द्वारा उपस्थापित उक्त प्रश्न और उसके सूक्ष्म तन्तुओ को, परिप्रश्न या प्रतिप्रश्नों को अधिक से अधिक मन मे जमावें। उनका जो उत्तर यहाँ प्रस्तुत किया गया है उसकी वैज्ञानिकता पर विचार अगले प्रकरणो मे किया जायगा।

निष्कृष्ट लक्षण

निष्कर्ष यह कि आनन्दवर्धन काव्यलक्षण में दोनो ही परम्पराओ को उचित स्थान देते हैं, किन्तु शब्दार्थयुग्मवाद को अधिक वैज्ञानिक मानते और उसमे भी वामन के सौन्दर्यवादी पथ को किंचित् परिष्कार के साथ अधिक आदरणीय स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार काव्य का निष्कृष्ट लक्षण होगा :

सहृदयाह्लादकारी शब्दार्थसमिश्र ही काव्य है।

संस्कृत में इसीको इस प्रकार कहा जा सकता है

सहृदयाह्लादकारी शब्दार्थसमिश्र एव काव्यम।

इसका अर्थ होगा

"सहृदयो को आह्लादित करने मे समर्थ, शब्द का शब्द से, अर्थ का अर्थ से और शब्द का अर्थ से तथा अर्थ का शब्द से जो सम्यक् अर्थात् आह्लाद के अनुरूप मिश्र अर्थात् मिश्रित रूप वही है काव्य।"

यहाँ—आचार्य आनन्दवर्धन के ही, ऊपर उद्धृत शब्दो मे

१ शब्द-शब्द समिश्र	चतुर रचना
२ अर्थ अर्थ समिश्र	मधुर रचना तथा
३ शब्दार्थ-समिश्र	ललितोचित सनिवेश

कहा जा सकता है। यद्यपि परिभाषाओ की यह योजना एक पङ्गु योजना है, क्योंकि इनमें से प्रत्येक परिभाषा ऐकान्तिक रूप से अपने क्षेत्र तक सीमित नही कही जा सकती, तथापि वह अपने अनुच्छेदा की स्वगत सूक्ष्मताओं की ओर सकेत न करती हो ऐसा भी नही है।

आनन्दवर्धन के समिश्र-शब्द की व्यञ्जनाओ पर दृष्टि दी जाए और काव्य के स्वरूप को काव्य-भाषा में ही आंका जाए तो कहना होगा

(१) काव्य रामायण की अयोध्या का राजकुल है जिसमें एक ओर सोदरस्नेह से मधुर और समानरूप से सुन्दर सीता आदि स्नुपाओ

का धवलगृह है तथा दूसरी ओर वैसे ही राम आदि पुत्रों का कुमारावसथ, जिनके बीच का अन्तराल सुहाग और सौभाग्य की नियत, समान और उभयमुखी रश्मि-रेखाओं से परिपूरित है।

(२) काव्य कादम्बरीकथा का कथानक है जिसमें एक ओर कादम्बरी और महाश्वेता का बलिदानी सखीत्व है और दूसरी ओर चन्द्रापीड तथा वैशम्पायन का वैसा ही सख्य, किन्तु जिन दोनों के बीच का राजत अन्तरिक्ष प्रणय के दो समानान्तर, संतुलित, धाराधिरूढ़ और सहिष्णु अतः साधनापूर्ण सुवर्णसूत्रों से संदृब्ध है।

(३) काव्य भरतपुत्रों द्वारा नाट्यालंकार-चतुर अप्सराओं के साथ खेला जाता कैशिकी और भारती वृत्तिओं का रूपक है जिसमें संगीत भी है और नृत्य भी।

सर्वथा संमिश्र-शब्द साहित्यशब्द की अपेक्षा अधिक व्यञ्जक और सम्बन्ध तत्त्व की सूक्ष्म शिराओं का अधिक अर्पक है। इस सम्बन्धतत्त्व पर और अधिक प्रकाश आगे स्वतन्त्र अनुच्छेद में डाला जाएगा।

घटक :

पिछले अनुच्छेद में हमने काव्य के स्वरूप पर विचार करते समय शब्द और अर्थ की चर्चा सुनी। प्रश्न उपस्थित होता है शब्द और अर्थ के स्वरूप के विषय में। काव्य में इनका स्वरूप कैसा होगा। क्या वह वैसा ही होगा जैसा भाषासामान्य के परिवेष में भाषावैज्ञानिक चिन्तन के धरातल पर उनका स्वरूप प्रस्तुत रहता है या उससे भिन्न कोई विलक्षण और अभिनव। आनन्दवर्धन के पूर्ववर्ती आचार्यों में भामह ने उसका कुछ विचार किया था। आनन्दवर्धन भी इस विषय पर अपना स्वतन्त्र विचार रखते हैं। किन्तु उनके विचार में एक अन्तर है। वह है क्रमगत। पूर्वाचार्य पहले शब्द पर विचार करते हैं अर्थ पर बाद में। आनन्दवर्धन इस क्रम को उलट देते हैं। वे अर्थ को पहले अपनाते हैं। उनका कहना है कि

अर्थतत्त्व :

काव्य पौरुषेय वाङ्मय के अन्तर्गत आता है और पौरुषेय वाङ्मय अपौरुषेय वाङ्मय से वक्ता की विवक्षा को लेकर ही भिन्न होता है। विवक्षा का विषय होता है अर्थ। शब्द उसका माध्यम होता है। वक्ता अपने किसी अभिप्राय को व्यक्त करना चाहता है इसीलिए वैखरी वाणी का प्रयोग करता है। इस कारण अभिप्राय या अभिप्रेत अर्थ ही प्रमुख सिद्ध होता है। शब्द का यदि किसी भी

कारण कोई महत्त्व है तो केवल इस कारण कि काव्य कला में वही उक्त विवक्षा-विपयीभूत अर्थ का वाहन बनता और उसकी प्रतीति कराता है। आनन्दवर्धन का वाक्य है—*'विवक्षोऽशब्दो हि काव्ये शब्दानामर्थः'। इस कारण वे शब्द पर* अधिक बल नही देते। वे अर्थ तत्त्व पर ही स्वय की अन्वीक्षा को टिकाते और उसी पर अत्यन्त मौलिक चिन्तन प्रस्तुत करते है। उनका कहना है -

अर्थ सहृदय-श्लाघ्य काव्यात्मेति व्यवस्थित ॥ १।२ ॥

सहृदयजन काव्य में अर्थ को शब्द की अपेक्षा अधिक चाहते है। अर्थ ही काव्य का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण अङ्ग है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार जीवशरीर का चैतन्य। किन्तु

वाच्य-प्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ ॥ १।२ ॥

प्रतीयमान अर्थ

अर्थ अपने उतने ही रूप में इतना महत्त्व प्राप्त नही कर लेता जितना शब्द को सुनते ही उपस्थित होता है। वह तो उसका प्रारम्भिक रूप है। उसका समग्र व्यक्तित्व और भी व्यापी है। उसका आयाम अपनी वास्तविकता में केवल उतना ही नही है जितना शब्दकोप या शब्दानुशासन के बल पर शब्दशक्ति प्रस्तुत करती है। वह उससे भी बडा है। उसके लिए एक दूसरे ही कोश और दूसरे ही व्याकरण की अपेक्षा रहती है। वह कोश है भावो का कोप और व्याकरण है सस्कारो का व्याकरण। दूसरे शब्दो में उस अर्थ के लिए शब्दकोप और शब्दानुशासन के साथ ही अनुभूतिपूर्ण भावभरित हृदय और प्रकरण, परिस्थिति या वातावरण का बोध भी अपेक्षित होता है। हृदय का यात्री जब प्रारम्भिक शब्दार्थ के बाह्य प्राचीर को विवक्षा के द्वार से पार करता और प्रतीति के गर्भगृह तक पहुँचता है तो तात्पर्य के रत्न-सिंहासन पर उसी अर्थ को प्रतिष्ठित पाता है। इस कारण यह अर्थ परवर्ती और प्रातीतिक अर्थ है, फलत इसे प्रतीयमान की सज्ञा देना अधिक उचित है। इस प्रकार काव्यशरीर का अपर घटक अर्थ दो रूपो में विभक्त रहता है एक प्रारम्भिक और दूसरा परवर्ती। इनमें से द्वितीय को प्रतीयमान और प्रथम को वाच्य कहना होगा।

प्रतीयमान वाच्य से भिन्न

अर्थ का यह जो प्रतीयमान रूप है यह वाच्य रूप से भिन्न होता है।

[क] अर्थ कही वाच्यरूप में विध्यात्मक होता है तो प्रतीयमान रूप में निषेधात्मक। उदाहरणार्थ निम्नलिखित वाक्य पर ध्यान दीजिए

"हे धार्मिक महाशय, आप अब प्रेम से घूमिए। उस दुष्ट कुत्ते को गोदावरी तट की झाड़ी में आकर रह रहे उन्मत्त सिंह ने मार डाला है[1]।"

यहाँ घूमिए इस क्रियापद से वाच्य रूप में भ्रमणक्रिया का विधान किया जा रहा है अतः यहाँ जो वाक्यार्थ है उसका प्रारम्भिक रूप विध्यात्मक ही है। किन्तु यह वाक्य जिस परिस्थिति में कहा गया है उस पर ध्यान दीजिए। यह वाक्य एक ऐसी नायिका द्वारा कहा जा रहा है जो प्रतिदिन अपने प्रेमी से गोदावरी तट पर एकान्त मे मिलने जाती है। वह यह वाक्य अपने घर के सामने से निकल रहे एक ऐसे धार्मिक सज्जन से कह रही है जो ठीक उसी समय गोदावरी तीर पर ही फूल चुनने पहुँचा करते है जब वह नायिका वहाँ पहुँचती है। इस परिस्थिति पर ध्यान देने से स्पष्ट हो जाता है कि नायिका चाहती है कि धार्मिक सज्जन गोदावरी तट पर अब कतइ न जाएँ। इस प्रकार इस वाक्य का अर्थ अपने प्रारम्भिक रूप मे जैसा प्रतीत होता है वैसा अन्तिम रूप में प्रतीत नहीं होता। उस रूप में वह एकदम विपरीत दिखायी देता है। भला जो व्यक्ति कुत्ते से डरता है वह सिंह से क्यों नही डरेगा। और जब उसे सिंह का भय है तब वह गोदावरी तीर पर जाएगा ही क्यों?

ध्यान देने की बात है कि नायिका के उपर्युक्त कथन में घूमने के लिए तो 'घूमना' शब्द प्रयुक्त है परन्तु 'न घूमने' के लिए वैसा कोई शब्द यहाँ नहीं है। अवश्य ही यहाँ 'न घूमना' या 'भ्रमणनिषेध' वाच्य न होकर प्रतीयमान है।

[ख] कहीं अर्थ का वाच्य रूप निषेधात्मक होता है और प्रतीयमान रूप विध्यात्मक। उदाहरण के लिए नीचे दिए वाक्य पर ध्यान दीजिए:

"मेरी बूढ़ी सास यहाँ पड़ी रहती है और यहाँ मैं। दिन में ही यह सब देख लो। ऐसा न हो कि हे पथिक तुम बिछौने पर आ गिरो, तुम्हें रात को रतौंधी जो आती है[2]।"

---

१. भम धम्मिअ वीसत्थो स सुणओ ज्ज मारिदो देण।
गोलाणईकच्छकुडङ्गवासिणा दरिअसीहेण॥
(का अनुवाद, ध्व० पृ० ५२.)

२. अत्ता एत्थ णिमज्जइ एत्थ अहं दिअसएँ पलोएहि।
मा पहिअ रत्तिअन्धअ सेज्जाए मह णिमज्जहिसि॥
(का अनुवाद, ध्व० पृ० ७१.)

यहाँ शब्द से अर्थ का जो रूप निकल रहा है वह निषेधात्मक है। किन्तु यह वाक्य जिसके द्वारा कहा जा रहा है और जिस परिस्थिति में कहा जा रहा है उस ओर ध्यान देने से कुछ और ही रहस्य निकलता दिखायी देता है। यह वाक्य एक ऐसी नायिका द्वारा कहा जा रहा है जिसका पति चिरकाल से बाहर गया हुआ है और कामसन्ताप से जिस बेचारी का धैर्य टूट चुका है। वह यह वाक्य जिससे कह रही है वह भी एक ऐसा सुन्दर, सुडौल और कामविह्वल युवक है जो चिरकाल से घर से निकला हुआ है। वह रतौंधी का मरीज है। दूसरे शब्दों में उसका दिन तो जिस किसी प्रकार बीत जाता है, परन्तु रात उसे अन्धा ही बना देती है। सम्पर्क में जिस सास से रुकावट का भय है वह भी इतनी बूढ़ी है कि उसकी इन्द्रियाँ निष्क्रिय हैं। न वह सुनती न समझ ही पाती। अवश्य ही नायिका यहाँ स्वयदूती का कार्य कर रही है और निषेध के छल से वह पथिक को अवश्य-मेव और निश्चिन्तता के साथ अपने पास आने का सकेत कर रही है और रात्रि-विहार का आमन्त्रण दे रही है। इस प्रकार अर्थ का यह रूप विध्यात्मक है जो प्रारम्भिक रूप से ठीक उलटा है।

[ग] १ कही अर्थ का प्रारम्भिक रूप विधि या निषेध रूप होता है किन्तु परवर्ती रूप उन दोनों से भिन्न। उदाहरणार्थ—छिपकर दूसरी से प्रेम करने वाले और उसके पास से लौट रहे अपने प्रिय से कोई नायिका कह रही है

"जाओ, उच्छ्वास और रोदन अकेली मुझे ही भोगने पडें। उसके वियोग में यह व्यथा मेरे पास दाक्षिण्य के कारण आ जाने से तुम्हें भी न उठानी पडे[1]।"

यहाँ 'जाओ' इस विधि-बोधक पद से जो द्वितीय तत्त्व प्रतीत हो रहा है वह न विध्यात्मक है और निषेधात्मक। वह है अन्यनायिकासक्ति-रूप। इसी प्रकार

२ रात में स्वय से मिलने आ रही प्रेयसी से रास्ते में आ भिटाँया प्रिय उसे न पहचानने का बहाना करता हुआ कह रहा है

"मान जा। लौट चल। अरी तू तो अपनी मुखकान्ति से अँधि-

---

१ वच्च मह व्विअ एक्काइ होन्तु णीसासरोइअव्वाइ।
मा तुज्ज वि तोअ विणा दक्खिण्णहअस्स जाअन्तु॥
(का अनुवाद, ध्व० पृ० ७३)

> सारी ही हटाए दे रही है। अरी हताशे, तू तो दूसरी अभिसारिकाओं को भी आफत में डाल रही है[1]।"

यहां लौट चलने की बात गमननिषेधात्मक है। किन्तु इससे जो दूसरी बात निकल रही है वह न निषेधात्मक है और न विध्यात्मक। वह है चाटु-रूप। इस प्रकार यहां प्रारम्भिक रूप से अर्थ का परवर्ती और अन्तिम या पार्यवसानिक रूप भिन्न ही दिखायी देता है।

[घ] कहीं वाच्य रूप मे अर्थ की संख्या केवल एक रहती है किन्तु प्रतीयमान रूप मे अनेक। साथ ही सबके विषय भी भिन्न रहते हैं। वाच्य का विषय कोई और व्यक्ति होता है और प्रतीयमान मे से प्रत्येक का विषय कोई और। उदाहरणार्थ :

उपपति ने नायिका का ओष्ठ इतना अधिक चाभ डाला कि वह बहुत अधिक फूल उठा। दुर्भाग्यवश उसी समय नायिका का पति भी बाहर से आ पहुँचा। उसके आ पहुँचने की खबर पाते ही सौतें और पड़ोसिनें विषम परिणाम की कल्पना से फूली नहीं समा रहीं। अपराधी उपपति भी मकान के पास छिपकर पश्चात्ताप मे डूबा जा रहा है। उसी समय नायिका की चतुर सखी सबको सुना कर कहती है :

> "भला किसको रोष नहीं होता अपनी प्रिया के अधर को डँसा हुआ देख। अरी भौंरे से भरा कमल सूंघने वाली और मना करने पर भी न मानने वाली अब अपने किए का फल भोग[2]।"

बात कही तो जा रही है नायिका से परन्तु उपस्थित व्यक्तियों में कौन है ऐसा जो उसकी चोट से अछूता रह रहा हो। नायक से कहा गया कि उसकी प्रिया साध्वी है और उसका अधर अन्य किसी कारण नहीं, अपितु भ्रमरदंश से फूला है। उपपति से कहा जा रहा है कि इस बार तो तुम्हारी इस प्रिया को बहाना बनाकर बचाए लेती हूँ, भविष्य में ऐसा होगा तो अच्छा न होगा। सौतों और

---

१. दे आ, पसिअ, णिवत्तसु मुह-ससि-जोह्ना विलुत्त-तम-णिवहे।
अहिसारिआणं विग्घं करोसि अण्णणं वि हआसे॥

(का अनुवाद, ध्व० पृ० ७४.)

२. कस्स वण होइ रोसो दट्ठूण पिआए सव्वणं अहरं।
सभमरपउमाघाइणि वारिअवामे सहसु एण्हि॥

(का अनुवाद, ध्व० पृ० ७६–७७.)

पडोसियो से कहा गया कि 'मेरे रहते तुम्हारी दुराशाएँ पूरी नही हो सकती। मेरी सखी अभी भी अपने पति को प्यारी रहेगी।' स्वय नायिका से भी कहा जा रहा है कि 'तुम निश्चिन्त रहो और यह शङ्का तनिक भी न करो कि तुम्हारा पति सपत्नियो के बीच तुम्हारा तिरस्कार करेगा। मैं हूँ तो तुम्हारा बाल भी बाँका नही हो सकता'। इनमें से जो बात जिसको लक्ष्य कर जतलाई जा रही है वह उसी तक सीमित है। जो बात नायिका को जतलाई जा रही है उसका लक्ष्य नायक नही है और जो नायक को बतलाई जा रही है, उसका नायिका। इसी प्रकार उपपति के प्रति निर्दिष्ट वक्तव्य सपत्नियो को लक्ष्य नही बनाता एव सपत्नियो के प्रति व्यक्त उद्गार उपपति को। फलत अर्थ के ये सभी रूप परस्पर में अत्यन्त भिन्न है।

[ट] अर्थ का प्रारम्भिक रूप कही कही केवल सामान्य रहता है किन्तु परवर्ती स्वरूप अलङ्कृत और विशिष्ट। उदाहरणार्थ ग्रीष्मवर्णन के प्रसङ्ग मे हर्ष-चरितकार बाणभट्ट का

> **"इसी समय वसन्तयुग का उपसहार करते हुए ग्रीष्म-नामक महाकाल ने खिली मल्लिका के रूप में अपना धवल अट्टहास शुरू कर दिया[1]।"**

यह वाक्य अपनाया जा सकता है। इस वाक्य मे प्रकरण के अनुसार महाकालशब्द का अर्थ है बडे बडे दिनों वाला समय। किन्तु युग के उपसहार और अट्टहासशब्दो के परिप्रेक्ष्य में महाकालशब्द उज्जयिनी के महाकालधाम और उसके वासी भगवान् शकर के प्रलयकर स्वरूप का भी स्मरण करा रहा है। यह अर्थ प्रकरण-प्राप्त अर्थ नही है। इस प्रकार इस वाक्य से दो अर्थ प्रतीत हो रहे है, एक ग्रीष्म-रूपी प्राकरणिक अर्थ और दूसरा महाकालेश्वर शकर-रूपी अप्राकरणिक अर्थ। अब यहाँ एक नवीन प्रश्न उपस्थित होता है। प्रश्न है कि यहाँ जो ये दो अर्थ प्रतीत हो रहे है इनका एक दूसरे के साथ कोई सम्बन्ध है या नही। यदि नही तो यह उक्ति काव्यात्मक उक्ति न होकर एक सदोष और त्याज्य उक्ति होगी, क्योकि (इससे वाक्यभेदनामक दोष सामने आएगा) ऐसा बोलना त्याज्य माना जाता है जिससे असबद्ध दो अर्थ निकले, क्योंकि उससे श्रोता का मस्तिष्क किसी एक अर्थ में टिक नही पाता। उसका मस्तिष्क वाक्यार्थ-निश्चय में सदिग्ध रहता है। फलत उसे अन्तिम और निश्चित अर्थ से प्राप्त होने वाला लाभ प्राप्त नही हो पाता। काव्य मे वह आनन्दात्मक होता है। सहृदय की बुद्धि आनन्दमग्न न हो पाएगी निदान काव्यवाक्य वाक्यभेद के कारण या उसमे निकलते इन दो वाक्यार्थों में

1 अत्रान्तरे कुसुमसमययुगमुपसहरन्नजृम्भत ग्रीष्माभिधान फुल्लमल्लिकाधवला-ट्टहासो महाकाल। (का अनुवाद, ध्व० पृ० २४१)

सम्वन्ध न होने के कारण अपने उद्देश्य में विफल रहेगा। वस्तुतः यहां दोनों वाक्यार्थों मे सम्वन्ध विवक्षित है। यह तथ्य कविकर्म पर ध्यान देने से स्पष्ट हो जाता है। कवि ने शिव के वाचक अन्य किसी शब्द का यहाँ उपयोग नही किया और ग्रीष्म के लिए भी उसके दिनों की लम्बी अवधि के सूचक निदाघ आदि शब्दों को उसने नही चुना। कविमति यहाँ शूर्पी का कार्य कर रही है और शब्दों का चयन बड़ी कुशलता के साथ कर रही है। इसका कोई उद्देश्य अवश्य होगा। इस परीक्षा को चित्त में जमाते ही स्पष्ट हो जाता है कि कवि यहाँ ग्रीष्म को महाकालेश्वर भगवान् शिव से अभिन्न वतलाना चाहता है और ऐसा करके वह ग्रीष्म-काल की भयंकरता की ओर संकेत करता दिखलायी देता है। इस प्रकार यहाँ एक तीसरा अर्थ और निकलता है। वह है ग्रीष्म पर प्रलयंकर शिव का आरोप। यह एक चमत्कारकारी अर्थ है। इसे काव्यभाषा में अलंकार कहा जाएगा और रूपक नाम से पुकारा जाएगा। पहले दिए गए उदाहरणों में प्रतीयमान के रूप में जो जो अर्थ प्रतीत हुए उनकी इस उदाहरण मे प्रतीयमान अर्थ के रूप में प्रतीत हो रहे 'ग्रीष्म महाकाल है' इस अर्थ से तुलना करने पर यह तथ्य और भी अधिक स्पष्ट हो जाता है। यहाँ एक भिन्नता और है। वह है एक ऐसे प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति जिसमें कारण वन रहा है स्वयं प्रतीयमान अर्थ भी। पूर्वोक्त उदाहरणों में भी नायक-नायिका की परस्पर में जो रति है उसको पूर्वप्रतिपादित प्रतीयमान अर्थों की अपेक्षा भिन्न और एक अतिरिक्त प्रतीयमान अर्थ माना जा सकता है। किन्तु इस उदाहरण में रूपक-रूपी तृतीय अर्थ अथवा द्वितीय प्रतीयमान अर्थ को मानना अनिवार्य है अन्यथा वाक्यभेद नामक दोष का परिहार सम्भव नहीं है। पूर्वोक्त स्थलों में ऐसी कोई वाध्यता नही है जिससे प्रदर्शित प्रतीयमान अर्थ के अतिरिक्त रति-रूप एक अतिरिक्त प्रतीयमान अर्थ भी निकाला ही जाए।

[च] प्रतीयमान का एक उदाहरण और लीजिए। कुमारसंभव में जव शिव पार्वती पर प्रसन्न होकर पार्वती के अनुरोध पर उनकी मँगनी के लिए सप्तर्षियों को हिमालय के पास भेजते हैं और वे पास वैठी पार्वती के ही सामने मँगनी का प्रस्ताव करते है तो कवि लिखता है—

> "पार्वती पिता के पास मुँह नीचा कर हाथ में रखे लीलाकमल की पखुंड़ियां गिनने लगीं[1]।"

---

१. एवंवादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी।
लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती॥ कुमारसं०—६।८४॥
—ध्व० पृ० २४८, ४८२, ५०२, ५२८

इस वाक्य से एक के बाद एक अर्थ सामने आता जाता है और अन्तत शिव तथा पार्वती के पारस्परिक प्रगाढ पूर्वराग को पाठक के मस्तिष्क में जमाकर उसे उसके स्वय के रति-रस में निमग्न कर देता है, जिसे शृङ्गार नामक काव्यरस कहा जाता है। पहले मुँह नीचा करने और लीलाकमल की पँखुडियाँ गिनने से क्रमश लज्जा और उसका व्याजपूर्ण सगोपन प्रतीत होता है, तदनन्तर लज्जा से सबद्ध रति और तदनन्तर रतिका शिव से सम्बन्ध। तब सामाजिक की स्वय की रति का उद्बोध होता और उसे उसके भीतर ही किसी रसपूर्ण परिस्थिति का अनुभव होने लगता है। आचार्यों के अनुसार यह अनुभव भी काव्य का प्रतीयमान अर्थ है, क्योकि वह काव्यवाक्य के सुनने से निष्पन्न हुआ है। इस वाक्य के अर्थ से जो दूसरे अर्थों की शृङ्खला चित्त में जागती है उसमे आनेवाला प्रत्येक अर्थ मनोवृत्ति-रूप है। लज्जा भी मनोवृत्ति है, उसका सगोपन भी अवहित्थानामक एक मनोवृत्ति ही मानी गई है, रति तो मनोवृत्ति है ही और अन्त में पाठक को जो रसानुभव होता है उसमें भी कुछ आचार्यों के अनुसार मनोवृत्ति का सस्पर्श रहता ही है। उपर्युक्त अन्य उदाहरणो से इस उदाहरण की प्रतीयमानगत स्थिति पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर जो अन्तर प्रतीत होता है उसके आधार पर हम प्रतीयमान को तीन नामो से पुकार सकते हैं—

१—वस्तुमात्र	स्थल	प्रथम पाँच उदाहरण
२—अलकार	स्थल	'ग्रीष्म महाकाल' तथा
३—रस	स्थल	अन्तिम उदाहरण

आचार्य आनन्दवर्धन ने भारतीय अलकारशास्त्र के इतिहास में पहली बार प्रतीयमान अर्थ की इन तीनो विधाओ को इन नामो से प्रतिपादित किया है। इन तीनो विधाओं का और भी सूक्ष्म विवेचन अगले अनुच्छेदो मे किया जाएगा।

उक्त विवेचन में हमने काव्य के अर्थतत्त्व को निम्नलिखित दो भागो में विभक्त पाया—

१ वाच्य और
२ प्रतीयमान

इनमें से जो प्रथम अर्थ है उसका विश्लेषण आनन्दवर्धन के पहले की चार शतियो में पर्याप्त मात्रा में किया जा चुका था। आनन्दवर्धन ने काव्यशास्त्र की इस ऐतिहासिक उपलब्धि की ओर सकेत किया और उसे पर्याप्त मान इस दिशा में पुन कुछ कहना आवश्यक नही माना। उन्होने लिखा—

तत्र वाच्यः प्रसिद्धो यः प्रकारैरुपमादिभिः ।
बहुधा व्याकृतः सोऽन्यैस्ततो नेह प्रतन्यते ॥ १।२ ॥

वाच्य और प्रतीयमान अर्थों में जो वाच्य अर्थ है उसका विश्लेषण उसके उपमा आदि समस्त प्रसाधनों[1] के साथ पूर्ववर्ती अनेक अन्य आचार्य कर चुके हैं। मीमांसा और व्याकरण भी उसपर रम चुके हैं। इस कारण हम अपने इस ग्रन्थ में उसका कोई फैलावा उचित नही समझते। जहाँ कहीं आवश्यक होगा हम उसका उल्लेखमात्र करना पर्याप्त समझेंगे।

आनन्दवर्धन ने अपनी इस प्रतिज्ञा का अन्त तक सचमुच बड़ा ध्यान रखा है। वे इसे दुहराते रहे है और उपमा आदि वाच्य धर्मो पर आनुषङ्गिक रूप से ही अपने विचार व्यक्त करते रहे है। अलङ्कारसम्बन्धी उनके समस्त विचारों को हम काव्यधर्म नामक प्रकरण में समग्र रूप से प्रस्तुत करेंगे।

प्रतीयमान अर्थ : आपत्ति, समाधान :

प्रतीयमान अर्थ आनन्दवर्धन की अपनी मौलिक स्थापना थी, अतः उस पर उन्होंने अधिक बल दिया और उससे सम्बन्धित अनेक तथ्यों पर प्रकाश डाला। इन सब तथ्यों को हम दो भागों में बाँट सकते हैं—

१. ऐतिहासिक और
२. वैज्ञानिक।

ऐतिहासिक तथ्य : अभाववाद :

प्रतीयमान अर्थ की स्थापना भामह से वामन तक के काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ में न हो सकी और साहित्यालोचन की इन चार शतियों की सुदीर्घ अवधि के बाद यह स्थापना एकाएक आनन्दवर्धन के समय होती हुई दिखायी देती है तो प्रश्न उठता है कि क्या यह स्थापना आनन्दवर्धन की ही है और यदि आनन्दवर्धन की ही है तो क्यों ? क्या पूर्ववर्ती समीक्षकों की सूक्ष्मदर्शिनी प्रज्ञा इस तत्त्व को पकड़ ही नही सकी थी या उसने इस तत्त्व को इतना अधिक महत्त्वपूर्ण नही माना। आनन्दवर्धन इन प्रश्नों को स्वयं ही उपस्थित करते और इन पर अपना उत्तर भी प्रस्तुत करते हैं। उनका कहना है—

"प्रतीयमान अर्थ उनकी स्वयं की सूझ है, क्योंकि प्राचीन आचार्यों के ग्रन्थों

---

१. प्रसिद्ध = अलङ्कृत, अतः अलङ्करण = प्रसाधन। 'व्याकृतः' शब्द काव्यशास्त्र की ओर भी संकेत करता है और व्याकरण आदि की ओर भी।

मे इस अर्थ की चर्चा नही मिलती''[1]। सम्भव है प्राचीन आचार्यों के मस्तिष्क मे प्रतीयमान के विषय में दो आपत्तियाँ रही हो—(१) कदाचित् वे यह मान बैठे हो कि प्रतीयमान अर्थ काव्यसीमा के भीतर नही आ पाता[2] या हो सकता है (२) उन्होंने यह समझ लिया हो कि यह अर्थ उनके द्वारा प्रतिपादित काव्य-तत्त्वो की ही कोई नवीन विधा है[3]।

वैज्ञानिक तथ्य अस्तित्वसिद्धि

परमार्थत ये दोनो ही धारणाएँ असत् है। जहाँ तक पहली धारणा का सम्बन्ध है वह अनुभवविरुद्ध है। प्रतीयमान अर्थ यदि काव्यसीमा के बाहर का तत्त्व है तो इसका अर्थ है कि प्राचीन आचार्यों की दृष्टि में काव्य की सीमा भी वही तक है जहाँ तक व्याकरण के शब्दानुशासन तथा कोष और मीमासा के अर्थानुशासन की सीमा है। वस्तुत काव्यानुशासन शब्दानुशासन और अर्थानुशासन की अपेक्षा अधिक व्यापक दृष्टि की अपेक्षा रखता है। हृदय का धनी जो समीक्षक काव्य के अर्थपक्ष पर ध्यान देता और उसके तत्त्वज्ञान तक, उसके औपनिषद रहस्य तक अपनी मानस यात्रा अक्षुण्ण रखता है, उसके लिए यह सभव नही कि

---

१ प्रथम अभाववाद—
'शब्दार्थशरीर तावत् काव्यम्००० तद्व्यतिरिक्त कोऽय ध्वनिर्नाम'। १।१।

२ द्वितीय अभाववाद—
'सहृदयहृदयाह्लादिशब्दार्थमयत्वमेव काव्यलक्षणम्, न चोक्तप्रस्थानातिरेकिणो मार्गस्य तत् सभवति'। १।१।

३ तृतीय अभाववाद—
'न सभवत्येव ध्वनिर्नामापूर्व कश्चित्, सभवति वा कस्मिश्चित् काव्यलक्षण-विधायिभि प्रसिद्धैरप्रदर्शिते प्रकारलेशे प्रवादमात्र ध्वनि'।

इस प्रकार वस्तुत ध्वनिकार द्वारा उपस्थापित ध्वन्यभाववाद के तीन पक्ष ध्वनि पर आने वाली एक ऐतिहासिक आपत्ति है, जिसमें एक मनोवैज्ञानिक अन्विति और क्रम है। ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने इन तीनो विकल्पो को सभावना के आधार पर अपनी स्वय की कल्पना से प्रस्तुत किया है। लोचनकार अभिनवगुप्त का कहना है कि ऐसा नही है कि अभाववादी कोई आचार्य ध्वनिकार के समक्ष उपस्थित था और वह ऐसा विकल्प प्रस्तुत कर रहा था। यह सब स्वय ध्वनिकार की ही कल्पना है। —ध्व० १।१ वृत्ति।

वह प्रतीयमान अर्थ को काव्यसीमा के भीतर स्वीकार न करे[1]। प्रत्युत वह तो उसे काव्य की लोकप्रियता का प्रमुख कारण, उसका असाधारण धर्म स्वीकार करेगा। उसकी दृष्टि मे तो ऐसा कोई काव्य होगा ही नहीं जिसमें प्रतीयमान का सौभाग्य विकीर्ण न हो। कविता यदि दुलहिन कही जाएगी तो प्रतीयमान अर्थ ऐसे तत्त्वदर्शी समीक्षक की दृष्टि में उसका सौभाग्यसिन्दूर[2] माना जायेगा।

प्राचीन आचार्यों ने जिन काव्यों को सामने रख अपने काव्यसिद्धान्त खोजे यदाचित् वे मुक्तक काव्य थे। यदि उनने प्रबन्धों पर दृष्टि टिकाई होती तो उन्हें प्रतीयमान की पहचान हुए बिना न रहती। तब वे इस तत्त्व को पहचानते ही नहीं, इसे काव्य की आत्मा भी स्वीकार करते। प्रबन्धकाव्यों मे जिसके प्रति किसी भी आलोचक के मन में कोई अनादर नही ऐसे आदिकाव्य रामायण को ही लीजिए। उसमें आरम्भ से अन्त तक करुण रस की अनुभूति सर्वानुमत है। क्या रस प्रतीयमान नहीं है ? उसे रस शब्द से कहने या शृङ्गारादि शब्दों से पुकारने पर क्या वह अनुभूति मे आता है। रामायण के आरम्भ से ही यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है। रामायण का आरम्भ क्रौञ्चवध की घटना से होता है। नारद से राम के व्यक्तित्व की विशेषताओं का ज्ञानलाभ ले अपने शिष्य भरद्वाज के साथ वाल्मीकि ज्योंही तमसातट आते है वे वहाँ क्रौञ्चपक्षी के एक जोड़े को विहार करते देखते है। इसी बीच एक क्रूर बहेलिया बाण छोड़ता है और वाल्मीकि का कवि देखता है कि खून से लथपथ क्रौञ्च जमीन पर छटपटा रहा है, क्रौञ्ची करुण क्रेङ्कार कर रही है अतः वह और अधिक छटपटा रहा है।

रामायण में क्रौञ्चवध की यह घटना इन तीन पद्यों मे आती है—

१. तस्याभ्याशे तु मिथुनं चरन्तमनपायिनम्।
दर्श भगवांस्तत्र क्रौञ्चयोश्चारुनिस्स्वनम्॥

१, शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते।
वेद्यते स तु काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव केवलम्॥ ध्व० १।७ कारिका॥
इस कारिका के 'शब्दार्थशासन'-शब्द का विग्रह करना चाहिए 'शब्दशासन' तथा 'अर्थशासन'।

२. सर्वथा नास्त्येव सहृदयहृदयहारिणः काव्यस्य स प्रकारो
यत्र न प्रतीयमानार्थसंस्पर्शेन सौभाग्यम्॥ ध्व० पृ० ४७५.
यहाँ 'सौभाग्य'-शब्द अनेकार्थक है। इसका एक अर्थ है सौन्दर्य, दूसरा अर्थ है पतिपत्नी का पारस्परिक प्रेम तथा तीसरा अर्थ है सिन्दूर। द्रष्टव्य हमारा लेख 'कालिदासभारती–१' सागरिका ४।२।

२ तस्मात् तु मिथुनादेक पुमास पापनिश्चय ।
जघान वैरनिलयो निषादस्तस्य पश्यत ॥

३ त शोणितपरीताङ्ग चेष्टमान महीतले ।
भार्या तु निहत दृष्ट्वा रुराव करुणा गिरम् ॥[1]

देखते ही कवि से रहा नही जाता । वह बोल बैठता है—

"वधिक बहेलिए, तुझे अनन्त काल तक सुखी जीवन न मिले, तूने क्रौञ्च के काममोहित जोडे में से एक को जो मारा, और वह भी नर को ।"

कवि की यह शापवाणी अनुष्टुप् छन्द के रूप में प्रकट हुई । छन्द प्रसिद्ध है—

मा निषाद प्रतिष्ठा त्वमगम शाश्वती समा ।
यत् क्रौञ्चमिथुनादेकमवधी काममोहितम् ॥

यहाँ आहत क्रौञ्च आलम्बन है । उसका खून से लथपथ होना और छटपटाना उद्दीपन है । क्रौञ्च-क्रौञ्ची का क्रेङ्कार अनुभाव है । इससे सामाजिक के चित्त में शोक का उदय होना और उसे करुणरस का आस्वाद मिलता है । इस प्रकार रामायण के आरम्भ में ही यानी बालकाण्ड के द्वितीय सर्ग में ही हमें करुणरस का स्पर्श मिलने लगता है ।

कवि स्वय भी इस तथ्य को स्वीकार करता है । इसीलिए वह स्वय को भी इस घटना के साथ इस काव्य में जोडता है और शापवाक्य बोलकर यह व्यक्त करता है कि उसे भी उसके काव्य के पाठक के समान अपने काव्य से करुणरस का अनुभव हो रहा है । इस घटना को पढकर सचमुच हम भी

---

१ अगले तीन पद्य—
तथाविध द्विज दृष्ट्वा निषादेन निपातितम् ।
ऋषेर्धर्मात्मनस्तस्य कारुण्य समपद्यत ॥
तत करुणवेदित्वादधर्मोऽयमिति द्विज ।
निशाम्य रुदतीं क्रौञ्चीमिद वचनमब्रवीत् ॥
मा निषाद ००० काममोहितम् ॥
—बालकाण्ड सर्ग–२।९-१५ पद्य ।
आनन्दवर्धन और राजशेखर ने क्रेङ्कार क्रौञ्च का बतलाया है जबकि वाल्मीकि ने क्रौञ्ची का । हमने दोनो का समन्वय कर दिया है ।

शाप का एक अमोघ बाण छोड़ना चाहते और उस क्रूर बहेलिये को उसके जीवन से अप्रतिष्ठ कर देना चाहते हैं। हम श्लोक नहीं बना पाते तो वाल्मीकि के मुख से निकला 'मा निषाद' ही दुहराते रहते हैं। सोचने की बात है हम ऐसा क्यों करते हैं। हमारे हृदय का इस कल्पित बहेलिए के प्रति जो यह आक्रोश है वह किसका परिणाम है। क्या यह करुणा का परिणाम नहीं है? यह करुणा हमें कहाँ से मिल रही है? निश्चित ही उसी घटना के काव्यरूप से जिससे रामायणनिर्माण के पूर्व के लौकिक वाल्मीकि का हृदय द्रवित हुआ था और जिस घटना को काव्य-रूप देते समय द्रवित हुआ था वाल्मीकि का कविहृदय। कितना सत्य है रामायण के आरम्भमात्र की, उसके द्वितीयसर्ग के केवल तीन श्लोकों में उपनिबद्ध इस घटना में करुणरसरूपी प्रतीयमान अर्थ का अस्तित्व।" उक्त तीन पद्यों में करुणा या शोक शब्द का प्रयोग एक बार भी नहीं हुआ है। यदि इनमें से किसी शब्द का प्रयोग होता, तब भी करुणरस यहाँ उससे प्रतीत होता हुआ न माना जाकर उसकी विभावादि सामग्री से ही व्यक्त माना जाता। सोचने की बात है कि इन तीन पद्यों के एक काव्यखण्ड में ऐसा कौनसा तत्त्व है जो पाठक के हृदय को छू लेता है। क्या इन पद्यों में कोई उपमा या कोई रूपक है? क्या यहाँ कोई अनुप्रास है? क्या वामन के अनुसार यहाँ किसी गुण की सामग्री है? निश्चित ही यहाँ इनमें से कुछ भी नहीं है। यदि कुछ है तो वह सामग्री जो पाठक को करुणा में, करुणरस की तन्मयता में निमग्न कर रही है। निश्चित ही यहाँ इस काव्यखण्ड की उपादेयता का मूल यही रस है। यहाँ वही काव्यत्व का आधायक तत्त्व है। यही इस काव्य की आत्मा है[१]। यदि प्राचीन आचार्यों ने मुक्तकों को अधिक महत्त्व न देकर इन

---

१. काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः॥ (१।५ ध्व० का०)

इस कारिका में आनन्दवर्धन ने वाल्मीकि को आदिकवि कहकर यह संकेत किया कि प्रतीयमान के लिए दूर जाने की आवश्यकता नहीं है। आदिकाव्य वाल्मीकि रामायण ही उसके लिए पर्याप्त है। पुरा कहकर यह ध्वनित किया कि रामायण में भी यह तथ्य आरम्भ में ही सुलभ है। 'शोकः श्लोकत्वमागतः' कहकर आचार्य ने वाल्मीकि और कालिदास के उपर्युक्त वाक्यों की ओर संकेत किया और कवि की अपने शिल्प के विषय में स्वयं की समीक्षा तथा उसके उसी जैसे महान् शिल्पी द्वारा किए गए समर्थन का स्मरण दिलाया।

इस कारिका में जो दृष्टान्त दिया गया है उसकी दार्ष्टान्तिक के साथ संगति लगाने का सरल उपाय दो शब्दों पर ध्यान बनाये रखना है— →

प्रबन्धकाव्यों को अधिक अपनाया होता तो वे अवश्य ही काव्यानुशासन को शब्दानुशासन और अर्थानुशासन के स्थूल परिवेष से आगे बढ़कर इसी प्रतीयमान अर्थ की पीठिका पर अधिष्ठित करते।

जहाँ तक मुक्तकों का सम्बन्ध है उनमें भी प्रतीयमान अर्थ की प्रबन्धोचित प्रतिष्ठा अनुभव में आ सकती है। उदाहरणार्थ रामायण की उपर्युक्त क्रौञ्चवध-सम्बन्धी घटना में आए केवल 'मा निषाद प्रतिष्ठा' इस शापवाक्य को ही ले लें। इसमें पूर्वोक्त क्रौञ्चमिथुन आलम्बन है। उसका छटपटाना और क्रेंकार करना उद्दीपन है। कवि का शापवाक्य बोलना अनुभाव है। व्याध के प्रति अमर्ष सचारी भाव है। उससे पाठक के चित्त में इसी भावपूर्ण स्थिति का जो उदय होता है उसमें शोक की प्रधानता होने से वह अवश्य ही करुणरस की स्थिति है। इस प्रकार अकेला यह शापवाक्य भी अपने आपमें प्रतीयमान अर्थ की सिद्धि में पर्याप्त है। इसमें भी न रसशब्द का प्रयोग है और न करुणशब्द का। तथापि यहाँ उसका अनुभव हो ही रहा है। इस पद्य में रस ही नहीं, वस्तु भी प्रतीयमान है। इसमें राम और सीता के भावी विरह का भी सकेत है। यहाँ व्याध का कार्य रावण करता है और वह अन्त में श्रीराम के बाण से जीवनरूपी प्रतिष्ठा खोकर सदा के लिए अप्रतिष्ठित हो जाता है। इसे हम निगीर्याध्यवसाना अतिशयोक्ति भी कह सकते हैं, और उसके आधार पर यहाँ सादृश्य को प्रतीयमान मान प्रतीयमान के अलङ्काररूपी तृतीय भेद का भी अस्तित्व स्वीकार कर सकते हैं।

रामायण से अधिक प्रसिद्ध कोई काव्य नहीं और उसमें भी क्रौञ्चवधवृत्तान्त से अधिक प्रसिद्ध वृत्तान्त नहीं। वह भी आरम्भ में ही सुलभ है और बहुत ही सक्षेप में सुलभ है। प्राचीन आचार्यों ने इसी वृत्तान्त पर अथवा उसके केवल शापवाक्य पर ही अपनी अन्वीक्षा को टिकाया होता और उन्मुक्त हृदय से विचार किया होता तो वे काव्यत्व को केवल अलङ्कार, गुण, रीति और वृत्ति तक ही सीमित न रखते।

इस प्रकार की आलोचना स्वयं महर्षि वाल्मीकि ने ही तीन प्रकार से कर दी है। एक तो तुरन्त यह कहकर कि उन्हे कारुण्य ने अभिभूत कर दिया, दूसरे अपने काव्य में स्वय को एक पात्र के रूप में प्रस्तुत कर तथा व्याध को शाप दिलवाकर

→ (क) रामायण के उपर्युक्त तीन श्लोकों में आयी क्रौञ्चवधघटना पर और (ख) 'मा निषाद' इस अकेले शापवाक्य पर। प्रथम में वाल्मीकि हमारे लिए हमारे हृदयसवादहेतु एक दृष्टान्त के रूप में प्रस्तुत किये गये हैं।

और तीसरे आगे यह लिखकर कि उनके मुख से जो यह श्लोक नामक छन्द निकला है यह मानों उनके हृदय का शोक ही है—'सोऽनुव्याहरणाद् भूयः शोकः श्लोकत्वमागत.'[१]। बड़े आश्चर्य की बात है कि प्राचीन आचार्यों ने कवि की स्वयं की इतनी स्पष्ट आलोचना पर ध्यान नही दिया। और भी आश्चर्य की बात यह है कि इन आचार्यों के समक्ष महाकवि कालिदास का रघुवंश था जिसमें कवि ने वाल्मीकि के ही स्वर मे स्वर मिलाकर 'निषादविद्धाण्डजदर्शनोत्थः श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोक.'[२] ऐसा कहते हुए इस घटना पर वाल्मीकि की उपर्युक्त आत्मसमीक्षा का जो अनुमोदन किया था इन आचार्यों ने उस पर भी ध्यान नही दिया।

इस प्रकार आनन्दवर्धन ने प्राचीन आचार्यों के विचार क्षेत्र को मुक्तक काव्य तक सीमित बतलाया और प्रबन्धकाव्य को सामने कर अपने प्रतीयमान अर्थ की स्थापना की। वे अपनी स्थापना के समर्थन में और भी अनेक तर्क देते है, जिन्हें हम तृतीय अध्याय मे प्रस्तुत करेंगे।

प्रतीयमान का महत्त्व :

काव्य मे प्रतीयमान अर्थ का न केवल अस्तित्व ही है उसका अपना महत्त्व भी है। आनन्दवर्धन ने उस पर भी पर्याप्त विदग्धता के साथ प्रकाश डाला है। आनन्दवर्धन का व्यक्तित्व न केवल एक आचार्य का व्यक्तित्व है, अपितु एक कवि का भी व्यक्तित्व है। उन्होंने अपने आचार्यत्व को इस ग्रन्थ में कवित्व का समर्थन दिया है और अपनी सूक्ष्म स्थापनाओं की सिद्धि में अथवा उन्हें हमारे लिए हृदयङ्गम बनाने हेतु अनेक दृष्टान्तों की सृष्टि की है। प्रतीयमान अर्थ के लिए भी उन्होंने ऐसे अनेक दृष्टान्त प्रस्तुत किये है। इन दृष्टान्तों से प्रतीयमान के अस्तित्व को ही बल नही मिलता, उसके महत्त्व पर भी प्रकाश पड़ता है। आइए अब हम इन दृष्टान्तों का अध्ययन करें।

आचार्य आनन्दवर्धन का कहना है कि :

१. "वाच्य अर्थ आश्रय है और प्रतीयमान अर्थ आश्रयी[३]। वाच्य यदि अङ्ग है तो प्रतीयमान लावण्य,[४] वाच्य यदि दीपशिखा है तो प्रतीयमान आलोक,[५]

---

१. बालकाण्ड २।४१
२. रघुवंश १४।७०
३. द्र० पादटिप्पणी ४,५ तथा पृष्ठ १०७ पर १,२
४. ध्व० १।४
५. ध्व० १।९

वाच्य यदि रत्न है तो प्रतीयमान जात्यत्व[१], वाच्य यदि वृक्ष है तो प्रतीयमान वसन्त[२] और वाच्य यदि पाञ्चभौतिक शरीर है तो प्रतीयमान जीव-चैतन्य[3]।"

२ 'वाच्य ज्ञापक है और प्रतीयमान ज्ञाप्य[४]। वाच्य यदि तृतीय क्षण में नष्ट हो जाने वाला अनित्य शब्द है तो प्रतीयमान शाश्वत और नित्य स्फोट है,[५] वाच्य यदि अभिधेयार्थ है तो प्रतीयमान लक्ष्यार्थ,[६] वाच्य यदि वाक्य-प्रयोग है तो प्रतीयमान उसका अभिप्राय,[७] वाच्य यदि शब्द है तो प्रतीयमान अर्थ[८] और वाच्य यदि प्रदीप है तो प्रतीयमान घट[९]।"

३ "वाच्य अवयव है और प्रतीयमान अवयवी[१०]। वाच्य यदि पदार्थ है तो प्रतीयमान अर्थ वाक्यार्थ[११] और वाच्य यदि नन्दनवन है तो प्रतीयमान अर्थ उसका कल्पवृक्ष।"[१२]

४ "वाच्य और प्रतीयमान में वाच्य पोष्य है और प्रतीयमान पोषक[13]। वाच्य यदि लावण्य है तो प्रतीयमान सौभाग्य,[१४] वाच्य यदि भूषा है तो प्रतीयमान लज्जा[१५] और वाच्य यदि भृत्य है तो प्रतीयमान राजा[१६]।"

इस प्रकार वाच्य धर्मी है और प्रतीयमान धर्म, वाच्य अलङ्कार है और प्रतीयमान अलङ्कार्य, वाच्य हेतु है और प्रतीयमान साध्य, वाच्य शरीर है और प्रतीयमान पुरुषार्थ तथा वाच्य वीणा है और प्रतीयमान स्वर। निश्चित ही वाच्य की उपादेयता प्रतीयमान के बिना सम्भव नहीं।

---

१ ध्व० ३।३३–वृत्ति
२ ध्व० ४।४
३ द्र० पादटिप्पणी ४–९
४–९ ध्व० ३।३३–वृत्ति
१० द्र० पादटिप्पणी ११, १२
११ ध्व० १।१०
१२ ध्व० ४। अन्त
१३ द्र० पादटिप्पणी १४–१६
१४ ध्व० ३।३६ वक्रो० जी० १।३३ वृत्ति
१५ ध्व० ३।३७
१६ ध्व० ३।३८

उपर्युक्त सादृश्ययोजना से जो एक सर्वमान्य तथ्य प्रकाश में आता है वह है वाच्य और प्रतीयमान की परस्पर मे भिन्नता। इन सब दृष्टान्तों से इतना तो निश्चित है कि प्रतीयमान वाच्य अर्थ से भिन्न है और वाच्य प्रतीयमान से। दोनों अर्थ अथवा अर्थतत्त्व के दोनों रूप एक नही है। इसके अतिरिक्त इन दोनों अर्थों के परस्पर मे अन्य सम्बन्ध भी प्रतीत होते है। प्रतीत होता है कि ये दोनों अर्थ भिन्न रहते हुए भी कभी बिछुडते नही, अतः इनमे परस्पर में अविनाभाव है। घट को जब हम आंखो से देखते है तो घट के ज्ञान में प्रकाश का ज्ञान सन्निविष्ट रहता ही है। किन्तु प्रतीयमान अर्थ प्रकाश के समान ही सदा सुज्ञेय रहता हो ऐसा नहीं है। वह कभी कभी दुर्ज्ञेय भी हो जाता है।

वैधर्म्य :

शरीरगत लावण्य तो सुज्ञेय है, कपोल, कपाल और चिबुक में जो आब झलकता है वह किसी भी चक्षुष्मान् को दिखाई दे सकता है, किन्तु उसके कारण जो एक स्पृहणीयता आती है और दर्शक के चित्त मे उससे व्यक्ति-विशेप के प्रति जो प्रीति, रति या अकार्पण पैदा होता है वह आंख से नही दिखाई देता। अतः कही कही प्रतीयमान अर्थ दुर्ज्ञेय भी होता है। कही कही यह अर्थ वर्णनातीत भी होता है, जैसे रत्नों की जात्यता। रत्न प्रत्यक्ष रूप से दिखाई देते है और उनके भीतर का आब भी, परन्तु यह कठिनाई से प्रतीत हो पाता है कि यह रत्न किस जाति का है। मोती को देख लेने पर भी यह सहसा विदित नही होता कि यह बसरा का मोती है या और कही का। जाति का निश्चय होने पर भी उसका शब्दतः निर्वचन कठिन है। उसे गूँगे के गुड़ के समान केवल समझा जा सकता है। रस की स्थिति ऐसी ही है।

प्राधान्याप्राधान्य का मानदण्ड :

सौन्दर्य बोध की दृष्टि से दोनो अर्थ में कही सन्तुलन भी रहता है और कही असन्तुलन भी। असन्तुलन की स्थिति दोनों ही प्रकार की रहती है। इसमे कही प्रतीयमान में सौन्दर्य की मात्रा अधिक प्रतीत होती है, कही वाच्य में। यह आग्रह चित्त में नही रहना चाहिए कि जब भी कभी वाच्य के साथ प्रतीयमान की प्रतीति होती है प्रधानता केवल प्रतीयमान में रही आती है और वाच्य अर्थ उसके प्रति सदा अप्रधान ही रहता है। वाच्य में अप्राधान्यमात्र की कल्पना केवल इस-लिए की जाती है कि प्रतीयमान और उसके बीच जो साध्यसाधनभाव रहता है वह एकमुखी ही रहता है। इसमें सदा ही साधन बनता है केवल वाच्य ही और साध्य रहता है केवल प्रतीयमान। किन्तु यह स्थिति केवल स्वरूप-बोध तक सीमित

है। सौन्दयबोध में स्थिति उलट भी सकती है और समान भी रह सकती है। हमें सौन्दर्य के आधार पर ही इन दोनों अर्थों के प्राधान्य और अप्राधान्य पर विचार करना है, क्योंकि काव्य की उपादेयता का मुख्य कारण सौन्दर्य ही है। आनन्दवर्धन का यह कहना ठीक भी है। पिता, कारण होने मात्र से सन्तति की अपेक्षा अप्रधान नहीं माना जा सकता। चमत्कार में अवश्य तारतम्य हो सकता है। किन्तु सन्तति पिता से अधिक भी सुन्दर हो सकती है और कम भी। अङ्गों में लावण्य की मात्रा बहुत अधिक ही सदा रहे यह आवश्यक नहीं है। वह कहीं, अङ्गों की बनावट या उनमें सन्तुलित और सुभग धातु मात्रा की जो एक छवि रहती है उसकी अपेक्षा कम भी हो सकती है, और कहीं समान भी। कहीं अङ्गों की विकलता से व्यक्तित्व में जो कमी आती है उसको लावण्य की प्रकर्षपूर्ण मात्रा भरती हुई दिखाई देती है। वहाँ लावण्य, मात्रा में अधिक होने पर भी चमत्कार में बराबर प्रतीत होता है। ऐसे ही प्रतीयमान अर्थ भी कहीं वाच्य की सिद्धि में कारण बनता है, अर्थात् जब तक वह प्रतीत नहीं होता, वाच्य अर्थ बुद्धि में सगत प्रतीत नहीं होता, जम नहीं पाता। इस प्रकार अनेक स्थितियों में सौन्दर्य मात्रा बढती-घटती रहती है। हमें इस सौन्दर्य, चारुत्व और आह्लाद की मात्रा में जो उत्कर्ष का बोध है, केवल उसी के आधार पर प्राधान्य का निर्धारण करना चाहिए। सौन्दर्य के रहने पर भी यदि उसके उत्कर्ष का बोध न हो तो उसे प्राधान्य का निर्णायक नहीं माना जाना चाहिए। इस स्थिति में वाच्य और प्रतीयमान दोनों ही कहीं प्रधान और कहीं अप्रधान बन सकते है एक दूसरे की अपेक्षा। इस विषमता का प्रभाव काव्य की उपादेयता पर पड़ता है और उसके भी कुछ वर्ग बन जाते हैं। हम इन वर्गों की चर्चा आगे आने वाले काव्यभेद-नामक अनुच्छेद में करेंगे।

इस प्रकार काव्य का अर्थ वाच्यत्व तक सीमित नहीं रहता। वह प्रतीयमानत्व तक फैला हुआ भी अनुभव में आता है और वस्तुत प्रतीयमानत्व ही उसकी काव्यरूपता और काव्यात्मता का मूल है।

शब्दतत्त्व

जहाँ तक शब्द का सम्बन्ध है आचार्य आनन्दवर्धन का कहना है कि काव्य के लिए प्रत्येक शब्द उपयुक्त नहीं होता। कारण कि काव्य का जो प्रतीयमान पक्ष है उसके बोध की क्षमता प्रत्येक शब्द में नहीं रहती। उसके लिए विरले ही शब्द उपयुक्त ठहरते है। इस प्रतीयमान अर्थ के अनुरूप पदावली शब्दकोष से ढूँढनी पड़ती है और उसकी पहचान का अभ्यास करना होता है। इस अभ्यास के बिना कोई भी कवि महान् कवि नहीं बन पाता। कवि की महत्ता उपर्युक्त

प्रतीयमान अर्थ की सृष्टि और तदनुरूप पदावली के चतुर, मधुर और ललित सन्निवेश में है।

आचार्य आनन्दवर्धन ने शब्द के विषय मे जो यह स्थापना की है इससे राजानक कुन्तक बहुत अधिक प्रभावित हुए हैं और उन्होंने अपने वक्रोक्तिजीवित मे इसका बहुत ही मार्मिक विवेचन किया है। उनका कहना है :

अवश्य ही विशिष्ट शब्दार्थयुग्म ही काव्य है और शब्द व्याकरणशास्त्र में वाचक ध्वनि के रूप में प्रसिद्ध है तथा अर्थ वाच्य के रूप में, तथापि काव्य में इन दोनों का स्वरूप भिन्न ही है, क्योंकि काव्य एक लोकोत्तर तत्त्व है। इसमें शब्द और अर्थ अपने उन्ही रूपों तक सीमित नही रहते जो लोक में प्रसिद्ध रहते है। यहाँ शब्द के रूप में वह शब्द अपनाया जाता है जिसके बिना कवि का विवक्षित अर्थ विदित नही हो पाता। उदाहरणार्थ कुमारसंभव के पंचमसर्ग में तपोनिरत पार्वती से बटुवेषधारी शिव की यह उक्ति :

द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः।
कला च सा कान्तिमती कलावतस्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी॥

"इस कपाली के समागम की प्रार्थना मे अब शोचनीयता को दो वस्तुएँ प्राप्त हो गई। एक तो कलावान् की वह कान्तिमती कला और दूसरी इस लोक की नेत्रकौमुदी तुम।" (कु० सं० ५।७१)

यहाँ एक एक शब्द महत्त्वपूर्ण है। शिव के वाचक अनेक शब्दों में से यहाँ कवि ने 'कपाली' शब्द को चुना। इसमे शिव में नरमुण्ड का सम्पर्क द्योतित हुआ और उससे द्योतित हुआ उनका बीभत्सत्व। परिणामतः शोचनीयता की बात में बल आ गया। 'अब' और 'दो' शब्द भी ऐसे ही है। इनसे प्रतीत होता है कि अब तक केवल एक ही ऐसी वस्तु रही जिसकी यह विपत्ति चित्त को दुखाया करती थी, किन्तु अब तुम्हारे इस दुस्साहस से लग रहा है कि तुम इस दुःख को दूना करने जा रही हो। 'प्रार्थना'–शब्द भी एक सार्थक शब्द है। उससे प्रतीत होता है कि इस प्रकार के बीभत्स व्यक्ति के साथ किसी सुन्दरी का सम्बन्ध यदि काकतालीयन्याय से हो जाता तो उसमे उतना लोकापवाद न होता, ऐसे व्यक्ति के लिए प्राणपण से सम्बन्ध की इच्छा से तो लोकापवाद की सीमा ही न रहेगी। 'वह' और 'तुम' शब्द भी दोनों सुन्दरियों के सातिशय सौन्दर्य और परस्परस्पर्धी लावण्यातिशय का संकेत देते है। 'कलावान्' और 'कान्तिमती' शब्द में आए मत्वर्थीय प्रत्यय यहाँ प्रशंसार्थक है, इनसे इन दोनों के विशेष्य अर्थ की प्रशंसा

द्योतित होती है। निश्चित ही यहाँ कोई भी शब्द ऐसा नही है जिसे बदला जा सके अथवा जिसकी अर्थसमर्पकता का पूर्ण प्रातिनिध्य कोई दूसरा शब्द कर सके।

रघुवंश में विलापस्वर सुनकर परित्यक्त सीता के पास वाल्मीकि पहुँचते है। कालिदास कहते है

तामभ्यगच्छद् रुदितानुसारी कवि कुशेध्माहरणाय यात।
निषादविद्धाण्डजदर्शनोत्थ श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोक॥

"आश्रम से बाहर आने का उद्देश्य तो था कुश और समिधा लाना, परन्तु कवि चल पड़ा विलापस्वर की ओर, और पहुँच गया सीता के पास। कौन था यह कवि? वह, जो एक बार इसी प्रकार कुश और समिधा के लिए निकला था और पहुँच गया था निषादविद्ध क्रौञ्च के पास और उसे देखते ही फूट पड़ा था जिसका शोक श्लोक के रूप में।"

(रघु०१४।७०)

कालिदास ने वाल्मीकि को वाल्मीकि नही कहा। वैसा कहना सभव तो था, परन्तु उससे कविस्वभाव की कारुणिकता व्यक्त न होती और यह प्रतीत न होता कि जो पक्षिदाम्पत्य में भी वियोग नही सह सकता वह मनुष्यदाम्पत्य में वियोग कैसे सह सकता था और मनुष्य में भी उस मनुष्य के दाम्पत्य का वियोग, और वियोग ही नही विच्छेद, जो मनुष्य नही पुरुष है और पुरुष ही नही पुरुषोत्तम है। दाम्पत्य भी ऐसा, कि जिसमें अविचाली एकनिष्ठता है, एक पत्नीव्रत की दृढ निष्ठा है। कालिदास का ही एक पद्य और लीजिए—

मेघदूत में यक्ष कहता है 'भाई मेघ अलका पहुँचकर अपनी भौजाई को अपना परिचय इस प्रकार देना—

भर्तुर्मित्रं प्रियमविधवे विद्धि मामम्बुवाह
तत्संदेशैर्हृदयनिहितैरागत त्वत्समीपम्।
यो वृन्दानि त्वरयति पथि श्राम्यता प्रोषितानां
मन्द्रस्निग्धैर्ध्वनिभिरबलावेणिमोक्षोत्सुकानि॥

'हे अविधवे, मैं तुम्हारे पति का प्रिय मित्र हूँ अम्बुवाह। उसके अनेक हृदयनिहित सन्देश लेकर तुम्हारे पास आया हूँ। मेरा स्वभाव है रास्ते में विश्राम कर रहे प्रोषितजनो को अपनी मन्द और स्निग्ध ध्वनियो से शीघ्र आगे जाने हेतु प्रेरित करना, उन प्रोषितो को जिनके चित्त अपनी अबलाओ की वेणी सुलझाने के लिए उत्सुक हो।"

यहाँ 'अविधवे' यह संबोधनपद मानों प्रिय की अनिष्टशंका से मूर्च्छित यक्षी को जगा रहा है, जिला रहा है, उस कुम्हलाई कमलिनी को हरा कर रहा है। वह बतला रहा है यक्षी का सौभाग्य पुछा नहीं है, यक्ष जीवित है। 'पति का मित्र' यानी वह व्यक्ति जिससे बातचीत की जा सकती है। मित्र भी प्रिय, अर्थात् उससे अवश्य ही वियुक्त यक्ष ने अपनी सच्ची बात कही होगी। उस सच्ची बात को वह 'हृदयनिहित' किए हुए है अर्थात् सावधान है, भूला नहीं है, कारण कि वह अत्यन्त सरस और अत्यन्त तरल वस्तु को ठीक से ढोते रहने का अभ्यासी है, 'अम्बुवाह' जो ठहरा। उसका स्वर मन्द्र है, स्निग्ध है और ध्वनिरूप है। वह सुनने में कर्ण-कटु नहीं, उसका अर्थ रूक्ष नहीं और उसमें अभिधा का कशाघात नहीं, व्यञ्जना का मसृण करस्पर्श है। इस प्रकार वह एक कुशल वक्ता है, विदग्ध दूत है। वियोगियों को वह बिना परिचय और प्रेम के भी उनके दूरस्थ रागकेन्द्र तक तुरन्त पहुँच जाने हेतु प्रेरणा देता है, परिचित और प्रेमी को प्रेरणा देने की बात तो उसका मानों प्रथम धर्म है। मानों मेघ कहना चाहता है कि परस्पर में अनुरक्त प्रियजनों में समागमसौख्य सम्पादित करना मेरा व्रत[1] है।

राजशेखर ने इस रहस्य को नहीं समझा और—

> सद्यः पुरीपरिसरेऽपि शिरीषमृद्वी सीता जवात् त्रिचतुराणि पदानि गत्वा।
> गन्तव्यमद्य कियदित्यसकृद् ब्रुवाणा रामाश्रुणः कृतवती प्रथमावतारम्॥
>
> "शिरीषसुकुमारी सीता दो तीन डग वेग से चलीं और अभी नगर की सीमा भी नहीं छोड़ी थी, कि बार बार पूछने लगीं 'आज अभी और कितना चलना है'। सुनते ही राम की आँखों में आँसू का प्रथमावतार हो जाता है[2]।

इस उक्ति में 'वे बार बार पूछने' की बात लिख बैठे। सीता का स्वभाव से ही महान् व्यक्तित्व कहाँ और कहाँ यह अर्थान्तरापूर्ण उक्ति। माना कि वे शिरीषसुकु-मारी हैं और उनके मन में ऐसा प्रश्न आ सकता है, परन्तु कोई भी शिष्ट पाठक यह सोच भी नहीं सकता कि वे उसे व्यक्त कर देंगी, तथापि यह तो सोचना उसके लिए सर्वथा असंभव ही है कि वे उसे बार बार कहेंगी। राम की आँखों में आँसू

---

१. इसकी अनेक व्यञ्जनाएँ हमारी ओर से कल्पित हैं।

२. वक्रोक्तिजीवितकार के अनुसार 'असकृद्' के स्थान पर 'अवशम्' पाठ अधिक उचित होता। —हि० व० जी० १।८-९ कारिकावृत्ति

तो सीता के एक बार भी पूछने पर आ सकते थे। बार बार पूछने पर आँसू के आने की बात राम में भी कठोरचित्तता द्योतित करती है।

जहाँ तक अर्थ का सम्बन्ध है इन स्थलों में जो अर्थयोजना है उससे जाना जा सकता है कि काव्य में अर्थ का स्वरूप कैसा होना चाहिए। यदि मेघ अपने परिचय में उतनी बातें न कहता तो अधीर यक्षी के आश्वासन का कार्य अधूरा रहता, जो उस पद्य का तात्पर्य है। यदि शिव में कपाल-सम्बन्ध न बतलाया जाता तो उनसे सम्बन्ध चाहने वाली सुन्दरी की शोचनीयता सिद्ध न होती, जिसे कवि अपने पद्य के मुख्य अर्थ के रूप में प्रस्तुत कर रहा है। राजशेखर भी यदि शिरीष-सुकुमारी न कहते तो सीता की प्रश्नविवशता का समर्थन न होता। इससे सिद्ध होता है कि 'काव्य में अर्थनाम से जिस अर्थ को पुकारा जाता है वह अर्थ नियमत आह्लादकारी होता है'। इस प्रकार के इस अर्थ की उपस्थिति सामाजिक के चित्त में हर किसी शब्द से नहीं हो सकती। वह निश्चित ही चुने चुनाए शब्दों से ही हो सकती है। फलत काव्य में 'शब्द का अर्थ है ऐसी वाचक ध्वनि जो कवि-विवक्षित विशेषताओं का उपस्थापन करने में सक्षम हो'। काव्यशब्द की जो वाचकता या अभिधानशक्ति है उसका अर्थ है अर्थगत विशेषताओं का समर्पण। पण्डितराज जगन्नाथ ने इसी को अवयवशक्ति कहा है और उसके उदाहरण के रूप में उन्होंने प्रस्तुत किया है यह वाक्य—'**गीष्पतिरप्याङ्गिरसो वक्तु ते गुणगणान् सगर्वो न**'—'आपके गुणगणों का वर्णन गीष्पति आङ्गिरस भी नहीं कर सकता'। यहाँ गीष्पति और आङ्गिरस दोनों शब्द एक ही अर्थ के वाचक हैं—बृहस्पति के। इन दोनों शब्दों का अर्थ रूढ रूप में देवगुरु बृहस्पति है, परन्तु गीष्पतिशब्द यहाँ उतने ही अर्थ तक सीमित नहीं है। वह ('गी' अर्थात् वाणी और 'पति' अर्थात् उसका प्रभु इस प्रकार) 'वाणी के प्रभु' और 'वाणी पर उसके प्रभुत्व'-रूपी उस अर्थ तक मस्तिष्क को ले जा रहा है जो गीष्पति शब्द के अवयव 'गी' और 'पति' से निकल रहा है। यद्यपि यहाँ पण्डितराज के पद्य में यह अवयवार्थ 'भी' शब्द से प्रतीयमानता की भूमिका में नीचे उतार लिया गया है, तथापि उपयुक्त शब्द-चयन की दिशा में जो हमारा चिन्तन है तदर्थ वह भी बहुत दूर तक हमारा साथी बन जाता है, कारण कि मस्तिष्क की धारा रूढ अर्थ की सीमा से रोक दी जाती है और अवयवार्थ की अपर कक्षा तक उसका सम्प्रसारण सामान्यत नहीं हो पाता। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है। इसके रहते हुए भी हमारी चिन्तनधारा एक विद्रोह करती और रूढि का बाँध तोड आगे बढती तथा हमें अतिशयित अर्थ तक पहुँचा ही देती है। रघुवंश के द्वितीय सर्ग में ऐसे प्रयोग पदे पदे प्राप्त हैं। प्रथम श्लोक में ही कवि जाया-शब्द का प्रयोग करता है। वह भार्या की जननशक्ति का अर्पक

है। दिलीप सन्तति के लिए ही गोचारणव्रत ले रहे हैं। सुदक्षिणा उनके साथ है। यदि वह जननशक्तिशून्य यानी वन्ध्या होती, उसकी कुक्षि मातृशक्ति से रिक्त रहती तो दिलीप का व्रत भी परिणामशून्य ठहरता। इस प्रकार कवि ने इस प्रश्न का उत्तर दे दिया कि दिलीप अपने बहुत बड़े[1] रनिवास में से सुदक्षिणा को ही अपने साथ क्यों लाए, गोचारणव्रत की दीक्षा देनेवाले कुलगुरु वसिष्ठ के आश्रम में। छन्दोयोजना जायाशब्द के स्थान पर भार्या, पत्नी और प्रिया शब्द देने से भी अदूषित रहती। प्रत्युत पत्नी और प्रिया शब्द अधिक फबते, क्योंकि उनमें अनुप्रास की वर्णमैत्री चली आती और **'अथ प्रजानामधिपः प्रभाते जायाप्रतिग्राहितगन्धमाल्याम्'** के स्थान पर **'प्रियाप्रतिग्राहितगन्धमाल्याम्'** कहने से कुन्तक के शब्दों में वर्णविन्यासवक्रता का चमत्कारी गुण चला आता। कुशल कवि ने ऐसा नही किया। वस्तुतः शब्द के स्वरूप से उसकी अर्थसमर्पकता का गुण अधिक महत्त्वपूर्ण है। उसी मे इस पद्य के कवि की महत्ता है, उसका महाकवित्व है, उसके शब्दपरिपाक का निखार है।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि प्रत्येक शब्द काव्यशब्द नहीं बन सकता। काव्यशब्दत्व की यह योग्यता गिने चुने शब्दों में ही रहती है। अथवा ऐसा कहना चाहिए कि शब्द अपने आपको काव्यशब्द तब बना सकता है जब वह कवि के तात्पर्यविषयीभूत अर्थ तक पाठक को ले जा सके, कोश और व्याकरण की क्षुद्र सीमाओं से आगे बढ़ वह अपने अर्थपिण्ड में छिपी विशेषताओं का निर्देश कर सके, अर्थरूपी चित्र का बिम्बमात्र प्रस्तुत न कर उसकी एक-एक रेखा की ऋजुता और वक्रता में छिपी अपनी मूक भाषा को भी पाठक के चिन्तन में जगा सके।

तात्पर्य यह निकला कि शब्द के काव्यत्व का मानदण्ड आचार्य आनन्दवर्धन के अनुसार प्रतीयमान अर्थ ही है और इस प्रकार काव्य का जो व्यक्तित्व या बिम्ब आनन्दवर्धन की उपर्युक्त स्थापनाओं से उपस्थित हुआ उसमें—

(क) शब्द को स्थूल शरीर
(ख) वाच्य अर्थ को चैतन्यरहित सूक्ष्म शरीर तथा
(ग) प्रतीयमान को चैतन्य

कहा जा सकता है।

●

---

१. कलत्रवन्तमात्मानमवरोधे महत्यपि।
तया मेने मनस्विन्या लक्ष्म्या च वसुधाधिपः॥ (रघुवंश—१।३२)

काव्यभेद

पिछले अनुच्छेदो में हमने तीन तथ्यो पर आनन्दवर्धन के सिद्धान्तो का अनुशीलन किया—

१ काव्य का शरीर	और उसके घटक
२ अर्थतत्त्व	तथा
३ शब्दतत्त्व	की काव्यगत विशेषता।

इस अनुशीलन से काव्य का जो व्यक्तित्व आनन्दवर्धन की दृष्टि से अंकित किया जा सकता है वह अपनी समग्रता में हमारे समक्ष उपस्थित है। अब हम उसके स्वगत या अवान्तर भेदो पर आनन्दवर्धन के चिन्तन का अध्ययन करेंगे।

इतिहास तथा दृष्टिभेद :

काव्यभेदो का जो पुराना लेखा आनन्दवर्धन के समक्ष उपस्थित था उसमें भेदक तत्त्व के रूप में जिस विशेषता को अपनाया गया था वह थी काव्य की आकृति या उसका वाह्य परिवेष, उसका स्थूल शरीर या पिण्ड। आनन्दवर्धन ने एक दूसरी दृष्टि भी अपनाई और उन्होंने काव्य के स्वगत भेदो का मानदण्ड या उसकी विविध विधाओ का भेदक उससे प्राप्त होने वाली 'आनन्दमात्रा' के तारतम्य को भी माना।

उक्त तथ्य इससे स्पष्ट है कि दण्डी से लेकर भामह और वामन तक काव्य को मूलत दो भागो में विभक्त किया गया था

(१) अभिनेय और
(२) अनभिनेय।

इन्ही को क्रमश दृश्य और श्रव्य भी कहा गया था। दृश्य के अनेक भेद भरत के नाट्यशास्त्र मे प्रसिद्ध थे, अत इन आचार्यों ने केवल श्रव्य तक ही स्वय की मीमासा को सीमित रखा और 'सर्गबन्ध' आदि अनेक रूपो में प्राप्त काव्यो की

'अध्यायों के नाम, उनके पात्रों का चारित्रिक स्तर, उनमें प्राप्त कथावस्तु का ऋतु-वर्णन आदि से संपोषण' आदि स्थूल विशेषताओं का विभिन्न वर्गों में आकलन किया। आनन्दवर्धन ने इन विशेषताओं पर आपत्ति नही की। उन्होंने इनसे आगे बढ़कर केवल यह विचार किया कि इन समस्त भेदों से पाठक के चित्त में जो आनन्दमात्रा जन्म लेती है वह कितनी मांसल और कितनी गम्भीर है। स्पष्ट ही आनन्दवर्धन की दृष्टि अनुभूतिपक्ष को लेकर आगे बढ़ने वाली दृष्टि थी, जबकि प्राचीन आचार्यों की दृष्टि वस्तुपरक और कविकर्म या काव्यशिल्प को लेकर चलने वाली। दोनों दृष्टियों में से एक का पक्ष मानों प्रतिबिम्ब का पक्ष था तो दूसरे का बिम्ब का। दार्शनिक भाषा मे एक को भूतदर्शी कहा जा सकता है और दूसरे को बोधदर्शी। एक को विषयवादी माना जायेगा और दूसरे को विषयिनिष्ठ। नाट्य की भाषा में कहना होगा कि एक मञ्चगत विशेषताओं का आकलन कर रहा है और दूसरा प्रेक्षक के हृदय पर पड़ रहे प्रभाव का। ठीक भी है। दूध इसलिए तो भिन्न है ही कि वह गाय, भैंस या बकरी के शरीर का परिणाम है, वह इसलिए भी भिन्न है कि उसके माधुर्य, उसकी सुगन्ध और उसकी आप्यायकता में अन्तर है। गाय का भी दूध गायों की खाद्य सामग्री के अन्तर से भिन्न हो जाता है। गाय का जो दूध सूखा भूसा और मूमफली की खली खाने से निष्पन्न होता है उसमें अवश्य ही अन्तर होगा उसी गाय के उस दूध की अपेक्षा जो गुड़ के सीरे और मूंग की चुनी के चाटे से निष्पन्न हो। बरसाती घास और शरत्काल की काँदी को सूर्य के उन्मुक्त प्रकाश में चरने से गाय जो दूध देती है उसके घनत्व, उसकी स्निग्धता और उसके माधुर्य का अन्तर किससे छिपा है। सुपरफास्फेट उर्वरक का दुबराज[1] या कालीमूँछ[2] चावल, हरी पत्ती, गोबर और राख के खाद के दुबराज या कालीमूँछ से सुगन्ध और मिठास में अवश्य ही घटिया रहता है। पान के शीतल और हरे बरेजे के परवल की भुँजिया अपने कुरकुरेपन में जो सुवास लिए रहती है वह अमोनियम सल्फेट से दिग्ध केदारखण्ड की जलती कूँख से बाहर फिके परवल की भुँजिया में कहाँ? अवश्य ही आकार और प्रकार को उतना भेदक नहीं माना जा सकता जितना आन्तरिक गुणधर्म और उस पर टिकी आस्वादयिता की अनुभूति को माना जा सकता है। काव्य भी गोदुग्ध के समान एक परिणाम है। काव्यरूपी दुग्ध के लिए धेनु है कविप्रतिभा। उसके गर्भ में जो सामग्री

१. मध्यप्रदेश के पूर्वी अञ्चल छत्तीसगढ़ का प्रसिद्ध उत्तम चावल।

२. मध्यप्रदेश के पश्चिमोत्तरीय अञ्चल ग्वालियर का प्रसिद्ध चावल।

पहुँचती हैं यदि वह उत्तम है तो अवश्य ही उसका परिणाम उत्तम होगा और उससे आस्वादयिता को जो आनन्दमात्रा उपलब्ध होगी वह अधिक सम्पुष्ट, अधिक मासल, अधिक मसृण और अधिक गम्भीर होगी। तब काव्य-शरीर भी अधिक उपादेय और स्पृहणीय ठहरेगा। यह काव्य-दुग्ध जब आत्मलाभ कर चुका, निष्पन्न हो चुका, तब अब इसे चखा किसी भी माध्यम से जा सकता हैं, अभिनय का सुवर्णचषक मुख से लगाकर उसे आकण्ठ पिया जा सकता है और सगीतात्मक पदावली की पद्य-गद्यमयी स्फाटिक चम्मचो से भी उसे निरन्तर आत्मसात् किया जा सकता है। इन उपकरणा से, इन शिल्पो से अथवा इन माध्यमो से आस्वाद्य वस्तु की आस्वादमात्रा अथवा उससे प्राप्त होनेवाली आनन्दमात्रा मे अन्तर नही आता। ये उपकरण बाह्य हैं। इन्हें भेदक तभी तक माना जा सकता है जब तक इनमे प्राप्य वस्तु का स्पर्श नही होता और उसे हमारी भोग-चिति अपनी प्रकाशात्मक आनन्दमयी सविति के गर्भ में नही लेती। आनन्दवर्धन पाठक या प्रेक्षक के इस आनन्दभोग को मानदण्ड बनाने और काव्यभेद का निरूपण करते हैं। दूसरे शब्दो मे वे प्रणय को दाम्पत्य के सुवर्णसूत्र में पिरोया हुआ मौक्तिक मानते हैं, स्त्री-पुरुष की ब्राह्मणत्वादि जातीय विशेषताओ से अथवा युवकत्ववृद्धत्वादि पारिस्थितिक विशेषताओ से बँधा हुआ, इनके उत्तप्त लौहसूत्रो से जकडा हुआ, अतएव निर्जीव हुआ शुकशरीर नही। इस भूमिका से विचार करने पर शाकुन्तल नाटक या कुमारसम्भव महाकाव्य, कादम्बरी गद्यकथा अथवा मेघदूत खण्डकाव्य एक जाति के काव्य प्रतीत होंगे। शृङ्गारभोग की किसी गम्भीरता तक इनमें से हर एक मॉडेल हमे ले जाता प्रतीत होगा। इतना ही नही अमरुक या शिङ्गभूप के शृङ्गारमुक्तक भी हमें उसी स्तर के और उसी कोटि के काव्य प्रतीत होगे। भर्तृहरि के शृङ्गारशतक की एक एक सूक्ति हमे हमारे हृद्वर की प्रियसखी प्रतीत होगी। यहा तक कि काव्य इस भूमिका पर भाषा से भी ऊपर उठ जायेगा और सस्कृत-प्राकृत और देशी-विदेशी भाषाओ का स्वगत विभेद अकिञ्चित्कर सिद्ध होगा। यही कारण है कि आनन्दवर्धन ने सस्कृतकाव्यशास्त्र में पहले पहल प्राकृतगाथाओ को भी उदाहरणा के रूप में अपनाना आरम्भ किया। ठीक भी है। नाटका मे अनेक भाषाओ के प्रयोग की छूट दी ही जा चुकी थी। इस छूट का समर्थक दर्शन और साधक तर्क अनुभूति-सामरस्य ही है। मानो इस आनन्दभोग के कलाजगत् में काव्यभेद और भाषाएँ भी साधारणीकृत हो गयी और उनमे उनके प्रभाव के प्रति कोई भेद-कला नही रह गयी। इस प्रकार आनन्दवर्धन काव्य के मनोवैज्ञानिक भेद की ओर बढते दिखायी दे रहे है, जबकि प्रचीन आचार्य काव्य के भौतिक अथवा रासायनिक भेद तक सीमित थे।

आस्वादमूलक वर्गीकरण :

उक्त भूमिका पर आरूढ़ आनन्दवर्धन ने काव्य को वस्तुतः दो ही भागों में विभक्त किया है। एक वह जिसमें वाचक शब्द और वाच्य अर्थ से प्राप्त आनन्द-मात्रा की अपेक्षा प्रतीयमान अर्थ से प्राप्त होने वाली आनन्दमात्रा अधिक बड़ी रहती है, और दूसरा वह जिसमें प्रतीयमान की आनन्दमात्रा तदितर सामग्री की आनन्द-मात्रा से बड़ी नहीं रहती अर्थात् या तो बराबर रहती है या कम। इनमें से प्रथम को उन्होंने ध्वनि कहा है और द्वितीय को **गुणीभूतव्यङ्ग्य**। इस प्रकार आनन्दवर्धन के अनुसार काव्य के दो भेद होते हैं—

१. ध्वनि[1] और

२. गुणीभूतव्यङ्ग्य[2]

प्रश्न : प्राचीन आचार्यों ने इस प्रतीयमान अर्थ की चर्चा नहीं की थी, अतः उनके अनुसार काव्य के उक्त भेदों की परिकल्पना सम्भव न थी। किन्तु प्राचीन आचार्यों ने जिस अलङ्कारतत्त्व की कल्पना की थी और उसके आधार पर काव्य के भेद प्रस्तुत किये थे, हमारे आनन्दवर्धन तो उनसे परिचित थे ही। प्रश्न उठता है कि इनने उन आचार्यों के अलङ्कारप्रधान काव्य-भेदों की गणना को अपने काव्यदर्शन मे कौन सा स्थान दिया।

उत्तर : आनन्दवर्धन प्राचीन अलंकारिकों के अलंकारप्रधान काव्य को काव्य ही नहीं मानते। उन्होंने ऐसी रचना को चित्र कहा है, चित्र यानी काव्य-चित्र[3] (न कि चित्रकाव्य)। चित्र का अर्थ संस्कृत में मूर्ति भी होता

---

१. आनन्दवर्धन ने ध्वनि काव्य के लिए अनेक कारिकाएँ, अनेक संग्रहश्लोक और अनेक वाक्य लिखे हैं। सबमें प्रधान जो वचन है वह यह है—

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः॥
(१।१३—ध्वन्यालोक)

२. प्रकारोऽन्यो गुणीभूतव्यङ्ग्यः काव्यस्य दृश्यते।
यत्र व्यङ्ग्यान्वये वाच्यचारुत्वं स्यात् प्रकर्षवत्॥ (३।३४—ध्वन्यालोक)

३. गुणप्रधानभावाभ्यां व्यङ्ग्यस्यैवं व्यवस्थिते।
काव्ये उभे ततोऽन्यद् यत् तच्चित्रमभिधीयते॥
व्यङ्ग्यार्थविशेषप्रकाशनशक्तिशून्यं काव्यं केवल-वाच्य-वाचक-वैचित्र्य-मात्राश्रयेण उपनिबद्धम् आलेख्यप्रख्यम् आभासते, तत् चित्रम्। न तत् मुख्यं काव्यम्। काव्यानुकारो ह्यसौ॥
(३।४१ ध्व०)→

है। आचार्य का संकेत है कि शब्दार्थसरचनाप्रधान काव्य, काव्य नही काव्य का पुतला है, वह वस्तुत अकाव्य है, जो काव्य के आकार में खडा किया गया है। उसे काव्याभास कहना अधिक उपयुक्त होगा। वह काव्य की वास्तविकता से बहुत दूर है। सामाजिक की संवित्ति यदि वत्सला धेनु है तो अलंकारप्रधान यह काव्य उसके समक्ष मरी हुई खाल में भुस भर कर खडा किया गया बछडा है और सामाजिक यदि रसिक ग्राहक है तो ऐसी काव्यकृति उसके समक्ष नुकीली चोली और जारजेट की चटकीली छीट पहना कर खडी की गयी बजाज की दुकान की नारीमूर्ति है। अपनी मौलिकता में है तो वह 'अतत्' ही, केवल भासित होती है 'तत्'-रूप में। तथ्यत उसकी यह काव्यात्मकता प्रातिभासिक ही है, पारमार्थिक नही। ऐसी रचना रसिकचेतना के लिए किसी भी स्थिति में विश्रान्ति-धाम नही बन सकती। हिरण्मयी सीता यदि कोई यज्ञ सपन्न करा सकती है तो केवल अश्व-यज्ञ ही संपन्न करा सकती है, राम के रस-यज्ञ के लिए वह सर्वथा अनुपयुक्त है। अश्वयज्ञ भी वह तभी सपन्न करा सकती है जब उसे अपनी वास्तविकता में राम के दाम्पत्यरस से समरस होने का अवसर मिला हो। वस्तुत अनुकरण अनुकरण ही है और वास्तविकता वास्तविकता ही। विश्रान्तिधाम वास्तविकता की सुहागिन ही बन सकती है,

---

→ चित्रकाव्यशब्द की अपेक्षा काव्यचित्र शब्द अधिक अच्छा है। इससे आभास में विधेयता चली आती है और काव्यत्व एक निषेध्य धर्म सिद्ध हो जाता है। परम्परा ने आनन्दवर्धन के इस क्रान्तिकारी सिद्धान्त को स्वीकार किया नही। उनके बाद के आचार्यों में सर्वाधिक प्रतिष्ठित आचार्य मम्मट ने अपने काव्यप्रकाश में चित्रकाव्य को काव्याभास न मानकर काव्य ही माना और प्रथम तथा षष्ठ उल्लास में उस पर विवेचन किया। उनके बाद के आचार्य अलंकारसर्वस्वकार ने भी इसी स्वर में स्वर मिलाया और चित्र को काव्य स्वीकार किया। पण्डितराज जगन्नाथ ने भी शब्दार्थालंकारप्रधान रचना को काव्य स्वीकार किया, किन्तु उन्होंने आनन्दवर्धन की स्थापना पर भी दृष्टि रखी और चित्र के एक उस भेद को अकाव्य घोषित किया जिसमें खड्ग, मुरज, पद्म आदि की आकृतियाँ निवेशित की जाती है और जिन्हें चित्रकाव्य नाम से पुकारा जाता है। काव्यप्रकाशकार ने इस प्रकार के काव्य को भी काव्य स्वीकार कर लिया था। भोज और रुद्रट उनके विवेचन को परा काष्ठा तक पहुँचा चुके थे। (ध्व० ३।४२ वृत्ति)

अनुकरण की काष्ठदारिका नहीं। वह यदि कुछ बन सकती है तो केवल आकर्षणपात्रमात्र। वह भी क्षणभर के लिए, सदा के लिए नहीं। आकर्षण से अधिक उसका कोई उपयोग नही। इस प्रकार आचार्य आनन्दवर्धन की दृष्टि में अलंकारप्रधान और प्रतीयमानार्थविमुख शब्दार्थसंयोजना काव्य ही नहीं है।

प्रश्न : आचार्य आनन्दवर्धन के अनुसार ऐसा कोई वाक्य होता ही नहीं है, जिसमें प्रतीयमान अर्थ का स्पर्श न रहे। भले ही किसी वाक्य से वस्तु या अलंकार प्रतीयमान अर्थ के रूप में न निकले, रसरूप प्रतीयमान अर्थ तो ऐसा प्रतीयमान अर्थ है जो प्रत्येक काव्य में, प्रत्येक वाक्य में अवश्यंभावी है। कारण कि वाक्य किसी न किसी अर्थ का ज्ञान अवश्य कराता है। वह अर्थ विभाव अनुभाव या संचारी में से किसी एक की कोटि में आता ही है। और इस प्रकार वह रस का अङ्ग बन जाता है। ऐसी स्थिति में जो रचना अलंकारप्रधान भी हो उसमें भी रसरूपी प्रतीयमान अर्थ रहेगा ही और उसके रहते हुए उक्त रचना को अकाव्य नही कहा जा सकेगा। फलतः आनन्दवर्धन का ऐसे काव्य को काव्यचित्र कहना उचित न होगा।

उत्तर : आनन्दवर्धन ने इस प्रश्न को स्वयं उपस्थित किया है और इसका उत्तर भी दिया है। उनका उत्तर है कि यह तो सत्य है कि ऐसी कोई रचना होती ही नही जिसमे किसी न किसी प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति न होती हो। किन्तु ऐसा देखा जाता है कि रचनाकार प्रतीयमान की ताक में रस शब्द और अर्थ के पिंजरे को अलंकार की वर्णकूचिका से रँगने में ही अपनी पूरी शक्ति लगा देते है। प्रतीयमानार्थ—विमुख इन रचनाकारों की कृतियां प्रतीयमान अर्थ के रहने पर भी उसके चमत्कार से रहित रहती है, फलत. उन कृतियों मे प्रतीयमान का अस्तित्व अभाव से अधिक महत्त्व नही रखता।[1]

काव्यभेद के इस प्रसंग में दो अन्य तथ्यों पर ध्यान देना आवश्यक है। एक तो यह कि परवर्ती आचार्यों में मम्मट से पण्डितराज जगन्नाथ तक उक्त काव्यभेदों को जो उत्तम, मध्यम तथा अधम अथवा उत्तमोत्तम, उत्तम, मध्यम तथा अधम की श्रेणियों में विभाजित्त किया गया है उनका उल्लेख आनन्दवर्धन ने नहीं किया है। यद्यपि यह सत्य है कि आनन्दवर्धन ने श्रेणियों के उक्त अभिप्राय

---

१. ध्वन्यालोक, ३।४२–वृत्ति।

प्रकारान्तर से व्यक्त कर दिए हैं। वे ध्वनि को सर्वाधिक महत्व देते हैं, फलत उसे वे उत्तम वर्ग में गिनते हुए माने जा सकते हैं। द्वितीय गुणीभूत व्यङ्ग्य को वे मध्यम मान ही सकते हैं, जब प्रथम स्थान वे ध्वनि को दे चुके हैं और तृतीय स्थान के लिए किसी अन्य विधा को नही चुनते। परन्तु उत्तम, मध्यम, अधम के वर्ग तब बनते हैं जब विभाज्य वस्तु की सख्या कम से कम तीन हो। भाई तीन होते हैं तभी उनमें से बडे को बडा, मँझले को मँझला और नन्हें को नन्हा कहा जाता है। केवल दो होने पर मँझला नही कहा जाता। तब बडा और छोटा ही कहा जाता है। आचार्य आनन्दवर्धन ने, जैसा कि हमारे उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है काव्य के दो ही भेद स्वीकार किए हैं एक ध्वनि और दूसरा गुणीभूतव्यङ्ग्य। ऐसी स्थिति में उनके अनुसार ध्वनि को तो उत्तम कहा जा सकता है, किन्तु गुणीभूतव्यङ्ग्य को मध्यम नही। उसे कहना होगा तो अधम या कनिष्ठ ही कहना होगा। और यह नाम ठीक न होगा।

दूसरा तथ्य यह है कि **आचार्य आनन्दवर्धन वस्तुत काव्य का एक ही भेद मानना चाहते हैं—ध्वनि।** उनका 'चित्र'-प्रकरण के उपसहार में आया निम्नलिखित वाक्य इस दिशा में सक्षम प्रमाण है—

'प्राप्तपरिणतीनां तु ध्वनिरेव काव्यम्'

'जिनकी बुद्धि परिपक्व है उनके आदर का पात्र तो केवल एक ही काव्य है, वह है ध्वनिकाव्य।'

उनकी दृष्टि में द्वितीय काव्यविधा सभव ही नही। गुणीभूतव्यङ्ग्य की बहुत बडी सीमा को यह वाक्य सकुचित कर देता है। वस्तुत गुणीभूत व्यङ्ग्य पर भी आचार्य की आस्था अधिक नही है। उन्होने अप्रस्तुतप्रशसा को प्रथम उद्योत में ध्वनिभिन्न कहा किन्तु तृतीय उद्योत में जहाँ धर्मकीर्ति के **'लावण्यद्रविणव्ययो न गणित'**—इस पद्य पर विचार किया उन्होने इसमे अप्रस्तुतप्रशसा स्वीकार की और उसे ध्वनि माना। स्पष्ट ही आनन्दवर्धन गुणीभूतव्यङ्ग्य पर भी अधिक आस्था नही रखते। यद्यपि वे यह कहते हैं कि **'विधातव्या सहृदयैर्न तत्र ध्वनियोजना'**। यही कारण है कि आनन्दवर्धन के आलोचक महिमाचार्य 'गुणीभूतव्यङ्ग्य'-नामक भेद को 'ध्वनि' मे अभिन्न ही स्वीकार करते और आनन्दवर्धन के दबे स्वर को निर्भीकता के साथ ऊँचा करते दिखाई देते हैं। उनकी स्पष्ट घोषणा है—**'काव्ये तर्हि गुणीभूतव्यङ्ग्येऽपोष्टैव चारुता'**। आनन्दवर्धन ने भी अन्त में कहा ही है कि गुणीभूतव्यङ्ग्य भी **'रसादितात्पर्यपर्यालोचना'**—करने पर ध्वनि ही सिद्ध होते है।

इस प्रकार वस्तुतः आनन्दवर्धन के अनुसार केवल 'ध्वनि'-काव्य ही काव्य का एकमात्र भेद है। फलत. आनन्दवर्धन के अनुसार 'ध्वनि' को काव्य का पर्याय भी मानें तो मान ही सकते हैं। महिमभट्ट ने ऐसा किया भी। उन्होंने 'ध्वनि' को व्यञ्जना से पृथक् कर शुद्ध 'प्रतीयमान अर्थ' रूप में स्वीकार किया और उसी में सर्वथा प्रधानता ही स्वीकार कर उसी को एकमात्र काव्य माना। इस प्रकार इन आचार्यों के अन्तर्मन में एक विद्रोह 'गुणीभूतव्यङ्ग्यता' के प्रति सतत गतिमान् था, किन्तु मम्मट ने उसे नजर-अन्दाज किया और उस दिशा की ओर काव्यसमीक्षा की चपल वधू के चेहरे पर सदा के लिए घूँघट डाल दिया। पण्डितराज जगन्नाथ भी उसे उतार न सके।

जहाँ तक तटस्थ चिन्तन का सम्बन्ध है आनन्दवर्धन का यह मानदण्ड विभेदक रेखा के रूप में सर्वथा मान्य है कि प्रधान्य और अप्रधान्य का निर्णायक चारुत्वमात्र है—'चारुत्वापेक्षया हि प्राधान्याप्राधान्यविवक्षा'। जिस काव्य में प्रतीयमानगत चमत्कार की मात्रा क्षीण हो उसमें ध्वनित्व की कल्पना अवश्य ही 'सतृणाभ्यवहारिता'[1] है। महिमभट्ट का मानदण्ड है 'साध्यसाधनभाव'। वह जैसा कि हम पहले भी लिख चुके हैं कलात्मक बोध की पीठिका तक सीमित पक्ष है, बोधोत्तरकालीन तरतमभाव का समीक्षक नहीं। अतः यह मान लेना आवश्यक है कि सभी काव्य ध्वनि नहीं रहते।

यहाँ यह भी एक तथ्य ध्यान देने योग्य है कि 'गुणीभूतव्यङ्ग्य'-नामक विधा वस्तुतः 'ध्वनिच्युति' की विधा है। यह इसके नाम से ही स्पष्ट है। यह विधा प्रतीयमानचमत्कार की ह्रासोन्मुख स्थिति है। आचार्य का इस विधा के प्रतिपादन का तात्पर्य केवल इतना ही है कि इस स्तर के ह्रास तक भी काव्यत्व माना जा सकता है। उनका तात्पर्य न तो इस विधा की स्थापना में है और न इस विधा के पारमार्थिक सत्त्व को स्वीकार करने मे।

इस प्रकार आनन्दवर्धन के अनुसार काव्यभेदों में 'उत्तमत्व, मध्यमत्व, अधमत्व' की श्रेणियाँ बनती ही नहीं। उनकी कल्पना जिनने की है वह उनकी

---

१. सतृणा = तृण के साथ अभ्यवहारिता = खाते जाना। यह ऐसे स्थूल बुद्धिवाले अविवेकी सहृदय की संज्ञा है जो काव्य के साथ अकाव्य को भी अच्छा कहता जाता है। द्र० काव्यमीमांसा। वामन ने इस शब्द का प्रयोग कवि के लिए किया है। द्र० काव्यालङ्कार सूत्रवृत्ति १।२।१।

अपनी स्थापना है। उसका सूत्र-मात्र आनन्दवर्धन में मिल सकता है, वह भी अति क्षीण, अति दुर्बल।

निष्कर्ष

'आनन्दवर्धन के अनुसार काव्य एक ही प्रकार होता है—ध्वनि। विवशतावशात् 'गुणीभूत व्यङ्ग्य' से युक्त वाक्य को भी काव्य माना जा सकता है।'

आकृतिमूलक वर्गीकरण

अनुभूतिमूलक अथवा प्रकृतिमूलक वर्गीकरण को महत्त्व देने पर भी आनन्दवर्धन ने आकृतिमूलक वर्गीकरण का महत्त्व अस्वीकार नही किया। उन्होंने ऐसे अनेक आकारो की एक उत्तम और अभूतपूर्व तालिका प्रस्तुत की जिसमें काव्य-प्रकारो का न केवल उल्लेख था, अपितु व्यवस्थित वर्गीकरण भी था। यह तालिका इस प्रकार है—

(१) मुक्तक (२) सन्दानितक (३) विशेषक (४) कलापक
(५) कुलक (६) पर्यायबन्ध (७) परिकथा (८) खण्डकथा
(९) सकलकथा (१०) सर्गबन्ध (११) अभिनेयार्थ (१२) आख्यायिका तथा
(१३) कथा। [ध्व० ३।७ वृत्ति]

आनन्दवर्धन को इसके अतिरिक्त भी कुछ काव्यभेदो की सूचना थी, क्योंकि उन्होंने उक्त तालिका को 'आदि' पद से समाप्त किया। लोचनकार ने उसमें दण्डी-द्वारा उल्लिखित 'चम्पू' नामक काव्यविधा को जोड़ा और इन सब विधाओ की विशेषताओ का उल्लेख इस प्रकार किया—

१	मुक्तक	ऐसा पद्य जिसमें अर्थबोध के लिए अन्य पद्यो की आवश्यकता न हो। अर्थात् पूर्वापरनिरपेक्ष केवल आत्मनिर्भर पद्य। अमरुशतक के पद्यो को इस विधा का उत्तम उदाहरण स्वय आनन्दवर्धन ने माना है।
२	सन्दानितक	ऐसे दो पद्यो का समुदाय जिनमें एक पद्य से वाक्य का आरम्भ हो और दूसरे पद्य से उसकी परिसमाप्ति।
३	विशेषक	ऐसे तीन पद्यो का समुदाय जिनमें किसी एक पद्य से आरम्भ वाक्य की पूर्ति तृतीय पद्य में होती हो।
४	कलापक	ऐसे चार पद्यो का समुदाय जिनमें किसी एक पद्य से आरम्भ वाक्य चौथे पद्य में पूरा होता हो।

५. कुलक[1] : ऐसे पांच पद्यों का समुदाय जिनमें वाक्य की पूर्त्ति पाँचवें पद्य में हो।

६ पर्यायबन्ध[2] : वसन्तवर्णन आदि के प्रकरण

७. परिकथा[3] : एक प्रतिपाद्य के लिए अनेक दृष्टान्तों की रचना

८. खण्डकथा[4] : बड़े इतिवृत्त के किसी एक अंश का वर्णन

---

१. (क) हेमचन्द्र ने काव्यानुशासन के अष्टम अध्याय मे मुक्तक से कुलक तक के भेदकतत्त्व ये ही स्वीकार किए है। उनके सूत्र हैं—

(सू०) अनिबद्धं मुक्तकादि।

(वृ०) मुक्तक-सन्दानितक-विशेषक-कलापक-कुलक-पर्यायकोश-प्रभृति।

(सू०) एक-द्वि-त्रि-चतुश्छन्दोभिर्मुक्तक-सन्दानितक-विशेषक-कलापकानि।

(वृ०) एकेनच्छन्दसा वाक्यार्थपरिसमाप्तौ मुक्तम्, यथा अमरुकस्य शृङ्गार-शते रसस्यन्दिनो मुक्तकाः। द्वाभ्यां सन्दानितकम्, त्रिभिर्विशेषकम्, चतुर्भिः कलापकम्।

(सू०) पञ्चादिभिश्चतुर्दशान्तैः कुलकम्।

(ख) इन काव्यभेदों का निरूपण वाग्भट-२ ने भी अपने सूत्रों में लिखित काव्यालंकार मे किया है।

२. हेमचन्द्र ने पर्यायबन्ध को कुलक के अन्तर्गत ही स्वीकार किया है। एतदर्थ कुलक को पाँच पद्यों तक सीमित न रखकर पन्द्रह पद्यों तक व्यापक बना दिया है। उनका वाक्य अभी उद्धृत किया जा चुका है। उसमें उनने नाम भी 'पर्यायकोश' लिया है। वस्तुतः १५ की सीमा पर्यायबन्ध की कोई अन्तिम सीमा नही हो सकती, साथ ही यह भी आवश्यक नही है कि उस बन्ध में एक ही काव्य हो। आनन्दवर्धन या लोचनकार इन सीमाओं से बँधते नहीं है।

३. परिकथा का लक्षण हेमचन्द्र ने इस प्रकार दिया है—

पर्यायेण बहूनां यत्र प्रतियोगिनां कथाः कुशलैः।
श्रूयन्ते शूद्रकवज्जिगीषुभिः परिकथा सा तु॥

४. खण्डकथा पर हेमचन्द्र—

ग्रन्थान्तर - प्रसिद्धं यस्यामितिवृत्तमुच्यते विबुधैः।
मध्यादुपान्ततो वा सा खण्डकथा यथेन्दुमती॥

(उदाहरण = इन्दुमती)

९	सकलकथा[1]	सम्पूर्ण इतिवृत्त का वर्णन
१०	सर्गबन्ध[2]	रघुवंश आदि महाकाव्य जो सर्ग नामक अनुच्छेदों में लिखे जाते हैं तथा जिनमें कथानक को सन्धियों से युक्त प्रबन्ध के रूप में उपस्थित किया जाता है।
११	अभिनेय	दस प्रकार के रूपक
१२	आख्यायिका[3]	उच्छ्वास नामक अनुच्छेदों तथा कठिन बन्ध में रचित गद्य
१३	कथा[4]	अनुच्छेदरहित सरल तथा कठिन दोनों बन्धों में रचित गद्य

आनन्दवर्धन की इस तालिका में काव्यों की गणना का जो क्रम है उससे स्पष्ट होता है कि वे काव्य के आकृतिमूलक भेदों के तीन वर्ग मानते हैं—

१ पद्य
२ अभिनेय तथा
३ गद्य।

प्रथम वर्ग में मुक्तक से सर्गबन्ध तक के १० भेद आते हैं और तृतीय वर्ग में आख्यायिका तथा कथा। इनमें से प्रथम वर्ग के मुक्तक से कुलक तक के प्रथम पाँच

---

१ सकलकथा पर हेमचन्द्र ने कोई कारिका नहीं दी। केवल 'चरितमित्यर्थ' इस प्रकार चरित को सकलकथा कहा है।

२ सर्गबन्ध को लोचनकार ने केवल संस्कृत तक सीमित माना है, किन्तु हेमचन्द्र ने उसे प्राकृत, अपभ्रंश और ग्राम्य भाषा तक पहुँचा दिया है और इसीलिए उसका नाम भी 'सर्गबन्ध' न मानकर 'महाकाव्य' माना है। उनका
सूत्र—पद्यं प्रायः संस्कृत-प्राकृतापभ्रंश ग्राम्यभाषानिबन्ध—भिन्नान्त्यवृत्त-सर्गाश्वास-सन्ध्यवस्कन्धक बन्धं सत्सन्धि शब्दार्थवैचित्र्योपेतं महाकाव्यम्।
वृत्ति—छन्दोविशेषरचितं प्रायः संस्कृतादिभाषानिबद्धं भिन्नान्त्यवृत्तैः यथासंख्यं सर्गादिभिर्निर्मितं सुश्लिष्ट-मुख-प्रतिमुख-गर्भ विमर्श-निर्वहणसन्धि-सुन्दरं शब्दार्थवैचित्र्योपेतं महाकाव्यम्।

३ आख्यायिका पर हेमचन्द्र का सूत्र—
नायक ख्यातस्ववृत्ता भाव्यर्थशंसिवक्त्रादि सोच्छ्वासा संस्कृता गद्ययुक्ताऽऽख्यायिका। यथा हर्षचरितादि।

४ कथा पर हेमचन्द्र का सूत्र—
धीरशान्तनायका गद्येन पद्येन वा सर्वभाषा कथा।

भेदों में कथातत्त्व नहीं रहता, अतः इन्हें छोड़ शेष आठों भेदों को प्रबन्ध-नामक एक स्वतन्त्र विधा मे गिना जा सकता है, फलतः काव्य के उक्त १२ भेद–(१) 'शुद्ध' और (२) 'प्रबन्ध' नामक दो शीर्षकों में भी विभक्त किए जा सकते है।

आचार्यो ने इन भेदों को दृश्य और श्रव्य इन दो भागों में भी विभक्त किया है, किन्तु आनन्दवर्धन ने वैसा नही किया। कदाचित् वे यह मानते हैं कि श्रव्यता या दृश्यता में काव्यभेदकता ऐकान्तिक रूप से नहीं रहती। ठीक भी है। इन दोनों श्रेणियों का आधार है अभिनय। वह रघुवंश जैसे श्रव्य काव्य का भी हो सकता है और दृश्य काव्य माने जाने वाले शाकुन्तल आदि नाटक का भी पाठ या वाचन होता ही है। हेमचन्द्र ने दृश्य को पाठ्य और गेय, इन दो भागों में विभक्त किया भी है।[1]

---

1. दण्डी ने अभिनेय काव्य को गद्य और पद्य के मिश्रण से निष्पन्न 'मिश्र'-काव्य कहा था और **'गद्यं पद्यं च मिश्रं च'** इस प्रकार उसे गद्य और पद्य के बाद गिनाया था। आनन्दवर्धन ने इसे पद्य के बाद और गद्य के पहले गिना, जैसा कि ऊपर दी गयी तालिका से स्पष्ट है। इस अन्तर का कारण गवेषणीय है। हमारे विचार मे अवश्य ही आनन्दवर्धन के चित्त में आख्यायिका और कथा के गद्य से नाटक के गद्य का अन्तर स्पष्ट था। वे जानते थे कि नाटक का गद्य गद्यमात्र होता है, 'काव्य' नही। नाटक का गद्य केवल संवाद या सूचना तक सीमित रहता है। उसमें विकटता और मांसलता नही रहती। वैसा होने से नाटकीयता समाप्त हो जाती है। गद्य के बाद नाटक की गणना 'मिश्र' रूप में करने से नाटकों के गद्य में काव्यात्मकता का भ्रम हो सकता था। इसके विरुद्ध नाटक के पद्य उत्कृष्टतम श्रव्यपद्यकाव्यों के पद्यों से तनिक भी कम नही होते। परीक्षार्थी छात्र जब छँटनी कराते है तो शाकुन्तल और उत्तररामचरित का कोई भी पद्य त्याज्य प्रतीत नही होता। निश्चित ही नाटक में जो काव्यात्मकता रहती है उसकी एक अच्छी मात्रा पद्यों में निहित रहती है, फलतः अभिनेय काव्यों को पद्यकाव्यों के अनुषङ्ग में गिनना ही अधिक उचित है। आनन्दवर्धन पर ही अधिक निर्भर हेमचन्द्राचार्य का ध्यान उक्त गूढ़ अभिप्राय पर कदाचित् नहीं गया। इसीलिए उनने गणना का प्रकार और क्रम दोनों बदल दिये है। उनने 'नाटकों' को पहले स्थान दिया है अन्य काव्यों को उनके बाद—'काव्यं प्रेक्ष्यं श्रव्यं च' इस प्रकार। दण्डी के समान हेमचन्द्र ने भी 'मिश्र' काव्य के रूप में 'चम्पू' की गणना की है, जिसे आनन्दवर्धन ने छोड दिया है।

उक्त काव्यभेदों को वृक्षरूप में इस प्रकार रखा जा सकता है

[१] काव्य

मुक्तक — प्रबन्ध

मुक्तक १, सन्दानितक २, विशेषक ३, कलापक ४, कुलक ५

पर्यायबन्ध ६, परिकथा ७, खण्डकथा ८, सकलकथा ९, सर्गबन्ध १०, अभिनेय ११, आख्यायिका १२, कथा १३

पद्य — अभिनेय — गद्य

[२] काव्य

पद्य — अभिनेय ११ — गद्य

मुक्तक १, सन्दानितक २, विशेषक ३, कलापक ४, कुलक ५

पर्यायबन्ध ६, परिकथा ७, खण्डकथा ८, सकलकथा ९, सर्गबन्ध १०, आख्यायिका १२, कथा १३

शुद्ध [अनिबद्ध] — प्रबन्धात्मक [निबद्ध]
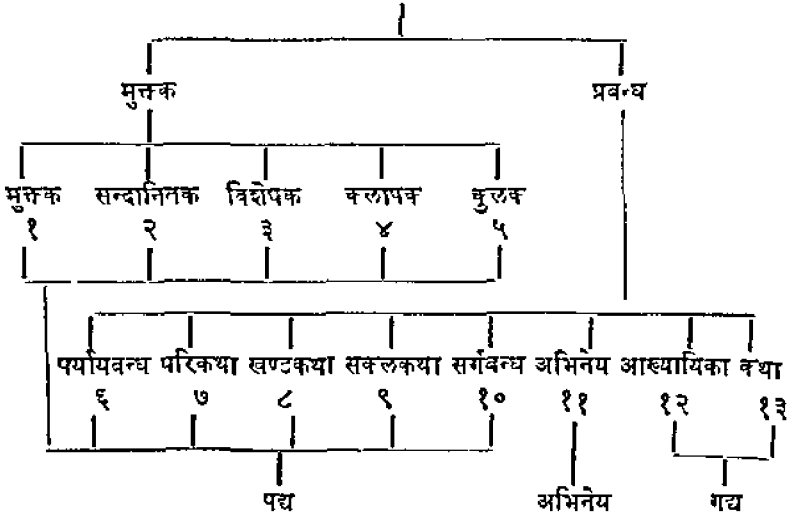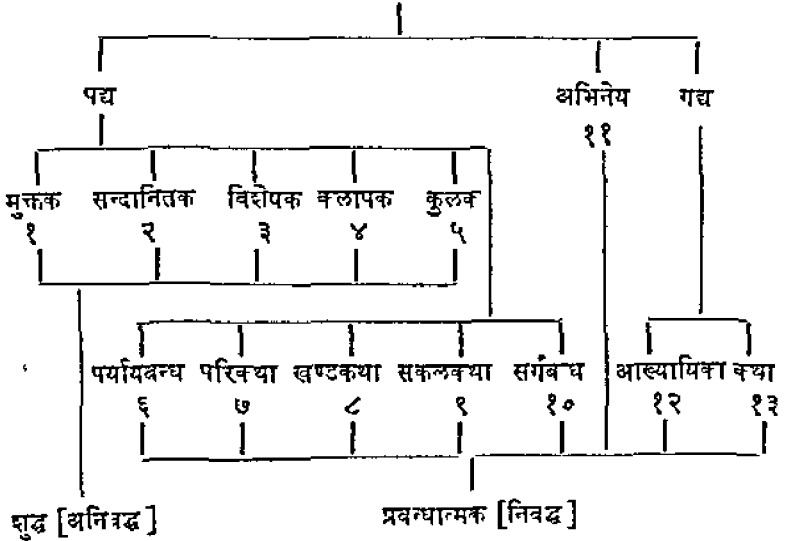
उक्त तालिका में सबसे अधिक महत्त्व की बात यह है कि काव्यभेदों के इतने अधिक नाम पहले पहले आनन्दवर्धन में ही मिलते हैं। दण्डी ने 'मुक्तक, कुलक, कोष, संघात, सर्गबन्ध, आख्यायिका, कथा, नाटक तथा चम्पू' का उल्लेख किया है[1]। भामह ने 'सर्गबन्ध, नाटक आदि, आख्यायिका, कथा तथा अनिबद्ध' इस प्रकार पांच ही भेदों तक काव्य को सीमित रखा[2]। दण्डी के समक्ष कथा-काव्य के कुछ अन्य भेद भी थे, किन्तु इनने उन्हें 'आख्यानजाति'[3] कहा और 'कथा' तथा 'आख्यायिका' में ही अन्तर्भूत माना। इनने इन अवान्तर भेदों का नामोल्लेख नही किया। वामन ने काव्य को 'गद्य' और 'पद्य' नामक दो भेदों में विभक्त कर पुनः 'सन्दर्भ' नामक एक भेद की चर्चा की है और उसको अनेक प्रकार का माना है, किन्तु उन सब प्रकारों में उल्लेख केवल एक ही प्रकार का किया है। यह प्रकार है 'दशरूपक' अर्थात् दस प्रकार के रूपक जो नाट्यशास्त्र में प्रसिद्ध है। स्पष्ट ही आनन्दवर्धन जितने काव्यभेदों का उल्लेख करते हैं उतने भेद उनके पूर्ववर्त्ती आचार्यों में नही मिलते। स्मरणीय है कि 'चम्पू' नामक भेद की गणना दण्डी के बाद आनन्दवर्धन तक नही मिलती।

नाटक :

उक्त सभी काव्यभेदों में आनन्दवर्धन ने नाटक[4] की चर्चा महाकाव्य[5] के ही समान अधिक मात्रा में की है। नाटक एक ऐसी काव्यविधा है जिसके स्वरूप

---

१. काव्यादर्श प्रथमपरिच्छेद

२. काव्यादर्श प्रथम परिच्छेद। हेमचन्द्र ने मुक्तक से कुलक तक के सभी भेदों के 'अनिबद्ध' वर्ग में गिनाया है, किन्तु उनने 'अनिबद्ध' को प्रबन्धकाव्य में भी गिना है।

३. काव्यादर्श

अत्रैवान्तर्भविष्यन्ति शेषाश्चाख्यानजातयः।
कन्याहरण-संग्राम-विप्रलम्भोदयादयः॥ (१।२८)

काव्य के कुछ भेदों का उल्लेख बाणभट्ट ने भी उनकी कादम्बरी में किया है, किन्तु वहां उक्त भेदों के नाम नहीं मिलते.

४. ध्वन्यालोक पृष्ठ ३२६, ३२८, ३३०, ३३२ आदि.

५. ध्वन्यालोक १।८,६, पृष्ठ ९३, ९७, ९८, २२२, २३३, ३१७, ३३३, ३३४, ३५१, ४०० आदि महाकवि के सन्दर्भ में।

के स्पष्टीकरण में परिभाषाओं और शास्त्रीय पदावलियों की भरमार मिलती है। आनन्दवर्धन ने भी ऐसी कुछ परिभाषाओं का उल्लेख किया है। ये निम्नलिखित हैं

१ सन्धि[1]
२ सन्ध्यङ्ग
३ नायक
४ प्रतिनायक (विपक्ष नाम से उल्लिखित)
५ नायिका

इनमें से सन्धि के पाँच भेद होते हैं :

१ मुख[2]
२ प्रतिमुख
३ गर्भ
४ अवमर्श या विमर्श
५ उपसहार या निर्वहण

आनन्दवर्धन ने इनका भी उल्लेख किया है।

सन्धि

सन्धि का व्यावहारिक अर्थ है जोड। किन्तु जोड किनका ? उत्तर अनेक है

१ कथांशों का परस्पर मे[3]
२ अवान्तर प्रयोजनो का मुख्य प्रयोजन के साथ[4] या
३ अवस्थाओ और अर्थप्रकृतियो का[5]।

---

१ ध्वन्यालोक ३।१२, नायक–१११, नायिका १०८,
२ ध्वन्यालोक पृष्ठ ३३६
३ यह मत अभिनवगुप्त का है द्र० लोचन ३३८ ध्व०
४ यह मत दशरूपककार का है—'अन्तरैकार्थसम्बन्ध सन्धिरेकान्वये सति।'
५ श्रीकृष्ण कवि ने अपने 'मन्दारमरन्दचम्पू' नामक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ में यही सिद्धान्त प्रस्तुत किया है

एकैकस्यास्त्ववस्थाया प्रकृत्या चैकयैकया।
योग सन्धिरिति ज्ञेयो नाट्यविद्याविशारदै ॥
मुख्यप्रयोजनवशात् तथाङ्गाना समन्वये।
अवान्तरार्थसम्बन्ध सधि सधानरूपत ॥

(नर्तनबिन्दु, ७ निर्णयसागर स० पृ० ६१)

उक्त स्थापनाओं में हम दो परिभाषाएँ भी पाते हैं एक है 'अवस्था' और दूसरी है 'अर्थप्रकृति'। जानना है कि ये क्या है ?

अवस्था :

भरतमुनि ने इसका स्वरूप बतलाया है और लिखा है 'नायक अपने लक्ष्य तक पहुँचने के लिए जो उपाय रचता है उसकी लक्ष्योन्मुखी स्थितियाँ ही अवस्था[१] है।' अभिनवगुप्त इस परिभाषा को स्वीकार करते और उद्धृत भी करते[२] हैं। धनञ्जय और विश्वनाथ[३] भी इसमें सहमत हैं।

इन सबने अवस्था को निम्नलिखित पांच वैज्ञानिक रूपों में देखा है :

१. आरम्भ : नायक का लक्ष्यलाभ के लिए संकल्प,[४]
२. यत्न : संकल्पित लक्ष्य के लाभ के लिए तीव्रतापूर्ण प्रयत्न,[५]
३. प्राप्त्याशा : प्रयत्न से ऐसी स्थिति में पहुँचना जिसमें लक्ष्यलाभ की आशा[६] बँधती हो, किन्तु उसमें लक्ष्यलाभ का निश्चय न हो।
४. नियताप्ति : लाभ का निश्चय[७] तथा
५. फलागम : फलप्राप्ति[८]

अवश्य ही ये नायक द्वारा किए गए उपाय की स्थितियाँ हो सकती हैं।[९]

अर्थप्रकृति :

भरतमुनि और दशरूपककार ने इसका स्वरूप नहीं बतलाया। फलतः इसके विषय में विवाद है। दशरूपक की टीका अवलोक के रचयिता अर्थ=प्रयो-

---

१. 'संसाध्ये फलयोगे तु व्यापारः कारणस्य यः,
तस्यानुपूर्व्या विज्ञेयाः पञ्चावस्थाः प्रयोक्तृभिः ॥ (ना० शा० २१।७)
२. ध्व० लोचन पृ० ३३७.
३. अवस्थाः पञ्च कार्यस्य प्रारब्धस्य फलार्थिभिः। (दशरूप, साहित्यदर्पण।)
४. औत्सुक्यमात्रमारम्भः फललाभाय भूयसे। दशरूपक
५. प्रयत्नस्तु तदप्राप्तौ व्यापारोऽतित्वरान्वितः। ,,
६. उपायापायशङ्काभ्यां प्राप्त्याशा प्राप्तिसंभवः। ,,
७. अपायाभावतः प्राप्तिर्नियताप्तिः सुनिश्चिता। ,,
८. समग्रफलनिष्पत्तिः फलयोगो यथोदितः। ,,
९. वैसे तो है ये नायक की मनस्थितियाँ, किन्तु भरतमुनि आदि नाट्याचार्यों ने उपायस्थिति ही बतलाया है।

जन, प्रकृति=उत्पत्तिस्थान इस व्युत्पत्ति के आधार पर इसे 'प्रयोजनसिद्धिहेतु' कहते हैं। साहित्यदर्पणकार भी उनका ही यह शब्द इसी रूप में अपना लेते हैं और अर्थप्रकृति का अर्थ 'प्रयोजनसिद्धिहेतु' ही करते हैं। अभिनवगुप्त 'अर्थ' शब्द का अर्थ प्रयोजन ही करते हैं किन्तु प्रकृति का अर्थ स्वभाव बतलाते और बीच में नायक को स्थान दे लिखते हैं 'अर्थे सपाद्ये कर्त्तु प्रकृतय स्वभावविशेषा' = 'अर्थ की निष्पत्ति में नायक आदि कर्त्ता का विशिष्ट स्वभाव' है अर्थप्रकृति।

प्रयोजन तो अर्थप्रकृति का एक अङ्ग है। यह तथ्य अर्थप्रकृतियो के निम्नलिखित भेदो और उनके नामों मे प्रमाणित है—

१	कार्य	प्रयोजन
२	बीज	प्रयोजन का तनिक सा उल्लेख जो आगे अनेक प्रकार से विस्तार पाता हो।
३	बिन्दु	अवान्तर घटनाओं में प्रयोजन का सन्धान कराये रखने वाला तत्त्व।
४	पताका	दूर तक चलने वाली अवान्तर कथा।
५	प्रकरी	अवान्तर कथा ही, जो दूर गामी न होकर, कही थोडी दूर चलकर समाप्त हो जाती हो।

उक्त भेदो में से एक भी भेद ऐसा नही है जिसका सम्बन्ध कर्त्ता या नायक आदि के स्वभाव से हो। उक्त सब अर्थ अवैज्ञानिक और अमान्य हैं।

हमारा मत

हमारे मत में अर्थप्रकृतिशब्द में अर्थ शब्द का अर्थ है कथावस्तु। नाट्यग्रन्थो में इसका प्रयोग कथावस्तु के अर्थ में दुर्लभ नही है[1]। प्रकृति का अर्थ है स्वभाव ही। नायक लक्ष्य के लिए जो उपाय रचता है उसमे उसको अनेक परिस्थितिओ से गुजरना पडता है। एक ओर नायक की उपायधारा बहती है और दूसरी ओर परिस्थितियो की। एक ही कथानक में ये दोनो धाराएँ समानान्तर चलती रहती हैं। ठीक भी है। द्वैत में कोई भी यात्रा ऐसी नही हो सकती जो किसी अन्य की यात्रा से न टकराए। मानव सामाजिक प्राणी है। उसे समाज के अन्य घटको की ओर देखना ही पडता है। इतना ही नही उसे प्रकृति के नित्यप्रवृत्त परिवर्त्तनचक्र पर भी ध्यान रखना होता है। समाज के अन्य घटक और प्रकृतिचक्र की यात्रा ही परिस्थिति है। प्रत्येक व्यक्ति की अपनी लक्ष्ययात्रा उसमे घिरी रहती है। ये परिस्थितियाँ कभी अनुकूल होती हैं और कभी प्रतिकूल। इन्ही परि-

१ अभिनवभारती अध्याय १९, पृ० १२

स्थितियों से कथा को जन्म मिलता है अतः इन्हें हम कथानामक अर्थ की प्रकृति = उत्पत्तिस्थान भी कह सकते है। उत्पन्न कथा में ये स्थितियाँ अंकित रहती हैं इस कारण इन्हें हम कथानामक अर्थ की प्रकृति यानी स्वभाव भी कह सकते है। फलतः अर्थप्रकृति वह तत्त्व है जो मञ्च पर नायक की लक्ष्योन्मुख उपाययोजना को घेरकर रखने वाली परिस्थितियाँ और नाटकरूप में लिखे काव्य में प्रतिफलित घटनाएँ इन दोनों में अनुस्यूत रहता है। इसी भूमिका पर आरूढ़ होकर हम एकबार सिंहावलोकन करें और पीछे प्रस्तुत अवस्थाओं पर भी ध्यान दें। अवस्थाएँ भी उपाययोजना से आगे बढ़कर उसके कर्ता नायक की मनस्स्थिति और चेष्टाओं तक व्याप्त हैं, 'आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति तथा फलागम' ऐसे ही शब्द हैं जिनमें नायकपरकता अधिक है। इस प्रकार अवस्था नायक की लक्ष्योन्मुख यात्रा के परिणाम का नायकगत प्रभाव है जबकि अर्थप्रकृति नायक की लक्ष्योन्मुख यात्रा में पड़ने वाली सामाजिक या प्राकृतिक घटनाएँ हैं जो मञ्चन (अभिनय) धर्म भी है और (अभिनेय) काव्यधर्म भी। नाटक के—

१. 'नायक
२. नायक द्वारा अपनायी उपाययोजना
३. सामाजिक और प्राकृतिक परिस्थिति, तथा उनका
४. अभिनेय काव्य में अंकन'

इन चार घटकों में अवस्था प्रथम दो तक आई घटना है तथा अर्थप्रकृति परवर्ती दो में प्रतिफलित घटना। इन दोनों का दाम्पत्य-योग या सन्धि ही वह बिन्दु है जिससे नाटककार को जन्म मिलता है। एक अर्थप्रकृति और एक अवस्था के योग से एक सन्धि का निर्माण होता है और पांच पांच अवयवों के दो वर्गों के परस्पर मिलन में पांच पांच सन्धियाँ रहती हैं। ये निम्नलिखित तालिका से प्रकट है—

	अवस्था	+	अर्थप्रकृति	=	सन्धिनाम
१.	आरम्भ	+	बीज	=	मुख
२.	यत्न	+	बिन्दु	=	प्रतिमुख
३.	प्राप्त्याशा	+	पताका	=	गर्भ
४.	नियताप्ति	+	प्रकरी	=	अवमर्श
५.	फलागम	+	कार्य	=	निर्वहण

इन अङ्गों के योग में भी आचार्यों की दृष्टि भिन्न है। अभिनवगुप्त अवस्थाओं को ही प्रधान मानते और मानते हैं कि अर्थप्रकृतियाँ इनमें ही जा मिलती

है,[1] जबकि धनञ्जय अर्थप्रकृतियों को महत्त्व देते और अवस्थाओं को अर्थप्रकृतियों में मिलती हुई चित्रित करते[2] हैं। जैसा कि हमने ऊपर चित्रण किया है उसके अनुसार अवस्थाओं का ही अर्थप्रकृतियों में मिलना स्वाभाविक है। नायक की लक्ष्य-यात्रा सामाजिक स्थितियों से गुजरती है। इस प्रकार नायक की लक्ष्ययात्रा यमुना है और सामाजिक स्थितियाँ गङ्गा। सामाजिक स्थितियाँ स्वयं प्रवृत्त हैं। लक्ष्य-यात्रा न होने पर भी वे होती रहती हैं। इस कारण धनञ्जय की मान्यता ही अधिक उपयुक्त है। वैसे लक्ष्ययात्रा की दृष्टि से विचार करने पर अर्थप्रकृतियाँ भी अवस्थाओं में मिलती मानी जा सकती हैं। तो ये हैं अवस्थाएँ और अर्थ-प्रकृतियाँ।

जहाँ तक सन्धि का सम्बन्ध है, इस विवेचन पर दृष्टि रख हम उक्त तीनों प्रकार के जोड को सन्धि मान सकते हैं—

१ कथांशों के जोड को
२ प्रयोजनों के जोड को और
३ अवस्था तथा अर्थप्रकृति के जोड को,

क्योंकि तीनों बातें परस्पर में अविरुद्ध हैं। स्पष्ट है कि अर्थप्रकृति और अवस्था के अन्तर्गत कथांश तथा प्रयोजन दोनों चले आते हैं। अच्छा होगा यदि अवस्था और अर्थप्रकृति के जोड को सन्धि माना जाए, क्योंकि उन्हीं की सन्धि कथा को जन्म देती है। किन्तु अवस्था और अर्थप्रकृति की सन्धि महा-सन्धि होगी जो एक होगी। उसे पाँच अंशों में विभक्त करना होगा और उसके लिए अवस्था और अर्थप्रकृति के अङ्गों की सन्धि को सन्धि मानना होगा। अङ्गों की सन्धि से एक एक कथांश तैयार होगा। अब पाँचों कथांशों में भी सन्धि माननी होगी। इन एक एक कथांशों में एक एक प्रयोजन भी रहेगा, अतः उन प्रयोजनों की भी परस्पर में सन्धि मानी जा सकेगी। इस प्रकार मुख्य सन्धि अवस्था और अर्थप्रकृति के अङ्गों की ही है। उनमें बनने वाले पाँच कथांशों की सन्धि मानें तो सन्धि की संख्या पाँच नहीं होगी, केवल चार ही रहेगी। अभिनवगुप्त को यह कठिनाई हुई भी,

---

१ ध्वन्यालोक लोचन पृ० ३३९ 'अर्थप्रकृतयोऽत्रैवान्तर्भूता'।

२ दशरूपक में धनञ्जय ने अर्थप्रकृतियों का निरूपण पहले किया और अवस्थाओं का बाद में। अन्त में लिखा—

> अर्थप्रकृतयः पञ्च पञ्चावस्थासमन्विताः।
> यथासंख्येन जायन्ते मुखाद्याः पञ्च सन्धयः ॥ १।१९ ॥

इसीलिए उनने सन्धि का अर्थ सन्धीयमान कर लिया, सन्धीयमान माने जिनकी सन्धि हो रही हो अर्थात् कथांश। वे पाँच ही हैं, किन्तु सन्धीयमान को सन्धि कहना वैसा ही है जैसा वर और वधू को विवाह कहना या धागों को गाँठ कहना। यह कोरी खींचतान है। निष्कर्ष में हमें यही मानना चाहिए कि **'अर्थप्रकृति और अवस्था के अङ्गों की सन्धि ही पाँच सन्धियाँ हैं'**। तो यह हुआ नाटकगत सन्धि-तत्त्व। इसके जो पाँच भेद हैं उनके लक्षण इस प्रकार हैं—

मुखसन्धि :

यत्र बीजसमुत्पत्तिर्नानार्थरससंभवा।
काव्ये शरीरानुगतं तन्मुखं परिकीर्त्तितम्॥ ना० शा० २१।३९

जहाँ नाना प्रकार के अर्थ (घटनाओं) और रसों को देनेवाली बीज की उत्पत्ति हो उसे मुख कहा जाता है, शरीर में मुख के समान।

प्रतिमुखसन्धि[1] :

बीजस्योद्‌घाटनं यत् तु दृष्टनष्टमिव क्वचित्।
मुखे न्यस्तस्य सर्वत्र तद् वै प्रतिमुखं भवेत्॥ ना० शा० २१।४०

प्रतिमुख मे मुख मे न्यस्त बीज का विद्युत्स्फुरण जैसा उद्‌घाटन होता है। (यहाँ 'प्रति' को प्रतिनिधि अर्थ मे स्वीकार करना चाहिए, क्योंकि

---

१. दशरूपककार ने सन्धियों के लक्षण इस प्रकार किए हैं—
मुख—'**मुखं बीजसमुत्पत्तिर्नानार्थरससंभवा**' = अनेक अर्थ और रस की उत्पत्ति-स्थान जो बीजोत्पत्ति वही है मुख।
प्रतिमुख—'**लक्ष्यालक्ष्यतयोद्‌भेदस्तस्य प्रतिमुखं भवेत्**' उस बीज का लक्ष्य और अलक्ष्य रूप से जो प्रकटन वह है प्रतिमुख।
गर्भ—'**गर्भस्तु दृष्टनष्टस्य बीजस्यान्वेषणं मुहुः**' दिखे और छिपे बीज का, बारम्बार अन्वेषण है गर्भ।
विमर्श—'**क्रोधेनावमृशेद् यत्र व्यसनाद् वा विलोभनात्।**
गर्भनिर्भिन्नबीजार्थः सोऽवमर्श इति स्मृतः॥' जहाँ क्रोध, व्यसन (आपत्ति) या प्रलोभन से नायक विचार करे और जहाँ गर्भसन्धि का बीज अधिक निर्भिन्न हो—प्रकट हो वह अवमर्श। स्मरणीय है कि आनन्दवर्धन ने अवमर्श शब्द का ही प्रयोग किया है।
—द्र० दशरूपक प्रथम प्रकाश

रत्नाकर आदि प्रतिबिम्ब के लिए प्रतिमुख शब्द का प्रयोग करते हैं। हरविजय महाकाव्य का 'आविष्कृतप्रतिमुख' शब्द इसमें प्रमाण है १।१)

गर्भसन्धि

उद्भेदस्तस्य बीजस्य प्राप्तिरप्राप्तिरेव च।
पुनश्चान्वेषण यत्र स गर्भ इति संज्ञित ॥ ना० शा० २१।४१

'गर्भ' (संधि) में बीज का प्रकाशन होता है, उसकी प्राप्ति भी बतलाई जाती है और अप्राप्ति भी, अत उसका अन्वेषण भी रहता है।'

अवमर्शसन्धि

गर्भनिर्भिन्नबीजार्थो विलोभनकृतोऽपि वा।
किञ्चिदाश्लेषसंयुक्तो विमर्श स इति स्मृत ॥ ना० शा० २१।४२ ॥

जहाँ गर्भ सन्धि में छिपा बीज प्रकट हो जाता है, जिसमें विलोभन रहता है अत जिसमें (लक्ष्य का) कुछ आश्लेष संभव रहता है वह है विमर्श (ऐसा ही कुछ अर्थ करना होगा इस कारिका का)।

निर्वहणसन्धि

समानञ्च समार्थानां मुख्यार्थाना सबीजिनाम्।
फलोपसङ्गताना च ज्ञेय निर्वहण तु तत् ॥ ना० शा० २१।४३ ॥

'पूरी तरह से निष्पन्न सबीज कथाओं का फलोपसङ्ग है निर्वहण।'

आनन्दवर्धन इस सन्धितत्त्व को केवल नाटक तक सीमित नहीं मानते। वे इसे कथामात्र का धर्म स्वीकार करते हैं। इसीलिए महाकाव्य में भी वे इसका अस्तित्व मानते हैं।

सन्ध्यङ्ग

उक्त पाँचो सन्धियो को भरत और धनञ्जय ने कुछ कुछ अङ्गो में विभक्त देखा है। इन अङ्गो की कुल संख्या ६४ है। निम्नलिखित तालिका से यह स्पष्ट है

	सन्धिनाम		अङ्गनाम		
१	मुख	१ उपक्षेप	२ परिकर	३ परिन्यास	
		४ विलोभन	५ युक्ति	६ प्राप्ति	
		७ समाधान	८ विधान	९ परिभावन	
		१० उद्भेद	११ करण	१२ भेद	१२

२.	प्रतिमुख :	१३. विलास	१४. परिसर्प	१५. विधूत	
		१६. तापन	१७. नर्म	१८. नर्मद्युति	
		१९. प्रशमन	२०. निरोध	२१. वज्र	
		२२. पुष्प	२३. उपन्यास	२४. वर्णसंहार	१२
३.	गर्भ :	२५. अभूताहरण	२६. मार्ग	२७. रूप	
		२८. उदाहरण	२९. क्रम	३०. संग्रह	
		३१. अनुमान	३२. प्रार्थना	३३. आक्षिप्त	
		३४. तोटक	३५. अधिबल	३६. उद्वेग	
		३७. विद्रव			१३
४.	अवमर्श :	३८. अपवाद	३९. सम्फेट	४०. विद्रव	
		४१. शक्ति	४२. व्यवसाय	४३. प्रसङ्ग	
		४४. द्युति	४५. खेद	४६. निषेधन	
		४७. विरोधन	४८. आदान	४९. छादन	
		५०. प्ररोचना			१३
५.	निर्वहण :	५१. सन्धि	५२. विरोध	५३. ग्रथन	
		५४. निर्णय	५५. परिभाषण	५६. द्युति	
		५७. प्रसाद	५८. आनन्द	५९. समय	
		६०. उपगूहन	६१. भाषण	६२. पूर्ववाक्य	
		६३. कार्यसंहार	६४. प्रशस्ति.[1]		१४
				महायोग—	६४

आनन्दवर्धन ने इन अङ्गों में से केवल दो अङ्गों का उल्लेख किया है (१) उपक्षेप तथा (२) विलास। प्रथम मुख सन्धि का प्रथम अङ्ग है और दूसरा प्रतिमुख का।

---

१. द्रष्टव्य दशरूपक का प्रथम प्रकाश। यह एक स्मरणीय तथ्य है कि उक्त अङ्गों में आचार्यों ने प्रत्येक सन्धि में कुछ को ही अनिवार्य माना है। यह भी स्मरणीय है कि ये अङ्ग जिस क्रम से यहाँ दिए गए हैं नाटकों में उसी क्रम से नहीं मिलते। वेणीसंहार में इनको आगे पीछे देखा जाता है। प्रत्येक का लक्षण दशरूपक से ही देख लेना चाहिए क्योंकि नाट्यशास्त्र से इसमें प्रायः अन्तर नहीं है।

उपक्षेप में काव्यार्थ को प्रस्तुत किया जाता[1] है। दशरूपककार ने इसे बीज-न्यास[2] कहा है। जैसे रत्नावली में मुख्य प्रयोजन उदयन को सिंहलद्वीप की कन्या रत्नावली की प्राप्ति है। उसका उपक्षेप नाटक का आरम्भ करते करते कवि नेपथ्य से यह कह कर कर देता है कि

द्वीपादन्यस्मादपि मध्यादपि जलनिधेर्दिशोऽप्यन्तात्।
आनीय झटिति घटयति विधिरभिमतमभिमुखीभूत ॥ (१।६)

"अभिमुख विधि अभिमत वस्तु को दूसरे द्वीप से भी और समुद्र के बीच से भी लाकर मिला देता है"।

रत्नावली का दूसरा नाम सागरिका भी है, क्योंकि वह आते समय सागर से प्राप्त हुयी थी। रत्नावली नाटिका का यह अंश मुखसन्धि का उपक्षेप नामक अङ्ग हुआ।

विलास में रति की इच्छा रहती है। वेणीसंहार के द्वितीय अङ्क का आरम्भ इसी अङ्ग से होता है। आनन्दवर्धन उसे महाभारत युद्ध में वीरो के नाश के सन्दर्भ में अनुचित बतलाते[3] हैं, मम्मट भी उनका हुँका भरते हैं। रत्नावली के द्वितीय अङ्क के आरम्भ में भी सागरिका को रतिलालसा लिए उपस्थित किया गया है। आनन्दवर्धन का कहना है कि सन्धि और सन्धियों के अङ्गों की योजना रस के अनुरूप हो तो की जानी चाहिए, अन्यथा नहीं।

जहाँ तक नायक और नायिका का सम्बन्ध है इनके लक्षण आनन्दवर्धन ने नहीं दिए हैं। सामान्यत नायक उसे कहा जाता है जो फलोपभोक्ता[4] हो जैसे रत्नावली में उदयन। यदि नायक शृङ्गार का हो तो उसमें अपेक्षित नायिका भी फलोपभोक्त्री होगी। वस्तुत नायक शब्द का अर्थ है वह पात्र जो सामाजिक को रसभूमिका मे आरूढ कर नाटक के आरम्भ से अन्त तक ले जाता है। नायक का

---

१ **काव्यार्थस्य समुत्पत्तिरुपक्षेप इति स्मृत** (नाट्यशास्त्र, २१।७१)

२ **बीजन्यास उपक्षेप** (दशरूपक)

३ हमें वेणीसंहार का द्वितीय अङ्क बिलकुल ठीक लगता है, क्योंकि उससे दुर्योधन का अविवेक और उसकी मूढता यानी उसके व्यक्तित्व की गर्हितता सामने आती है।

४ फलोपभोक्ता नायक = लोचन।

ही स्त्रीलिंग रूप है नायिका। नायिका भी सामाजिक को आकृष्ट किए रहती है आरम्भ से अन्त तक।

आनन्दवर्धन ने नायक को धीरादोत्त रूप में स्मरण किया है[१]। नायक को उत्तम प्रकृति का देखना उन्हें अधिक पसन्द है। वैसे उन्हें विदित है कि नायक मध्यम और अधम प्रकृति के भी होते हैं।[२] निश्चित ही धीरशान्त और धीरललित को मध्यम कोटि में रख कर वे धीरोद्धत को अधम कोटि में रखना चाहते हैं।

नाटक की अन्य दो विशेषताओं का भी वे उल्लेख करते हैं एक (१) नाटक के नायक का धीरोदात्त होना और (२) उसकी कथावस्तु का प्रख्यात होना।[3]

नाटक का रस शृङ्गार या वीर ही होता है। आनन्दवर्धन इसके विषय में अवहित हैं। वे नाटक ही नहीं, सारे अभिनेय काव्यों को रसप्रधान मानते हैं। और इसीलिए वे उसकी भाषा में दीर्घ समास को त्याज्य बतलाते[४] हैं। निश्चित ही उनकी दृष्टि वेणीसंहार और मालतीमाधव पर है।

यह है ध्वन्यालोक में आई काव्यभेदों से सम्बन्धित सामग्री।

●

१. ध्वन्यालोक पृष्ठ ३३१.
२. ध्वन्यालोक पृष्ठ ३३०–३.
३. ध्वन्यालोक पृष्ठ ३३१.
४. ध्वन्यालोक पृष्ठ ३३०.

काव्यप्रभेद

काव्यभेदनामक पिछले अनुच्छेद में हमने 'ध्वनि' और 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' की चर्चा सुनी। अब हम इनमें से एक-एक के आनन्दवर्धन द्वारा उपस्थित भेदों तथा उनके स्वरूपों का अध्ययन करेंगे और उनमे सम्बन्धित आनन्दवर्धन की ही अवान्तर सूचनाएँ सकलित करेंगे।

ज्ञातव्य

यहाँ यह पहले ही जान लेना आवश्यक है कि आचार्य आनन्दवर्धन प्रतीयमान अर्थ के लिए व्यङ्ग्य शब्द का भी प्रयोग करते है। ध्वनि मे वह अधिक चमत्कार लिए रहता है अत प्रधान होता फलत उसके आधार पर ध्वनि को ठीक वैसे ही 'प्रधानव्यङ्ग्य' नाम से भी पुकारा जा सकता है जिस प्रकार 'अप्रधान व्यङ्ग्य' काव्यभेद को यही 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' नाम से पुकारा गया है। इन दोनो में आए व्यङ्ग्य शब्द का अर्थ जान लेना यहाँ आवश्यक है। व्यङ्ग्य का अर्थ है व्यञ्जनानामक व्यापार से गम्य। आचार्य आनन्दवर्धन के अनुसार यह एक ऐसा व्यापार है जो शब्द मे भी ठीक वैसे ही रहता है जैसे अभिधा और अर्थ में भी रहता है। यह एक ऐसा व्यापार है जो अभिधा तथा लक्षणानामक शब्दव्यापारो से तथा मीमासासम्प्रदाय में मान्य तात्पर्यनामक अर्थव्यापार से भी भिन्न है। इन सभी व्यापारो का विवेचन हम 'शब्दव्यापार'-नामक अगले स्वतन्त्र अध्याय में करेंगे[1]। हम इस प्रकरण के आरम्भ में मन में केवल इतना सस्कार जमा लें कि—

---

१ यह विषय अति मनोवैज्ञानिक और अत्यन्त ही नीरस है अत इसे हम अन्त में देना ही उचित समझते है। स्वय आनन्दवर्धन ने भी इस पर ग्रन्थ के अन्त में ही विचार किया है। उन्होने अपना ध्वन्यालोक एक प्रकार से तृतीय उद्योत में ही समाप्त कर दिया था। चतुर्थ उद्योत में तो केवल कविशिक्षा प्रस्तुत की। शब्दवृत्तियो का विवेचन इस तृतीय उद्योत के अन्त में आया है।

१. 'ध्वनि' को 'व्यङ्ग्य' भी कहा जाता है और
२. उसका बोध अभिधा तथा लक्षणानामक प्रसिद्ध शब्दवृत्तियों से भिन्न एक तृतीय शब्दवृत्ति से होता है जिसे व्यञ्जना कहा जाता है। इसके अतिरिक्त—
३. ध्वनिनामक काव्यभेद में इसी व्यङ्ग्यनामक प्रतीयमान अर्थ के चमत्कार की मात्रा प्रधान रहती है।

अब इसके आगे हम ध्वनिभेदों का अध्ययन आरम्भ करेंगे। इसके पहले हमें 'ध्वनि' का स्वरूप या लक्षण समझ लेना चाहिए।

ध्वनिलक्षण :

'ध्वनि उस विशिष्ट काव्य की संज्ञा है जिसमें शब्द और वाच्य अर्थ की अपेक्षा प्रतीयमान अर्थ का चमत्कार अधिक हो[1]।'

ध्वनिभेद

आचार्य आनन्दवर्धन ने उक्त ध्वनि के मूलतः केवल दो भेद माने हैं। एक वह जिसमें वाच्य अर्थ का स्वरूप अंशतः अथवा सर्वात्मना बदल जाता है और दूसरा वह जिसमें वह यथावत् बना रहता है, जिनमें—

प्रथम को १. **अविवक्षितवाच्य ध्वनि** तथा
द्वितीय को २. **विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि**

कहा जाता है। यहाँ विवक्षित का अर्थ है 'जिसका प्रतिपादन उसके मूल रूप में ही करना अभीष्ट हो'। इस प्रकार 'अविवक्षितवाच्य' शब्द का अर्थ होगा 'अपने मूल रूप में प्रतिपाद्य नहीं है वाच्य अर्थ जिसमें ऐसा ध्वनितत्त्व'। इसी प्रकार द्वितीय का अर्थ होगा 'अपने मूल रूप में प्रतिपाद्य है वाच्य अर्थ जिसमें ऐसा ध्वनि-तत्त्व'। इस प्रकार इन दोनों शब्दों में बहुव्रीहि समास है और दोनों शब्दों का मुख्य अर्थ ध्वनि है।

यद्यपि यहाँ पहले 'विवक्षितान्यपर-वाच्य' का निरूपण करना चाहिए और तदभावात्मक 'अविवक्षितवाच्य' का उसके पश्चात्, किन्तु आचार्य आनन्दवर्धन ने ऐसा नहीं किया और पहले 'अविवक्षितवाच्य' का ही निरूपण किया। इसका कारण

१. यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः॥ (ध्व० १।१३)

है अविवक्षितवाच्य की अविस्तृतता। आगे आये निरूपण से स्पष्ट होगा कि 'विवक्षितान्यपरवाच्य' की अपेक्षा इस 'अविवक्षितवाच्य' के भेद बहुत कम हैं। भेद-संख्या कम होने से, पश्चात् प्राप्त होने पर भी इस भेद का निरूपण पहले कर देना प्रतिपादनसौकर्य की दृष्टि से अधिक उपयुक्त है। कडाही बनवाने वाला पहले ही क्यो न पहुँचा हो, उसे रोक दिया जाता है और बाद में भी पहुँचने पर सुई बनवाने वाले ग्राहक का कार्य उसके पहले निपटा दिया जाता है। ठीक भी है। सुई का कार्य कडाही की अपेक्षा छोटा जो होता है।

अविवक्षितवाच्य ध्वनि

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है अविवक्षितवाच्य ध्वनि में वाच्य का परिवर्तन होना है। यह परिवर्तन दो प्रकार का होता है—

१. आंशिक और
२ सर्वात्मना।

आंशिक परिवर्तन वाले प्रथम भेद में जो परिवर्तन होता है वह वाच्य अर्थ के स्वरूप में न होकर उसकी स्थिति में होता है। सामान्यत वाच्य अर्थ की स्थिति अन्य अर्थों के साथ उसके सम्बन्ध में पूर्णत सक्षम रहती है, किन्तु कहीं कहीं उसमें कुछ अक्षमता चली आती है, अत सम्बन्ध के लिए उसे किसी सहायक की आवश्यकता पडती है। यही है उसकी स्थिति में परिवर्तन। परिवर्तित स्थिति में यह वाच्य अर्थ अपने सहयोगियो के साथ खडा दिखाई देता है। वह अपनी पीठिका से उतरता और अपने सहयोगियो की पीठिका पर उसके साथ आरूढ दिखाई देता है। दूसरे शब्दो में वह एक स्थिति से दूसरी स्थिति में संक्रमण करता है। इसलिए आचार्य आनन्दवर्धन ने इसे 'अर्थान्तरसंक्रमित' कहा है और इससे युक्त ध्वनि को 'अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य' ध्वनि। 'अर्थान्तर'-शब्द का अर्थ हुआ 'दूसरा अर्थ' और 'संक्रमित' का अर्थ हुआ उसके पास पहुँचा हुआ। इस प्रकार पूरे शब्द का अर्थ हुआ ऐसा वाच्य अर्थ जो दूसरे अर्थ के पास पहुँचा हुआ हो। यह हुआ आंशिक परिवर्तन।

दूसरा जो सर्वात्मना परिवर्तन है उसमें वाच्य अर्थ के ही स्वरूप का परिवर्तन हो जाता है। दूसरे अर्थ से सम्बन्धित होते समय वाच्य अर्थ का अपना स्वरूप सर्वथा अनुपयुक्त ठहरता है इसलिए वह सर्वात्मना छूट जाता है और इस अनुपयुक्त स्वरूप के स्थान पर एक दूसरा ही स्वरूप उसको अपनाना होता है। उसको अपनाने से वाच्य अर्थ का सम्बन्ध दूसरो के साथ बन जाता है। विशेषता

यह रहती है कि दूसरे अर्थों के साथ सम्बन्ध जिस स्वरूप से होता है उस स्वरूप की प्रतीति के समय वाच्य अर्थ का प्रथम स्वरूप बिलकुल प्रतीत नहीं होता। वह छिप जाता है और बिलकुल छिप जाता है। इसलिए आचार्य ने इसे 'अत्यन्त-तिरस्कृत' कहा है। संस्कृत में 'तिरस्' अव्यय छिपने के लिए प्रयुक्त होता है, यहाँ तिरस्कृत का अर्थ तिरोहित है। उपेक्षा भी उसका अर्थ है और वह भी यहाँ अपनाया जा सकता है। तदनुसार यह मानना होगा कि इस परिवर्तन में वाच्य अर्थ के प्रथम स्वरूप की सर्वथा उपेक्षा कर दी जाती है इसलिए वह वाक्यार्थ की प्रतीति के समय बिलकुल प्रतीत नहीं होता, छिप जाता है। वस्तुतः यहाँ जो दूसरा अर्थ आता है वह लक्षणा नामक शब्दव्यापार से आता है, अतः वह वाच्य नहीं रहता। उसे लक्ष्य ही कहा जा सकता है। इस भेद को आचार्य आनन्दवर्धन ने 'अत्यन्त-तिरस्कृतवाच्य ध्वनि' नाम दिया है। इस प्रकार अविवक्षितवाच्य ध्वनि के मुख्य दो वर्ग होते हैं—

१. 'अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य'[1] तथा
२. 'अत्यन्ततिरस्कृत-वाच्य'

ये दोनों भेद कहीं केवल एक पद से प्रकाशित होते हैं और कहीं अनेक पदों से। अनेक पदों से प्रकाशित होने पर इन्हें वाक्य से प्रकाशित कह दिया जाता है और तब इनके नाम होते हैं—

१. पदप्रकाश्य तथा
२. वाक्यप्रकाश्य

अब हम उक्त दोनों भेदों में से एक एक की पदप्रकाश्यता तथा वाक्यप्रकाश्यता को उदाहरणों से समझेंगे।

अर्थान्तरसंक्रमित :

१. पदप्रकाश्य अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि :

[क] 'सीता से वियुक्त वनवासी राम की बरसात की उमड़-घुमड़ में उद्दीप्त चेतना सोचती है"—

स्निग्ध-श्यामलकान्तिलिप्तवियतो वेल्लद्बलाका घना
वाताः सीकरिणः पयोदसुहृदामानन्दकेकाः कलाः।

---

१. अविवक्षितवाच्यस्य ध्वनेर्वाच्यं द्विधा स्थितम्।
अर्थान्तरे संक्रमितमत्यन्तं वा तिरस्कृतम्॥ (१।२—ध्वन्यालोक)

काम सन्तु दृढ कठोरहृदयो रामोस्मि सर्वं सहे
वैदेही तु कथ भविष्यति हहा हा देवि ? धीरा भव ॥
"मैं तो ठहरा राम, मैं यह सब सह लूँगा,[1]
किन्तु, आह, वैदेही का क्या होगा।"

इस स्थल में जो 'राम'=शब्द है उस पर ध्यान दीजिए। सीता के सदर्भ में उसका जो एक प्रसिद्ध और सामान्य अर्थ है वह है 'महाराज दशरथ के ज्येष्ठ पुत्र'। किन्तु राम का राम होना तो स्वय ही सिद्ध है। उसे शब्द के द्वारा प्रतिपादित करना और वह भी स्वय राम के ही द्वारा निरर्थक प्रतीत होता है। तब श्रोता की ईक्षा चिन्तन की ओर प्रवृत्त होती है और सोचती है अवश्य ही यह शब्द किसी विशिष्ट भाव से कहा गया है और निश्चित ही वह भाव है राम की अपनी राज्यनिर्वासन आदि घटनाओं से सम्बद्ध। तब उसे समझ में आता है कि इस वाक्य में राम शब्द केवल दशरथ-ज्येष्ठपुत्रत्व तक नही, अपितु क्लेशसहिष्णुता और उसकी प्रसिद्धि तक व्याप्त है, उस अर्थ तक सक्रान्त है। इतना ही नही, इस अर्थ तक पहुँचने के पश्चात् श्रोता का चित्त अयोध्या से प्रस्रवणगिरि तक की यात्रा की बारीक से बारीक बातो तक पहुँचता और उसके करुण-मधुर पाश में आबद्ध हो तत् तद् अनुभूतियो, व्यथा और वेदनाओं में डूब जाता है। उसके चित्त की यह तन्मयतामयी स्थिति अनुभूति के दूध में जिस मधुमात्रा को निष्पन्न करती है अवश्य ही उसमें सातिशयता है, प्राधान्य है और इसीलिए इस पूरे वाक्य के अर्थ में ध्वनित्व है। किन्तु यह ध्वनित्व निर्भर है केवल 'राम'-पद के अर्थान्तरसक्रमण पर, अत इस ध्वनि को वाक्यार्थपरिव्याप्त होने पर भी कहा जाएगा पदध्वनि ही। तो यह हुई अविवक्षितवाच्य में वाच्य की पदप्रकाश्य अर्थान्तरसक्रमितता। आचार्य आनन्दवर्धन ने इसी को और भी कुछ उदाहरणो द्वारा स्पष्ट किया है। उन्हें भी सक्षेप में समझ लिया जाए।

[ख] वियुक्त राम आत्मग्लानि में निमग्न हैं और कह रहे हैं

प्रत्याख्यानरुष कृत समुचित क्रूरेण ते रक्षसा,
सोढ तच्च तथा त्वया कुलजनो धत्ते यथोच्चै शिर ।

---

१ वस्तुत इस पद्य में कठोरहृदय शब्द के आ जाने से ध्वनित्व ध्वस्त हो गया। वह तब होता है जब यहाँ उसका ज्ञान केवल रामशब्द से ही होता। अत हमने ऊपर आवश्यक अश ही अपनाया है।

व्यर्थं संप्रति बिभ्रतो धनुरिदं तद्व्यापदां साक्षिणा,
रामेण प्रियजीवितेन तु कृतं प्रेम्णः प्रिये नोचितम् ॥

"रावण ने सीता के साथ जो क्रूर व्यवहार किया वह उसके स्वभाव के अनुरूप ही था और सीता ने जो उसे धीरतापूर्वक सहा वह भी उस सती के अनुरूप ही है। इस प्रकार इन दोनों ने अपने अपने स्वभाव के अनुरूप कार्य किया। केवल **राम** को ही अपनी जान प्यारी रही और उसने अपने प्रणय के अनुरूप कुछ नही किया।"

इस वाक्यार्थ में भी राम शब्द से केवल 'दशरथज्येष्ठपुत्र' अर्थ नहीं निकलता, उसके साथ 'अप्रतिम साहस', 'सत्यप्रतिज्ञता', 'उचितकारित्व' आदि धर्म भी प्रतीत होते हैं। तदनुरूप कार्य न करने से यह पूरा वाक्य राम मे एक ग्लानि को व्यक्त करता है। यह भी रति, और वियोगकालीन रति की धरा पर आवृत है। उनका ही सौन्दर्यबोध यहाँ प्रधान है। अतः यह स्थल ध्वनिस्थल है। इस ध्वनि की अन्तिम भूमिका तक पाठक का चित्त 'राम'–पद के अर्थान्तरसंक्रमण से ही पहुँचता है, अतः इस ध्वनि को सहज ही अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य और पदप्रकाश्य कहा जा सकता है।

[ग] राम ही नही रावण भी हमें इस ध्वनि के समझने में सहायता दे रहा है। वह भी कहता है :

न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयस्तत्राप्यसौ तापसः,
सोऽप्यत्रैव निहन्ति राक्षसकुलं जीवत्यहो रावणः ॥

"पहले तो यही मेरा घोर अपमान है कि मेरे भी शत्रु है, और उस पर भी यह क्षुद्र तापस–राम। और वह भी यही के यहीं झुण्ड के झुण्ड राक्षसों को मारता जा रहा है और रावण होते हुए भी मैं जीवित हूँ"।

यहाँ भी रावण शब्द रावण के ही मुँह से कहा जा रहा है, अतः व्यर्थ सिद्ध होता और उसके लोकोत्तर कार्यों की ओर चित्त को घुमाता है। उन सबके ज्ञान से रावण के चित्त की ग्लानि यहाँ प्रधान रूप से व्यक्त होती और उसी का चमत्कार प्रधान रहता है। फलतः यहाँ भी ध्वनित्व है और क्योंकि उसकी प्रतीति अर्थान्तर में संक्रान्त रावणपद से होती है इसलिए वह पदप्रकाश्य अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य है।

[घ] सुवर्णपुष्पां पृथिवीं चिन्वन्ति पुरुषास्त्रय. ।
शूरश्च कृतविद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम् ॥

पृथिवी तीन पुरुषो के लिए सोने के फूल फूलती है। शूर के लिए, विद्वान् के लिए और सेवानिपुण के लिए[1]।

इन स्थलो में सुवर्णशब्द सम्पत्ति के लिए प्रयुक्त है। पूरे वाक्यार्थ से शूर आदि तीनो की प्रशस्ति व्यक्त होती है। उसीका चमत्कार यहाँ प्रधान है। अत यह स्थल ध्वनि का स्थल है और वह भी 'सुवर्ण'-शब्द से अधिक बल मिल रहा है अत अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य तथा पदप्रकाश्य है।

ये तो हुए एक-एक बार प्रयुक्त हुए एक-एक शब्द के उदाहरण। अब ऐसे उदाहरण लीजिए जिनमें एक ही शब्द दो बार प्रयुक्त होता है। यथा—

[ङ] तदा जायन्ते गुणा यदा ते सहृदयैर्गृह्यन्ते।
रविकिरणानुगृहीतानि भवन्ति कमलानि कमलानि॥

गुण तब माने जाते हैं जब वे सहृदयजनो के द्वारा प्रशसित होते हैं। कमल तब कमल बनते हैं जब वे रविकिरणो से अनुगृहीत होते हैं[2]।

[च] एवमेव जनस्तस्या कपोलोपमाया ददाति शशिबिम्बम्।
परमार्थविचारे पुनश्चन्द्रश्चन्द्र इव वराक॥

लोग चन्द्र से उस सुन्दरी के कपोलो की उपमा ऐसे ही दिया करते हैं, वास्तविकता यह है कि बेचारा चन्द्र तो चन्द्र ही है[3]।

इन स्थलों में जो द्वितीय कमल और द्वितीय चन्द्र शब्द हैं उनके वाच्य अर्थ तो केवल कमलत्व और चन्द्रत्व ही है। कोषो में ये इन्ही के लिए प्रसिद्ध हैं। 'चन्द्र के समान मुख' और 'कमल के समान मुख' इन वाक्यो में चन्द्र और कमल-शब्दों से ये ही दोनो धर्म प्रतीत होते हैं। इनसे अधिक कुछ नही। किन्तु यहाँ उक्त दोनो स्थलो में ये दोनो धर्म तो प्रथम कमल और प्रथम चन्द्रशब्द से ही प्रतीत हो जाते हैं। यदि इनसे अधिक कुछ प्रतिपाद्य नही है तो यहाँ द्वितीय बार इन शब्दो के प्रयोग की आवश्यकता ही क्या है। प्रथम शब्द का अर्थ उद्देश्य है और द्वितीय का विधेय। उद्देश्यता और विधेयता जिन धर्मो से निष्पन्न होती है वे परस्पर में भिन्न होते हैं। यहाँ भी द्वितीय शब्दों से जो विधेयता भासित हो रही है उसका नियामक धर्म अवश्य ही भिन्न होना चाहिए। वह धर्म क्या हो सकता

१ ध्व० पृ० १३७
२ ध्व० पृ० १७०
३ ध्व० पृ० २९३

है ? आनन्दवर्धन इस प्रश्न पर मितभाषी है, अतः वे हमारी सहायता नहीं कर पाते। अन्य आचार्यो ने अनेक विकल्प प्रस्तुत किए है।[1] हमारी दृष्टि में यहां कमल मे वह धर्म है विकचता और चन्द्र में हीनता। विकचता के कारण कमल मे शोभातिशय का संकेत मिलता है और हीनता के कारण चन्द्र में उपमान बनने की अयोग्यता का। यह तो हुई द्वितीय कमल और द्वितीय चन्द्र की बात। उक्त धर्मो के कारण इनमे जो विशेपताओं का संकेत मिलता है वह तो मिलता ही है, इनके अतिरिक्त मुख्य वर्णनीय वस्तु में भी कुछ विशेपताओं की प्रतीत होती है। गुणों मे सहृदयजनश्लाघ्यता के अभाव में अगुणत्व प्रतीत होता है और चन्द्र के तिरस्कार मे मुख मे चन्द्र की अपेक्षा उत्कृष्टता। इसके पश्चात् सहृदय और नायिका की प्रशसा, फिर उनके प्रति वक्ता के हृदय की भक्ति और ऐसे ही अनेक भावों के संकेत मिलते चलते है और पाठक का चित्त इसी धारा में निमग्न हो जाता है। इस प्रकार यहां जो प्रतीयमान अर्थ की आनन्दमात्रा है उसी में आधिक्य भासित होता है और उसी मे प्राधान्य। फलतः यहां दोनों ही स्थलों में ध्वनित्व है और यह ध्वनित्व कमल तथा चन्द्रशब्द के अर्थान्तरसंक्रमण से निष्पन्न हो रहा है, अत. इसे पदप्रकाश्य भी कहा जाएगा।

वाक्यप्रकाश्य अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि :

यही अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि जहां अनेक पदों से प्रकाशित होती है वहां इसे वाक्यप्रकाश्य कहा जाता है, जैसा कि हम पहले भी लिख चुके है। इसका एक उदाहरण—

> "समय जो है, वह किसी के लिए विप वन जाता है, किसी के लिए अमृत, किसी के लिए विप और अमृत दोनों और किसी के लिए न विप और न अमृत[2]।"

यहां पूरे वक्तव्य में विप और अमृत शब्द आरम्भ से अन्त तक दोहराये जा रहे है। इनका मुख्य अर्थ यहां लागू नही होता। विप का मुख्य अर्थ है मारक

---

१. काव्यप्रकाश की टीका प्रदीप और उसकी टीका प्रभा में विचार करते हुए कहा गया है कि यहां द्वितीय कमलशब्द सौरभादियुक्त कमल का प्रतिपादक है और उससे प्रथम कमल में कमलत्वाभाव की ध्वनि होती है। 'चन्द्र चन्द्र ही है' में प्रभा की यह स्थापना लागू नही होती।

२. विपमयितः केपामपि केपामपि प्रयात्यमृतनिर्माणः।
केपामपि विपामृतमयः केपामप्यविपामृतः कालः॥ (ध्व० पृ० २९४)

द्रव्य और अमृत का मुख्य अर्थ है प्राणप्रद द्रव्य। समय न किसी की जान लेता, न किसी मृत में प्राणो का आधान करता। इस प्रकार समयरूपी अर्थ के साथ विष के विषत्व और अमृत के अमृतत्व का अपने मुख्य रूप से सम्बन्ध नही बनता। फलत दोनो शब्द अपने इन अर्थों को लिये लिये उन अर्थों की खोज में आगे बढते हैं जिनके आधार पर सम्बन्ध बैठ सके। वे अर्थ हैं दु खमयत्व और सुखमयत्व। इन अर्थो से सम्बन्ध बन जाता है। विष का अर्थ हुआ दु खमय और अमृत का अर्थ हुआ सुखमय पदार्थ। समय में ये दोनो ही विशेषताएँ हैं। वह दु खमय भी होता है और सुखमय भी। आनन्दवर्धन के अनुसार यहाँ विष और अमृत शब्द से प्रतीत हो रहे दु खमयत्व और सुखमयत्व के साथ विषत्व और अमृत्व का ज्ञान भी होता है,[1] अत उक्त वक्तव्य में आए अनेक विष और अमृत शब्दो को अर्थान्तर-सक्रमितार्थक माना जायेगा और इस अर्थविस्तार से प्रतीत होगी समयगत विषमता। वही यहा मुख्य प्रतिपाद्य है। उसका बोध जिस आनन्दमात्रा को अर्पित करता है वही यहाँ प्रधान है। उसी विषमता से इस वाक्य के वक्ता की वेदना श्रोता या पाठक के चित्त में अङ्कित हो जाती है। इसलिए यह स्थल ध्वनि का स्थल है और क्योंकि यह ध्वनि यहाँ अनेक पदो से निकलने वाले अर्थों के सक्रमण से जनित है अत इसे *वाक्यप्रकाश्य अर्थान्तरसक्रमितवाच्य ध्वनि माना जाएगा।*

इस प्रकार हमने देखा कि अर्थान्तरसक्रमितवाच्य ध्वनि पद से भी प्रकाशित होती है और वाक्य से भी। अब हम अविवक्षितवाच्य वर्ग के द्वितीय भेद अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य की ओर बढते है।

पदप्रकाश्य अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि

[क] शिशिर का तुषारावृत चन्द्रबिम्ब श्वास से अन्धे दर्पण के समान निष्प्रकाश बना हुआ है[2]।

[ख] प्रावृट् की निशाएँ सुहावनी ही हैं यद्यपि उनके चन्द्रमण्डल का अहङ्कार निश्शेष हो चुका है[3]।

[ग] बरसा में मेघ मत्त होकर आकाश मे उमडते आ रहे हैं[4]।

---

१ वस्तुत यहाँ सुखदु खमयत्व के ज्ञान में अमृतत्व और विषत्व का बोध होता है नही। अत इसे अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य कहना अधिक उपयुक्त होगा।

२ निश्श्वासान्ध इवादर्शश्चन्द्रमा न प्रकाशते। (ध्व० पृ० १७२)

३ निरहङ्कारमृगाङ्का हरन्ति नीला अपि निशा। (ध्व० पृ० १७३)

४ 'गगन च मत्तमेघ धारालुलितार्जुनानि च वनानि' (निरहङ्कारमृ० का पूर्वार्ध)

[घ] शूर, विद्वान् और सेवाचतुर के लिए पृथिवी सोना फूलती है[१]।
[ङ] धृति, क्षमा, दया, शौच, कारुण्य, अनिष्ठुरा वाणी और मित्रों से द्रोह न करना ये सात श्री की समिधाएँ हैं[२]।
[च] हे मेघ, तुम जब सन्नद्ध हो जाओ तब ऐसा कौन हो सकता है जो विरहविधुर प्रिया की उपेक्षा करे[३]।
[छ] मधुर आकृति पर क्या नहीं[४] फबता ?
[ज] पृथिवी का यौवन ढल चुका है[५]।

इन स्थलों के अन्धे आदि स्थूल पदों पर ध्यान दीजिए। ये सभी पद ऐसे है जिनसे प्रतीत होने वाले प्रथम अर्थ उनके साथी अन्य पदार्थो से सम्बन्धित नहीं हो पाते। सम्बन्धसिद्धि के लिए दूसरे ही अर्थो को वहाँ लाना पड़ता है। एक एक स्थल लीजिए और विचार कीजिए—

[क] 'अन्ध'-शब्द नष्टदृष्टि नेत्र का वाचक है। इससे ऐसे नेत्र का बोध होता है जिसमें देखने की शक्ति शेष न रही हो, नष्ट हो गई हो। ऐसा नेत्र किसी भी वस्तु का बिम्ब ग्रहण नहीं कर पाता। किन्तु इस 'अन्ध'-शब्द जा प्रयोग यहाँ किया गया है दर्पण के लिए। दर्पण नेत्र नही कि उसमें दृष्टिनाश की कल्पना की जा सके, अतः अन्ध शब्द से निकल रहे इस दृष्टिनाश रूपी अर्थ को यहाँ छोड़ना पड़ता है और उससे संबद्ध बिम्बग्राहिता के अभाव को दृष्टि में रख अन्धशब्द का अर्थ करना होता है अन्धसदृश। दर्पण अन्ध-सदृश तो हो ही सकता है। जिस प्रकार अन्धी आँख वस्तुबिम्ब ग्रहण नही कर पाती उसी प्रकार निश्वास से कलुषित दर्पण भी उसे ग्रहण नही कर पाता। इस प्रकार बिम्बग्राहिता के अभाव में

---

१. पृष्ठ १४८ पर उद्धृत 'सुवर्णपुष्पाम्०' पद्य

२. धृतिः क्षमा दया शौचं कारुण्यं वागनिष्ठुरा।
मित्राणां चानभिद्रोहः सप्तैताः समिधः श्रियः॥

३. 'कः सन्नद्धे विरहविधुरां त्वय्युपेक्षेत जायाम्' मेघदूत।
(दोनों पद्य ध्वन्यालोक पृ० २८९ में गृहीत)

४. किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्—शाकुन्तल, ध्व० पृ० २८९

५. अतिक्रान्तसुखाः कालाः प्रत्युपस्थितदारुणाः।
श्वः श्वः पापीयदिवसाः पृथिवी गतयौवना॥ ध्व० पृ० ३५०

दर्पण और नेत्र दोनो समान हैं, दोनो एक हैं। यहाँ अन्धसदृश वस्तु को हम लक्षणानामक शब्दवृत्ति से पा रहे हैं और बिम्बग्राहिता के अभाव को व्यञ्जना वृत्ति से। इन दोनो वृत्तियो का निरूपण आगे किया जाएगा। बिम्बग्रहणाभाव तक पहुँचने पर हमारा कल्पनाकेन्द्र प्रबल रूप से सक्रिय हो जाता और दर्पण तथा उसके उपमेय चन्द्र के प्रति अनेक भावप्रतिमाएँ गढने लगता है। न केवल इन्ही के विषय में, वह इस उक्ति के वक्ता की परिस्थिति का सोपान-पथ अपना, और भी किसी भूमिका पर जा पहुँचता है और उसके सुख-दुःख की वेदना में स्वय भी डूबने लगता है। यह भावधारा कहाँ से आरम्भ हो रही है ? निश्चित ही यह अन्धशब्द के प्रयोग से उदय पा रही है। और यह अन्धशब्द ऐसा शब्द है जिसका दृष्टिनाशरूपी प्रथम अर्थ उस समय बिलकुल ही हट जाता है जिस समय अन्धसदृश अर्थ का बोध होता है, क्योकि उस अर्थ मे धर्म-रूप से भासित होते है बिम्बग्रहणाभाव आदि अन्य धर्म। इस प्रकार यह शब्द अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य शब्द हुआ और इससे प्रतीत होने वाली प्रतीयमान-धारा तन्मूलक। और, क्योकि चमत्कार इसी धारा में है, इसलिए यह स्थल ध्वनिस्थल हुआ। इसे पदप्रकाश्य अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि कहना उचित है।

[ख] 'अहङ्कार'-शब्द भी ऐसा ही शब्द है। उसका मुख्य अर्थ है 'मनो-वृत्ति'-विशेष। वह चेतन मे ही सभव है जिसमें मन हो। यहाँ जिसमें अहङ्कार बतलाया जा रहा है वह है चन्द्र। चन्द्र अचेतन है। उसमें मन का अस्तित्व सभव नही, अत गर्वरूपी अहङ्कारात्मक वृत्ति भी सभव नही। इस प्रकार यहाँ गर्व और चन्द्र का सम्बन्ध बन नही पा रहा है। इसलिए अहङ्कार-शब्द का दूसरा ही कोई *अर्थ अपनाना होता है। वह अर्थ है अहङ्कारजनित वैभवप्रदर्शन।* जिस प्रकार अहङ्कारी व्यक्ति अपना वैभव दिखलाता और प्रदर्शन करता है उसी प्रकार चन्द्रमा भी अपना प्रकाशवैभव बिखेरता रहा, उसका प्रदर्शन करता रहा। बरसात आ जाने से उसका वह वैभवप्रदर्शन बन्द हो गया, क्योकि अब उसकी प्रकाशलक्ष्मी लुप्त हो गई, छिप गई, दब गई, आँखो से ओझल हो गई। इस प्रकार यहाँ अहङ्कार का अर्थ करना पडता है अहङ्कारजैसा और अहङ्कारी तथा चन्द्र के सादृश्य की सिद्धि के लिए लाना होता है

वैभवप्रदर्शन आदि धर्मों को। जब अहङ्कारीतुल्य अर्थ का बोध होता है तब अहङ्कार का तनिक भी बोध नहीं रहता। इसलिए उसको अत्यन्ततिरस्कृत मानना होता है। ऐसी उक्ति से चन्द्र की निरतिशय विच्छायता और स्थितिवैषम्य का जो प्रतीयमान अर्थ के रूप में बोध होता है उसी के आनन्द मे बोद्धा को विश्रान्ति-लाभ मिलता है और उसी का आनन्द मात्रा में अधिक रहता है, अतः उसी प्रतीयमान अर्थ को यहाँ प्रधान मानना होता है। फलतः यह स्थल ध्वनि का स्थल सिद्ध होता है। इस प्रकार यह स्थल भी पदप्रकाश्य अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि का स्थल सिद्ध होता है।

[ग] 'मत्त'-शब्द का अर्थ होता है नशे में डूबा। नशा आसवपान पर निर्भर है। वह चेतन ही कर सकता है। मेघ चेतन नहीं है, अतः उसके साथ मत्तशब्द के वास्तविक अर्थ का सम्बन्ध बनता नहीं, फलतः उसे बदलना पड़ता है और मत्त का अर्थ करना पड़ता है मत्तसदृश। मेघ मत्त-जैसा किस बात में है इस जिज्ञासा पर उत्तर मिलता है 'दुर्निवार' होने और 'विविध शरीरचेष्टा' दिखलाने में। प्रतीत होता है कि जैसे मत्त व्यक्ति कहीं भी दौड़ता और कैसी भी चपल चेष्टा दिखलाता रहता है उसी प्रकार मेघ भी आकाश में कही भी दौड़ रहे है और जैसा चाहे वैसा रूप दिखला रहे है। अब हमारा समाधान हो जाता है, वाक्यार्थ बैठ जाता है और मेघ मे मत्तता का सम्बन्ध बन जाता है। किन्तु ध्यान देने की बात है कि मेघ के साथ मत्तशब्द का जो अर्थ अन्वित होता है उसमे नशारूपी अर्थ तनिक भी भासित नही होता, अतः वह अत्यन्त-तिरस्कृत है, और क्योंकि जो जो अर्थ बाद में भासित होते रहते है उन्ही मे चमत्कार अधिक रहता है अतः यह ध्वनि स्थल है। ये सभी अर्थ मत्तशब्द के प्रयोग से हमें प्रतीत हो रहे है, अतः यह ध्वनि अवश्य ही पदप्रकाश्य है। फलतः इस स्थल में अवश्य ही पदप्रकाश्य अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि है।

[घ] 'फूलना'-धर्म पुष्प का है और पुष्प धर्म है लता का। यहाँ फूलना बतलाया जा रहा है पृथ्वी में, और वह भी 'सुवर्ण' का। इस प्रकार फूलना एक ऐसी क्रिया है जिसमे न तो सुवर्ण कर्म बन पाता और न पृथ्वी कर्ता। अतः उसका अर्थ बदलना पड़ता है। उसका अर्थ करना पड़ता है—'आविष्कृत करना'। तब प्रतीत होता है कि

जिस प्रकार लता पुष्पो को आविष्कृत कर, उन्हे अनायास प्रकट कर, प्रसन्नता के साथ किसी को उनका उपहार अर्पित करने हेतु उनसे लद जाती है और वह अपनी पुष्प-सपत्ति को सर्वसुलभ बना देती है उसी प्रकार पृथ्वी भी शूर आदि व्यक्तियो के लिए सुवर्ण से लद जाती है और उसे अपने कण कण से प्रकट कर इन सबके लिए प्रभूतमात्रा मे बिना प्रयास किए सुलभ बना देती है। यह सब है यहा प्रतीयमान-सपत्ति। इसी में यहाँ प्रधान चमत्कार है। इस कारण यह स्थल ध्वनि का स्थल है। इस अर्थ-परम्परा का बोध यहाँ 'फूलना'-पद से होता है और इस पद का अपना मूल अर्थ द्वितीय अर्थ की प्रतीति के समय सर्वथा हटा हुआ रहता है, अत यह पद अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य पद है, और इसीलिए यह ध्वनि भी पदप्रकाश्य अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि है।

[ङ] 'समिधा'-शब्द का मुख्य अर्थ है यज्ञोपयोगी अर्थात् यज्ञाग्नि में अर्पणीय काष्ठ। धृति आदि सातो धर्मों के साथ उक्त वाक्य में अभेद बतलाया जा रहा है। वह बन नही पा रहा। अत यहाँ समिधा का अर्थ करना होता है प्रवर्धक द्रव्य। जैसे समिधा अग्नि का प्रवर्धक द्रव्य है वैसे ही धृति आदि श्री के प्रवर्धक है। इस प्रकार अर्थान्तर करने पर समिधा का धृति आदि के साथ अभेद बन जाता है और कोई अनुपपत्ति नही रह जाती। किन्तु इस अर्थान्तर के भान के समय प्रथम समिधारूपी अर्थ भासित नही होता, अत वह अत्यन्त तिरस्कृत है। जब सामान्य वाक्यार्थ निष्पन्न हो जाता है तब जो यह प्रतीत होता है कि धृति आदि श्री की वृद्धि अत्यधिक मात्रा में उसी प्रकार करते है जिस प्रकार समिधा अग्नि की, हमारा चित्त प्रसन्न हो जाता है और हम इस वाक्य को सुभाषित के रूप में हृदय में बिठाए रहते है। यही अर्थ हमारे आनन्द का मुख्य केन्द्र बन जाता है, अत यह वाक्य ध्वनिवाक्य ठहरता है। क्योकि इस अर्थ की प्रतीति यहाँ उक्त समिधाशब्द से हो रही है जिसका वाच्य अर्थ अत्यन्त तिरस्कृत है, अत इस ध्वनि को हम पदप्रकाश्य अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि कह सकते है।

[च] 'सन्नद्ध'-शब्द का संस्कृतभाषा में अर्थ होता है 'कवचधारी'[1]।

---

१ सन्नद्धो वर्मित —अमरकोश

कवचधारी हुआ करता है योद्धा। मेघ कोई योद्धा नहीं, कि उन्हे कवचधारी कहा जा सके। अतः यहाँ सन्नद्ध शब्द का अर्थ होता है 'उद्यत'। जैसे कवचधारी युद्ध के लिए उद्यत रहता है वैसे ही मेघ भी आकाश में पूरी तरह से उद्यत है। इस अर्थ में कवच-धारित्व भासित नही होता। वह बिलकुल छूट जाता है। अतः यह शब्द अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य पद है। इसमे मेघ में जो सैनिक की समता का भान होता है और उससे उसका जो एक प्रभावोत्पादक तथा वर्चस्वी रूप सामने आता है उससे उसके पाठक की चेतना अभिभूत हो जाती है और उनके अतिशय की रेखा उसके हृदय में प्रमुख रूप से उभर उठती है। फलतः इसी प्रतीयमान अर्थ में पाठक का चित्त निमग्न हो जाता है और वह सन्नद्धशब्द के आरम्भिक अर्थ की ओर लौटता नही। इस प्रकार यही अर्थ प्रधान बन जाता है और इसलिए इस वाक्य को हम ध्वनिवाक्य मान लेते है। क्योंकि यह ध्वनि उक्त सन्नद्धशब्द से अधिक बल पाती है, अतः इसे पदप्रकाश्य अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य कहा ही जा सकता है।

[छ] 'मधुरता'-रूपी धर्म सिता शर्करा आदि का धर्म है, आकृति का नही। अत आकृति के साथ उसका सम्बन्ध नही बनता। तदर्थ हमें मधुरता को किसी अन्य रूप में देखना पड़ता है। वह रूप है प्रियता। जैसे मिश्री या शकर मधुर होने से प्रिय होती है वैसे ही शकुन्तला की आकृति भी दुष्यन्त को प्रिय है। इस प्रियतारूपी अर्थ के ज्ञान के समय हमें मिठासरूपी अर्थ का ज्ञान तनिक भी नही होता, अत. वह अत्यन्ततिरस्कृत है। प्रियतारूपी अर्थ के बोध के बाद हमें जो अपने भीतर शकुन्तला की आकृति की अनेक मीठी रेखाएँ उभरती प्रतीत होती है वह यहाँ प्रतीयमान-विभूति है, और हमारे आनन्दोत्कर्ष के लिए वही यहाँ प्रमुख है। इसलिए यह स्थल ध्वनिस्थल है। इस प्रतीयमानार्थसन्तान का बोध उक्त मधुरशब्द से ही हो रहा है जिसका वाच्य अर्थ अत्यन्त तिरस्कृत है। अतः यह ध्वनि अवश्य ही पदप्रकाश्य अत्यन्ततिरस्कृत ध्वनि है। इसी प्रकार—

[ज] 'यौवन का ढलाव' भी किसी चेतन में ही सम्भव है, जड़ पृथिवी में नही। पृथिवी में यह और कुछ नही उपभोगपात्रता की शून्यता है। जैसे वृद्धा नारी उपभोगपात्र नहीं रह जाती, वैसे ही पृथिवी भी उपभोगयोग्य नही रह गयी। इस अर्थ के प्रतीत होने पर यौवन

> के ढलाव का जो वास्तविक अर्थ है 'स्तन आदि अङ्गों की शिथिलता' वह सर्वथा छूट जाता है और पाठक की चेतना अनेक कल्पनाओं में जा डूबती है। यह निमग्नता ही यहाँ प्रमुख प्रतीत होती है। इसलिए यहाँ प्रतीयमान अर्थ ही प्रधान रहता और यह स्थल ध्वनि का स्थल सिद्ध होता है। क्योंकि इस प्रतीयमानवैभव का लाभ यहाँ 'यौवन का ढलाव' या 'गतयौवन' शब्द से हो रहा है, अतः यह ध्वनि पदप्रकाश्य अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि ही है।

उक्त सभी स्थलों में हमने अनेक प्रकार की परिस्थितियों में प्रयुक्त पद के प्रथम अर्थ का आत्यन्तिक तिरस्कार पाया और पाया उससे सम्बद्ध दूसरे किसी प्रकृतोपयोगी अर्थ का परिग्रह। इस प्रक्रिया में हमने यह भी पाया कि उक्त सभी स्थलों में अनेक प्रकार की भावधाराएँ हमारे मानस को स्निग्ध बना रही थीं और हमें उनमें निमग्न रहने में किसी प्रियता का अनुभव हो रहा था। उक्त स्थलों में हमने यह भी अनुभव किया कि प्रतीयमान अर्थ की यह सम्पूर्ण धारा किसी एक शब्द पर मुख्य रूप से टिकी है। उस भाव के गोवर्धन के लिए कोई एक ही शब्द श्रीकृष्ण बना हुआ है और अन्य शब्द उसकी क्षीण सहायता में गोपालबाल का कार्य कर रहे हैं। यह भी शब्द ऐसा शब्द था जिसका मुख्य, प्रथम और वाच्य अर्थ सर्वथा छूट रहा था। निश्चित ही इन स्थलों की ध्वनिता एक एक पद के विलक्षण प्रयोग का सुफल है, अतः यहाँ ध्वनि अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य तो है, किन्तु केवल पदप्रकाश्य है। अब हम इसी ध्वनि के वाक्यप्रकाश्य रूप का अनुभव करेंगे।

वाक्यप्रकाश्य अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि

> या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
> यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥ (गीता)
>
> जब सारे संसार की रात रहती है, संयमी जागता है और जब सारा संसार जागता है तब संयमी के लिए रात रहती है[1]।

यहाँ रात का मुख्य अर्थ है प्रकाशविहीन समय और जागरण का अर्थ है निद्रा का अभाव। किन्तु ये दोनों ही अर्थ यहाँ प्रतिपाद्य नहीं हैं। रात और जागना ये दोनों शब्द यहाँ दूसरे ही अर्थ में प्रयुक्त हैं। यहाँ रात का अर्थ है अतत्त्वपराङ्मुखता और जागने का अर्थ है तत्त्वज्ञाननिरति। जब ये अर्थ प्रतीति में

---

१ ध्व० पृ० २९४

आरूढ़ होते हैं तो प्रकाशाभाव और निद्राशून्यता का तनिक भी भान नहीं होता। इस प्रकार यहाँ रात और जागरण के इन दोनों मुख्य या वाच्य अर्थो का आत्यन्तिक तिरस्कार हो जाता है। इस प्रतीति के पश्चात् रात और अतत्त्व तथा जागरण और तत्त्वज्ञान में जो साम्य की प्रतीति होती तथा सामान्य जन की एवं संयमी की मन स्थिति मे अन्धकार और प्रकाश के समान एक शाश्वत वैषम्य प्रतीत होता है वह प्रतीयमान अर्थ की पीठिका है। पाठक का चित्त उस पर आरूढ होने के पश्चात् इस वाक्य से निकलते पदार्थ और उनके संसर्ग आदि से विमुख हो जाता है तथा इस दिव्य पीठिका का चमत्कार ही उसके लिए प्रमुख आकर्षणकेन्द्र रहता है। इस कारण हम इस स्थल को ध्वनि का स्थल मान सकते है। क्योंकि यह ध्वनि यहाँ अनेक बार प्रयुक्त रात और जागरण शब्दों से प्रतीत हो रही है अतः वाक्यप्रकाश्य है और क्योंकि उक्त सभी पदों का मुख्य अर्थात् वाच्य अर्थ यहाँ सर्वथा तिरस्कृत है अतः यह ध्वनि वाक्यप्रकाश्य अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि है।

यह हुआ अविवक्षितवाच्य ध्वनि का निरूपण। इसके अनुसार इस ध्वनि-वर्ग के चार भेद बनते हैं। उनके नाम ये हैं—

१. पदप्रकाश्य अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि
२. वाक्यप्रकाश्य अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि
३. पदप्रकाश्य अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि तथा
४. वाक्यप्रकाश्य अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि।

इनका भेदवृक्ष इस प्रकार का होगा—
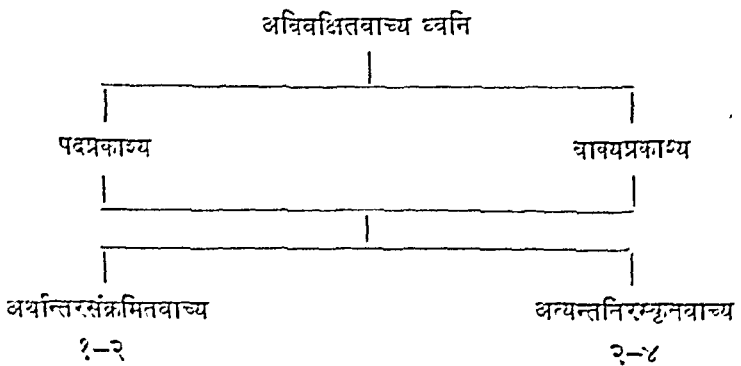
इस प्रकार अभी तक हमने ध्वनि के चार भेदों का आचार्य आनन्दवर्धन के अनुसार अध्ययन किया। आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वनि के जो भेद गिनाए हैं

अभिनवगुप्ताचार्य ने उनकी संख्या केवल पैंतीस बतलाई है। हमें प्रत्येक ध्वनिवर्ग की संख्या पर ध्यान रखे रहना है, जिससे हम अपनी संख्या तक पहुँचते पहुँचते किसी भ्रम में न पड़ें। अब आगे विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि का निरूपण किया जाएगा।

विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि

पिछले अनुच्छेद में ध्वनि के अविवक्षितवाच्यनामक वर्ग का निरूपण हुआ। अब इस अनुच्छेद हम ध्वनि के द्वितीय वर्ग विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि का निरूपण करेंगे। आनन्दवर्धन ने इसको दो भागों में विभक्त किया है। एक वह भाग जिसमें प्रतीयमान की प्रतीति वाच्य अर्थ की प्रतीति के इतने बाद होती है कि यह भासित होता है कि यह बाद में हो रही है। अर्थ यह कि इस भाग में वाच्य और प्रतीयमान अर्थ तो पृथक् पृथक् भासित होते ही हैं, इनके पौर्वापर्य का भान भी होता है, इनके ज्ञान का जो कालक्रम है वह भी भासित होता है। दूसरा भाग वह जिसमें उक्त दोनों अर्थों का पौर्वापर्य या ज्ञानगत कालक्रम भासित नहीं होता। इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि इसमें क्रम रहता ही नहीं। वह रहता अवश्य है, परन्तु उसका भान नहीं होता। अभिप्राय यह कि इस भाग में वाच्य के ज्ञान के पश्चात् प्रतीयमान का ज्ञान होने में इतना कम समय लगता है कि यह प्रतीत नहीं हो पाता कि वाच्य अर्थ का ज्ञान पहले हुआ और प्रतीयमान का उसके बाद। इन दोनों भागों को आचार्य आनन्दवर्धन ने क्रमद्योत तथा अलक्ष्यक्रमद्योत[1] नाम दिए हैं। दोनों के नामों में 'क्रम'—शब्द को जोड़ आचार्य ने यह स्पष्ट कर दिया कि दोनों का विभाजक तत्त्व 'क्रम' है। एक में ज्ञापक वाच्य और ज्ञाप्य प्रतीयमान के ज्ञान का क्रम या पौर्वापर्य भासित होता है, दूसरे में नहीं। इस स्पष्टीकरण से स्पष्ट है कि हमें यह कदापि नहीं सोचना है कि जिस भाग में क्रम का भान नहीं होता उसमें क्रम रहता नहीं है। उसमें क्रम का अस्तित्व एक वैज्ञानिक तथ्य है। उसे मेटा नहीं जा सकता। उसका भान यदि नहीं होता तो इसमें कारण है दोनों अर्थों की अत्यन्त त्वरित प्रतीति। इसके लिए अन्य आचार्यों ने एक उदाहरण दिया है, वह है कमल की सौ पखुड़ियों का सुई से वेध। पखुड़िएँ इतनी कोमल होती हैं कि उनका वेध बहुत ही शीघ्र हो जाता है। उस वेध में ऊपर की पँखुड़ी अवश्य ही पहले बिंधती है और नीचे की बाद में, परन्तु इनके वेध का यह पौर्वापर्य हमें भासित नहीं होता। किन्तु यह तो कदापि नहीं कहा जा सकता कि इन पँखुड़ियों के वेध में

---

१ ध्व० २।२

क्रम नहीं है। इसे संस्कृत में 'सूची–शतपत्र–पत्रशत–वेध–न्याय' कहा जाता है। इस प्रकार क्रमद्योत ध्वनि में वाच्य और प्रतीयमान की प्रतीति में क्रम का भान रहता है और अलक्ष्यक्रमद्योत मे नही। इनमे से आचार्य आनन्दवर्धन ने प्रथम भाग के लिए उपर्युक्त क्रमद्योत शब्द बहुत कम अपनाया। जिसे सर्वाधिक मात्रा मे अपनाया है वह है 'अनुरणनव्यङ्ग्य'[1] शब्द। अलक्ष्यक्रमद्योत को जैसे उपर्युक्त एक उपमा दी गयी वैसे ही आचार्य आनन्दवर्धन ने क्रमद्योत को भी एक उपमा दी। यह उपमा अनुरणनशब्द मे निहित है। अनुरणनशब्द का अर्थ है 'रणन के बाद का रणन'। रणन का अर्थ है बजना। घण्टाध्वनि मे यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है। जैसे घण्टा पर चोट की जाती है तो दो ध्वनियों का अनुभव होता है। एक तो वह ध्वनि जो आघात मे उसके तुरंत बाद उत्पन्न होती है। इसे महाध्वनि या संस्कृत मे निक्वाण कहा जा सकता है। दूसरी ध्वनि वह होती है जो इस महाध्वनि या निक्वाण के बाद 'टनननननन' के रूप मे सुनाई देती रह जाती है, जिसे हम गूँज कहते है। इनमे प्रथम जो निक्वाण है उसे कहा जाएगा 'रणन' और द्वितीय जो गूँज है उसे कहा जाएगा 'अनुरणन'। प्रकृत मे, हमारे मस्तिष्क का घण्टा जब शब्द की चोट खाता है तो पहले उसमे वाच्य-अर्थ-रूपी एक महाभैरव ध्वनि सुनाई देती है। जब वह शान्त हो चुकती है तब उसके बाद उससे लगी हुई प्रतीयमान–रूपी अनुरणन या गूँज सुनाई देती है। यह गूँज हमारे हृदयाकाश मे बहुत देर तक सक्रिय रहती है। इसकी गूँज के साथ हमे यह भी प्रतीत होता रहता है यह बाद में हो रही है और इसके पहले कोई एक शब्द हो चुका है। इस प्रकार अनुरणन प्रतीतिकाल-गत क्रम के भान का एक उत्तम उदाहरण है; उतना ही उत्तम जितना क्रमाभान के लिए ऊपर आया 'सूचीशतपत्रपत्रशतवेध'। इस प्रकार विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि का एक भाग अनुरणन के समान क्रमद्योत होता है और दूसरा सूचीशतपत्र-पत्रशतवेध के समान अलक्ष्यक्रमद्योत। आचार्य आनन्दवर्धन के शब्दों में इनके प्रसिद्ध नाम होंगे :

१–अनुरणनोपमव्यङ्ग्य तथा
२–अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य।

इस प्रसङ्ग में यह भी स्मरण रखे रहना है कि इन्ही दोनों भेदों के लिए आचार्यजन संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य और असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य शब्दों का भी प्रयोग करते है। मम्मट से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक इन्ही शब्दों का प्रयोग अधिक मात्रा में

१. ध्व० २।२० पृ० २३४–५.

हुआ है। किन्तु हमारे आचार्य आनन्दवर्धन प्रथम भाग के लिए जिन अनुरणनात्मा व्यङ्ग्य, अनुस्वानोपमव्यङ्ग्य आदि शब्दों का प्रयोग करते हैं उसके लिए हम भी अनुरणनोपमव्यङ्ग्य शब्द का ही प्रयोग करेंगे।

यहाँ भी आचार्य ने अलक्ष्यक्रम-व्यङ्ग्य का निरूपण ही पहले किया है, जबकि प्राप्त है अनुरणनोपमव्यङ्ग्य का। इसका कारण बतलाया तो वही जाता है जो पहले विवक्षितवाच्य के पूर्व अविवक्षितवाच्य के निरूपण के लिए बतलाया गया है, [यह कारण है सौकर्य और इसके लिए उपस्थित किया गया है सूचीकटाह-न्याय अर्थात् अनुरणनोपम व्यङ्ग्य (लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य) का विस्तार अलक्ष्यक्रम-व्यङ्ग्य की अपेक्षा अधिक है अत अनुरणनोपम व्यङ्ग्य (लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य) को पहले न कह अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य को ही पहले कहा,] परन्तु वस्तुत यह तर्क यहाँ ठीक नहीं है। यहा अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य का निरूपण ही पहले प्राप्त है, क्योंकि प्रतीति में क्रम ही वस्तुत परवर्ती वस्तु है।

अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य

आनन्दवर्धन ने अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य नामक इस ध्वनिवर्ग को निम्नलिखित शीर्षकों मे विभक्त माना है—

१ रस
२ रसाभास
३ भाव
४ भावाभास
५ भावप्रशम आदि
[६ भावोदय
७ भावसन्धि
८ भावशबलता[1]]

इस प्रकार ध्वनि के इस भाग को हम शिवके समान अष्टमूर्ति कह सकते हैं।

---

१ रस-भाव तदाभास-तत्प्रशान्त्यादिरक्रम ।
ध्वनेरात्माङ्गिभावेन भासमानो व्यवस्थित ॥ ध्वन्या० २।३ ॥

यहा यह एक ध्यान देने की बात है आनन्दवर्धन ने उक्त आठ तत्त्वो में से केवल पाँच को ही गिनाया है। अन्तिम तीन का उल्लेख नामत नहीं किया। ध्वन्यालोक में अन्यत्र भी इन तीनो के नाम नहीं मिलते। इतना अवश्य है—>

इन आठों भेदों को हम केवल दो वर्गों में ही बाँट सकते हैं—

१. रसवर्ग तथा

२. भाववर्ग।

प्रथम के अन्तर्गत केवल रस की गणना होगी। रसाभास को भाववर्ग में गिना जाएगा और इस प्रकार द्वितीय वर्ग में शेष सात तत्त्व गिने जाएँगे। रसाभास को भाववर्ग मे गिनने का कारण है उसके साथ नित्य संलग्न अनौचित्य। जिस स्थायी भाव में अनौचित्य रहता है उसके परिपोष से प्राप्त होने वाला रसतुल्य आनन्द रसाभास माना जाता है। यह अनौचित्य अनुभविता की चेतना को विलीन नहीं होने देता, अतः इस अनुभव की स्थिति रस की स्थिति तक नही पहुँच पाती, अतः यह रस नही हो पाता, किन्तु इसका परिपोष इतनी अधिक मात्रा मे हो जाता है कि इसे भाव भी नहीं कहा जाता, अतः इसे रसाभास माना जाता है, वस्तुतः यह रहता है भाव ही।

यहाँ यह भी एक ध्यान देने की बात है कि आनन्दवर्धन ने संपूर्ण विवेचन उक्त आठों मे से किसी एक का भी नही किया। वस्तुतः आनन्दवर्धन का

→ भावशबलता के लिए जिस 'क्वाकार्य०' पद्य को परवर्ती आचार्यों ने उद्धृत किया है वह आनन्दवर्धन मे भी प्राप्त है। उसमे भावसन्धि भी मानी जा सकती है। परन्तु भावोदय के लिए ऐसा कुछ भी आनन्दवर्धन में प्राप्त नही है। आनन्दवर्धन के परवर्ती आचार्य अभिनवगुप्त और मम्मट इन तीनों का उल्लेख करते हैं, परन्तु पूर्ववर्ती आचार्यों में भरत, भामह, दण्डी, उद्भट और वामन इनके विषय मे मौन हैं। दण्डी, भामह और उद्भट में रस को रसवत्, भाव को प्रेयस्वत्, दोनों के आभासों को ऊर्जस्वत् तथा भावप्रशम को समाहित के रूप मे प्रस्तुत किया था, अतः उनमें भी अन्तिम तीन का अस्तित्व नही मिलता। इस प्रकार इन तीनों की प्रथम कल्पना का आधार उपलब्ध संस्कृतकाव्यशास्त्र में प्राप्त नही है। अवश्य ही इनकी कल्पना किसी ऐसे ग्रन्थ के आधार पर की गयी है जो आनन्दवर्धन के समक्ष था, किन्तु इस समय प्राप्त नहीं है। ऐसे कुछ ग्रन्थों के अवशेष मिलते भी हैं। प्रतीहारेन्दुराज की लघुविवृति तथा अलंकारविमर्शिनी में ऐसे बहुत से कारिकाबद्ध उद्धरण हैं जिनमें ध्वनिशास्त्र का उत्तम विवेचन दिखाई देता है, परन्तु उनका उतने से अधिक कोई अंश नहीं मिलता। हमने परवर्ती परम्परा के आधार पर भावोदय, भावसन्धि और भावशबलता को आनन्दवर्धन द्वारा मान्य स्वीकार किया है। सम्भव है भावशबलता का मूल किलकिंचित नामक भाव हो।

मुख्य प्रतिपाद्य इन सबमें प्रतीयमान अर्थ की प्रधानता थी, जिससे इनमें ध्वनित्व सिद्ध हो सके। रस, भाव आदि सबके प्रसङ्गों में आनन्दवर्धन ने केवल ध्वनित्व ही प्रतिपादित किया। न तो उन्होंने यह बतलाया कि रस का स्वरूप क्या है और न यही बतलाया कि उसकी निष्पत्ति कहाँ और कैसे होती है। भाव के विषय मे भी इन प्रश्नो पर वे चुप हैं। ध्यान देने की बात है कि परवर्ती अलङ्कारशास्त्र मे ये ही प्राय प्रमुख विषय बन गये हैं। इस प्रकार आनन्दवर्धन ने रस के विषय मे निम्नलिखित तीनो अतिमहत्त्वपूर्ण प्रश्नो पर पर्याप्त विचार नही किया—

१ स्वरूप
२ निष्पत्तिप्रक्रिया तथा
३ आश्रय या अनुभविता

आनन्दवर्धन ने इन तथ्यो पर प्रकाश नही डाला इसका अर्थ यह नहीं है कि उनकी दृष्टि इन विषयो में उन निष्कर्षों पर नही पहुँच पायी थी जिनके लिये अभिनवगुप्त और मम्मट प्रसिद्ध हैं। ध्वन्यालोक में कुछ ऐसे सूत्र मिलते हैं जिनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि आनन्दवर्धन भी रस के विषय में अपने व्याख्याकार अभिनवगुप्त आदि से भिन्न मत नही रखते।

रसमीमांसा :

रसमीमांसा में सबसे महत्त्व का प्रश्न है रस के अनुभविता या उसके आश्रय का। इसका निर्णय होने पर ही रसनिष्पत्ति की प्रक्रिया निश्चित हो पाती है और रस का स्वरूप भी। आनन्दवर्धन का मत इस विषय में अति स्पष्ट है।

रसाश्रय

आनन्दवर्धन रस का आश्रय या अनुभविता सामाजिक को मानते हैं। उनका वाक्य है—

[१] वैकटिका एव हि रत्नतत्त्वविद,
सहृदया एव हि काव्यानां रसज्ञा ।[1]
रत्नतत्त्वविद् होते हैं, जौहरी
और काव्यरस के तत्त्वविद् सहृदय।

[२] *रसज्ञतैव सहृदयत्वम्*[2]
रसज्ञता ही सहृदयता है।

१ ध्वन्यालोक ३।४७ वृत्ति, पृष्ठ ५१९ चौख० सं० १९९७ वि० तथा
२ ध्व० पृ० ३५९

इससे स्पष्ट है कि आनन्दवर्धन सहृदय में ही रस का अस्तित्व मानते है। यद्यपि रस का अस्तित्व, शङ्कुक और लोल्लट भी मानते है, किन्तु ये यह नही लिखते कि सामाजिक को उसकी स्वयं की रति आदि वृत्तियों का रस के रूप में अनुभव होता है, वे ऐसा कुछ लिखते है कि सामाजिक नटनिष्ठ या रामादिनिष्ठ रति आदि का अनुभव करता है। आनन्दवर्धन ऐसा नहीं मानते। इसके अनुसार सामाजिक की स्वयं की ही रति आदि वृत्तियाँ रसरूप मे परिणत होती है। इसका प्रमाण है प्रथम उद्योत मे ही उद्धृत रामायण के बालकाण्ड के द्वितीय सर्ग की क्रौञ्चवध घटना का उल्लेख। वे इसमे घटना में वाल्मीकि के शोक को करुणरस का स्थायी भाव बतलाते है। वाल्मीकि का अर्थ है रामायण काव्य के पात्र वाल्मीकि, जो उस द्वितीय सर्ग मे उपनिबद्ध क्रौञ्चवध घटना से व्यथित उसी सर्ग में उसी घटना के तुरन्त आगे के श्लोको मे उपनिबद्ध है। वहाँ ये दर्शक के रूप में है, अत: वे हम सब रामायण-पाठकों के प्रतिनिधि है।

रसस्वरूप .

रसस्वरूप के विषय मे भारतीय समीक्षाशास्त्र का मेरुदण्ड है 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोग से रसनिष्पत्ति' यह रससूत्र। आनन्दवर्धन इससे अवश्य ही अनभिज्ञ नही है। वे 'विभावानुभावसंचारी' इस सूत्रखण्ड का कारिका और वृत्ति में अनेक बार उल्लेख करते है। किन्तु संयोग और निष्पत्ति शब्द वे काम में नहीं लाते। जो हो, रस को सहृदय में स्वीकार कर जब वे विभावादि शब्दों का प्रयोग करते है तो रस के लिए अपेक्षित सभी स्तम्भों के साथ उन्हे सहमत मानना होगा, और एकमात्र तभी उन्हे उनके विरुद्ध कहना होगा जब वे किसी स्तम्भ का खण्डन करते दिखाई दें। इस स्थिति में आनन्दवर्धन के अनुसार रस का स्वरूप संक्षेप में यह होगा—

> **'लौकिक कारण, कार्य, सहकारी के जो प्रतिबिम्ब आत्मरूप सामाजिक के चित्त पर आहित होते और अपना असाधारण्य खोकर सामाजिक की चित्त-वृत्तियों को जगाते है अत एव केवल काव्य तक सीमित विभाव, अनुभाव और संचारी नाम से पुकारे जाते हैं, उनके परस्पर में संमिलित रूप में हुए अनुभव से उद्बुद्ध और परिपुष्ट जो सामाजिक के हृदय की रति आदि स्थायी वृत्ति उसी का उन विभावादि के साथ जो अनुभव, वही है रस।'**

इस वाक्य में कुछ ऐसी बातें है जिन पर विशेषरूप से ध्यान देना आवश्यक है :—

१. पहली बात तो यह कि स्थायी नामक जिस भाव का सामाजिक अनुभव करता है वह उसका स्वयं का होता है।

२ दूसरी यह कि विभाव, अनुभाव और सचारी भी बाह्य वस्तु नही, अपितु ज्ञानात्मक वस्तुएँ हैं और यह ज्ञान भी इसी सामाजिक का है अर्थात् विभावादि भी सामाजिक की ज्ञानरूपी चित्तवृत्ति ही हैं।

३ तीसरी बात यह कि यह जो विभाव है वह विभाव रूप में आता ही तब है जब इसमे असाधारण्य हट जाता है। असाधारण्य के हटने का अर्थ है शकुन्तलादि के विषय में दुष्यन्तपत्नीत्व आदि का भान न होना। यह भान जब हट जाता है तभी शकुन्तला सामाजिक के चित्त की स्थायी वृत्ति को जगा पाती है, क्योंकि वह तभी उसे देख पाता और उसकी चेष्टाओ में रुचि ले पाता है। इस प्रकार यह कहना उचित नही कि शकुन्तला का साधारण्य या साधारणीकरण होता है। कहना यही उचित है कि उसके असाधारण्य का बोध रुक जाता है। वस्तुत ऐसा कहना भी अनावश्यक है, क्योंकि विभावशब्द ही इस स्थिति का बोध करा देता है, कारण कि विभाव विभाव बनता ही तब है जब वह असाधारण्य से हट जाता है। शरबत कहने से ही यह विदित हो जाता है कि जल में शर्करा मिश्रित है। 'शरबत मे शक्कर मिलाना' ऐसा वाक्यप्रयोग वैसा ही वाक्यप्रयोग है जैसा 'भात बनाना'। वस्तुत जो चावल सीझ चुका है वही भात है। भात को सीझने नहीं जाता है।

४ चौथी बात यह कि विभाव आदि केवल कलात्मक विश्व की वस्तुएँ है और काव्य भी कला है, अत इनको लोकाश्रित वस्तु नही माना जा सकता।

५ पाचवी बात यह कि जो विभावादि सामाजिक की रतिप्रभृति स्थायी वृत्तियो को जगाते है वे जगाने के बाद उस स्थायी के साथ बने भी रहते है। इसलिए इन्हें व्यञ्जक माना जाता है और इनके उद्बोधन को व्यञ्जना।

६ छठी बात जो सर्वाधिक महत्त्व की है वह है सामाजिक का स्वरूप। सामाजिक का अर्थ है जो व्यक्ति काव्य पढ रहा है या नाटक देख रहा है उसकी जीवात्मा। जीवात्मा का अर्थ है सूक्ष्म शरीर से युक्त आत्मा। सूक्ष्म शरीर का अर्थ है पाँच ज्ञानेन्द्रियो, पाँच कर्मेन्द्रियो, पाँच [रूप रस आदि] तन्मात्राओं और मन तथा बुद्धि का समुदाय। यहाँ जो मन है वह ऐसा मन है जिसमे शृङ्गार आदि

की वासना काव्यपाठ के पहले से विद्यमान है और जिसमें यह अनु-
मानयोजना भी बड़े ही पैनेपन के साथ निहित है कि अमुक चेष्टा
में सामने के व्यक्ति की अमुक भावना निहित है। यह अनुमान है
बुद्धि का फल।

इस प्रकार रसानुभव के लिए लोक की भी आवश्यकता है और अनुमान की भी। साथ ही चित्तवृत्तियों की भी आवश्यकता है और आत्मचैतन्य की भी।

यहाँ और भी कई प्रश्न उपस्थित किए जाते है। पूछा जाता है कि रसा-नुभव कैसा होता है। यह संवेदन है या बोध है, यह उत्पाद्य है या बोध्य है, इसमें आत्मतत्त्व प्रमुख है या स्थायी तत्त्व, इस अनुभव में इन्द्रियों का स्थान क्या है अर्थात् यह प्रत्यक्षात्मक है या परोक्षात्मक, यदि दोनों न हो तो क्या यह अप-रोक्षात्मक है, और यदि ऐसा है तो ब्रह्मज्ञान से इसका अन्तर किस बात में है। और भी ऐसे प्रश्न इस अनुभव पर उपस्थित किए जाते है। हमारी दृष्टि में ये सब प्रश्न अतिप्रश्न है, जो यहाँ आवश्यक नहीं है, जिनका विस्तार कुछ दार्शनिकों के लिए आवश्यक है, साहित्यचेता सामाजिक या काव्यशास्त्र के अध्येता के लिए नही। इन सब प्रश्नों को उपस्थित कर साहित्यशास्त्रियों ने अपने सरोवर को समुद्र बना दिया और लालच में आकर इतना बड़ा घेरा घेरना चाहा कि वह घेरा ही नही रह गया, पूरा भूमण्डल ही उसमें आ समाया। निश्चित ही इन विचारकों ने अपने प्रमदवन को प्रमादवन में परिणत कर दिया और साहित्य के अध्येता को और ही कहीं भटका दिया। ऐसी ही त्रुटि व्याकरणशास्त्र में की गयी जहाँ चाहिए तो था केवल 'क्या', परन्तु पकड़ लिया गया 'क्यों' भी। सोचा जाने लगा शब्द जिस वाक् मे बनता है वह कितनी व्यापक है और ले जाकर मिला दिया उसे सीधे ब्रह्म तत्त्व से। पूरा व्याकरण जो शब्दानुशासन था, दर्शन बन गया और शब्दानुशासन न रहकर ब्रह्मानुशासन में परिणत हो गया। परिणाम यह हुआ व्याकरणस्मृति से जो प्रकृतिप्रत्ययपरिज्ञान अपेक्षित था वह दुर्बल होता गया और हम संस्कृत भाषा को उत्तरोत्तर भूलते गए। कुछ ऐसा ही अवान्तर प्रश्नों की भरमार से साहित्य क्षेत्र में भी हुआ। आनन्दवर्धन इस दिशा में जागरूक है। वे अवान्तर प्रश्नों पर बल नही देते। कदाचित् इसीलिए उन्होंने रस के विषय में अनुभूतिपक्ष और प्रक्रियापक्ष के प्रपञ्च को उपस्थित नहीं किया। चाहते तो वे अवश्य ही उन्हें उपस्थित कर सकते थे। उनका व्यक्तित्व मूलतः एक दार्शनिक कवि का ही व्यक्तित्व था।

इस प्रकार हमने रस के अनेक निगूढ प्रश्नों और पक्षों पर अन्तिम सिद्धान्तों

की रूपरेखा प्रस्तुत की। आनन्दवर्धन के साथ उन्हें जोड़ने का साहस हमने इसलिए किया है कि वे इन सब प्रश्नो पर कोई विपरीत अभिप्राय व्यक्त करते नही दिखाते और परम्परा उन्ही को आधार बना रसाभिव्यक्तिवाद को अन्तिम सिद्धान्त स्वीकार करती है, यद्यपि ऐसा करते हुए वह भरत के नाट्यशास्त्र से भी बहुत कुछ लेती है।

भावध्वनि स्वरूप

रस का जो स्वरूप इसके पहले उपस्थित किया है उसमे भावध्वनि के स्वरूप का अधिकाश स्पष्ट है। केवल एक ही बात यहाँ समझ लेने की है। वह है मात्रा की। रस में जितने भावो का एक साथ अनुभव होता है उनकी मात्रा बराबर रहती है अर्थात् उसमे से किसी भाव का अनुभव किसी भी अन्य भाव से बढा-चढा नही रहता और न किसी भाव का किसी अन्य भाव से कम। वहाँ सभी भाव समान मात्रा में अनुभव में आते है। इसके लिए एक दृष्टान्त दिया जाता है। वह है पानकरस का। पानक रस यानी आम का पना[1] या ठडाई। ठडाई में काली मिर्च, इलायची, सौफ, बदाम आदि की मात्रा इतनी सतुलित रहती है कि उसमें से किसी भी एक का अनुभव अलग नही होता। विभावादि के अनुभव में जब तक यह समता रक्षित रहती है तब तक अनुभव रसात्मक अनुभव रहता है। किन्तु जब इन भावो में से किसी सचारी भाव की मात्रा बढ जाती है और उसका अनुभव अधिक मात्रा में होने लगता है, वही अनुभव रसात्मक अनुभव न रहकर भावात्मक अनुभव हो जाता है और यही होती है भावध्वनि। जैसे ठडाई में कालीमिर्च की मात्रा कुछ अधिक हो गयी हो या इलायची की। स्त्रीतरविषयक रति की ध्वनि को भी भावध्वनि में ही गिना जाता है।

यहाँ यह सावधानी के साथ चित्त में जमाए रहना है कि जहाँ भावध्वनि होती है वहाँ अन्तत रस रहता ही है अत भावध्वनि रसध्वनि से पृथक् नही रहती, केवल एक किसी भाव की प्रधानता के कारण नाम रस न रहकर भाव हुआ करता है।

आभास

रस और भाव की ध्वनि में जो भाव केन्द्रीय भाव होता है उसके साथ यदि किसी भी प्रकार की अनुचितता का अनुभव सामाजिक को होता है तो ये ही

---

१ [क] द्र० शब्दकल्पद्रुम
[ख] पानकरसन्याय काव्यप्रकाश में अभिनवगुप्त की रसमीमासा

ध्वनियाँ रसाभासध्वनि और भावाभासध्वनि कहलाने लगती हैं। जैसे कामी रावण की सीता के प्रति प्रेमोक्ति अथवा क्रुद्ध पुत्र की पिता पर क्रोधोक्ति। इनमें न तो रति शृङ्गार बन पाती और न क्रोध रौद्र। इसी प्रकार इन्द्र की शुक्राचार्य के प्रति भक्ति अथवा पाकिस्तान के जनक जिन्ना की गांधी के प्रति प्रीति। ये भक्तियाँ अपने अनुभव के पूर्व शत्रुत्व के स्मरण से किसी भी पाठक को अनौचित्य के स्पर्श से दूर नहीं रख पाती।

भावप्रशम :

प्रशम भाव का ही होता है उसकी स्थिति वह है जहाँ रूठी प्रेयसी के मान का हटना चित्रित हो या इसी प्रकार किसी भी भाव की निराकरणस्थिति चित्रित की जाती हो। इसी प्रकार **भावोदय** में किसी भाव की उदीयमानता का चित्रण रहता है, **भावसन्धि** में हटते और ऊगते दो भावों की मध्यस्थिति चित्रित रहती है तथा **भावशबलता** में अनेक भावों के क्रमशः उदित होते चले जाने का वर्णन रहा करता है। इनके उदाहरण रसगङ्गाधर के प्रथम आनन के अन्त में देखे जा सकते हैं और काव्यप्रकाश के चतुर्थ उल्लास में भी। भाव, रसाभास, भावाभास के लिए काव्यप्रकाश का यह उल्लास देख लेना चाहिए[1]।

स्पष्टीकरण—स्मरणीय है कि भाव, रसाभास, भावाभास आदि का विवेचन आनन्दवर्धन ने नहीं किया है, जैसा कि हम इस अनुच्छेद के आरम्भ में भी लिख चुके हैं, फलतः यहाँ जो विवेचन किया गया है वह परवर्ती आचार्यों के आधार पर, उनमें भी विशेषतः काव्यप्रकाशकार तथा रसगङ्गाधरकार के आधार पर।

रसभेद :

आचार्य आनन्दवर्धन ने निम्नलिखित रसों का उल्लेख किया है :

१. शृङ्गार
२. हास्य
३. करुण

---

१. पण्डितराज ने भावोदय, भावसन्धि, भावशबलता तथा भावशान्ति में उदय, सन्धि, शबलता और शान्ति को अप्रधान मान भाव को ही प्रधान माना है। द्र० रसगङ्गाधर प्रथमानशान्त तथा मम्मट की कारिका ४।१३—
'भावस्य शान्तिरुदयः सन्धिः शबलता तथा'।

४ रौद्र
५ वीर
६ भयानक
७ वीभत्स
८ अद्‌भुत तथा
९ शान्त।[1]

उक्त रसों में से आचार्य आनन्दवर्धन ने प्रत्येक का पूर्ण विवरण नहीं दिया, केवल दो रसों के विषय में उन्होंने पर्याप्त उदारता बरती और उनके विषय में अनेक अवान्तर तथ्य प्रस्तुत किए। ये रस हैं १–शृङ्गार और २–शान्त।

शृङ्गार

आनन्दवर्धन ने शृङ्गार को संभोग और विप्रलम्भ नामक दो भागों में विभक्त बतलाया[2] है। संभोग को, परस्पर को प्रेमपूर्वक देखना, सुरत, विहार आदि अनेक रूपों में गणनातीत स्वीकार करते हुए विप्रलम्भ के अभिलाप, ईर्ष्या, विरह और प्रवास नामक चार ही भेदों की गणना दिखलाई और उसे भी इसी प्रकार के अन्य भेदों तक व्यापक बतलाया[3]। रति[4] इसका स्थायी है और माधुर्य गुण। माधुर्य यद्यपि करुण में भी रहता है किन्तु उसका प्रकर्ष शृङ्गार में ही रहता है। शृङ्गार में भी संभोग की अपेक्षा विप्रलम्भ अधिक मधुर होता है। करुण को यदि संभोग की अपेक्षा अधिक मधुर कहा जाए तो कहा जा सकता है, परन्तु विप्रलम्भ से अधिक कदापि नहीं। अधिक से अधिक वह विप्रलम्भ की बराबरी में आ सकता है माधुर्यमात्रा में[5]। शृङ्गाररस इतना सुकुमार है कि अलंकार की भी तनिक सी कठिनता इसे सह्य नहीं होती[6]। इस रस की योजना में कवि को सर्वाधिक अवहित रहना होता है, क्योंकि यह तनिक सी असावधानी से भी बिगड़ जाता है[7]। पाठक के लिए यही एक ऐसा रस है जो सर्वाधिक आकर्षणपात्र है[8]।

---

१ अवश्य ही भोजदेव का वात्सल्यरस और उनके पूर्ववर्ती रुद्रट का प्रेयान् रस रसमीमांसा में परवर्ती विकास है।

२-३ ध्व० २।१२,

४ ध्व० ३।२८ वृत्ति,

५ ध्व० २।८,

६-७ ध्व० २।१४–१९, ३।२८

८ ध्व० ३।३०,

यदि कवि इस रस से भावित होकर कविता करता है तो उसके काव्यजगत् का अणु अणु रसमय हो उठता है[1]। उपदेश के लिए यह रस एक उत्तम माध्यम का कार्य करता है। वैराग्य का कथ्य भी इस रस के माध्यम से सामाजिक के गले अधिक सरलता और अधिक कलात्मकता के साथ उतरता है। वस्तुतः शृङ्गार को भी पुरुषार्थोपदेश के लिए ही अपनाया जाता है, क्योंकि काव्य और नाटक का आविष्कार ही सदुपदेश के लिए किया गया है[2]।

शान्त :

यह भी एक रस है और ऐसा वास्तविक रस है कि इसको अस्वीकार नही किया जा सकता। इसका स्थायी है तृष्णाक्षयजनित सुख अर्थात् निर्वेद। यह एक ऐसा सुख है कि कामसुख और महान् से महान् दिव्य सुख भी इसकी सोलहवीं कला को नही पाते। यदि इसका अनुभव प्रत्येक व्यक्ति को नही होता तो इससे इस रस को अस्वीकार नही किया जा सकता। इसका अनुभव ऐसे महानुभावों को होता है जो अलोकसामान्य होते है। शान्तरस मे अहङ्कार नही रहता, अतः इसको वीररस में अन्तर्भूत नही किया जा सकता, कारण कि वीररस को अभिमानदिग्ध माना जाता है। जहाँ तक दयवीर का सम्बन्ध है उसमे शान्त का अन्तर्भाव न कर शान्त मे उसी का अन्तर्भाव कर देना अधिक उचित है। यदि इतना अन्तर रहने पर भी शान्त का अन्तर्भाव वीररस में करना अभीष्ट हो तो फिर रौद्र का अन्तर्भाव भी वीर में ही कर देना उचित होगा।[3] महाभारत[4] के रहते हुए यह कहा कैसे जा सकेगा कि शान्त रस नही है। उसमें उसके विधाता कविवर व्यास ने स्वयं ही कह दिया है 'हम इस महाग्रन्थ मे एक ही तत्त्व का प्रतिपादन कर रहे है—भगवत्तत्त्व का'। संसार का वर्णन तो पूर्वपक्ष के रूप में वहाँ अपनाया गया है। मूलतः करना तो है उसमे संसारातीत तत्त्व का निरूपण। देवताओं, तीर्थों और तप आदि का जो सातिशय प्रभाव महाभारत में बखाना गया है उसका उद्देश्य भी परब्रह्म का निरूपण ही है। कारण कि देवताओं को परब्रह्म का ही एक अंश बतलाया गया है। पाण्डवों की दुर्दशा का चित्रण भी सांसारिक जनों के मन मे वैराग्य जमाने के लिए ही किया गया है। यह जो वैराग्य है यही मोक्ष का

---

१. ध्व० पृ० ४९८.

२. ध्व० ३९८-९..

३. ध्व० पृ० ३९०-९४.

४. ध्व० ४।५ वृत्ति पृ० ५३०-३३.

मूल है और मोक्ष को स्वयं महाभारतकार ने श्रीभगवद्गीता में भगवत्प्राप्ति का उपाय बतलाया है। भगवान् की जो प्राप्ति है वही है परब्रह्म की प्राप्ति। और वासुदेव नाम से जिस भगवान् का इसमें चरित वर्णित है वह भी परब्रह्म ही है, क्योंकि गीता में उन्हें विराट् रूप में प्रस्तुत किया गया है। वे केवल माथुर गोपाल ही नही हैं। इसीलिए उन्हें स्वयं व्यास ने 'सनातन' भी कहा। 'सनातन' वह अभिधा है जिससे भगवान् के सभी रूपो का संकेत मिलता है। इसीलिए रामायण में भी भगवान् राम के लिए इसी शब्द का प्रयोग किया गया है[1]। इसलिए यह एक निश्चित तथ्य है कि महाभारत में भगवान् से भिन्न प्रत्येक पदार्थ को अनित्य सिद्ध कर पुरुषार्थ के रूप में मोक्ष और रस के रूप में शान्त की प्रतिष्ठा की गई है। यदि महाभारत का मुख्य रस शान्त नही है तो यह भी स्वीकार करना होगा कि उसका मुख्य पुरुषार्थ भी मोक्ष नही है। वस्तुत इस तथ्य पर साधारण व्यक्ति इसलिए पहुँच नही पाता कि महाभारत ने इस तथ्य को वाच्यरूप से प्रस्तुत नही किया। इसे उस महामुनि ने व्यङ्ग्य रूप से चित्रित किया। जहाँ तक विदग्धो का सम्बन्ध है वे इस तथ्य को भली भाँति समझते ही हैं, क्योंकि उनकी गोष्ठियो में यह प्रसिद्ध ही है कि जो वस्तु अत्यन्त अभिमत होती है उसे व्यङ्ग्यरूप में प्रस्तुत किया जाता है।

इस प्रकार शान्त रस भी रस[2] है और उसका स्थायी भाव है तृष्णाक्षय-सुख[3] या निर्वेद।

अन्य रस :

अन्य रसो के विषय में आनन्दवर्धन संकेतमात्र करते हैं। वस्तुत उनका मुख्य उद्देश्य इन रसो का विवेचन नही है। उनका मुख्य प्रतिपाद्य है, जैसा कि हम पहले भी कह चुके हैं, इन रसो में प्रतीयमानत्व की प्रधानता। इस कारण वे इन सबकी चर्चा ही करते हैं और इस सन्तोष के साथ कि उनके समक्ष भरतमुनि के नाट्यशास्त्र का छठा अध्याय उपस्थित है। भरतमुनि ने इस अध्याय में वीररस के तीन भेद बतलाए हैं दानवीर, धर्मवीर और युद्धवीर। आनन्दवर्धन ने यहाँ

---

१ ध्वन्यालोक चतुर्थ उद्योत पृ० ५३३, यद्यपि रामायण के मइलापुरसंस्करण में भगवान् राम के लिए 'वासुदेव' शब्द नही मिलता।

२ ध्व० पृ० ३९४ 'तदेवमस्ति शान्तो रस'।

३ ध्व० पृ० ३९०

दयावीर की ही चर्चा की है[1]। करुण के विषय में वे इतना ही लिखते हैं कि यह रस शृङ्गार के समान ही मधुर[2] होता है, इसका स्थायी भाव शोक होता है और रामायण इस रस का प्रमुख काव्य है, जिसमें क्रौञ्चवध की घटना से लेकर सीता के अत्यन्त वियोग तक वाल्मीकि ने इस रस का सम्यक् निर्वाह किया है[3]। रौद्र-रस के विषय में आनन्दवर्धन इससे अधिक कुछ नहीं कहते कि इस रस में दीप्ति का अनुभव होता है ठीक वैसे ही जैसे शृङ्गार में माधुर्य का[4]। इस रस का उल्लेख तो आनन्दवर्धन ने 'रौद्रादयः' इस प्रकार अनेक बार किया है। रौद्र को प्रथम स्थान देते हुए वे कदाचित् उस प्रथम डिम की ओर संकेत कर रहे हैं जो भरत-मुनि के नाट्यशास्त्र में आई कथा के अनुसार संसार की प्रथम नाट्यकृति थी,[5] जिसमें दानवों की हार और देवों की जीत दिखलाई गई थी और जिसका प्रमुख रस रौद्र ही था। हास्य, भयानक, बीभत्स और अद्भुत[6] के भी नाम ही आनन्द-वर्धन ने प्रस्तुत किए हैं। पाठकों को चाहिए कि इस विषय पर वे भरतमुनि के नाट्यशास्त्र का छठा और सातवाँ अध्याय देख लें।

रसप्रकाशक :

उक्त अलक्ष्यक्रमध्वनि के लिए आनन्दवर्धन ने १. वर्ण २. पदादि ३. वाक्य ४. संघटना तथा ५. प्रबन्ध को प्रकाशक स्वीकार किया है। पदादि में जो आदिपद है उसका अर्थ स्वयं आनन्दवर्धन के अनुसार पदावयव या पदैकदेश अथवा पदांश है। इस प्रकार आनन्दवर्धन के अनुसार रसों के प्रकाशक ६ होते हैं :

१. वर्ण
२. पद
३. पदावयव
४. वाक्य
५. संघटना तथा
६. प्रबन्ध[7]

---

१. ध्व० पृ० ३९४.
२. ध्व० २।८.
३. ध्व० पृ० ८९, ५२९, ५३३.
४. ध्व० २।९.
५. नाट्यशास्त्र प्रथम अध्याय.
६. ध्व० पृ० ३८०-८१.
७. यस्त्वलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो ध्वनिर्वर्णपदादिषु।
वाक्ये संघटनायां च स प्रबन्धेऽपि दीप्यते ॥ ध्व० ३।२ ॥

आनन्दवर्धन ने इन सबके उदाहरण भी दिए है। वे इस प्रकार है—

[१] वर्णप्रकाश्य रस

शृङ्गार में शेष सब वर्ण प्रकाशक होते है केवल अधिक मात्रा मे प्रयुक्त श, ष, ढ तथा नीचे और ऊपर रकार के सयोग को छोडकर। इनके प्रयोग से शृङ्गारस की अभिव्यक्ति या तो हो ही नही पाती और अन्य वर्णो से यदि होती भी है तो वह क्षीण पड जाती है। ये ही वर्ण यदि बीभत्स आदि रसो में आते है तो इनकी स्थिति बदल जाती है। वे विरोधी तो रहते ही नही, उद्दीपक और बन जाते है।[1]

आनन्दवधन ने अपनी उक्त स्थापनाओ के लिए उदाहरण उपस्थित नही, किए। अभिनवगुप्त भी इस दिशा मे चुप रहे। मम्मट ने उदारता बरती। उन्होने प्रकाशक और विरोधी दोनो ही प्रकार के वर्णों के उदाहरण प्रस्तुत किए। मधुर रस में शृङ्गार के लिए प्रकाशक वर्णयोजना का उदाहरण दिया—

> **हे आनताङ्गि, तेरा अङ्ग अनङ्ग का रङ्ग है और भङ्गिमाओं से अङ्गीकृत है[2]।**

यहाँ ङ् और ग् के अनेकश प्रयुक्त सयुक्त रूप अवश्य मधुरता की व्यञ्जना अधिक मात्रा में कर रहे है। विरोधी वर्णयोजना के लिए उन्होने लिखा—

> **हे कलकण्ठि, मुझे तू अकुण्ठ उत्कण्ठा से एक क्षण के लिए भी कण्ठ तक अपने कण्ठ से लगा[3]।**

यहाँ ण् और ठ् ऐसी ध्वनियाँ है जो अत्यन्त कर्कश है। मधुर शृङ्गार मे अपेक्षित कोमलता इनसे व्यक्त नही हो पाती। किन्तु इन्ही ध्वनियो को उग्र रसो

→ यहाँ अभिनवगुप्त 'पदादि' के आदिशब्द से 'आदिशब्देन पदैकदेश-पदद्वितयादीना ग्रहणम्' इस प्रकार पदैकदेश तथा 'पदद्वितय' आदि अपनाना चाहते हैं। मम्मट ने 'पदैकदेश' ही अपनाया है।

१ **श-षौ सरेफसयोगो ढकारश्चापि भूयसा।**
विरोधिन स्यु शृङ्गारे तेन वर्णा रसच्युत ॥
त एव तु निवेश्यन्ते बीभत्सादौ रसे यदा।
तदा त दीपयन्त्येव ते न वर्णा रसच्युत ॥ ध्व० ३।३–४ ॥

२ काव्यप्रकाश उल्लास ८

३ काव्यप्रकाश उल्लास ७ श्रुतिकटुत्वप्रसङ्ग

मे अपनाया जाता है तो ये ही रसदीप्ति में सहायक सिद्ध होती है। उदाहरणार्थ—रावण कहता है—

मेरे उद्वृत्तकृत्ताविरल-गल-गलद्-रक्त-संसक्त-धारा-धौतेशाङ्घ्रि-प्रसादोपनतजयजगज्जातमहिम भुजदण्ड व्यर्थ हो गए[1]।

यहाँ जो वृत्तकृत्त, रक्तसंसक्त ऐसे पद हैं इनमें दीपकता है। इसका बहुत अच्छा उदाहरण भवभूति के उत्तररामचरित से लिया जा सकता है जहाँ वे धनुष का वर्णन करते और उसे एक विशेषण देते हैं—

रणत्करण-झञ्झणत्—क्वणितकिङ्किणीकं धनुः[2]।

आनन्दवर्धन ने रचना के उदाहरण के रूप में रौद्र रस के लिए जो 'चञ्चद्भुज०' इत्यादि पद्य वेणीसंहार से उद्धृत किया है उसके वर्णों को भी हम यहाँ उदाहरण के रूप के रूप में अपना सकते हैं। उसमें भीम कहता है—

मैं अपनी गदा के चण्ड आघात से दुर्योधन की जङ्घा को संचूर्णित कर दूंगा[3]।

यहाँ चण्ड और चूर्णित पद के णकार तथा डकार की जो श्रुतियाँ हैं वे अवश्य ही कठोर हैं। इससे सिद्ध है कि रसों के प्रति वर्ण भी व्यञ्जक होते हैं।

[२] पदप्रकाश्य रस :

तापसवत्सराजनाटक में वासवदत्ता के जल जाने की खबर सुनकर वत्सराज कहता है—

उत्कम्पिनी भयपरिस्खलितांशुकान्ता
ते लोचने प्रतिदिशं विधुरे क्षिपन्ती।
क्रूरेण दारुणतया सहसैव दग्धा
धूमान्धितेन दहनेन न वीक्षितासि॥

प्रिये, तेरे वे नेत्र तूने अवश्य ही चारों ओर घुमाए होंगे। निश्चित ही वे अग्नि को दिखायी नही दिए, वह धूमान्ध जो रहा होगा[4]।

यहाँ 'वे' यह जो एक पद है यह इस वाक्य से व्यक्त हो रहे शृङ्गार रस के लिए

१. काव्यप्रकाश उल्लास ८
२. उत्तररामचरित अङ्क ५
३. ध्वन्यालोक २।९—उदा० पृ० २१०
४. ध्व० ३०४

सर्वाधिक प्रकाशक सिद्ध हो रहा है। इसमें नेत्रों की सातिशय शोभा और उसके लिए उनकी प्रसिद्धि प्रतीति होती है। यह भी प्रतीत होता है कि वे नेत्र उदयन के अत्यन्त जाने पहचाने हैं। इस प्रकार नायक के हृदय की गहनतम रति इस वाक्य से व्यक्त होती है और उसमें सर्वाधिक सहायक 'वे' यह पद बनता है।

[३] पदावयवप्रकाश्य रस

प्रवास में जाते समय प्रिया द्वारा किए गए कटाक्ष का वर्णन करते हुए कोई प्रिय कह रहा है—

> व्रीडायोगान्नतवदनया सन्निधाने गुरूणा
> बद्धोत्कम्प कुचकलशयोर्मन्युम तर्निगृह्य।
> तिष्ठेत्युक्त किमिव न तया यत् समुत्सृज्य
> बाष्प मय्यासक्तश्चकित-हरिणीहारि-नेत्र-त्रिभाग ॥

मित्र, उसने गुरजनों के बीच अपना मुह झुकाए हुए ही जो मुझे चकित हिरनी के समान अत्यन्त आकर्षक नेत्र के त्रिभाग से घूरा तो क्या यह नहीं कह दिया कि 'यहीं रहो'[१]।

यहाँ 'चकितहरिणीहारिनेत्रत्रिभाग' यह जो एक पद है, इसका जो एक भाग **'त्रिभाग'** शब्द है, इसमें सर्वाधिक व्यञ्जकता है। पदावयव की प्रकाशकता पर आनन्दवर्धन अलग से भी कुछ कहते हैं। उसे हम आगे यही उन्हीं के बतलाए क्रम से प्रस्तुत करने जा रहे हैं।

[४] वाक्यप्रकाश्य रस

वाक्य दो प्रकार से रस को प्रकाशित करता है अलङ्काररहित रहकर तथा सालङ्कार होकर। इनमें से प्रथम का उदाहरण है रामाभ्युदय का निम्नलिखित वचन—

> कृतककुपितैर्बाष्पाम्भोभि सदैन्यविलोकितैर्
> वनमपि गता यस्य प्रीत्या धृतापि तयाम्बया।
> नव-जलधर-श्यामा पश्यन् दिशो भवतीं विना
> कठिनहृदयो जीवत्येव प्रिये स तव प्रिय ॥

प्रिये, माता कौसल्या द्वारा कृतक क्रोध, आँसू और दीन दृष्टियों से रोके जाने पर भी तुम जिसके प्रेम में विभोर हो वन-वन भटकी, तुम्हारा वही

---

१ ध्व० ३०५, ४१७

> कठोरहृदय प्रिय नव-जलधर-श्याम दिशाएँ देख रहा है और तुम्हारे बिना भी अभी तक जीवित है[1]।

यह पूरा वाक्य ही राम और सीता में जो परस्पर में अनुराग है उसे परिपुष्ट करता है। इसका प्रत्येक अंश व्यञ्जक है और उससे राम और सीता के परस्पर प्रेम में उत्तरोत्तर अधिक प्रकर्ष प्रतीत होता जाता है। अलङ्कारयुक्त वाक्य की रसप्रकाशकता के लिए निम्नलिखित वाक्य लिया जा सकता है—

> स्मर-नव-नदीपूरेणोढाः पुनर्गुरुसेतुभि-
> र्यदपि विधृतास्तिष्ठन्त्यारादपूर्णमनोरथाः।
> तदपि लिखितप्रख्यैरङ्गैः परस्परमुन्मुखा
> नयन-नलिनीनाला-नीतं पिबन्ति रसं प्रियाः॥

> दोनों प्रेमी जब स्मररूपी नवीन नदीपूर में वह निकले तो यद्यपि गुरुसेतुओं द्वारा रोक लेने पर रुक अवश्य गए हैं तथापि परस्पर में उन्मुख होकर वे दूर से भी नयनरूपी नलिनीनाल से आए रस का पान चित्रलिखित से होकर सदा ही कर रहे हैं, वे अपूर्णमनोरथ हैं[2]।

यहाँ आरम्भ में 'स्मररूपी नवीन नदीपूर' इस अंश में रूपकालंकार है और अन्त में 'नयनरूपी नलिनीनाल' इस अंश मे। बीच में 'गुरुसेतु'–शब्द में भी यह रूपक तो है ही उसके गुरुशब्द में श्लेष भी है। 'क्योंकि वे अपूर्ण मनोरथ हैं अतः नेत्रों से ही रसपान कर रहे हैं'–इस प्रकार यहाँ रसपान के प्रति अपूर्णमनोरथत्व हेतु है, किन्तु वह शब्दतः कथित नहीं है, अतः यहाँ पदार्थ-काव्यलिङ्ग भी है। प्रिय और प्रिया के व्यवहार पर चक्रवाक और चक्रवाकी के व्यवहार का आरोप हो रहा है, अतः उतने अंश में यहाँ समासोक्ति भी है। नलिनीनाल से रसपान चक्रवाकमिथुन ही करता है जब वह रात्रिकाल में बिछुड़ जाता है। इस प्रकार यह पूरा वक्तव्य सालंकार है। अलंकार भी इस ढंग से यहाँ संगुम्फित है कि उनसे रसविघात नहीं होता। उन्हे जितनी दूर तक ले चलना उचित है, कवि ने उतनी ही दूर तक पहुँचाया है। उसके आगे उन्हें छोड़ दिया है। वह उनकी हवश में आया हुआ नहीं दीखता। ये सभी अलंकार यहाँ नायकनायिका के परस्पर में व्यक्त रतिनामक स्थायी भाव का परिपोष करते और विप्रलम्भ शृङ्गार की अनुभूति कराते हैं। अनुभव के समय यह प्रतीत नहीं होता कि कब वाच्य अर्थ का

---

१. ध्व० ३०७

२. ध्व० ३०८

ज्ञान हुआ, कब अलकारो का और कब रस का। इस कारण अवश्य ही यहाँ प्रतीयमान अलक्ष्यक्रम है।

यहाँ अभिनवगुप्त ने एक स्पष्टीकरण दिया है। उनने कहा है कि जहाँ केवल वर्ण, पद और पदावयव को प्रकाशक बतलाया गया है वहाँ भी वस्तुत प्रकाशक वाक्य ही होता है, क्योंकि रस वाक्यार्थ से ही प्रकाशित होता है, इसलिये कि विभावादि की सामग्री बिना वाक्यार्थ के प्राप्त नही होती। इतने पर भी पद, पदावयव या वर्ण को जो प्रकाशक कहा जाता है वह उनमें प्रकाशकता की मात्रा अधिक होने के कारण। इसी प्रकार जहाँ वाक्य को प्रकाशक माना जाता है वहाँ पदादि की प्रकाशकता भी रहती ही है, क्योकि वाक्य बिना पद के बनता नही, तथापि वहा पद में एकाकित्वेन व्यञ्जकता नही रहती। वहाँ कोई एक पद व्यञ्जक नही होता, अपितु प्राय सभी पद व्यञ्जक होते है इसलिए केवल सख्याधिक्य के कारण वाक्य को व्यञ्जक या प्रकाशक कह दिया जाता है।

[५] सघटनाप्रकाश्य रस

सघटना का अर्थ है पदों का जोड। जोड विभक्तियुक्त पदो का भी हो सकता है और विभक्तिरहित पदो का भी। इनमें से द्वितीय के जोड को समास कहा जाएगा। सघटना प्राय समास में अधिक प्रकट रहती है। समास भी तीन प्रकार के हो सकते है छोटे, मझोल और लम्बे। तदनुसार सघटना भी तीन प्रकार की होगी अल्पसमासा, मध्यमसमासा तथा दीर्घसमासा। एक सघटना होगी समास-रहित। इस प्रकार सघटना के चार भेद होंगे

१ असमासा
२ अल्पसमासा
३ मध्यमसमासा तथा
४ दीर्घसमासा[1]।

इनमें से प्रथम और द्वितीय अर्थात् असमासा और अल्पसमासा को एक भी माना जा सकता है। सस्कृत में नञ् का अर्थ ईषत् या अल्प भी होता है। इस कारण प्राचीन आचार्य वामन ने सघटना को तीन ही नामो से पुकारा है

---

१ असमासा समासेन मध्यमेन च भूषिता।
तथा दीर्घसमासेति त्रिधा सघटनोदिता॥ [कैश्चित्]
गुणानाश्रित्य तिष्ठती माधुर्यादीन्,
व्यनक्ति सा रसान्॥ (ध्वन्या० ३।५–६)

१. असमासा
२. मध्यमसमासा तथा
३. दीर्घसमासा

यह हुआ प्राचीन आचार्यों का संघटना विचार। इससे यह प्रतीत होता है कि संघटना का नियामक समास है। वस्तुतः स्थिति भिन्न ही है। संघटना के नियामक है गुण। कहाँ कैसा समास अपेक्षित है इसका निर्णय गुणों के आधार पर ही हो सकता है। गुणों को नियामक मानने पर ही पदों मे आने वाले वर्णों का भी चयन संभव है। गुणों के आधार पर ही यह जाना जा सकता है कि किस संघटना मे कठोर वर्ण हों और किसमें कोमल। यदि माधुर्य की व्यञ्जना अपेक्षित हो तो संघटना में आए पदों के घटक वर्ण मधुर और कोमल होंगे। ओज के लिए उसके वर्ण परुष होंगे। प्रसादगुण में वर्णों की स्थिति दोनों ही प्रकार की हो सकेगी। इस प्रकार संघटना के नियामक वस्तुतः गुण हैं। वह पहले गुणों को व्यक्त करती है, फिर उनके माध्यम से रसों को। कहीं वक्ता, उसके वक्तव्य, और विषयाश्रित औचित्य भी उसके नियामक बन जाते है, और कुछ अपवाद प्रस्तुत करते है। इनका निरूपण काव्यतत्त्व नामक अध्याय के संघटनानामक स्वतन्त्र अनुच्छेद में होगा।

[६] **प्रबन्धप्रकाश्य रस :**

रामायण और महाभारत इसके प्रमाण है कि रस और अन्य अलक्ष्यक्रम-व्यङ्ग्य ध्वनियाँ प्रबन्ध मे भी प्रकाशित होती है। रामायण का क्रौञ्चवध आख्यान पहले प्रस्तुत किया ही जा रहा है। महाभारत का स्त्रीपर्व भी उसका उत्तम उदाहरण है। कुमारसंभव के तृतीय सर्ग को भी इसका अच्छा उदाहरण माना गया है। इसमें शिव के समाधि क्षेत्र में विकीर्ण मधुमास की आकस्मिक विभूति उद्दीपन विभाव है, वसन्तपुष्पों के आभरणों से सजी पार्वती उत्तम आलम्बन है और शिव के समक्ष पहुँचकर पार्वती द्वारा अपना मुखमण्डल कुछ घुमाकर बैठना अनुभाव है, संचारी भावों की भी उत्तम छटा है। इससे सामाजिक को अवश्य ही अपने भीतर किसी अपनी प्रसुप्त रति का स्पर्श मिलता है। और न केवल स्पर्श ही, वह उसमें डूब भी जाता है। यह स्थिति इस तृतीय सर्ग की पूरी कथा-वस्तु अथवा इसकी घटनाओं की पूरी शृङ्खला मे उत्पन्न होती है। निश्चित ही कुमारसंभव का यह पूरा प्रकरण शृङ्गाररस को बड़ी ही कुशलता और क्षमता के साथ पूर्णरूप से प्रकाशित करता है।

पदाशप्रकाश्य रस

उक्त वर्ण आदि छ व्यञ्जकों के अतिरिक्त भी कुछ व्यञ्जक या प्रकाशक होते हैं इस अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि के। ये प्रकाशक हैं पदांश। वस्तुत इन्हें कहना चाहिए पदांशांश अर्थात् पदों के अशों के अंश। पदावयव और पदांश का अन्तर उदाहरण से अपने आप व्यक्त हो जाएगा। पदांश कितने ही हो सकते हैं। इनमे कुछ, नामपदों के अंश होंगे और कुछ क्रियापदों के। इन दोनों को भी उपसर्ग और उपसर्गेतर इस प्रकार दो भागों में बाँटा जा सकता है। कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं

१ [क] नामपदांश उपसर्गेतर

मेघदूत में वियुक्त यक्ष अपने अलकास्थित भवन की सुवर्णनिर्मित मयूर-वासयष्टि का वर्णन करने के बाद कहता है

> तन्मध्ये च स्फटिकफलका काञ्चनी वासयष्टि-
> र्मूले बद्धा मणिभिरनतिप्रौढ वंश-प्रकाशैः ।
> तालैः शिञ्जद्वलयसुभगैः कान्तया नर्तितो मे
> यामध्यास्ते दिवसविगमे नीलकण्ठ सुहृद् व ॥

मित्र मेघ, जब शाम हो जाती है तो तुम्हारा मित्र नीलकण्ठ मयूर उस वासयष्टि पर जा बैठता है, किन्तु ऐसे वैसे नहीं, मेरी कान्ता की तालियों से, और खनकती चूडियों वाली तालियों से ठुमक ठुमक कर[1]।

यहाँ ताली के साथ आई बहुवचनान्त विभक्ति के पुनरावर्तन पर ध्यान दीजिए। कितनी लचीली और स्पर्शिनी है उसकी योजना। कान्ताशब्द तो मानो जान लिये ले रहा है। कितनी सजावट, और सुहागिन सजावट रहती रही यक्षिणी के शरीर पर जब यक्ष अलका में ही रहता रहा। कान्ताशब्द का मूलशब्द 'कम' सस्कृत में इच्छार्थक धातु है। यक्षी यक्ष की जाया ही नहीं है, घरवाली ही नहीं है, चहेती भी है। यक्ष का स्थितिविपर्यय यहाँ कितनी गम्भीरता के साथ चित्रित हो रहा है मानसपटल पर। इसमें ताली की विविधता तो मानो मूर्त बना रही है यक्षपत्नी की कुशलता को, और ललितकला की कुशलता को। इस कुशलता से इस विपर्यय की कचोट और नुकीली हो जाती है।

[ख] नामपदांश उपसर्गात्मक

मृगयाविहारी दुष्यन्त शाकुन्तल में दूर से ही पहचान लेता है कि वहाँ कहीं कोई तपोवन है। पहचान के कारण प्रस्तुत करते हुए वह कहता है—

---

१ ध्वन्या० पृ० ३५१

नीवाराः शुकगर्भकोटरमुखभ्रष्टास्तरूणामधः
प्रस्निग्धाः क्वचिदिङ्गुदीफलभिदः सूच्यन्त एवोपलाः ।
विश्वासोपगमादभिन्नगतयः शब्दं सहन्ते मृगा—
स्तोयाधारपथाश्च वल्कलशिखानिष्यन्दरेखाङ्किताः ॥

यहाँ कहीं प्रस्निग्ध उपल पड़े हुए हैं निश्चित ही यहाँ रात्रिदीपिका के लिए अपेक्षित तैल निकालने हेतु इङ्गुदी के फल कुचले गये हैं[1] ।

इस वाक्य में स्निग्ध के साथ लगे 'प्र'-उपसर्ग पर दृष्टि दीजिए । स्निग्ध का अर्थ होता है चिकना और उसमें 'प्र' का योग बतला रहा है उस चिकनाहट की गम्भीरता । इससे यहाँ वन का तपोवनत्व प्रतीत हो रहा है और प्रतीत हो रहा है कि एक ही पत्थर से इङ्गुदीफल कितने ही लम्बे अरसे से तुड़ते आ रहे है, उन्हे वहाँ से कोई हटाता नही । बड़ा ही शान्त और उपद्रवशून्य है वह स्थान । यह हुआ एक उपसर्ग की प्रकाशकता का उदाहरण । अब लीजिये अनेक उपसर्गों की प्रकाशकता का उदाहरण—

मनुष्यवृत्त्या समुपाचरन्तं स्वबुद्धिसामान्यकृतानुमानाः ।
योगीश्वरैरप्यसुबोधमीश त्वां बोद्धुमिच्छन्त्यबुधाः स्वतर्कैः ॥

हे भगवन्, मनुष्यवृत्ति से समुपाचरणशील आपको लोग अपनी क्षुद्र बुद्धि से अनुमान का सहारा लेकर अपने मन के तर्कों से जानना चाहते हैं । कितने बुद्धिहीन हैं ये लोग । अरे, आप तो योगीश्वरों के लिये भी दुर्बोध्य हैं[2] ।

यहाँ 'समुपाचरण'-शब्द में तीन उपसर्ग हैं सम्, उप और आ । इनसे विदित होती हैं तीन बातें सम्यक्त्व, उपांशुत्व और चारों दिशायें । परमात्मा को हमारे हित के लिये अच्छी तरह से चुपचाप सब जगह जागरूक बतलाया गया इन उपसर्गों की एकत्र योजना से । ऐसी ही योजना है 'समुद्वीक्षण'-पद[3] में । यहाँ भी अर्थ होगा ठीक से गम्भीरता के साथ विशिष्ट ईक्षण ।

---

१. ध्व० पृ० ३५३.
२-३ ध्व० पृ० ३५४.

प्रभ्रश्यत्युत्तरीयत्विषि तमसि समुद्वीक्ष्य वीतावृतीन् द्राग्
जन्तूंस्तन्तून् यथा यानतनु वितनुते तिग्मरोचिर्मरीचीन् ।
ते सान्द्रीभूय सद्यः क्रमविशददशाशादशाली - विशालं
शश्वत् संपादयन्तोऽम्बरममलमलं मङ्गलं वो दिशन्तु ॥ ध्व० ३५४ ॥

इस प्रकार उपसग भी रसादि अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के प्रकाशक होते है। उक्त दोनों स्थलो में से प्रथम मे तपोवन की शान्ति या शान्तरस का प्रकाशन हो रहा है और दूसरे में भगवान् के प्रति वक्ता की भक्ति का। यह भक्ति रति ही है, किन्तु यह देवविषयक है, अत रस नही, भाव है। यदि यह किसी तत्त्वज्ञानी की उक्ति है और इसमें भगवान् के प्रति भक्ति नही, वास्तविक स्थिति प्रकाशित की गई है तो सासारिक बौद्धिक अनुमानो के प्रति दुर्बलता, और, उस परम तत्त्व की दुर्वारता की अभिव्यक्ति होगी और उससे यहाँ भी शान्तरस ही अन्तिम व्यङ्ग्य के रूप मे प्रकाशित होता है। उसमें यहाँ उपसर्गयोजना अधिक सक्रिय है, अत पदाश का उदाहरण है। यदि हम चाहे तो उपसग को पदपूर्वांश भी कह सकते है, क्योकि उपसर्ग सदा ही पद के पहले ही आते है। इस दृष्टि मे अन्य अशो को परवर्ती अश कहना होगा और उनका नाम पदोत्तराश किया जायेगा।

२ क्रियात्मकपदाश

अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य रस क्रियात्मक पद के अश मे भी व्यङ्ग्य होता है। उदाहरणार्थ कोई खण्डिता नायिका अपने शठ नायक से कह रही है—

> **जा हट, मेरी आँखे केवल रोने के लिए ही बनी हैं। इन्हें अब और न फुला। हाय ये ऐसी हैं कि इनने तुझे देखते ही होशहवाश खो दिया और उन्मत्त हो उठीं[1] तेरा हृदय नहीं परखा।** [प्राकृतगाथानुवाद]

यहाँ नेत्रो के लिए जिस फुलाने की बात कही जा रही है उससे प्रतीत होता है कि नायिका प्रतीक्षा में काफी आसू बहा चुकी है। उससे उसकी वियोग-व्यथा का अनुभव सामाजिक को भी होता है। ध्यान देने की बात यह है कि यहाँ जो 'फूलना'-क्रिया है, वही है 'फुला'—इस क्रियापद में प्राण। उससे प्रतीत होता है कि आँखे रोते रोते पहले से ही फूली हुई है। सस्कृत और प्राकृत में इसके लिए 'पुस'-धातु का प्रयोग किया गया है। उसका अर्थ होता है अभिवर्धन। उस क्रियापद के 'पुस' इस अश से यह तथ्य और भी स्पष्ट हो जाता है। यहाँ 'जा हट' यह क्रिया भी नायक के प्रति नायिका का आक्रोशातिशय स्पष्ट करती है। इसके लिए प्राकृत में 'अवसर' पद आया है और सस्कृत में 'अपसर'-पद। इन

---

१ अवसर रोउ चिअ णिम्मिआइ मा पुस मे हअच्छीइ।
दसणमत्तुम्मत्तेहि जेहि हिअअ तुह ण णाअ॥
[अपसर रोदितुमेव निर्मिते मा पुसय हते अक्षिणी मे।
दर्शनमात्रोन्मत्ताभ्या याभ्या तव हृदयमेवविध न विदितम्।]

पदों से 'अभिसर' शब्द की भी ध्वनि निकलती है और नायक को अन्य नायिका के साथ छिपकर मिलने की बात भी सामने आती है। इसीका दूसरा उदाहरण—

किसी प्रगल्भा का रास्ता रोक रहे किसी किशोर रसिक से नायिका ही कह रही है—

मत रोक मेरा रास्ता। जल्द हट। अरे तू तो निरा दुधमुहा है। ओ हो, तू तो बड़ा बेलाज है। हम ठहरीं परतन्त्र। देख न, यह सूना घर हमें रखाना है[1]।

यहां शीघ्र हटने के लिए संस्कृत मे 'अपेहि' क्रियापद का प्रयोग है। इससे नायिका नायक को यह संकेत करना चाहती है कि 'यदि वह कुछ देर तक रास्ता रोकता रहा तो बात फैल जायेगी'। यह हुई शंका, जिसे संचारी भाव माना गया है। इसकी व्यञ्जना यहां नायक-नायिका के आनुकूल्य को ध्वनित करती और उनके बीच छिपी उनकी रति को जगाती है। सूने घर की बात दोनों के मिलन के लिए उचित स्थान का सङ्केत देती है और उससे यह रति सामाजिक में जाग उठती है। न केवल जाग उठती है, वह उसकी चेतना को आवृत कर लेती और उसे किसी दूसरी ही स्थिति में निमग्न कर लेती है। यह सब इतने शीघ्र हो जाता है कि क्रम का भान नही के बराबर ही होता है।

अन्य प्रकाशक :

उपर्युक्त तत्त्वों के अतिरिक्त भी कुछ ऐसे तत्त्व है जो इस अलक्ष्यक्रम-व्यङ्ग्य ध्वनि को प्रकाशित करते हैं। इनमें हम सम्बन्ध, कारकशक्ति, कृत्, तद्धित तथा समास को गिन सकते है। निपातों की गणना भी यहां महत्त्वपूर्ण होगी। ये सब एक एक संख्या में भी हो सकते है और एकाधिक संख्या मे भी। इन सबके लिए संस्कृत का यह पद्य उत्तम उदाहरण है—

न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयस्तत्राप्यसौ तापसः
सोऽप्यत्रैव निहन्ति राक्षसकुलं जीवत्यहो रावणः।
धिग्धिक्छक्रजितं प्रबोधितवता किं कुम्भकर्णेन वा
स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठनवृथोच्छूनैः किमेभिर्भुजैः॥

---

1. मा पन्थं रुन्धीओ अवेहि बालअ अहोसि अहिरीओ।
अम्हेअ णिरिच्छाओ सुण्णघरं रक्खिदव्वं णो॥
[मा पन्थानं रुधः अपेहि बालक अप्रौढ अहो असि अह्रीकः।
वयं निरिच्छाः शून्यगृहं रक्षितव्यं नः।]

राम से सन्तप्त रावण कह रहा है—

"घोर अब पतन तो मेरा यही है कि मेरे भी शत्रु हैं, तत्रापि यह तापस ? और वह भी यही राक्षसकुल को बेतहाशा मारता जा रहा है। और रावण जीवित ही है। ओ हो। धिक्कार है धिक्कार है शक्रजित् मेघनाद को। जग उठे कुम्भकर्ण से भी कोई लाभ नहीं। इन स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठन-वृथा-उच्छून भुजाओं से भी क्या।"

सबन्ध इस पद्य में 'मेरे भी शत्रु' इस अंश में जो 'मेरे' यह शब्द है इससे सबन्ध का बोध हो रहा है। शत्रु का अस्तित्व इसलिए शोचनीय है कि उसका सम्बन्ध रावण से है। शत्रु हों तो किसी और के हो सकते हैं। रावण के शत्रु हों यह सभव नहीं। इतने पर भी यदि वे है तो उससे बड़ी कोई लज्जास्पद बात नहीं। इस प्रकार यहाँ ध्वन्यमान अर्थ का प्रकाशक सम्बन्ध है।

कारक 'वह भी यही राक्षसकुल को' इस अंश में कारकों की योजना प्रकाशक है। यहाँ 'वह' कर्ता, 'यही' अधिकरण और 'राक्षसकुल' कर्म है। इनकी योजना से एक आश्चर्यजनक घटना पर प्रकाश पड रहा है। राम, अकेला असहाय और तपस्वी। राक्षस, अनेक और अत्यन्त अलौकिक शक्तियो से सम्पन्न। इतना होने पर भी मारता जा रहा है राम, और मरते जा रहे हैं राक्षस। यह सब भी हो रहा है वहाँ, जहाँ रावण स्वय उपस्थित है। रावण की उपस्थिति में तो मिट्टी भी वज्र बन सकती है। इतने पर भी यदि वज्र मिट्टी बन रहा हो तो, है ही एक महान् आश्चर्य। इस प्रकार यहाँ जो व्यङ्ग्य अर्थ प्रतीत हो रहा है वह कारकयोजना से निष्पन्न होता दिखाई देता है।

कृत् 'शक्रजित्' और 'प्रबुद्ध' शब्द ऐसे शब्द हैं जिनमें कृत्प्रत्यय है, अत जो कृदन्त पद हैं। एक जीतने वाला इन्द्र का, और दूसरा जाग जाने पर खा जाने में समर्थ पूरे मानवलोक को। यहाँ दोनो उपस्थित हैं, परन्तु हो रहा है सहार राक्षसों का ही, और वह भी मानव के ही द्वारा। कितने अचम्भे की है यह बात।

तद्धित ग्रामशब्द से ग्रामटिकाशब्द तद्धितयोजना द्वारा बनाया गया और उसके द्वारा ग्राम की क्षुद्रता व्यक्त की गई। इस प्रकार स्वर्ग को कहा गया गाँवड़ा। रावण ने उसे लूटा तो उसकी भुजाओं का मद हुआ। रावण ग्लानि में आकर कह रहा है कि 'स्वर्ग को लूटना कोई बडा कार्य नहीं

था, क्योंकि स्वर्ग था ही कितना वड़ा। अधिक से अधिक वह एक छुटके गाँव के वरावर था'। यह अर्थ यहाँ ग्रामशव्द को तद्धितद्वारा 'ग्रामटिका' वनाने से प्रकाशित हुआ।

समास : 'स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठनवृथोच्छूनैः' शव्द समासयुक्त शव्द है। इससे यहाँ कवि रावण की भुजाओं के स्मरण का प्रभाव वतला रहा है। रावण स्वयं को जव अपनी भुजाओं का स्मरण आया तो उसमे एक ओज आ गया और वह इस समासयुक्त वचन को वोल उठा जिसका निर्माण उन ध्वनियों वाले पदों से हुआ है जिनमे ओजोव्यञ्जकता है अर्थात् टवर्गीय ध्वनियों द्वारा। अन्य ध्वनियाँ भी उसमे ऐसी ही है।

इस प्रकार इसी एक स्थल में उपर्युक्त अनेक व्यञ्जकों का समावेश दिखाई दे रहा है। उक्त व्यञ्जकों के अतिरिक्त यहाँ और भी अनेक अंश व्यञ्जक है। यथा विलुण्ठनशव्द में 'वि' उपसर्ग और 'भुजैः'—शव्द मे भुज-शव्द के आगे लगा वहुवचन।

निपात : संस्कृतभाषा में निपातशव्द से 'भी', 'और' 'किन्तु' आदि की वोधक 'अपि', 'च' 'तु' आदि ध्वनियाँ अपनाई जाती है। निपातों के विषय में संस्कृत—व्याकरणसंप्रदाय का सिद्धान्त है कि ये ध्वनियाँ किसी भी अर्थ की वाचक नहीं होतीं। ये ध्वनियाँ अन्य शव्दों द्वारा उपस्थित अर्थो की वोधक भर होती है। वोधक का अर्थ है उस ओर मस्तिष्क को मोड़ देने वाली, किन्तु अर्थस्वरूप का स्पर्श न करने वाली। इसलिए इन ध्वनियों को पद-वर्ग से पृथक् गिनाया जाता है और यहाँ आनन्दवर्धन ने भी ऐसा ही किया है।

निपातध्वनियों की प्रकाशकता के लिए भी आनन्दवर्धन ने ऊपर प्रस्तुत किए पद्य को ही उदाहरण माना है। इसमें 'भी', 'धिक्' 'अहो' और 'वृथा' ऐसी ही ध्वनियाँ है। श्लोकार्थ पर ध्यान देने से इनकी प्रकाशकता स्पष्ट हो जाती है। और अच्छा उदाहरण शाकुन्तल से उन्होंने उपस्थित किया है। यह है—तृतीय अंक में शकुन्तला का मुख चुम्वन के लिए ऊँचा उठाते ही गौतमी के आ जाने से अलग हुए दुष्यन्त का यह कथन :

मुहुरङ्गुलिसंवृताधरोष्ठं प्रतिषेधाक्षरविक्लवाभिरामम्।
मुखमंसविवर्त्ति पक्ष्मलाक्ष्याः कथमप्युन्नमितं न चुम्वितं तु[1]॥

१. ध्व० पृ० ३५३.

उसका वह मुख मैंने किसी प्रकार ऊँचा तो कर लिया किन्तु चूम पाया नही।

यहाँ जो 'तु' अर्थात् 'किन्तु' है उसकी व्यञ्जना पर ध्यान दीजिए। कितना पछतावा छिपा हुआ है उसमें वक्ता के हृदय का। सस्कृत का 'तु' शब्द तो और भी अधिक शक्ति लिए है इस प्रकार की व्यञ्जकता में।

निपातसमुदाय

ऐसे ही निपात कभी एकत्रित होकर समुदाय के रूप मे उपस्थित होते है। यथा कुमारसम्भव में इन्द्र काम की प्रशसा करता और कहता है 'अहो बतासि स्पृहणीयवीर्य' 'अहो बत=ओफ् ओह, कितनी अधिक स्पृहणीय है तुम्हारी शक्ति'। यहाँ 'अहो बत' या 'ओफ् ओह' इस निपातसमुदाय में और भी अधिक व्यञ्जकता रहती है।

पदपौनरुक्त्यप्रकाश्य

कभी कभी एक ही पद की आवृत्ति भी व्यञ्जक हो जाती है। उदाहरणार्थ—

> यद् वञ्चनाहितमतिर्बहु चाटुगर्भं कार्योन्मुख खलजन कृतक ब्रवीति।
> तत् साधवो न न विदन्ति, विदन्ति, किन्तु कर्तुं वृथा प्रणयमस्य न पारयन्ति॥
>
> कार्योन्मुख खलजन बुद्धि में ठगोरी छिपाकर भी जो मुह से बनावटी मीठा बोलते है उसे सत्पुरुष नही समझते ऐसा नही, समझते ही है, पर इसकी उस प्रीतियाचना को वे वृथा नही पाते[2]।

यहाँ 'समझना' एक ही साथ दो बार आया है। इससे प्रकृत वाक्यार्थ का जो परिपोष होना है और उससे उपस्थित वक्तव्य मे जो दृढता आती है उसकी अनुभूति किसे नही होती।

कालविशेषप्रकाश्य

कभी कभी कालवैशिष्ट्य भी अलक्ष्यक्रम का व्यञ्जक होता है। यथा—कोई विरहिणी कह रही है—

---

१ सुरा समभ्यर्थयितार एते कार्य त्रयाणामपि विष्टपानाम्।
चापेन ते कर्म न चातिहिंस्रमहो बतासि स्पृहणीयवीर्य॥
(कु० ३। ध्व० पृ० ३५५)

२ ध्व० पृ० ३५५

समविषमनिर्विशेषाः समन्ततो मन्दमन्दसञ्चाराः ।
अचिराद् भविष्यन्ति पन्थानो मनोरथानामपि दुर्लङ्घ्याः ॥

वर्षाकाल के पथ, जब उनके सभी गढ्ढे भर जाएँगे और उनमें यातायात कम हो जाएगा और जितना रहेगा उसमें भी लोग धीरे-धीरे चलेंगे, निश्चित ही मनोरथों से भी दुर्लङ्घ्य हो जाएँगे[1] ।

अर्थात् जब जीवजगत् में एक मन्थरता चली आएगी, कण-कण की आत्मा गदरा उठेगी, अवचेतन मुखर हो उठेगा तब यह कैसे सम्भव है कि वर्षा के रस से पिच्छल इस भूमण्डल पर कोई भौतिक यातायात भी कर सके । निश्चित ही तब प्रवासी प्रिय या तो आ पाएगा ही नहीं, या उसके आने में विलम्ब होगा । कैसी क्षीण आशा छिपी है निराशा की इस उक्ति मे ।

प्रकृतिविशेषप्रकाश्य :

उक्त प्रकाशकों के अतिरिक्त भी कुछ प्रकाशक होते हैं । उदाहरणार्थ—श्रीकृष्ण से संपत्ति प्राप्त हो जाने पर सुदामा की परिवर्तित स्थिति पर विचार करते हुए कोई दर्शक कहता है—

तद् गेहं नतभित्ति, मन्दिरमिदं लब्धावकाशं दिवः,
सा धेनुर्जरती, नदन्ति करिणामेता घनाभा घटाः ।
स क्षुद्रो मुसलध्वनिः, कलमिदं संगीतकं योषिता-
माश्चर्यं दिवसैर्द्विजोऽयमियतीं भूमिं समारोपितः ॥

वह घर, जिसकी दीवालें झुकी थीं और यह गगनचुम्बी महाप्रासाद, वह बूढ़ी गैया और ये भाँति भाँति के हाथियों की मेघतुल्य घटाएँ, वह क्षुद्र मुसलध्वनि और यह वनिताओं का दिव्य संगीत । अचरज है—कुछ ही दिनों में यह बम्हन इतनी बड़ी मंजिल पर बैठा दिया गया[2] ।

यहाँ 'दिनों'-शब्द पर ध्यान दीजिए । प्रतीत होता है कि इतनी बड़ी सम्पत्ति वर्षों तक श्रम करने पर भी नहीं जुटती और इस ब्राह्मण को द्वारका तक जाने में लगे कुछ दिनों में ही इतनी सम्पत्ति मिल गयी । यहाँ द्विजशब्द या उसका अनुवाद 'बम्हन'-शब्द भी महत्त्व का है । जिसे वेद पढ़ने से ही फुरसत नहीं, व्यापार रोजगार की जिसे पीढ़ियों से अकल नही, जो सम्पत्ति का उपभोग करना नही जानता, तपस्या ही जिसका धन है उसे इतनी सम्पत्ति मिल गई ? मानो

१-२. ध्व० पृ० ३५६

आश्चर्य और अनर्थ दोनो सपिण्डित हो उठे। इस प्रकार यहाँ बहुवचन से युक्त 'दिवस'-शब्द और एकवचन से युक्त 'द्विज'-शब्द रूपी जो प्रकृतियाँ है वे अपने आपमें अतीव व्यञ्जक हैं।

सर्वनामप्रकाश्य

इस पद्य में सर्वनाम की भी व्यञ्जकता देखी जा सकती है। 'वह'-शब्द के द्वारा जिस जिस की ओर यहाँ सकेत किया गया वह प्रत्येक वस्तु अतिशय वैषम्य प्रस्तुत करती है[1]।

स्पष्टीकरण

[१] ये सभी प्रकाशक पद, वाक्य और रचना के ही भीतर आ जाते है। इनका पृथक् विवेचन इसलिए किया गया है कि इससे यह प्रतीत हो सकता है कि अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य का क्षेत्र कितना विस्तृत और कितना व्यापक है। उसकी शिराएँ कितनी सूक्ष्म और कितनी स्पन्दनशील हैं।

[२] इस प्रकार मे जो यह कहा गया है कि कही पद ही व्यञ्जक हैं और कही तदितर अन्य, उससे यह नही समझा जाना चाहिए कि वहाँ अर्थ व्यञ्जक नही है। अर्थ के विना उक्त सभी प्रकाशक, प्रकाशक नही बनते। ये सब अर्थ का ज्ञान कराकर ही रस आदि की व्यञ्जना में समर्थ होते हैं। इस प्रकार पद आदि की व्यञ्जकता के स्थल में भी अर्थ अनिवार्य माध्यम के रूप में अधिष्ठित रहता है और रस आदि की व्यञ्जना मे उसका सहयोग अखण्डित ही बना रहता है। अर्थ के रहने पर भी व्यञ्जकता को शब्दगत स्वीकार करने का अर्थ है उन शब्दों के विना रस आदि की व्यञ्जना का अभाव। माना कि शब्द अर्थ को प्रकट करके ही रस का प्रकाश करते है तथापि उनकी अपनी भी एक महत्ता होती है। यह महत्ता उन्हे हटाकर दूसरे शब्दो के चयन के प्रयास से स्पष्ट होती है। भरतमुनि ने भी अपने नाट्यशास्त्र के षष्ठ अध्याय मे स्रक्, चन्दन, वनिता आदि शब्दो को शृङ्गारादि की व्यञ्जक सामग्री में गिनाया है। अवश्य ही इन शब्दो की स्वाभाविक

---

१ कुन्तक ने वक्रोक्तिजीवित के प्रथम तथा द्वितीय उन्मेष में वर्ण आदि की प्रकाशकता को वक्रोक्तिनाम से और भी विस्तार के साथ प्रस्तुत कर दिया है।

कोमलता रसविशेष से सम्बन्ध रखती है और इसलिए अवश्य ही ये शब्द ही यहां व्यञ्जना के प्रमुख वाहन हैं। अर्थ उनका सहायक भर है।

इस प्रकार विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि के एक भेद 'अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य' का निरूपण हुआ। अब हम इसी के एक अवशिष्ट भेद 'अनुरणनोपमव्यङ्ग्य' [संलक्ष्य-क्रमव्यङ्ग्य'] पर आनन्दवर्धन के विचार जानेंगे।

अनुरणनोपमव्यङ्ग्य ध्वनि :

आनन्दवर्धन ने इस ध्वनिवर्ग को दो भागों मे विभक्त किया है—

१. शब्दशक्तिमूलक तथा
२. अर्थशक्तिमूलक।[1]

शब्दशक्तिमूलक :

इनमे से जो शब्दशक्तिमूलक प्रथम भाग है उसमें व्यञ्जक रूप में स्वीकार किया जाने वाला शब्द दो रूपों मे व्यञ्जक होता है १. पदरूप मे और २. वाक्य-रूप मे। इन दोनों प्रकार के व्यञ्जक शब्दों से जो अर्थ प्रतीयमान अर्थ के रूप में प्रकट होता है वह एकमात्र अलङ्काररूप होता है[2]। अतः इस ध्वनि के दो ही भेद होते हैं—

१. पदप्रकाश्यालङ्काररूपव्यङ्ग्य तथा
२. वाक्यप्रकाश्यालङ्कारव्यङ्ग्य।

इनमें से—

[१] पदप्रकाश्य अलङ्काररूप व्यङ्ग्य :

का उदाहरण देते हुए आनन्दवर्धन ने एक ऐसे व्यक्ति का उद्‌गार प्रस्तुत

---

१. क्रमेण प्रतिभात्यात्मा योऽस्यानुस्वानसन्निभः।
शब्दार्थशक्तिमूलत्वात् सोऽपि द्वेधा व्यवस्थितः॥ ध्वन्या० २।२०॥

२. जहां एक ही शब्द से एकाधिक अर्थ प्रतीत होते हैं वहां उन सब अर्थों में सम्बन्धकल्पना आवश्यक होती है। यह सम्बन्ध या तो साम्यरूप होता है, या अभेदरूप। दोनों स्थितियों में प्रतीयमान अर्थ अनिवार्यरूप से अलङ्कार रूप ही होता है। यदि अन्य अर्थ की प्रतीति को लेकर उसे वस्तुध्वनि माना जाए तो फिर अलङ्कारध्वनि के लिए कोई स्थान शेष न रहेगा।

किया है जो है तो उदार, किन्तु गरीबी के कारण दूसरो की इच्छा पूरी नही कर पा रहा है। वह कहता है—

> भ्रातु घनैर्रार्थिजनस्य वाञ्छा दैवेन सृष्टो यदि नाम नास्मि।
> पथि प्रसन्नाम्बुधरस्तडाग कूपोऽथवा किं न जड कृतोऽहम्॥
>
> यदि विधाता ने मुझे इस योग्य नही बनाया कि मैं याचको की इच्छा पूरी कर सकूँ तो उसने मुझे जड ही क्यो नही बना दिया, जैसे स्वच्छ जल से परिपूर्ण रास्ते का तलाव या जैसे वैसा ही कुआँ[1]।

इस उक्ति में जो जड शब्द है इसका प्रयोग किया तो है वक्ता ने अपने स्वय के लिए, परन्तु उसका सम्बन्ध तलाव और कुएँ के साथ भी प्रतीत होता है। प्रतीत होता है कि वक्ता तलाव और कुएँ के जल में स्वच्छता भी बतलाना चाहता है और शीतलता भी। यह इसलिए प्रतीत होता है कि सस्कृत में 'जड' का अर्थ अचेतन होने के साथ ही शीतल भी होता है।

यह जो शीतलतारूपी अर्थ है यह यहाँ प्रतीयमान अर्थ के रूप में प्रकट हो रहा है। ध्यान देने की बात यह है कि यह अर्थ तभी तक प्रतीत होता है जब तक 'जड'-शब्द सामने रहता है। इस शब्द के हटते ही वह अर्थ भी हट जाता है। निश्चित ही यह अर्थ एकमात्र 'जड -शब्द की शक्ति पर प्रतीत हो रहा है, अत शब्दशक्तिमूलक है, और क्योकि जड-शब्द एक पद है, वाक्य नही, अत इस अर्थ को हम पदप्रकाश्य भी कह सकते हैं। क्योकि इसकी प्रतीति वाच्य अर्थ की प्रतीति के पश्चात् इतने विलम्ब से होती है कि इसे अलक्ष्यक्रम नही कहा जा सकता। इसमें क्रम का भान होता है, अत यह अनुरणनोपम भी है। फलत यह स्थल **पदप्रकाश्यशब्दशक्तिमूलकानुरणनोपमालङ्कार** ध्वनि का स्थल मान्य है।

यहाँ जो अर्थ प्रतीयमान अर्थ के रूप में निकल रहा है उस पर ध्यान देने से प्रतीत होता है कि वह केवल इतनी ही दूर तक सीमित नही है कि 'कुआँ और तालाव शीतल हैं', अपितु उसे हम और भी दूर तक व्याप्त पाते हैं। हम अनुभव करते हैं कि वक्ता यह बतलाना चाहता है कि 'तलाव परोपकार में अक्षम चेतन की अपेक्षा अधिक अच्छा है, उसमें चेतना नही है इसीलिए पूरी शीतलता भी है, क्योकि उसमें कोई अन्तर्दाह नही है। साथ ही वह मार्गस्थित है अत उससे परोपकार भी सभव है'। यह जो अभिप्राय है यह बतलाता है कि वक्ता अपनी अपेक्षा अचेतन कूप और तडाग को उत्कृष्ट बतला रहा है। सामान्यत उदार

---

१ ध्व० पृ० २९७

व्यक्ति को प्रसन्न जलाशय का उपमान बतलाया जाता है। जब उपमान की अपेक्षा उपमेय उत्कृष्ट सिद्ध किया जाता है तब व्यतिरेक-नामक अलङ्कार माना जाता है। इस प्रकार इस वक्तव्य में व्यतिरेकालङ्कार की प्रतीति प्रतीयमान अर्थ के रूप मे हो रही है[1]।

[२] वाक्यप्रकाश्य अलङ्काररूप व्यङ्ग्य :

उपर्युक्त वक्तव्य मे एक ही शब्द व्यञ्जक था। जहाँ अनेक शब्द व्यञ्जक होते हैं वहाँ व्यञ्जकता वाक्यगत मानी जाती है। इसका उदाहरण देते हुए आनन्दवर्धन ने बाणभट्ट की अमर गद्यकृति हर्षचरित का एक वाक्य प्रस्तुत किया है। राज्यवर्धन की हत्या हो जाने पर सेनापति सिंहनाद हर्षवर्धन के पास आता और कहता है—

वृत्तेऽस्मिन् महाप्रलये धरणीधारणायाधुना त्वं शेषः।

भगवन्, इस महाप्रलय की वेला में इस धरणी के धारण के लिए अब आप ही शेष है[2]।

यहाँ महाप्रलय, धरणीधारण और शेष तीनों शब्द अनेकार्थक है। इनसे महाप्रलय के समय शेपनाग द्वारा पृथ्वीपिण्ड को स्थिर बनाए रखने की बात भी निकलती है। किन्तु यह बात यहाँ प्रकरणानुमोदित बात नहीं है। प्रकरणानुमोदित है केवल प्रभाकरवर्धन और राज्यवर्धन के चल बसने पर उनके अभाव की दुर्भाग्यपूर्ण कुघड़ी में प्रजापालन के लिए केवल हर्षवर्धन का बच रहना। जब यह अर्थ उक्त सभी शब्दों से निकल आता है तब शेपनागद्वारा प्रलयकाल में भूगोलसंधारण रूपी दूसरे अर्थ की प्रतीति होती है। इस अर्थ पर आने के बाद बुद्धिधारा पुनः प्रथम अर्थ की ओर लौटती है, और तब इन दोनों अर्थों के बीच वह एक समानता के भी दर्शन करती है। यह साम्य उपमालङ्कार है। यदि कहा जाए तो इसे रूपकालङ्कार भी कहा जा सकता है, क्योंकि वह भी साम्यमूलक ही होता है और यहाँ शेपनाग का हर्षवर्धन पर आरोप प्रतीत भी होता है। यहाँ

---

१. मम्मट ने शब्दशक्ति द्वारा वस्तु को भी व्यङ्ग्य माना है और उसके लिए 'उन्नत पयोधर को देखकर यदि रुकना चाहो तो हे पथिक रुक सकते हो' यह उदाहरण दिया था। यहाँ भी पयोधरशब्द स्तनों पर मेघों का रूपक प्रस्तुत कर रहा है। अत. यह भी अलङ्कारध्वनि ही है।

२. हर्पचरित उ०-६ नि० सा० सं० पृ० १९२-२ सन् ४६।

शब्द बदले नही जा सकते, अत यह प्रतीति शब्दशक्तिमूलक है और एकाधिक शब्दो से यह हो रही है अत वाक्यप्रकाश्य है। साथ ही इस प्रतीति में क्रम का भान होता है, अत यह अनुरणनोपम भी है। इस प्रकार यह हुआ शब्दशक्तिमूलक द्वितीय अनुरणनोपम व्यङ्ग्य अर्थात् वाक्यप्रकाश्यशब्दशक्तिमूलकानुरणनोपमालङ्कार-ध्वनि। अब आइए अर्थशक्तिमूलक अनुरणनोपमव्यङ्ग्य ध्वनि पर[1]।

अर्थशक्तिमूलक

अर्थशक्तिमूलक ध्वनि ध्वन्यमान अर्थ की दृष्टि से दो वर्गों में बँट जाती है

१ वस्तुध्वनिवर्ग तथा
२ अलकारध्वनिवर्ग[2]।

अर्थात् एक वह वर्ग जिसमें ध्वन्यमान अर्थ वस्तुरूप रहता है और दूसरा वह वर्ग जिसमें अलकाररूप।

[१] वस्तुध्वनि वर्ग

इनमें प्रथम अर्थात् वस्तुरूप ध्वन्यमान अर्थ वाले वर्ग में जो अर्थ व्यञ्जक होता है वह भी दो प्रकार का होता है

[क] प्रौढोक्तिमात्रसिद्ध तथा
[ख] स्वत सभवी[3]।

अर्थात् एक वह अर्थ होता है जिसे कल्पना द्वारा प्रस्तुत किया जाता है और दूसरा वह जिसके लिए ऐसा कुछ भी नही करना पडता, फलत जो अपने आप सिद्ध रहता है। कल्पना भी दो प्रकार की हो सकती है

[अ] कविकृत और
[आ] कवि द्वारा उपस्थापित वक्ता द्वारा की गयी।

---

१ आनन्दवर्धन ने शब्दशक्तिमूलक अलङ्कारध्वनि के और भी अनेक उदाहरण दिए है। देखिए २।२७ वृत्ति।

२ आनन्दवर्धन ने अर्थशक्तिमूलक अनुरणनोपमव्यङ्ग्य ध्वनि के भेद इसी प्रकार किए है। एतदर्थ देखिए यही की टिप्पणी क्रमाक—३।

३ प्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीर सभवी स्वत।
अर्थोपि द्विविध प्रोक्तो वस्तुनोऽन्यस्य दीपकः॥
अर्थशक्तेरलकारो यत्राप्यन्य प्रतीयते।
अनुस्वानोपमव्यङ्ग्य स प्रकारोऽपरो ध्वने॥ (ध्व० २।२४–२५)

ये दोनों कल्पनाएँ होंगी अभिन्न ही। इनके द्वारा व्यज्यमान अर्थ के चमत्कार में कोई अन्तर नहीं आएगा[1]।

वस्तुध्वनिनामक इस वर्ग में व्यज्यमान अर्थ की प्रतीति कराने में वाक्यार्थ में आने वाला प्रत्येक अर्थ सक्रिय रहता है, किन्तु कहीं कहीं कोई एक या एकाधिक अर्थ अपेक्षाकृत अधिक सक्रिय और समर्पक दिखायी देते हैं। ऐसे स्थलों में उन विशिष्ट अर्थों के वाचक शब्दों को महत्त्व दिया जाता है और जहाँ एक अर्थ अधिक सक्रिय रहता है वहाँ ध्वनि को पदप्रकाश्य माना जाता है तथा जहाँ एकाधिक अर्थ अधिक सक्रिय हों वहाँ वाक्यप्रकाश्य। इस प्रकार प्रौढोक्तिमात्रसिद्ध और स्वतःसंभवी इन दो भागों में विभक्त व्यञ्जक अर्थ पुनः पद और वाक्य[2] की दो रेखाओं में बंट जाता है और इस प्रकार इस ध्वनि के चार भेद हो जाते हैं। ये इस प्रकार हैं :

[च] पदप्रकाश्य–प्रौढोक्तिमात्रसिद्धार्थमूलक वस्तुध्वनि
[छ] वाक्यप्रकाश्य–प्रौढोक्तिमात्रसिद्धार्थशक्तिमूलक वस्तुध्वनि
[ज] पदप्रकाश्य-स्वतःसंभव्यर्थशक्तिमूलक वस्तुध्वनि तथा
[झ] वाक्यप्रकाश्य-स्वतःसंभव्यर्थशक्तिमूलक वस्तुध्वनि।

इनमें से चौथा भेद प्रबन्ध से भी व्यङ्ग्य होता है अतः इस ध्वनि के ५ भेद हो जाते हैं[3]।

[२] अलंकारध्वनि वर्ग :

अलंकारध्वनिवर्ग में न तो प्रौढोक्ति और स्वतःसंभवित्व भेदक होते और

---

१. अर्थशक्त्युद्भवानुरणनरूपव्यङ्ग्ये ध्वनौ यो व्यञ्जकोऽर्थ उक्तस्तस्यापि द्वौ प्रकारौ– 'कवेः कविनिबद्धस्य वा वक्तुः प्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीर एकः, स्वतस्संभवी च द्वितीयः'। (ध्व० २।२४ वृत्ति)

२. पद और वाक्य की प्रकाशकता के लिए देखिए ध्वन्यालोक ३।१–वृत्ति।

३. अनुस्वानोपमात्मापि प्रभेदो य उदाहृतः।
ध्वनेरस्य प्रबन्धेषु भासते सोऽपि केषुचित् ॥ (ध्व० ३।१५)

अभिनवगुप्त इसके विरुद्ध हैं। वे प्रबन्ध में एकमात्र रसादि की ही व्यञ्जना मानते हैं। किन्तु मम्मट आनन्दवर्धन के ही पक्ष में हैं, यद्यपि वे कुछ और आगे बढ़ गए हैं।

न पद तथा वाक्य ।[1] इसमें केवल दो भेद होते हैं और वे दोनों ही व्यञ्जकभेद पर निर्भर रहते हैं। इनका एक व्यञ्जक होता है अलंकार और दूसरा वस्तु[2]। इस प्रकार अलंकारध्वनिवर्ग के केवल दो भेद होते हैं। वे ये हैं

१ अलंकारप्रकाश्यालंकारध्वनि तथा
२ वस्तुप्रकाश्यालंकारध्वनि ।

इस प्रकार अर्थशक्तिमूलक अनुरणनोपमव्यङ्ग्य ध्वनि के केवल ७ भेद होते हैं।

अब इन सातों भेदों के उदाहरणों पर ध्यान दीजिए।

[१] पदप्रकाश्य प्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नार्थव्यङ्ग्यध्वनि

कुसुमशर ने मधुमासलक्ष्मी के आम्रमञ्जरीरूपी कर्णपूर से सुशोभित असमर्पित मुखको ही पकड़ लिया।[3]

यहाँ 'असमर्पित' शब्द से 'बलात्कार'—रूपी वस्तु प्रतीत हो रही है। यह प्रतीति जिस अर्थ से हो रही है वह कविकल्पित या उसकी प्रौढ उक्ति से प्रसूत है। मधुमासलक्ष्मी को एक सुन्दरी के रूप में और कुसुमशर कामको रसिक युवक के रूप में चित्रित कर कवि ने कल्पना को समासोक्ति का परिधान पहना ही दिया है। समासोक्ति किसे अलंकाररूप से मान्य नहीं। अतः यहाँ व्यञ्जक अर्थ अलंकार-स्वरूप है। इस पूरी अभिव्यक्ति में यहाँ 'असमर्पित'—शब्द अधिक सक्रिय है अतः इस ध्वनि को हम पदप्रतिपादित भी कह सकते हैं।

[२] वाक्यप्रकाश्यप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नार्थव्यङ्ग्य ध्वनि

[क] सुरभिमास बाणों को तैयार तो कर रहा है परन्तु काम को अर्पित नहीं कर रहा। देखो तो कैसे अच्छे हैं ये बाण? इनमें

---

१ अभिनवगुप्त और मम्मट ने आनन्दवर्धन के विरुद्ध प्रौढोक्तिसिद्ध अर्थ और स्वतःसंभवी अर्थ को अलंकारवर्ग में भी व्यञ्जक माना है। मूल ध्वन्यालोक से यह मान्यता मेल नहीं खाती।

२ अलंकाराणां द्वयी गतिः कदाचिद् वस्तुमात्रेण व्यज्यन्ते, कदाचिदलंकारेण।
(ध्वन्यालोक ३।२९ की अवतरणिका।)

३ चूअंकुरावअंसं छणप्पसर-महग्घण-मणहर सुरामोअं।
असमप्पिअं पि गहिअं कुसुमसरेण महुमासलच्छीमुहं॥
[चूताङ्कुरावतंसं क्षणप्रसरमहार्घ्यं मनोहर-सुरामोदम्।
असमर्पितमपि गृहीतं कुसुमशरेण मधुमासलक्ष्मीमुखम्॥]

सहकारादि की नई मञ्जरी हैं, जो नई नई कोंपले लिए हैं।
इनका लक्ष्य है युवतियां।[1]

यहां 'कामोन्माद धीरे धीरे गाढ़ होता जा रहा है' यह वस्तु प्रतीयमान रूप मे सामने आ रही है। इसकी प्रतीति मे यहां प्रत्येक शब्द सक्रिय है, अतः यह वाक्यप्रकाश्य है। यदि केवल इतना ही कह दिया जाता कि 'वसन्त में पत्तों के साथ सहकारमञ्जरी निकलती आ रही हैं' तो उक्त अर्थ प्रतीत न होता।

[ख] हे सुमुखि, किस पर्वत पर, कितने दिनों और कौन सा तप इसने किया है कि यह तोते का बच्चा, तेरे अधर से मेल खाती कुंदरू [बिम्बफल] को कुतर रहा है।[2]

यह उक्ति साभिलाप युवक की है। यहां 'तेरे जैसी भी चीज को पाना बड़े भारी भाग्य की बात है, स्वयं तुझे पा लेना तो बहुत दूर है'—यह वस्तु प्रतीयमान अर्थ के रूप में प्रतीत हो रही है। इसमे भी सभी शब्द सक्रिय हैं, अतः यह वाक्यप्रकाश्य है। वाक्य से जो अर्थ अभिधा द्वारा प्रकट हो रहा है वह अतिशयोक्तिरूप है। उसमें बिम्बफल को जो सुन्दरी के अधर की उपमा दी जा रही है उससे प्रतीपालंकार व्यक्त हो रहा है, क्योंकि जो बिम्बफल अन्यत्र अधर का उपमान माना गया है उसे यहां उपमेय और जिस अधर को बिम्बफल से उपमेय माना गया है, उसे उपमान के रूप मे प्रस्तुत कर दिया गया है। इसी उलटाव को संस्कृत भाषा मे 'प्रतीप' कहा जाता है, और क्योंकि इस उलटाव में चमत्कार है अतः यह अलंकार भी है ही। निश्चित ही यह सब कविकल्पनाप्रसूत है।

'क' और 'ख' मे इतना ही अन्तर है कि प्रथम का वक्ता स्वयं कवि है और द्वितीय का वक्ता उसके द्वारा उपस्थित किया गया साभिलाप युवक। इसीलिए प्रथम को ध्वन्यालोकवृत्ति में कविप्रौढोक्तिसिद्ध अर्थ से व्यङ्ग्य होने वाली ध्वनि का उदाहरण माना है और द्वितीय को कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध अर्थ से

---

१. सज्जेहि सुरहिमासो ण दाव अप्पेइ जुअइजणलक्खमुहे।
अहिणवसहआरमुहे णवपल्लवपत्तले अणङ्गस्स सरे॥
[सज्जयति सुरभिमासो न तावदर्पयति युवतिजनलक्ष्यमुखान्।
अभिनवसहकारमुखान् नवपल्लवपत्रलाननङ्गस्य शरान्॥]

२. शिखरिणि क्व नु नाम कियच्चिरं किमभिधानमसावकरोत् तपः।
सुमुखि येन तवाधरपाटलं दशति बिम्बफलं शुकशावकः॥
(ध्व० पृ० २५५, २९८.)

व्यङ्ग्य होने वाली ध्वनि का। अभिनवगुप्त और मम्मट ने वृत्ति का अनुसरण किया किन्तु अधूरा। इसी वृत्ति में यह भी लिखा है कि ये दोनों ही उक्तियाँ मूलत एक हैं और इनके आधार पर प्रौढोक्तिसिद्ध अर्थ से व्यङ्ग्य अर्थ की चर्वणा में कोई अतिशय नहीं आता, अत इन्हें भेदक नहीं माना जाना चाहिए[1]।

[३] पदप्रकाश्यस्वत सम्भव्यर्थप्रतिपादित वस्तुध्वनि

हाथीदात और बाघम्बर के ग्राहक व्यापारी से बूढा बहेलिया कह रहा है—
हमारे यहाँ हाथीदाँत और बाघम्बर अब कहाँ, जबसे लुलितालकमुखी=
चेहरे पर अलकें बिखेरे यह बहू घर में ऊधम मचाए है।[2]

यहाँ 'लुलितालकमुखी'-पद से प्रतीत होता है कि 'व्याधवधू' चौबीसों घण्टे कामातुर रहती है और इसी कारण व्याधपुत्र दुर्बल हो गया है, परिणामत न तो वह शेर की शिकार कर पाता और न हाथी की ही।' यहा व्याधवधू की जिस स्थिति का चित्रण किया गया है वह ऐसी कोई स्थिति नहीं है जिसे कल्पित कहा जाए। वह तो एक अत्यन्त स्वाभाविक और वास्तविक स्थिति है। इस स्थिति का चित्रण जिस उक्ति द्वारा किया गया है वह उक्ति भी सामान्य उक्ति है, उसमें कोई अलङ्कार नहीं है[3]। इस प्रकार अवश्य ही यह उक्ति स्वत सम्भवी है, फलत अलङ्काररूप न होकर केवल वस्तुरूप है। इससे द्योतित हो रहा व्याधपुत्रदौर्बल्य या व्याधपुत्रवधूसौभाग्य भी कोई अलङ्कार नहीं, अपितु सामान्य लौकिक तथ्य है, अत वह भी वस्तु ही है। इस प्रकार यहाँ वस्तु से वस्तु ही व्यङ्ग्य है। वह भी 'लुलितालकमुखी'-पद की शक्ति से अधिक, अत पदप्रकाश्य है।

---

१ अर्थशक्त्युद्भवानुरणनरूपव्यङ्ग्ये ध्वनौ यो व्यञ्जकोऽर्थ उक्त तस्यापि द्वौ प्रकारौ कवे कविनिबद्धस्य वा वक्तु प्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीर एक, स्वतस्सम्भवी च द्वितीय। (ध्व० २।२४—वृ०) पण्डितराज इसी मत के हैं।

२ वाणिअअ हत्थिदन्ता कुत्तो अम्हाणं वग्घकित्तीए।
जाव लुलिअालअमुही घरम्मि परिसक्कते सुण्हा॥
[वाणिजक हस्तिदन्ता कुत्रास्माक व्याघ्रकृत्तयश्च।
यावल्लुलितालकमुखी गृहे परिष्वक्कते स्नुषा॥]

३. मम्मटाचार्य ने काव्यप्रकाश में इस उक्ति को अलङ्कृत उक्ति माना है और उत्तरालङ्कार के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है। यहाँ हमें तो अलङ्कार का बोध तब होता है जब मम्मट बोध कराते हैं।

[४] वाक्यप्रकाश्यस्वतःसंभव्यर्थव्यङ्ग्यवस्तुध्वनि :

व्याध की मयूरपिच्छमात्रभूषित वधू मौक्तिकालङ्कृत सौतों के बीच गर्व के साथ घूमती है[1]।

यहाँ 'मयूरपिच्छमात्रभूषित', 'मौक्तिकालङ्कृत' तथा 'गर्व'-शब्द मिलकर यह संकेत देते है कि 'व्याध नवोढा को अधिक चाहता है और इतना अधिक चाहता है कि अपना गठा गठाया शरीर उस पर लुटा चुका है, वह अब मोर की शिकार करने लायक रह गया है, जबकि औरों के प्रेमपाश मे बँधकर पहले वह हाथी भी मार लिया करता था और गजमुक्ताओं से उन प्रेमिकाओं को सजाता रहता था'। यह अर्थ लोकसुलभ वास्तविक अर्थ है। इसकी सिद्धि किसी कविकल्पना की आवश्यकता नही रखती। इस कारण यह व्यङ्ग्य अर्थ यहाँ 'वाक्यप्रकाश्य-वस्तुव्यङ्ग्य-वस्तु'-रूप है। इसकी व्यञ्जना जिस वक्तव्य से हो रही है वह भी अकल्पित और वास्तविक है।

[५] प्रबन्धप्रकाश्य स्वतःसंभव्यर्थशक्तिमूलक-वस्तुध्वनि :

नैमिषारण्य के श्मशान में तीसरे पहर अपने मृतपुत्र को फेंकने आए किसी पिता और उसके साथियों से एक गृद्ध कहता है—

आप सब यहाँ से अति शीघ्र लौट जाएँ क्योंकि यहाँ चारों ओर गृद्ध और शृगाल घूम रहे हैं, जहाँ देखो वहाँ नरकङ्काल पड़े हुए हैं, यह स्थान बड़ा ही घोर है, यहाँ सभी प्राणियों को भय लगता है। और ऐसा भी नहीं कि यहाँ कोई मृतक पुनः जी उठा हो। जो प्राण लेकर पैदा हुए हैं उन्हें तो यह दिन देखना ही पड़ता है[2]।

---

१. सिहिपिच्छकण्णऊरा वहुआ वाहस्स गव्विणी भमइ।
मुत्ताहलरइअप्पसाहणाणं मज्झे सवत्तीणं॥
[शिखिपिच्छकर्णपूरा वधूर्व्याधस्य गर्विणी भ्रमति।
मुक्ताफलरचितप्रसाधनानां मध्ये सपत्नीनाम्॥]

माना जाए तो यहाँ भी परिकरनामक अलङ्कार माना जा सकता है, क्योंकि यहाँ व्याधवधुओं को जो विशेषण दिए गए है वे साभिप्राय है।

२. शान्तिपर्व अध्याय १५३—
अलं स्थित्वा श्मशानेऽस्मिन् गृद्धगोमायुसंकुले।
कङ्कालबहुले घोरे सर्वप्राणिभयङ्करे॥

गृद्ध की यह बात सुनकर शवयात्री शव फेंक लौट पड़ते हैं। तब बीच में एक शृगाल कहता है—

तुम लोग बड़े ही नासमझ हो। अरे कुछ देर तो ठहरो। अभी तो सूर्य क्षितिज से ऊपर है। सांझ दूर है। हो सकता है तुम्हारा यह बालक जी उठे। अरे कञ्चन के समान चमचमाते इस किशोर बालक को छोड़कर क्यों जा रहे हो, वह भी केवल एक गृद्ध के कहने पर। सचमुच तुम लोग बड़े नासमझ हो[1]।

शृगाल की बात सुन शवयात्री पुन श्मशान पहुँच जाते हैं। पुन गृद्ध उन्हें जाने के लिए प्रेरित करता है और वे जाने लगते हैं। इस प्रकार गृद्ध और शृगाल की प्रेरणा से शवयात्री अनेक बार लौटते और अनेक बार श्मशान पहुँचते हैं। महाभारत के शान्तिपर्व के १५३ वें अध्याय मे यह प्रकरण लगभग ९० पद्यों में उपनिबद्ध मिलता है। इसमें गृद्ध और शृगाल ज्ञान और वैराग्य की अनेकानेक शास्त्रीय उक्तियां प्रस्तुत करते हैं। इससे लगता है कि वे शवयात्रियों के हितैषी हैं। परन्तु उनकी इन दलीलों का रहस्य तब खुलता है जब उनके विषय में स्वयं भीष्म कहते हैं—'वे अपने स्वार्थ के वश में होकर वैसी वकालत कर रहे थे, वस्तुत उन्हें भूख लगी थी और वे दोनों ही उस शव को खाने की टोह में थे'। गृद्ध चाहता था कि शवयात्री दिन डूबने के पहले ही लौट जाएँ, जिससे प्रकाश रहते वह शव से भूख बुझा सके, और शृगाल चाहता था कि शवयात्री दिन डूबने तक रुके रहें ताकि रात होते ही शव उसे मिल जाए[2]। इस प्रकार

यह पूरा प्रकरण वाच्य रूप में तो प्रस्तुत करता है शास्त्रीय ज्ञान को,

---

→ न चेह जीवित कश्चित् कालधर्ममुपागत।
प्रियो वा यदि वा द्वेष्य प्राणिनां गतिरीदृशी॥ [श्लोक, ११, १२]

१ शान्ति पर्व अध्याय १५३—
आदित्योऽयं स्थितो मूढा स्नेह कुरुत साम्प्रतम।
बहुरूपो मुहूर्तोऽयं जीवेदपि कदाचन॥ [श्लोक, १८]
इमं कनकवर्णाभं बाल्यमप्राप्तयौवनम्।
गृध्रवाक्यात् कथं मूढास्त्यजध्वं पितृपिण्डदम्॥ [श्लोक, ६५]

२ शान्ति पर्व अध्याय १५३—
स्वकार्यबद्धपक्षौ तौ राजन् गृध्रोऽथ जम्बुक।
क्षुत्पिपासापरिश्रान्तौ शास्त्रमालम्ब्य जल्पत॥ [श्लोक, १०७]

किन्तु उससे व्यङ्ग्य हो रहा है दोनों धूर्तों का अपना स्वार्थ। गृद्ध और शृगाल की जो उक्तियाँ यहाँ उपनिबद्ध हैं वे स्वतः और विना कल्पना के ही उस रूप में सिद्ध तथा संभव है। उससे जो अर्थ व्यङ्ग्य हो रहा है वह भी एक वक्तव्यमात्र है अलङ्काररूप नहीं है। इस प्रकार यहाँ पूरा प्रकरण स्वतःसंभवी अर्थ प्रस्तुत करता और उससे वस्तु की व्यञ्जना कराता है। इस प्रकार गृद्ध और शृगाल के स्वार्थ यहाँ प्रबन्ध से प्रकाशित लोकसिद्ध अर्थ से व्यक्त हो रहे हैं, अतः महाभारत का यह पूरा प्रकरण प्रबन्धप्रकाश्यस्वतःसंभव्यर्थशक्तिमूलक-वस्तुध्वनि का स्थल है। आनन्दवर्धन ने अपनी विषमबाणलीला और मधुमथनविजय नामक किसी अन्य प्राकृत काव्य के कुछ प्रकरणों को भी इस भेद का उदाहरण बतलाया है। अभिनवगुप्त ने उनके भी कुछ प्रकरण उद्धृत कर दिए हैं।

[६] अलङ्कारप्रकाश्य अलङ्कारध्वनि :

१. रूपकध्वनि :

[क] तरङ्गसंकुल समुद्रतट पर सेना लेकर पहुँचे किसी वीर पुरुष की प्रशंसा में कोई कवि कह रहा है—

प्राप्तश्रीरेष कस्मात् पुनरपि मयि तं मन्थखेदं विदध्या-
न्निद्रामप्यस्य पूर्वामनलसमनसो नैव संभावयामि।
सेतुं बध्नाति भूयः किमिति च सकलद्वीपनाथानुयात-
स्त्वय्यायाते विकल्पानिति दधत इवाभाति कम्पः पयोधेः॥

समुद्र में जो कम्पन हो रहा है वह कदाचित् इन वितर्कों के कारण कि इसे श्री तो प्राप्त ही है, अतः मन्थनक्लेश उठाने यह यहाँ क्यों आएगा, इसके मन में आलस्य है नहीं जिससे यह सोचा जा सके कि इसे नींद आ रही है अतः यह यहाँ सोने की इच्छा से आया है, यह सेतुबन्ध भी क्यों बनाएगा, क्योंकि सभी द्वीपों के स्वामी इसके पीछे यहाँ खड़े ही हैं।[1]

यहाँ वाच्य है ससन्देह और उत्प्रेक्षा का सङ्कर। इससे व्यक्त हो हो रहा है प्रशंसाविषय बनाए जा रहे वीर पुरुष पर विष्णु का आरोप। आरोप ही है रूपक नामक अलङ्कार। इस प्रकार यहाँ अलङ्कार से अलङ्कार ही व्यङ्ग्य हो रहा है।

---

१. ध्व० पृ० २६१

[ख] दूसरा उदाहरण स्वय आनन्दवर्धन की ही यह उक्ति—

लावण्यकान्तिपरिपूरितदिङ्मुखे - स्मिन्
स्मेरेऽधुना तव मुखे तरलायताक्षि।
क्षोभं यदेति न मनागपि तेन मन्ये
सुव्यक्तमेव जलराशिरयं पयोधिः॥

हे तरल और आयत नेत्रो वाली सुन्दरि, तेरे चेहरे पर मुस्कान आई और दिगन्तराल का कण-कण लावण्यकान्ति से भर उठा। खेद है कि इतने पर भी इस समुद्र में जरा भी ज्वार नही आ रहा। यह निश्चित ही जलराशि है[1]।

यहाँ जलराशि-शब्द में श्लेष है। सस्कृतभाषा मे 'ड और 'ल' श्रुतियो में अभेद माना जाता है। भारोपीय भाषापरिवार की आरम्भिक उच्चारण-स्थिति इसका कारण है। इस कारण जलशब्द का दूसरा अर्थ सस्कृत मे जड भी निकाला जाता है। तदनुसार जडशब्द को भावप्रधान माना जाएगा और जलराशिशब्द का अर्थ होगा जडता की राशि। जिसमें तनिक भी सौन्दर्यबोध न हो और जो वास्तविक अवास्तविक का अन्तर न कर सके उसे जड कहना उचित भी है। यह हुआ प्रथम वाच्य अर्थ। इसमे जो दूसरा अर्थ निकलता है वह है 'मुख पर चन्द्र का आरोप'। आरोप रूपक है, अत यहाँ रूपकालङ्कार की ध्वनि माननी होगी[2]। इस इस प्रकार यह भी अलङ्कार से अलङ्कार की व्यञ्जना का उदाहरण है।

२ उपमाध्वनि

[क] वीराणा रमते घुसृणारुणे न तथा प्रियास्तनोत्सङ्गे।
दृष्टी रिपुगजकुम्भस्थले यथा बहलसिन्दूरे॥

वीरो की दृष्टि प्रिया के कुङ्कुमारुण स्तनो पर उतनी नही जमती जितनी शत्रुओं के गजो के सिन्दूरलिप्त कुम्भो पर जमा करती है[2]।

---

१ ध्व० पृ० २६१
वस्तुत इसमें प्रतीयमान है अपह्नुति क्योकि प्रतीति कुछ ऐसी होती है कि 'यह चन्द्र चन्द्र नही है अपि तु मुख ही चन्द्र है'।

२ ध्व० पृ० २६२

यहाँ प्रिया के अनुरञ्जन की अपेक्षा युद्धकार्य में आकर्षकता का आधिक्य वाच्य है। यह आधिक्य हुआ अतिरेक, और जो अतिरेक है वही है व्यतिरेक। व्यतिरेक एक अलङ्कार है[1]। इस प्रकार यहाँ वाच्य हुआ व्यतिरेक। उससे स्तनकुम्भ और गजकुम्भ की तुलना प्रतीत हो रही है। यह तुलना हुई उपमा। इस प्रकार यहाँ उपमालङ्कार की व्यतिरेकालङ्कार से ध्वनि मान्य है।

[ख] तत् तेषां श्रीसहोदररत्नाहरणे हृदयमेकरसम्।
विम्बाधरे प्रियाणां निवेशितं कुसुमवाणेन॥

समुद्रमन्थन के समय असुरों के अमृत हर लेने में निरत चित्तको कामदेव ने प्रियाओं के अधरविम्ब पर केन्द्रित कर दिया[2]।

यहाँ वाच्य है अतिशयोक्ति और प्रतीयमान है 'अमृत और अधर की उपमा'। अतः यहाँ अलंकार से अलंकार की व्यञ्जना हो रही है।

आनन्दवर्धन ने इसी प्रकार आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, उत्प्रेक्षा, श्लेष और यथासंख्य की प्रतीयमानता भी वतलाई है। उनके लिए भी अनेक उदाहरण प्रस्तुत किए है। अर्थान्तरन्यास और व्यतिरेक को तो उन्होंने इस प्रकरण में शब्दशक्तिमूलक भी माना है और तदनुसार उसके लिए पद तथा वाक्य से व्यङ्ग्य होने योग्य स्थल उद्धृत किए हैं। द्वितीय उद्योत की २४वी कारिका की वृत्ति से यह स्पष्ट है।

[७] वस्तुप्रकाश्य अलंकार :

जायेय वनोद्देशे कुब्ज एव वृक्षो गलितपत्रः।
न पुनर्मानुषे लोके त्यागैकरसो दरिद्रश्च॥

जंगल मे कहीं निष्पत्र कुब्ज पेड़ वनना मुझे पसन्द है, मनुष्यसमाज के वीच त्यागी होते हुए दरिद्र मनुष्य वनना नहीं[3]।

---

१. आनन्दवर्धन ने अलङ्कारों का विवेचन उद्भट और भामह के अनुसार किया है। ये व्यतिरेक-लक्षण में उपमान के आधिक्य को भी व्यतिरेक मानते है, यद्यपि उनके उदाहरण में केवल उपमेय का ही आधिक्य दिखाई देता है। इसीलिए परवर्ती आचार्यों में मम्मट ने केवल उपमेय के उत्कर्ष में व्यतिरेक माना है।

२. ध्व० पृ० २६५.

३. ध्व० पृ० २६९.

यहाँ जो वाक्यार्थ निकल रहा है उसमें कोई वाच्य अलकार दिखाई नही[1] देता, किन्तु इस वाक्यार्थ से यह अवश्य प्रतीत होता है कि वक्ता मनुष्य होकर दरिद्र बनने की अपेक्षा वृक्ष होकर दरिद्र बनना अधिक अच्छा समझता है। दरिद्र मनुष्य उसकी दृष्टि में किसी भी काम का नही होता। वृक्ष[2] का कोयला तो भी बनाया जा सकता है, उस पर उल्लू तब भी रह सकते है। इस प्रकार यहाँ व्यतिरेक नामक अलकार की ध्वनि माननी होगी। यह ध्वनि जिस अर्थ से हो रही है उसमें कोई अलकार नही है, अत उसे वस्तुमात्र कहना होगा और इस प्रकार यह ध्वनि वस्तु से अलकार की ध्वनि होगी।

इस अनुरणनोपम ध्वनिवर्ग में हमने अभी जिस अलकार वर्ग की ध्वन्यमानता का अध्ययन किया उसके विषय में इतना जाने रहना होगा कि ये अलकार तभी *ध्वनि माने जा सकते है जब इनसे मिलने वाली चमत्कारमात्रा अन्य तत्त्वो* की चमत्कारमात्रा से अधिक हो[3]। यह मात्रा तब तो अवश्य ही अधिक रहेगी जब ये अलकार केवल वस्तु से व्यक्त होगे, जैसे यही इस सातवें भेद में। ऐसा इसलिए कि ऐसी जगह काव्यत्व की निष्पत्ति ही अलकार के आधार पर होगी[4]। केवल वस्तु अपने आपमें काव्य नही बन सकती। किन्तु जहाँ अलकार की ध्वनि स्वय अलकार से होगी वहाँ यह देखना होगा कि उन दोनो अलकारो में चमत्कार की अधिक मात्रा प्रतीयमान अलकार में है या नही। यदि नही तो उसे ध्वनिरूप नही माना जा सकेगा[5]। उदाहरणार्थ

> चन्द्रमयूखैर्निशा नलिनी कमलैं कुसुमगुच्छैर्लता।
> हसैं शारदशोभा काव्यकथा सज्जनैं क्रियते गुर्वी॥

---

१ अभिनवगुप्त ने ऐसा ही माना है। द्र० 'अत्र वाच्यालकारो न कश्चित्'॥ लोचन पृ० २७०। ठीक भी है।

२ तादृशोऽपि कश्चिदाङ्गारिकाणामुपयोगो भवेद्, उलूकादीना वा निवासाय॥ (लोचन पृ० २६९)

३ *अलकारान्तरस्यङ्ग्यभावे ध्वन्यङ्गता भवेत्।*
चारुत्वोत्कर्षतो व्यङ्ग्यप्राधान्य यदि लक्ष्यते॥ (ध्व० २।३०)

४ व्यज्यन्ते वस्तुमात्रेण यदालङ्कृतयस्तदा।
ध्रुव ध्वन्यङ्गता तासा काव्यवृत्तेस्तदाश्रयात्॥ (ध्व० २।२९)

५ यत्र प्रतीयमानोऽर्थं प्रम्लिष्टत्वेन भासते।
वाच्यस्याङ्गतया वापि नास्यासौ गोचरो ध्वने॥ (ध्व० २।३१)

निशा चन्द्रममूखों से, कमलिनी कमलपुष्पों से, लता पुष्पगुच्छों से तथा काव्यकथा सत् सहृदयों से गौरवान्वित होती है[1]।

यहाँ वाच्य अलङ्कार है दीपक, क्योंकि प्रस्तुत काव्यकथा तथा उसके समान निशा आदि प्रस्तुत पदार्थों का, 'गौरवान्वित होना' इस एक ही धर्म में अन्वय हो रहा है। इस प्रकार के अन्वय या सम्बन्ध से काव्यकथा और निशा आदि के बीच समानता की प्रतीति होती है। यह समानता है उपमा और उसे माना जाता है अलङ्कार क्योंकि उससे चमत्कार का अनुभव होता है। यहाँ भी उससे चमत्कार का अनुभव हो रहा है अतः वह अलङ्कार है। अब सोचिए कि इन दोनों अलङ्कारों में से अधिक चमत्कार किसमें प्रतीत हो रहा है। निश्चित ही अधिक चमत्कार दीपक मे ही है। उपमा मे नही। उपमा तो दीपक के लिए एक आसरा है। वह उसके प्रति साधनीभूत है[2]। यहाँ उपमा को केवल प्रतीयमान तो कहा जा सकता है किन्तु ध्वनि नही। ध्वनि वह तभी हो सकती थी जब प्रधान होती। व्यङ्ग्य होने पर भी ऐसा कोई भी अलङ्कार ध्वनि नहीं कहा जा सकेगा।

कितना माहात्म्य है ध्वनि का। भला ये अलङ्कार काव्य के शरीर भी नही बन पा रहे थे, उसके अङ्ग शब्द और अर्थ के बाह्य उपकरणमात्र थे। ये ध्वनि-रूपता में आते ही, शरीर की बात ही छोड़िए, सीधे आत्मा बन गए जो शरीर से भी अधिक महत्त्व की वस्तु है[3]। इन अलङ्कारों की वाच्यदशा में जो चमत्कार दिखाई दे रहा था वही ध्वनिदशा में सहस्रगुणित प्रतीत हो रहा है[4]।

---

१. ध्वन्यालोक २।२७—वृत्ति।

२. 'इत्यादिषु उपमागर्भत्वे सत्यपि वाच्यालङ्कारमुखेनैव चारुत्वं व्यवतिष्ठते, न व्यङ्ग्यालङ्कारतात्पर्येण'। (ध्वन्यालोक २।२७—वृत्ति)
महिमभट्ट दीपक में भी उपमा को प्रधान मानते और आनन्दवर्धन की इस स्थापना का जमकर विरोध करते हैं।

३. शरीरीकरणं येषां वाच्यत्वे न व्यवस्थितम्।
तेऽलङ्काराः परां छायां यान्ति ध्वन्यङ्गतां गताः॥ (ध्व० २।२८)

४. जो अलङ्कार जब वाच्य रहता है तब वाच्य ही रहता है, व्यङ्ग्य नही, और जब व्यङ्ग्य रहता है तब व्यङ्ग्य ही, वाच्य नही। यहाँ वाच्य और व्यङ्ग्य की जो तुलना की जा रही है वह साम्य के आधार पर। जैसे शूद्र और ब्राह्मण बौद्धों में ब्राह्मणोचित व्यवहार पर ब्राह्मण बौद्ध को ब्राह्मणश्रमण कह दिया जाता है। ब्राह्मणश्रमणन्याय का यह हमारा अपना अर्थ है।

ये हुए अनुरणनोपम अर्थशक्तिमूलक विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि के भेद। इनका भेदवृक्ष आनन्दवर्धन के अनुसार इस प्रकार बनाना होगा—
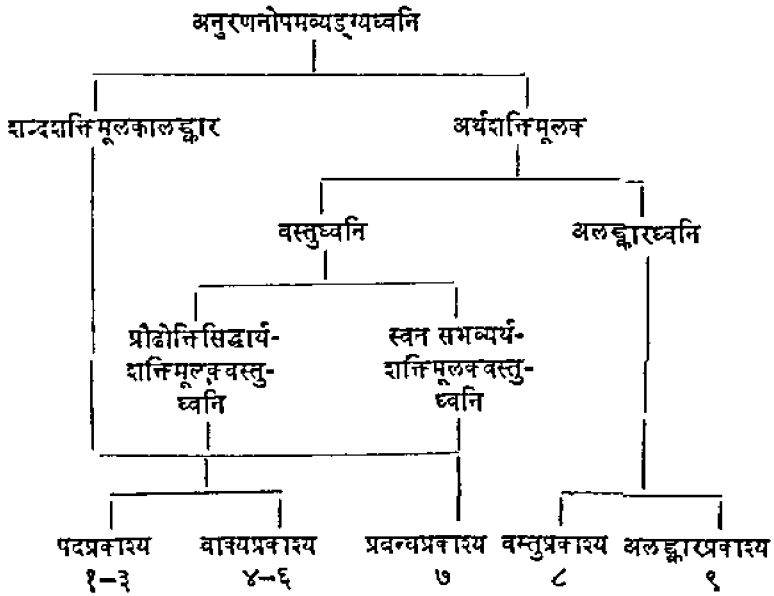
गुणीभूतव्यङ्ग्य-भेद

पिछले अनुच्छेद के अन्त में हमने देखा कि कभी कभी व्यङ्ग्य या प्रतीयमान अर्थ का चमत्कार अधिक नही रहता। दीपकालङ्कार में उपमा या सादृश्य की स्थिति से यह तथ्य स्पष्ट है। प्रश्न उठता है कि इस प्रकार के व्यङ्ग्य के आधार पर काव्य को नाम क्या दिया जाए। आनन्दवधन ने उत्तर देते हुए इस प्रकार के काव्य को 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' काव्य कहा है[1]।

गुणीभूतशब्द

गुणीभूत शब्द का अर्थ है अप्रधानीभूत। 'गुणीभूतव्यङ्ग्य'-शब्द में बहुव्रीहि समास है अत उसका अर्थ हुआ 'अप्रधानीभूत है व्यङ्ग्य अर्थ जिसमें ऐसा काव्य'।

---

१ प्रकारोऽन्यो गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्यस्य दृश्यते।
यत्र व्यङ्ग्यान्वये वाच्यचारुत्व स्यात् प्रकर्षवत्॥ ३।३४ ध्वन्यालोक॥

यहाँ एक तथ्य ध्यान देने योग्य है। वह है 'गुणीभूत'-शब्द मे आई 'ई'। संस्कृत भाषा मे जो जैसा नही होता उसे वैसा बतलाने हेतु तद्वाचक शब्द मे 'ई' लगा दी जाती है। कुमारसंभव का हिमाचल सप्तर्षियों के आगमन पर कहता है 'आपके आने से मैं स्वयं को हैमीभूत[१] आयस समझ रहा हूँ'। स्पष्ट ही आयस आयस ही है हेम नही। उसे हेम न होते हुए भी यहाँ हेम कहा जा रहा है अतः उसमे आ रहे इस अन्तर को बतलाने हेतु 'हेम'-शब्द के साथ 'ई' जोड़ा जा रहा है। कालिदास ही लिखते है 'हिमालय पर जब हिम शिलीभूत[२] हो जाता है तब भी सुन्दरियाँ तेजी से नही चलती'। स्पष्ट ही शिला शिला है और हिम हिम। दोनों में अन्तर है। तथापि हिम को शिला बतलाया जा रहा है और इसीलिए उसके प्रतिपादक शिलाशब्द मे 'ई' जोड़ी जा रही है। इसी प्रकार कालिदास ने 'अयोध्या-वासी लोग देवता बन गए'—के लिए लिखा 'त्रिदशीभूत[३] पौर' और 'नन्दिनी गौ के चारों थन चार समुद्र थे' के लिए लिखा 'पयोधरीभूतचतुस्समुद्रा'[४]। स्पष्ट ही संस्कृत मे जहाँ 'अतत् में तद्भाव' बतलाना अभीष्ट होता है विधेयवाचक पद में 'ई' लगा दी जाती है। इस 'ई' को संस्कृत में 'च्वि'-नामक प्रत्यय से निकाला जाता है। गुणीभूत-शब्द की भी यही स्थिति है। आनन्दवर्धन के अनुसार काव्य की आत्मा प्रतीयमान अर्थ ही है। आत्मा यानी सर्वाधिक महत्त्व का तत्त्व। मत-लब, सबसे बड़ा तत्त्व। प्रश्न उठता है बड़ा किससे। उत्तर मिलता है 'वाच्य' से। यह इसलिए कि आनन्दवर्धन ने काव्यगत अर्थ के रूप में दो ही अर्थो को स्वीकार किया है एक वाच्य को और दूसरे प्रतीयमान को। इस प्रकार प्रतीयमान को एक-मात्र वाच्य अर्थ से ही बड़ा कहा जा सकता है, अन्य किसी से नही। फलतः आनन्दवर्धन के अनुसार प्रतीयमान अर्थ वाच्य अर्थ की अपेक्षा बड़ा रहता है यह एक सामान्य सिद्धान्त है। गुणीभूतव्यङ्ग्य के रूप में आनन्दवर्धन अपने इस सिद्धान्त का अपवाद प्रस्तुत कर रहे हैं और कह रहे हैं कि प्रतीयमान अर्थ कभी कभी वाच्य की अपेक्षा प्रधान नही भी रहता। अभिप्राय यह कि जो सदा ही प्रधान रहता है वह प्रतीयमान अर्थ भी कभी कभी अप्रधान बन जाता है। इसी तथ्य को बतलाने के लिए इनने 'ई' का प्रयोग किया और 'गुणभूत'-शब्द न अपनाकर 'गुणीभूत'-शब्द अपनाया। इस प्रकार

---

१. कुमारसंभव ६।५५

२. वही १।११

३. रघुवंश १२।१०२

४. रघुवंश २।३

गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य का लक्षण

यह एक ऐसा काव्य हुआ करता है जिसमें व्यङ्ग्य अर्थ के सम्बन्ध से वाच्य अर्थ के चारुत्व में प्रकर्ष दिखाई देता है।

इस प्रकार आनन्दवर्धन ने 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' नामक काव्य की कल्पना द्वारा प्रधान रूप से स्थापित अपने व्यङ्ग्य अर्थ में अप्रधानता की स्थापना भी की, किन्तु इस कल्पना को प्रस्तुत करते हुए वे व्यङ्ग्य की प्रधानता के अपने मूल सिद्धान्त की ओर संकेत करना नहीं भूले। आगे चलकर उन्होंने गुणीभूतव्यङ्ग्य को, जैसा कि आगे बतलाया जाएगा 'ध्वनिनिष्यन्द'[1] भी कहा है, जिसका अर्थ है 'ध्वनिनामक महाकुण्ड से निकली धार से बना एक अवान्तर व्यङ्ग्यकुण्ड'। अभिप्राय यह कि 'ध्वनि' जयपुर की गलताजी या भेड़ाघाट की नर्मदाजी का प्रधान कुण्ड है और गुणीभूतव्यङ्ग्य उसी से बहे जल से बना हुआ अवान्तर कुण्ड। दूसरे शब्दों में प्रधानताशून्यता का यह क्षेत्र भी मूलतः प्रधानता के क्षेत्र से निकला हुआ क्षेत्र है, स्वतन्त्र नहीं। इस प्रकार आनन्दवर्धन के अनुसार स्वयं ध्वनि ही 'गुणीभूत' होकर इस विधा का द्वार खोलती है।

जब ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य के बीच केवल चमत्कारपरिमाण का ही अन्तर है, आकार का नहीं, तो यह स्वतः सिद्ध है दोनों के भेदों में प्रायः एकता रहेगी। प्रायः इसलिए कि कुछ भेद जो केवल प्रधानता पर निर्भर है छूट जाएँगे[2]। आनन्दवर्धन ने गुणीभूतव्यङ्ग्य के भेद किए भी ध्वनि की ही रेखा पर हैं। वे इस प्रकार हैं—

१ तिरस्कृतवाच्य तथा
२ अतिरस्कृतवाच्य।

[१] तिरस्कृतवाच्य

लावण्यसिन्धुरपरैव हि केयमत्र यत्रोत्पलानि शशिना सह संप्लवन्ते।
उन्मज्जति द्विरदकुम्भतटी च यत्र यत्रापरे कदलिकाण्डमृणालदण्डाः॥

ओहो, यह कौनसी एक अजीब लावण्यसिन्धु (आकाशगङ्गा) है जिसमें कमल चन्द्रमा के साथ तैर रहे हैं, जहाँ हाथी का कुम्भतट उतराता

---

१ ध्व० पृ० ४७४ इसका निरूपण इसी प्रकरण में आगे होने वाला है।
२ व्यज्यन्ते वस्तुमात्रेण यदालङ्कृतयस्तदा।
ध्रुवं ध्वन्यङ्गता तासां काव्यवृत्तेस्तदाश्रयात्॥ ध्व० २।२९॥

दिखलाई दे रहा है, और जिसमे कोई और ही कदलीस्तम्भ तथा और ही मृणालदण्ड दिखाई दे रहे है।[१]

यहाँ लावण्यसिन्धु या लावण्य की आकाशगङ्गा कहा जा रहा है किसी अद्‌भुत सुन्दरी को। कमल कहा जा रहा है उसके लोचनों को, चन्द्रमा उसके सुहावने चेहरे को, करिकुम्भ स्तनों को, कदलीस्तम्भ ऊरुओं को तथा मृणालदण्ड बाहुओं को। विशेषता यह है कि इस स्थल मे सुन्दरी या उसके अङ्गों के वाचक शब्दों में से किसी एक शब्द का भी प्रयोग नही है। परिणामतः उन सबकी प्रतीति लावण्यसिन्धु आदि शब्दों के द्वारा ही करनी पड़ती है और इस कारण इन शब्दों के जो प्रथम अर्थ है उन्हे बदलना पड़ता है और प्रकरणद्वारा बुद्धि में जमे सुन्दरी आदि अर्थों के साथ सादृश्य के आधार पर इन शब्दों के अर्थों का समन्वय करना पड़ता है। यह हुआ इन शब्दों के वाच्य अर्थ का तिरस्कार यानी परित्याग, छिपाव या परिवर्तन। इस परिवर्तन से जो अर्थ प्रतीयमान अर्थ के रूप में निकल रहा है वह है "आकाशगङ्गा-रूपी सिन्धु की अपेक्षा नायिकारूपी सिन्धु की उत्कृष्टता"। आकाशगङ्गा मे यदि चन्द्रमा रहता है तो प्रफुल्ल कमल नही, कमल चन्द्र को देखकर मुँद जाते है। इस सुन्दरीरूपी सिन्धु में दोनों साथ दिखलाई दे रहे है। साथ ही नही हैं, खिले हुए भी है और तैरने के लिए चन्द्रबिम्ब को ही फलक बनाये हुए है। आकाशगङ्गा में जब ऐरावत पहुँचता है तो उसमें लगे कमलिनीपुञ्ज को उखाड़ फेंकता है, किन्तु इस नायिकारूपी सिन्धु में ऐसा नहीं है। इस प्रकार सामान्य सिन्धु अथवा आकाश की गङ्गा और इस नायिकारूपी सिन्धु के बीच जो व्यतिरेक है उसकी प्रतीति यहाँ अतिशयोक्ति अलङ्कार के द्वारा प्रतीयमान अर्थ के रूप में हो रही है।

अब यह सोचना है कि यह जो व्यतिरेकरूपी प्रतीयमान अर्थ यहाँ निकल रहा है इसके चमत्कार की स्थिति कैसी है। वह वाच्य अर्थ के चमत्कार से अधिक है या समान या कम। इसका उत्तर हमें 'अजीब'-शब्द पर ध्यान देने से मिल जाता है। अजीबशब्द से एक मानस कुतूहल को जन्म मिलता है। मन में आता है कि 'लावण्यसिन्धु अजीब किस बात मे'। इसका समाधान तभी होता है जब उक्त व्यतिरेक का बोध होता है। सामान्य सिन्धु या आकाशगङ्गा में जो विशेषता नही रहती वह सुन्दरीरूपी सिन्धु में है। आकाशगङ्गा में विरोधी पदार्थों का विरोध बना ही रहता है, जबकि नायिकारूपी सिन्धु में वह नही रहता। इसीलिए वह

१. ध्व० ३।३४ वृत्ति

अजीव है। इस प्रकार व्यतिरेक यहाँ अजीवपन का साधक है, फलत उसका जो चमत्कार है वह उतना प्रवृद्ध नही है, जितना स्वतन्त्र रूप मे प्रतीयमान व्यतिरेक का हो सकता है। यहाँ का व्यतिरेक तो एक सेवक है, सेव्य या स्वामी यानी प्रधान नही। इसी प्रकार के प्रतीयमान को *वाच्यसिद्धि का अङ्ग* कहा जाता है। इस प्रतीयमान अर्थ के ज्ञान से जो आनन्दबोध हो रहा है इस उक्ति में आई वाच्य अतिशयोक्ति के ज्ञान से हो रहा चमत्कार उससे कम नही है। इस प्रकार इस उक्ति में वाच्य और व्यङ्ग्य दोना अर्थों का चमत्कार मात्रा में समान है। व्यङ्ग्य का चमत्कार मात्रा मे वाच्य के चमत्कार से अधिक नही है। फलत यह स्थल 'गुणीभूतव्यङ्ग्यता' का स्थल है। और, क्योंकि इसमें वाच्य अर्थ में परिवर्तन होता है अत वह तिरस्कृतवाच्य है। निदान इस स्थल को हम तिरस्कृतवाच्य गुणीभूत-व्यङ्ग्य काव्य कहेंगे।

[२] अतिरस्कृतवाच्य

इस भेद में वाच्य अर्थ की स्थिति जैसी की तैसी रहती है। उसमे परिवर्तन नहीं आता। ध्वनि के समान यह भी दो प्रकार का होता है

१ अलक्ष्यक्रम तथा

२ अनुरणनोपम।

इनमें से आनन्दवर्धन की स्थापना अतीव क्रान्तिकारिणी है।

[क] अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य

आनन्दवर्धन के अनुसार इस भेद का प्रमुख घटक है रस। पूर्ववर्ती आचार्यों ने और उनमें भी विशेषत दण्डी ने रस को रस नाम से न पुकार कर रसवदलकार नाम से पुकारा है। आनन्दवर्धन ने एक दूसरी ही दृष्टि प्रस्तुत की। उन्होने रसवदलकार को रस से भिन्न माना है।

रसवदलकार

प्राचीन आचार्यों ने रसवत्[1] शब्द का अर्थ किया था रस से युक्त, अर्थात् काव्य। उनके अनुसार काव्य में रस भी उसी प्रकार एक शोभावर्धक अङ्ग है जिस प्रकार अनुप्रास और उपमा आदि अलकार। इस कारण उनकी दृष्टि में रस भी काव्य के लिए एक अलकार ही है। आनन्दवर्धन ने 'रसवत्' शब्द का अर्थ दूसरा ही किया। उन्होने इसका अर्थ किया 'रसतुल्य'। अन्तर स्पष्ट है। रसवत् शब्द

---

१ दण्डी-काव्यादर्श, भामह-काव्यालकार।

में प्राचीन आचार्यों ने 'मतुप्' प्रत्यय माना था। आनन्दवर्धन ने तुल्यार्थक 'वति' प्रत्यय माना। तुल्यार्थक वतिप्रत्यय से रसवत् शब्द की निष्पत्ति मानकर आचार्य आनन्दवर्धन ने रसवत् के विषय में अपना नवीन सिद्धान्त प्रस्तुत किया और कहा 'यद्यपि रस सदा प्रधान ही रहता है, किन्तु जब कभी वह अप्रधान हो जाता है तब वह रस न कहला कर रसवत् कहलाता है क्योंकि वह दूसरे की शोभा बढ़ाता हुआ दिखाई देता है। वस्तुतः वह रस रह ही नहीं जाता। वह तो स्थायी भाव या सञ्चारी भाव ही रहता है। केवल सामान्य भावों की अपेक्षा इस भाव की स्थिति कुछ अधिक पुष्ट रहती है इसीलिए इसे रसवत् कह दिया जाता है। उदाहरणार्थ कोई कवि अपने आश्रयदाता से कहता है :

किं हास्येन न मे प्रयास्यसि पुनः प्राप्तश्चिराद् दर्शनं,
केयं निष्करुण प्रवासरुचिता, केनासि दूरीकृतः।
स्वप्नान्तेष्विति ते वदन् प्रियतमव्यासक्तकण्ठग्रहो
बुद्ध्वा रोदिति रिक्तबाहुवलयस्तारं रिपुस्त्रीजनः॥

आपके शत्रुओं की स्त्रियाँ स्वप्न मे दिखे प्रियों के कण्ठ में भुजाएँ डालती हैं, किन्तु जागने पर अपने बाहुपाश को रिक्त देख जोर जोर से रोती है[1]।

इस उक्ति मे स्पष्ट ही राजा की स्तुति प्रधान है। स्तुति में कवि राजा का चाटु कर रहा है। यह जो चाटु है उसमें शत्रुनारियों की करुणस्थिति अङ्ग बन रही है। इस प्रकार यहाँ करुण स्थिति अप्रधान है। प्रधान है चाटुरूप प्रेयोलंकार। करुणस्थिति उस प्रेयोलंकार की पुष्टि कर रही है अतः उसके प्रति वह अलंकार है। यह जो करुणस्थिति है यह शोकनामक स्थायी भाव को पाठक के चित्त मे जगाती है, अतः इसे शोकरूप मान सकते है। शोक करुणरस का स्थायी भाव है। क्योंकि शोक इतना आगे बढ़ गया है कि सामान्य शोक की अपेक्षा उसकी स्थिति अधिक समृद्ध हो गयी है, अतः उसे रस के समान या रसवत् कहा जा सकता है। अप्रधान रस अपने साथ कभी कभी अलंकार को भी चिपकाए रहता है। यथा—

क्षिप्तो हस्तावलग्नः प्रसभमभिहतोऽप्याददानोंऽशुकान्तं
गृह्णन् केशेष्वपास्तश्चरणनिपतितो नेक्षितः संभ्रमेण।
आलिङ्गन् योऽवधूतस्त्रिपुरयुवतिभिः साश्रुनेत्रोत्पलाभिः
कामीवार्द्रापराधः स दहतु दुरितं शाम्भवो वः शराग्निः॥

त्रिपुरदाह के समय भगवान् शिव के बाण से प्रसूत वह्नि त्रिपुरनामक

1. ध्व० पृ० १९३.

राक्षस की स्त्रियो के साथ वैसा ही व्यवहार कर रहा है जैसा तुरन्त अपराध करके आया हुआ कामी कर सकता है। आँखो मे आँसू ली हुई सुन्दरियां हाथ छूने पर उसे झटकार देती है, आँचल पकड़ने पर उसे फटकार दिया करती है, केशपाश छूने ही उसे तत्काल हटा देती है, चरणो पर गिरने पर उसे भय से विह्वल हो देखती तक नही और आलिङ्गन करने पर उसे धक्का दे देती है। ऐसा वह्नि आपकी रक्षा करे।[1]

इस स्थल में त्रिपुरारि शिव का प्रभाव प्रधान है। उसमें सपत्नी से मिलकर आए कामी के प्रति ईर्ष्या से जनित विप्रलम्भ तथा करुण अप्रधान है। इन दोनों के साथ यहाँ श्लेपोपमानात्मक अलङ्कार भी है, क्योंकि अग्नि के सभी विशेषण कामी में लागू होते है और 'कामी के समान' इस प्रकार उपमाप्रतिपादक शब्द भी यहा कथित है। इस प्रकार यहाँ श्लेपोपमासहित विप्रलम्भ और करुण शिव के माहात्म्य के प्रति अङ्ग है। उन्हें यहाँ अलङ्कार या रसवदलङ्कार कहा जाएगा।

कुछ लोग चेतन पदार्थों की प्रधानता में रस मानते है और रस को ही रसवदलङ्कार मानते है। उनके अनुसार सभी काव्य रसवत् ही होगे, क्योंकि ऐसा कोई काव्य नही होगा जिसमें चेतन वस्तु का व्यवहार न रहे।

कुछ समीक्षको का कहना है कि जहा रसवदलङ्कार हो वहाँ अचेतनवस्तु-वृत्तान्त रहे तो रह सकता है पर उसे प्रधान नही होना चाहिए। प्रधानता सर्वथा केवल चेतनवस्तुवृत्तान्त में ही होनी चाहिए। किन्तु यह टेक भी त्याज्य है, क्योंकि ऐसे अनेक काव्य है जिनमे अचेतन की प्रधानता रहती और रसवत्ता में कमी नही आती। विक्रमोर्वशीय मे उर्वशी से वियुक्त पुरूरवा की—

तरङ्गभ्रूभङ्गा क्षुभितविहगश्रेणिरसना
विकर्षन्ती फेनं वसनमिव संरम्भशिथिलम्।
यथाविद्धं याति स्खलितमभिसंधाय बहुशो
नदीरूपेणेयं ध्रुवमसहना सा परिणता॥[2]

निश्चय ही मेरी प्रिया [उर्वशी] नदीरूप में परिणत हो गई है। इसमें भ्रूभङ्ग तरङ्ग बन गए है, करधनी कलरव करती खगपङ्क्ति बन गई है, वेग या आवेग से शिथिल वस्त्र फेन बन गया है।

---
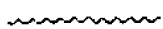
१ ध्व० पृ० १९५
२ ध्व० पृ० २०१

इस उक्ति में अचेतन नदी की प्रधानता है। पुरूरवा की ऐसी ही एक उक्ति और है—

> तन्वी मेघजलार्द्रपल्लवतया धौताधरेवाश्रुभिः
> शून्येवाभरणैः स्वकालविरहाद् विश्रान्तपुष्पोद्गमा।
> चिन्तामौनमिवाश्रिता मधुकृतां शब्दैर्विना लक्ष्यते
> चण्डी मामवधूय पादपतितं जातानुतापेव सा ॥[1]

निश्चित ही उर्वशी लता बन गई है क्योंकि मेघजल से इसके पत्ते भीगे हैं और निश्चित ही आँसुओं से उसका अधर धुल गया है।

यहाँ भी लता अचेतन ही है। उसी के रूप में जो उर्वशी का यहाँ चित्रण है वही है यहाँ चमत्कार का कारण।

यह हुआ अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य का गुणीभूतत्व। यहाँ इतना ध्यान रहना चाहिए कि ध्वनि में अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के रूप में रस, भाव आदि अनेक ध्वनियों के उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं किन्तु गुणीभूतव्यङ्ग्य में केवल रसवदलङ्कार के ही उदाहरण आनन्दवर्धन ने प्रस्तुत किये हैं। अब आइए अनुरणनोपमव्यङ्ग्य की गुणीभूतता पर।

[ख] अनुरणनोपमव्यङ्ग्य :

अनुरणनोपमव्यङ्ग्य दोनों ही रूपों में गुणीभूत होता है—

१. वस्तुरूप में भी और

२. अलङ्काररूप में भी।

दोनों में से प्रथम [वस्तु] के गुणीभाव का उदाहरण—

[१] वस्तुरूप गुणीभूतव्यङ्ग्य :

> अनुरागवती सन्ध्या दिवसस्तत्पुरस्सरः।
> अहो दैवगतिश्चित्रा न तथापि समागमः ॥[2]

सन्ध्या अनुरागवती बनी रहती है। दिन भी उस [सन्ध्या] के सामने उपस्थित रहता है, तब भी विधाता की गति इतनी विचित्र है कि दोनों मिल नहीं पाते।

---

१. ध्व० पृ० २०१

२. ध्व० पृ० ११८, ४६१

यहाँ वाच्य है सन्ध्या और दिवस की स्थिति। इसी प्रकार व्यङ्ग्य है नायकनायिका की स्थिति। दोनो में नायकनायिकापक्ष स्वतन्त्र रूप से सामने नही आता। वह सन्ध्या और दिवस पक्ष में ठीक उसी प्रकार जुड़ा हुआ है जिस प्रकार किसी सुहागिन के केशपाश में सिन्दूर। जिस प्रकार केशपाश प्रधान होता है और सिन्दूर उसका अङ्ग उसी प्रकार यहाँ दिनरात का पक्ष प्रधान है और नायकनायिका का पक्ष अङ्ग। ऐसे ही स्थल को समासोक्ति कहा जाता है। समासोक्ति मे अप्रस्तुत का वृत्तान्त इसी प्रकार अप्रधान और प्रस्तुतरूपी प्रधान की शोभा को बढाने वाला होता है। यह जो अप्रस्तुत वृत्तान्त है यह समासोक्तिनामक अलकार का एक अङ्ग है, स्वय अलकार नही, अत वस्तुरूप है। इस प्रकार यहा अप्रस्तुतवस्तु-वृत्तान्त व्यङ्ग्य है किन्तु अप्रधान या गुणीभूत होकर। यही स्थिति पर्यायोक्तालकार में होती है। उसमें एक ही बात दो रूपों में कही जाती है वाच्य रूप में और व्यङ्ग्य रूप में। अन्तर रहता है दोनो रूपो की कारकयोजना में। वाच्यरूप में जैसी कारकयोजना रहती है व्यङ्ग्यरूप में वैसी योजना नही रहती। ऐसी स्थिति में व्यङ्ग्य रूप से सामने आने वाला अर्थ कोई विलक्षणता नही रख पाता, क्योंकि उसमें कोई अपूर्वता नही रहती। वह तो वाच्य रूप में पहले से ही विदित रहता है। इसीलिए यहाँ भी व्यङ्ग्य अश चमत्कार की दृष्टि से वाच्य की अपेक्षा कमजोर रहता है। अत उसे भी गुणीभूत कहा जा सकता है।

[२] अलकाररूप गुणीभूतव्यङ्ग्य

आनन्दवर्धन ने इस वर्ग के लिए ऐसे ही उदाहरण दिए है जिनमें अलकार की व्यञ्जना अलकार से ही होती है। ऐसे स्थलो को उन्होने तीन भागों में बाँटा है

[१] वे स्थल जिनमें व्यङ्ग्य रूप में कोई सामान्य अलकार प्रतीत होता है, जैसे रूपक आदि में उपमा या सभी अलकारो में अतिशयोक्ति[1]।

[२] वे स्थल जिनमें कोई विशिष्ट अलकार व्यङ्ग्य होता है, जैसे व्याजस्तुति में प्रेयोलकार[2] तथा

[३] वे स्थल जिनमें परस्परव्यङ्ग्यता रहती है, जैसे दीपक में उपमा व्यङ्ग्य रहती है और उपमा अर्थात् मालोपमा में दीपक[3]।

---

१ ध्व० पृ० ४६४–७१

२ ध्व० पृ० ४७१

३ ध्व० पृ० ४७२

इनमें से एक एक करके प्रत्येक का उदाहरण—

[१] अलंकारसामान्य की व्यङ्ग्यता :

आनन्दवर्धन ने इसके लिए कोई उदाहरण नही दिया। वे मानते हैं कि 'अतिशय' की यह 'उक्ति' प्रत्येक अलंकार में रहती है, अंतः यह तथ्य उन्ही के उदाहरणों से गतार्थ है। ठीक भी है। उपमा में 'मुख को कमल के समान' बतलाना अवश्य ही बढ़कर या अतिशय के साथ बोलना है। रूपक में उसे कमल रूप बतला देना तो और भी बढ़कर बोलना है। अतिशयोक्ति में सीधे सीधे 'कमल' ही कह देना तो अतिशय की परा काष्ठा है। ऐसा ही है अपह्नुति में 'मुख मुख नहीं कमल है' ऐसा कहना, व्यतिरेक में कीचड़ से पैदा कमल की क्या मजाल की कि वह मुख के समान कहला सके' ऐसा कहना और प्रतीप में 'कमल ही मुख के समान है' ऐसा कहना। ये सब कथन चढ़ीबढ़ी बात लिए हुए हैं। अभिनवगुप्त ने पूर्वोदाहृत 'लावण्यसिन्धु' इस उक्ति को इसका उदाहरण माना है और कहा है कि 'यह कोई अजीब ही आकाशगङ्गा है' यह कथन सामान्य कथन न होकर अतिशय से युक्त कथन है।

ध्यान देने की बात यह है कि इन वाक्यों में से किसी भी वाक्य में 'अतिशय' शब्द नहीं है, किन्तु उसकी प्रतीति सबमें हो रही है। निश्चित ही वह प्रतीयमान है, अतः व्यङ्ग्य है। किन्तु[1] उसका जो चमत्कार है वह औषध में विषांश के समान शक्तिवर्धक और खीर में इलायची के समान स्वादवर्धक है, स्वयं प्रधान नहीं। इसलिए वह गुणीभूतव्यङ्ग्य ही है।

[२] अलंकारविशेष की व्यङ्ग्यता :

'मुख कमल है' यह जो रूपकालंकार का स्थल है इसमें शब्दतः मुख के साथ बतलाया तो जा रहा है अभेद, किन्तु प्रतीत केवल अभेद नहीं हो रहा, उसके साथ सादृश्य भी प्रतीत हो रहा है। यहाँ अभेद है रूपक और सादृश्य है उपमा। रूपक शब्दतः कथित है, उपमा नहीं। उपमा व्यङ्ग्य है। किन्तु व्यङ्ग्य होकर भी वह जितना चमत्कार प्रस्तुत कर रहा है वह रूपक के चमत्कार से अधिक नहीं, कम ही है। फलतः यहाँ उपमा गुणीभूत है। इस प्रकार यह स्थल उपमा की गुणीभूतव्यङ्ग्यता का स्थल है। निदर्शना, तुल्ययोगिता, व्यतिरेक आदि में भी उपमा व्यङ्ग्य रहती है, सादृश्य रूप से। वे भी सब उपमा की गुणीभूतव्यङ्ग्यता के स्थल हैं।

---

१. ये दोनों दृष्टान्त हमारे हैं।

[३] अलङ्कारों की परस्परगर्भता

प्रभामहत्या शिखयेव दीपस्त्रिमार्गयेव त्रिदिवस्य मार्गः ।
संस्कारवत्येव गिरा मनीषी तया स पूतश्च विभूषितश्च ॥

अतिशय प्रभा से युक्त शिखा से दीपक के समान, गङ्गा से स्वर्गमार्ग के समान तथा संस्कृत भाषा से विद्वान् के समान वह हिमालय उस नवजात कन्या [पार्वती] से पवित्र भी हुआ और विभूषित भी [कुमार—१]।

यहाँ उपमेय हैं पार्वती और हिमालय, किन्तु इन दोनों के लिए उपमान तीन तीन आए हैं, फलतः यह स्थल मालोपमा का स्थल है। यह जो मालोपमा है यह यहाँ वाच्य है। इससे व्यङ्ग्य होता है दीपक नामक अलङ्कार। दीपक वहाँ होता है जहाँ प्राकरणिक और अप्राकरणिकों का किसी एक धर्म के साथ सम्बन्ध हो। यहाँ प्राकरणिक हैं केवल हिमालय और पार्वती, क्योंकि इस पद्य में वर्णन उन्हीं का किया जा रहा है। शेष सब अप्राकरणिक हैं, क्योंकि वे सादृश्य के आधार पर उपस्थित किए गए हैं। इन सबका 'पवित्रीकरण' तथा 'विभूषितीकरण' रूप एक ही धर्म में कर्ता के रूप में अन्वय=सम्बन्ध हो रहा है। इस कारण यह स्थल दीपक की छवि भी लिए हुए है। किन्तु दीपक यहाँ व्यङ्ग्य है, वाच्य नहीं। वाच्य तो एकमात्र उपमा ही है यानी मालोपमा, क्योंकि यहाँ उसके प्रतिपादक समान-शब्द का प्रयोग है। दीपक में सादृश्य के प्रतिपादक शब्द का प्रयोग नहीं रहता। इस प्रकार यहाँ उपमा भी उसी प्रकार दीपकगर्भित है जिस प्रकार दीपक उपमा-गर्भित रहता है।

दीपक का उपमागर्भित होना तो प्रसिद्ध ही है। उसके लिए उदाहरण पहले दिया जा चुका है 'चन्द्रमयूखों से निशा०' आदि।

इस प्रकार उक्त स्थलों में एक अलङ्कार से दूसरे अलङ्कार की अप्रधानतया प्रतीति हो रही है। इसलिए ये सब गुणीभूतव्यङ्ग्यता के स्थल हैं।

सत्य यह है, कि अलङ्कार जितने भी हैं, वे, सबके सब गुणीभूतव्यङ्ग्य के स्थल हैं। इसके लिए आनन्दवर्धन के ये वाक्य मन्त्रवाक्य हैं—

सभी अलङ्कार गुणीभूतव्यङ्ग्य :

[क] गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वं च सर्वेषामेवालङ्काराणां सामान्यम्। तल्लक्षणे सर्व एवैते सुलक्षिता भवन्ति।[1]

---

१ ध्व० पृ० ४७२

[ख] मुख्या महाकविगिरामलङ्कृतिभृतामपि ।
प्रतीयमानच्छायैषा भूषा लज्जेव योषिताम् ॥

सच पूछिए तो अलङ्कारत्व प्रतीयमान अर्थ की इस गुणीभूत छाया में ही रहता है, भले ही उपमा आदि अन्य अलङ्कार उसमें हों। ठीक वैसे ही जैसे कटककुण्डलादि पहनने पर भी नारी में[1] लज्जा।

काकु से आक्षिप्त गुणीभूतव्यङ्ग्य :

जो व्यङ्ग्य काकु से आक्षिप्त होता है वह भी गुणीभूत होता है। काकु का अर्थ है स्वरकम्प, जैसा कि प्रश्नवाक्य के बोलने में अनुभव में आता है। ऐसे अनेक काकु होते हैं। भरतनाट्यशास्त्र[3] और काव्यमीमांसा[4] में इन पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। जो व्यङ्ग्य इस प्रकार के काकुरूप स्वरकम्प से स्पष्ट हो जाते हैं वे भी गुणीभूत होते और अनुरणनोपम गुणीभूतव्यङ्ग्य में गिने जाते हैं। उदाहरणार्थ—वेणीसंहार का सूत्रधार कहता है 'धृतराष्ट्रपुत्र स्वस्थ हों' इसे सुनकर इसी पर क्रुद्ध हो भीमसेन कहता है—'मेरे जीते जी धृतराष्ट्र-पुत्र स्वस्थ हो सकते हैं'? भीमसेन की इस उक्ति से स्पष्ट है कि वह कौरवों को स्वस्थ नहीं देखना चाहता। उसके इस कथन से यह भी स्पष्ट है कि पाण्डवों के साथ कौरवों ने पर्याप्त अत्याचार किए हैं। किन्तु ये सब अर्थ काकु—स्वर के गर्भ में निविष्ट हैं, अतः पुष्प में निविष्ट सौरभ के समान पर्याप्त स्पष्ट और सुलभ हैं। इस प्रकार ये सब व्यङ्ग्य अर्थ गुणीभूत हैं और क्योंकि इनका बोध क्रम से होता है, अतः इन्हें अनुरणनोपम भी कहा जा सकता है। ये हुए अनुरणनोपमव्यङ्ग्य की गुणीभूतता के स्थल।

गुणीभूतव्यङ्ग्यता के अन्य अनेक कारण :

आनन्दवर्धन का कहना है कि गुणीभूतव्यङ्ग्य अथवा अप्रधान व्यङ्ग्य के स्थल काव्यकला में बहुतायत से मिलते हैं। उन्हें अवधानपूर्वक परखते रहना चाहिए[5]। उदाहरणार्थ समुद्र का यह वर्णन लीजिए—

---

१. ध्व० ३।३७.

२. अर्थान्तरगतिः काक्वा या चैषा परिदृश्यते।
सा व्यङ्ग्यस्य गुणीभावे प्रकारमिममाश्रिता॥ ध्व० ३।३८॥

३. नाट्यशास्त्र अ० १७

४. अध्याय ७

५. प्रसन्नगम्भीरपदाः काव्यबन्धाः सुखावहाः।
ये च तेषु प्रकारोऽयमेव योज्यः सुमेधसा॥ ध्व० ३।३५॥

लक्ष्मीर्दुहिता जामाता हरिस्तस्य गृहिणी गङ्गा।
अमृतमृगाङ्कौ च सुतावहो कुटुम्बो महोदधेः॥

लड़की लक्ष्मी, दामाद विष्णु, घरवाली गङ्गा, अमृत और चन्द्र पुत्र।
ओहो, कैसा है कुटुम्ब महोदधि का[1]?

अभिनवगुप्त के शब्दों में यहाँ यह व्यक्त हो रहा है कि समुद्र का कुटुम्ब त्रैलोक्य-सारभूत है। किन्तु उसकी यह त्रैलोक्यसारभूतता 'ओहो'—शब्द के कारण इतनी अधिक स्पष्ट कर दी गयी कि इसकी प्रतीति में तनिक भी समय नहीं लगता, यद्यपि है यह व्यङ्ग्य ही। ऐसी स्थिति में इसे गुणीभूत व्यङ्ग्य ही कहा जाएगा।

ऐसे और भी अनेक स्थल होते हैं जहाँ व्यङ्ग्यांश किसी कारण बहुत अधिक साफ हो जाया करता है। उदाहरणार्थ

संकेतकालमनसं विटं ज्ञात्वा विदग्धया।
हसन्नेत्रार्पिताकूतं लीलापद्मं निमीलितम्॥

मिलने का समय जानने हेतु उपपति को उत्सुक देख, विदग्ध सुन्दरी ने मुसकुराती आँख में अपना मनोभाव लेकर हाथ में रखा लीलाकमल मूँद दिया[2]।

यहाँ 'मुसकुराती आँख में मनोभाव लेकर' यह जो विशेषण है इससे व्यङ्ग्य अंश एक प्रकार से प्रकट ही हो गया। व्यङ्ग्य है 'सूर्यास्त के समय मिलनमहोत्सव की अभि-स्वीकृति' क्योंकि कमल सूर्यास्त के समय ही मुँदते हैं। स्वीकृति न होती तो नायिका की आँखें मुसकुराती नहीं, खिल न उठतीं।

निम्नलिखित स्थल भी ऐसे ही हैं—

[१] लक्ष्मीस्वयम्वर के समय कवि कह रहा है

वत्से मा गा विषादं श्वसनमुरुजवं सन्त्यजोर्ध्वप्रवृत्तं
कम्पः को वा गुरुस्ते भवतु बलभिदा जृम्भितेनात्र याहि।
प्रत्याख्यानं सुराणामिति भयशमनच्छद्मना कारयित्वा
यस्मै लक्ष्मीमदाद् वः स दहतु दुरितं मन्थमूढां पयोधिः॥

वत्से विषाद [खेद और विषभक्षी=शिव] के पास न जा, तेज श्वसन [साँस और वायु] को छोड़। इस प्रकार भय शान्त करने के बहाने

---

१ ध्व० पृ० ४६३
२ ध्व० पृ० ४६१

अन्य देवताओं का परिहार कर समुद्र ने जिस [विष्णु] को लक्ष्मी दी वह आपकी रक्षा करे[1]।

यहाँ 'अन्य देवताओं का परिहार' यह कथन 'विपाद' आदि शब्दों में छिपे 'शिव' आदि अर्थों को स्पष्ट कर देता है, उससे सारा रहस्य खुल जाता है। किन्तु वे अर्थ वाच्य नहीं होते, क्योंकि इस श्लोक में दो वक्ता हैं, एक है कवि और दूसरा है समुद्र। समुद्र की कही वात को कवि दोहरा रहा है। 'विपाद' आदि शब्दों का प्रयोग समुद्र की कही बात मे हुआ है, जबकि 'अन्य देवताओं के परिहार' की बात कवि की कही बात मे आयी है। इस प्रकार समुद्र की उक्ति के समय 'विपाद' शब्द का शिवरूपी दूसरा अर्थ व्यङ्ग्य ही रहता है। कवि की उक्ति में परिहार की बात सुनते ही यह व्यङ्ग्य अंश मानों गङ्गा मे छिपे कछुए के समान ऊपर चला आता है और ध्वनि न होकर गुणीभूत बन जाता है।

[१] कवि किसी सुन्दर और युवक पथिक के प्रति वियुक्त तरुणी का उद्‌गार प्रस्तुत कर रहा है—

अम्बा शेतेऽत्र वृद्धा परिणतवयसामग्रणीरत्र तातो
निश्शेषागारकर्मश्लथशिथिलतनुः कुम्भदासी तथात्र।
अस्मिन् पापाहमेका कतिपयदिवसप्रोषितप्राणनाथा
पान्थायेत्थं तरुण्या कथितमवसरव्याहृतिव्याजपूर्वम्॥

बूढ़ी माँ यहाँ सोती है, बुढ़ौती से जर्जर पिता यहाँ, थककर चूर पनिहारिन यहाँ और मै अकेली यहाँ, मै पापिन, जिसे छोड़कर प्राणनाथ कितने ही दिनो से बाहर निकले हुए हैं। इस प्रकार तरुणी ने पथिक से सुअवसर का लाभ लेने की बात व्याजपूर्वक कह दी।[2]

यहाँ 'व्याज से कहना' यह कथन सारे के सारे व्यङ्ग्यांश को समाजिकरूपी अलाउद्दीन के सामने पद्मिनी का दर्पणाङ्कित प्रतिबिम्ब वना देता है। कल्पना का सारा साम्राज्य मानों भौतिकता में परिणत हो जाता है और रहस्य, रहस्य न होकर प्रकाश बन जाता है। अनुभूति कहती है कि यहाँ के व्यङ्ग्यांश का चमत्कार वसन्त के तालाव से निदाघ के तालाव मे परिणत हो गया, उसमें पर्याप्त न्यूनता आ गयी।

[३] कवि श्रीकृष्ण से किसी अनुरक्त ग्वालिन द्वारा द्व्यर्थक पदावली में की गयी प्रणययाचना प्रस्तुत करता और कहता है—

१. ध्व० पृ० २५२.
२. ध्व० पृ० २५३.

कुमारसंभव में वैवाहिक शृङ्गार के समय पैरों में अलता लगाकर प्रसाधिका ने पार्वतीजी से कहा—'इससे तुम पति के सिर की चन्द्रकला छुओ' तो पार्वती कुछ बोली तो नहीं, उन्होंने उसे एक माला मारी[1]।

यहाँ कुछ न बोलने और माला से मारने की बात कहकर कवि ने पार्वती का मनोभाव बहुत कुछ स्पष्ट कर दिया। इसलिए उसे गुणीभूत व्यङ्ग्य मानना होगा। इसी प्रकार—

[२] प्रयच्छतोच्चैः कुसुमानि मानिनी विपक्षगोत्रं दयितेन लम्भिता।
न किञ्चिदूचे चरणेन केवलं लिलेख बाष्पाकुललोचना भुवम् ॥

पुष्पोपहार देते समय प्रिय ने प्रिया को सौत के नाम से पुकार दिया। प्रिया ने कुछ कहा तो नहीं, वह पैर से भूमि कुरेदने लगी[2]।

इस स्थल में भी 'कुछ न कहने' की उक्ति से कवि ने नायिका के मनोभाव को निषेधद्वारा अधिक स्पष्ट कर दिया, अतः यहाँ भी व्यङ्ग्य अंश गुणीभूत ही है।

इन दोनों स्थलों में यदि अनुरणरूप ध्वनि स्वीकार की जाए तो इनके पूर्व अभी दिए गए उदाहरणों में ध्वनि ही स्वीकार करनी होगी, क्योंकि उनमें भी अन्ततः नायक और नायिका की पारस्परिक रति प्रतिष्ठित ही है, जो शृङ्गार का स्थायी भाव है, अतः उन सभी स्थलों में रसध्वनि[3] माननी होगी। ऐसी स्थिति में गुणीभूतता किसी भी व्यङ्ग्य मे रहेगी ही नहीं। और यह बात किसी प्रकार मान भले ही ली जाए परन्तु होगी अनुभवविरुद्ध।

ऐसे स्थलों में पूर्ण सच्चाई के साथ बिना सङ्कोच के व्यङ्ग्य को अप्रधान या गुणीभूत मान लेना चाहिए। प्रधानता का आग्रह कर यहाँ ध्वनित्व की रट नहीं लगानी चाहिए।

गुणीभूतव्यङ्ग्य ध्वनिनिष्यन्दभूत[4] :

वास्तविकता यह है कि 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' मूलतः है, ध्वनिरूपी हिमगिरि

१. ध्व० पृ० ४८१ कुमार-७

२. ध्व० पृ० ४८२ किरात ८।१४

३. प्रकारोऽयं गुणीभूतव्यङ्ग्योऽपि ध्वनिरूपताम्।
धत्ते रसादितात्पर्यपर्यालोचनया पुनः ॥ ध्व० ३।४० ॥

४. अयं ध्वनिनिष्यन्दरूपो महाकविविषयोऽतिरमणीयो लक्षणीयः सहृदयैः ॥ ध्व० पृ० ४७४ ॥

से वहे निझर ही। निर्झर निर्झर की दृष्टि से प्रधान हो सकते है, पर वास्तविक प्रधानता है हिमगिरि में ही। यथा-स्वय राधा या कोई गोपी श्रीकृष्ण से कह रही है

दुराराधा राधा सुभग! यदनेनापि मृजत-
स्तवैतत् प्राणेशाजघनवसनेनाश्रु पतितम्।
कठोर स्त्रीचेतस्तदलमुपचारैर्विरम हे
क्रियात् कल्याण वो हरिरनुनयेष्वेवमुदित[1]॥

हे सुभग, राधा को प्रसन्न करना कठिन है। राधा स्त्री है और स्त्री का चित्त कठोर जो होता है। तुम जो इसकी आंख के आंसू धोती के छोर से पोछ रहे हो यह व्यर्थ है। इस प्रकार से अनुनयों के समय किसी [गोपी] के द्वारा कहे गए भगवान् श्रीकृष्ण आपका कल्याण करें।

यहाँ एक एक शब्द साभिप्राय है। सुभग का अभिप्राय है 'कृष्ण तुम्हें तो सभी सुन्दरियाँ चाहती हैं', क्योकि 'सुभग' का अर्थ होता है 'जिसे सुन्दरियाँ चाहें'। इसके आगे अर्थ निकलता है कि 'जब तुम्हें बहुत सी सुन्दरियाँ चाहती है तो क्यो पडे हो राधा के पीछे'। 'स्त्रीहृदय की कठोरता' की उक्ति एक विपरीत फबती है जिससे सुभगशब्द की व्यञ्जना को बल मिल रहा है।

ये सब व्यङ्ग्य अवान्तर व्यङ्ग्य है। इन सबसे राधा और कृष्ण का पारस्परिक प्रेम व्यक्त हो रहा है जिससे विप्रलम्भ रस का अनुभव होता है। रस एकमात्र ध्वनिरूप होता है। किन्तु यह जो विप्रलम्भ है यह भगवद्विषयक रति के प्रति गुणीभूत है। निदान यहाँ श्रीकृष्णविषयक रतिरूपी भाव प्रधान है और उसके आधार पर यह स्थल ध्वनि सिद्ध हो रहा है। ध्यान देने की बात यह है कि यहाँ सभी अवान्तर व्यङ्ग्य तभी निकल रहे है जब यहाँ मूल में कोई प्रधान भाव निहित है, अत ये सब उसी महान् धारासार की सीकर-कणिकाएँ हैं। दूसरे शब्दो में ये सभी व्यङ्ग्य, ध्वनिनिष्यन्द हैं—उस प्रधान व्यङ्ग्य के बांध से निकली झिरें हैं। पूर्वचर्चित 'न्यक्कारो ह्ययमेव' की स्थिति भी यही है। उसमें जो अवान्तर व्यङ्ग्य है वे सब गुणीभूत है।

ऐसा समझना चाहिए कि एक व्यङ्ग्य वाक्यरूप होता है और शेष सब[2] पदरूप। वाक्यरूप व्यङ्ग्य को प्रधान और ध्वनि कहा जाएगा और पदरूप व्यङ्ग्य को अवान्तर, अप्रधान या गुणीभूत व्यङ्ग्य। कभी कभी अवान्तर इन व्यङ्ग्यो

---

१ ध्व० पृ० ४८४
२ वाक्य ध्वनि, पदानि तु गुणीभूतव्यङ्ग्यानि (ध्व० पृ० ४८५)

के प्रतिपादक पद अर्थान्तरसंक्रमित भी होते हैं। यथा **'न्यक्कारो ह्ययमेव'** पद्य में 'रावण' पद, जिसका निरूपण ध्वनिप्रकरण में किया जा चुका है।

जहाँ कहीं रसादि का चमत्कार नहीं रहता वहाँ वाक्य में भले ही अनेक अवान्तर व्यङ्ग्य पदों से निकल रहे हों और वाक्य उनसे शोभित हो रहा हो तथापि उन सब व्यङ्ग्यों के समुदाय को कहा जाएगा गुणीभूत ही[1]। उदाहरणार्थ :

राजानमपि सेवन्ते विषमप्युपभुञ्जते।
रमन्ते च सहस्त्रीभिः कुशलाः खलु मानवाः॥

मानव निश्चित ही बड़े चतुर होते है। राजा की सेवा भी कर डालते हैं, विष भी खा लेते हैं और स्त्रियों के साथ भी रमण कर लेते है।[2]

यद्यपि यहाँ निर्वेदात्मक शान्त रस की प्रतीति होती है तथापि चमत्कार का दारमदार वाच्य पर ही है। 'मानव', 'राजा' और 'स्त्री' शब्दों से निकलते अनेक अभिप्रायों का काफिला उसी के पीछे चलता और उसी की शोभा बढ़ाता प्रतीत हो रहा है। ये सब गुणीभूत इसलिए भी हैं कि 'निश्चित ही' और 'भी' शब्द[3] उनके कोहवर मे कांच का झरोखा बना देते और इतना प्रकाशित कर देते हैं कि रसिक की संवित्ति व्यङ्ग्यार्थ की रहस्यपूर्ण मधुलीला को ताक लेती है।

व्यङ्ग्यों का प्राधान्याप्राधान्यविवेक दुष्कर कार्य :

व्यङ्ग्यों के प्राधान्य और अप्राधान्य का विवेक एक दुष्कर कार्य है। यह विवेक बहुत ही अधिक सूक्ष्मता और गम्भीर प्रयत्न की अपेक्षा रखता है। ऐसा बिना किए यह स्पष्ट नही होता कि एक ही उक्ति के किस अंश मे ध्वनित्व है, किस अंश में गुणीभूतव्यङ्ग्यत्व और किस अंश में अलंकार। इस प्रयत्न के बिना विवेक इतना कठिन है कि व्यङ्ग्य अर्थो की बात तो बहुत दूर है, अलंकारों के विषय मे भी, और प्रसिद्धतम अलंकारों के विषय में भी, भ्रम हो जाता है[4]। आखिर उनका निर्णायकबिन्दु भी व्यङ्ग्य अंश ही जो होता है! उदाहरण के रूप में निम्नलिखित स्थल लीजिए :

---

१. यत्र तु वाक्ये रसादितात्पर्यं नास्ति गुणीभूतव्यङ्ग्यैरुद्भासितेऽपि तत्र गुणी-भूतव्यङ्ग्यतैव समुदायधर्मः। (ध्व० पृ० ४८५)

२. ध्व० पृ० ४८५.

३. द्रष्टव्य लोचन ध्व० पृ० ४८६।

४. वाच्यव्यङ्ग्ययोः प्राधान्याप्राधान्यविवेके परः प्रयत्नो विधातव्यः (ध्व० पृ० ४८६)

लावण्यद्रविणव्ययो न गणित क्लेशो महान् स्वीकृत.
स्वच्छन्दस्य सुख जनस्य वसतश्चिन्तानलो दीपित ।
एषापि स्वयमेव तुल्यरमणाभावाद् वराकी हता
कोऽर्थश्चेतसि वेधसा विनिहितस्तन्व्यास्तनु तन्वता ।।

लुनाई के खजाने को खुलकर खरचा, क्लेश भी काफी कुछ सहा, स्वच्छन्द और सुखी लोगो के लिए चिन्ता की आग सुलगा दी और खुद इस बेचारी को भी जैसा चाहिए था वैसा प्रिय न देकर नेस्तनाबूद कर दिया। इस तन्वी की तनुयष्टि बनाते समय विधाना ने, आखिर क्या लाभ सोचा था ?[1]

ऐसे स्थलो में कुछ समालोचकों[2] को व्याजस्तुति का भ्रम हो जाया करता है। वस्तुत यहाँ है अप्रस्तुतप्रशसा। यह धर्मकीर्तिका पद्य है और एक ऐसे व्यक्ति पर लिखा गया है जो था तो अतीव गुणी, किन्तु जिसे सम्मान देने वाला कोई न था। कदाचित् यह उन्होंने स्वय के लिए लिखा है, क्योंकि धमकीर्ति ने इसी भाव के और भी पद्य लिखे है और उनमें अपनी प्रतिभा का वर्णन किया है।[3] यहाँ व्याजोक्ति इसलिए नही हो सकती कि यह किसी सानुराग व्यक्ति की उक्ति नही है। ऐसा होता तो 'नेस्तनाबूदी' की बात न कही जाती। यह उक्ति किसी विरक्त की भी नही है। विरक्त का मन स्त्री की ओर जाता ही नही। यह तो मुक्तक वाक्य है और इसका पूर्वापर प्रसङ्ग है ही नही। फलत यह पूर्वोक्त ढग से अप्रस्तुतप्रशसा ही है। यहाँ प्राधान्याप्राधान्यव्यवस्था इस प्रकार की ठहरती है—

१ प्रधान व्यङ्ग्य
२ अप्रधान वाच्य तथा
३ अलकार अप्रस्तुतप्रशसा।

यदि यहाँ व्याजस्तुति होती तो प्रधान होता वाच्य[4]। व्यङ्ग्य अप्रधान ही रहता।

---

१ दण्डी और उद्भट ने ऐसे स्थलो में व्याजस्तुति मानी है।
२ ध्व० पृ० ४८७। इस पद्य में अनेक पाठान्तर है किन्तु ध्वन्यालोक के उक्त चौखम्भासस्करण में यही पाठ है।
३ ध्वन्यालोक पृ० ४८९
४ आनन्दवर्धन ऐसा ही कुछ मानते प्रतीत होते हैं। यद्यपि व्याजस्तुति में भी होता प्रधान व्यङ्ग्य ही है, तथापि इसमें वाच्य उतना धूमिल नही होता जितना अप्रस्तुतप्रशसा में हुआ करता है। कदाचित् इसीलिए आनन्दवर्धन व्याजस्तुति में वाच्य को व्यङ्ग्य के बराबर ही प्रधान मानते हैं।

स्पष्ट है कि व्यङ्ग्य अर्थ की प्रधानता और अप्रधानता का निर्णय एक अतीव सूक्ष्म कार्य है और एकमात्र यही अलंकारतत्त्व का निर्णायक विन्दु है।

ध्वनि-संमिश्रण

हमने 'प्रधान' और 'गुणीभूत' इन दोनों प्रकारों के जिस व्यङ्ग्य अर्थ की विविध स्थितियों का परिचय प्राप्त किया उनमे से ध्वनिनामक प्रथम व्यङ्ग्य कभी कभी अन्य तत्त्वों से भी मिश्रित रहता है। ये तत्त्व चार प्रकार के होते हैं :

१. ध्वनिरूप
२. गुणीभूतव्यङ्ग्यरूप
३. वाच्यालङ्काररूप तथा
४. संसृष्टालङ्काररूप।[1]

मिश्रण भी दो प्रकार का होता है :

१. संकररूप तथा
२. संसृष्टिरूप।[2]

संकर में मिश्रित वस्तुओं का भेद प्रतीत नही होता, जब कि संसृष्टि में उसकी प्रतीति होती है। संकरात्मक मिश्रण का उदाहरण है दूध और पानी का मिश्रण, जबकि संसृष्टिरूप मिश्रण का उदाहरण है 'चावल तथा दाल' का मिश्रण। संकर भी तीन प्रकार का होता है, अनुग्राह्यानुग्राहकभावरूप, संदेहरूप तथा एकवाचकानुप्रवेशरूप, जिनका निरूपण अलङ्कारप्रकरण में किया जाएगा। अब हम इन दोनों प्रकार के मिश्रणों के द्वारा उपर्युक्त तत्त्वों से मिश्रित ध्वनितत्त्व के कुछ स्थलों का अनुशीलन करें।

[१] ध्वनि-ध्वनि मिश्रण :

[अ] संकर :

[क] अनुग्राह्यानुग्राहकभावसङ्कर :

पूर्वोक्त 'एवंवादिनि देवर्षौ०' पद्य के अर्थ में लज्जा की ध्वनि अर्थशक्त्युद्भव अनुरणनरूप व्यङ्ग्य है और अभिलाषशृङ्गार की ध्वनि अलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य। इनमें

---

१. सगुणीभूतव्यङ्ग्यैः सालङ्कारैः सह प्रभेदैः स्वैः।
सङ्करसंसृष्टिभ्यां पुनरप्युद्योतते बहुधा॥ ध्व० ३।४३॥

२. ध्व० पृ० ५०१–२

से लज्जा के द्वारा अभिलाषशृङ्गार की पुष्टि हो रही है, अतः लज्जा अनुग्राहक है और शृङ्गार अनुग्राह्य।[1]

[ख] सन्देहसङ्कर

क्षणप्राघुणिका देवर ! एषा जायया किमपि ते भणिता ।
रोदिति शून्यवलभीगृहेऽनुनीयतां वराकी[2] ॥

हे देवर, यह बेचारी, छज्जे की शून्य कोठरी में बैठी रो रही है, इसे मना लो, इससे तुम्हारी घरवाली ने कुछ बोल दिया है। यह अब क्षण भर की ही मेहमाननी है।

यहाँ 'मना लो' शब्द अर्थान्तर में संक्रमित भी हो सकता है और विवक्षितान्यपर भी है। इसका अर्थ यह भी हो सकता है कि तुम एकान्त में बैठी उस वियोगिनी को सन्तुष्ट कर प्रसन्न कर दो, और यह भी हो सकता है कि तुम भी तो इसी के लिए बेहाल हो, अतः अवसर का लाभ लो। इससे प्रकट होता है रो रही नायिका का ईर्ष्याजनित विप्रलम्भ और [अनुनय =] मनाने की बात उसमें सहायक सिद्ध होती है। इस प्रकार यहाँ दोनों ही प्रकार की ध्वनि सम्भव है अर्थान्तर संक्रमितवाच्य ध्वनि भी और ईर्ष्याविप्रलम्भ नामक विवक्षितान्यपरवाच्य-ध्वनि भी। दोनों में से किसी एक के पक्ष में निर्णय नहीं लिया जा सकता, अतः यहाँ दोनों का संकर संदेहसंकर ही है।[3]

[ग] एकवाचकानुप्रवेशसङ्कर[4]

इस प्रकार का सङ्कर अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यों में अधिक होता है पूर्वोक्त 'स्निग्धश्यामलकान्ति॰' पद्य के अर्थ में इसे भलीभाँति समझा जा सकता है। विप्रलम्भ शृङ्गार और उसके शोक, आवेग आदि सञ्चारी भावों की ध्वनियों का साङ्कर्य यहाँ सुस्पष्ट है।

---

१ ध्व॰ पृ॰ ५०१–२

२ खणपाहुणिआ देअर एसा जाआएँ किंपि दे भणिदा ।
रुअइ पडोहरवलहीघरम्मि अणुणिज्जउ वराई ॥
(ध्व॰ पृ॰ ५०२ की छाया पृ॰ ५०३)

३ द्र॰ लोचन पृ॰ ५०४

४. ध्व॰ पृ॰ ५०३

[आ] संसृष्टि[1] :

पूर्वोक्त 'स्निग्धश्यामलकान्ति०' पद्य के ही अर्थ में 'लिप्त' आदि शब्दों मे तिरस्कृतवाच्य ध्वनि है और राम आदि शब्दों में संक्रमित वाच्य। दोनों अलग-अलग स्थित हैं, अतः उनके मिश्रण को संसृष्टि का ही विषय माना जाएगा।[2]

[२] ध्वनि-गुणीभूतव्यङ्ग्य-मिश्रण :

[अ] संकर :

पूर्वोक्त 'न्यक्कारो ह्ययमेव०' पद्य का अर्थ तो इसका उत्तम उदाहरण है ही, निम्नलिखित पद्य मे रणस्थल मे कर्ण को मारकर दुर्योधन को ढूँढ रहे भीम और अर्जुन की उक्ति भी इसका उदाहरण है—

> कर्त्ता द्यूतच्छलानां जतुमयशरणोद्दीपनः सोऽभिमानी
> कृष्णाकेशोत्तरीयव्यपनयनपटुः पाण्डवा यस्य दासाः।
> राजा, दुश्शासनादेर्गुरुरनुजशतस्याङ्गराजस्य मित्रं
> क्वास्ते दुर्योधनोऽसौ कथयत, न रुषा, द्रष्टुमभ्यागतौ स्वः॥[3]

द्यूत मे छलने वाला, लाक्षागृह में आग लगाने वाला, वह अभिमानी, कृष्णा के केश और उत्तरीय को हटवाने में धृष्ट, पाँचों पाण्डव जिसके गुलाम थे, वह राजा, दुश्शासन आदि सौ छोटे भाइयों का ज्येष्ठ भ्राता और अङ्गराज [कर्ण] का मित्र वह दुर्योधन है कहाँ, बतलाओ न, गुस्से में नहीं, हम तो उसके दर्शन करने आये है।

यहाँ प्रत्येक विशेषण सव्यङ्ग्य है, उसका प्रत्येक अंश एक चोट लिए है। उनमे प्राचीन घटनाओं का स्मरण हो रहा है। वे सब घटनाएँ और उनके पीछे छिपी क्रूरता यहाँ व्यङ्ग्य है, किन्तु अप्रधान होकर। प्रधान व्यङ्ग्य है भीम और अर्जुन का गर्व, और उससे व्यङ्ग्य उनका विजयोल्लास। यहाँ गुणीभूत व्यङ्ग्य उन प्राचीन घटनाओं पर निर्भर है, जो एक-एक विशेषणवाक्य और उनके घटक पदों से निकल रही है, अतः उनका विजयोल्लासरूपी प्रधान व्यङ्ग्य से विरोध

१. ध्व० पृ० ५०४

२. द्र० लोचन पृ० ५०४

३. ध्व० पृ० ५०४

नहीं है, क्योंकि वह सम्पूर्ण उपवाक्यों से निष्पन्न एक महावाक्य का अर्थ है और प्रस्तुत है।[1]

[आ] ससृष्टि

द्वारका गए श्रीकृष्ण वृन्दावन से आए किसी मित्र से पूछ रहे हैं—

तेषां गोपवधूविलाससुहृदां राधारहःसाक्षिणां
क्षेमं भद्र कलिन्दशैलतनयातीरे लतावेश्मनाम्।
विच्छिन्ने स्मरतल्पकल्पन-मृदुच्छेदोपयोगेऽधुना
ते मन्ये जरठीभवन्ति विगलन्नीलत्विषः पल्लवाः ॥

हे मित्र, यमुनातीर के वे लताकुञ्ज तो सकुशल हैं जो गोपवधुओं के विलासों के सुहृद् हैं और जिनने राधा की एकान्तलीलाओं का साक्ष्य किया है। उस समय उनके पल्लव स्मरतल्पकल्पन के लिए चुने जाते थे। अब उनका वह उपयोग बन्द हो गया है, अतः अब 'वे', मैं समझता हूँ, जरठ हो रहे होंगे और उनकी वह नीली आभा मिटती जा रही होगी[2]।

यहाँ जो 'वे' और 'मैं समझता हूँ' ये उक्तियाँ हैं इनमें से प्रथम के द्वारा पल्लवों की असाधारणता और अनुभूतता व्यक्त हो रही है तथा द्वितीय के द्वारा 'हृदयैकमवेद्य अनेक कल्पित धर्म'। इन दोनों व्यञ्जनाओं में व्यङ्ग्य के द्वारा वाच्य अर्थ की ही शोभा बढाई जा रही है, अतः इन दोनों ही स्थलों में व्यङ्ग्य गुणीभूत है। इसके अतिरिक्त 'गोपवधुओं के विलास के सुहृद्' और 'राधा की एकान्तलीलाओं के साक्षी' ये दोनों ऐसी उक्तियाँ हैं जिनमें शृङ्गार की व्यञ्जना है, अतः इन दोनों में रस की ध्वनि है। इस प्रकार इस उक्ति में एक अंश में ध्वनित्व है और एक अंश में गुणीभूतव्यङ्ग्यत्व। परिणामतः यहाँ ध्वनि और गुणीभूत दोनों प्रकार के व्यङ्ग्य का अस्तित्व है, किन्तु ये एक ही वृक्ष पर जड और शाखा का सहारा लेकर अलग अलग बैठे दो पक्षियों के समान पृथक् पृथक् और भिन्न है। इस प्रकार इन दोनों व्यङ्ग्यों का मिश्रण यहाँ नीरक्षीर सा मिश्रण न होकर चावलदाल सा मिश्रण है। इस प्रकार के मिश्रण को संसृष्टि कहा जाता है यानी संसर्गमात्र न कि अभेद।

यहाँ यह अन्तर स्पष्टता के साथ समझ लेना चाहिए कि 'न्यक्कारो०' में

---

१ लोचनकार ने इस पद्य में ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य के मिश्रण पर और भी अनेक प्रकार से प्रकाश डाला है।

२ ध्व० पृ० २०२, ५०६

जो ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य थे उनका साङ्कर्य पदार्थ-वाक्यार्थ के साङ्कर्य के समान था। वहाँ ध्वनि वाक्यार्थ के समान थी और गुणीभूतव्यङ्ग्य पदार्थ के समान। यहाँ दिए उदाहरण में वाक्यार्थ है 'कुशल-प्रश्न'। उसके प्रति ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य दोनों ही पदार्थ हैं। ऐसी स्थिति में ध्वनि का ध्वनित्व रक्षित नहीं रह सकता, क्योंकि ध्वनित्व और पदार्थत्व=अङ्गत्व = अप्रधानत्व=गुणीभूतत्व परस्पर विरोधी धर्म हैं। अप्रधान होते ही ध्वनित्व नष्ट हो जाएगा और तब यह स्थल केवल गुणीभूतव्यङ्ग्यों का ही स्थल बनकर रह जाएगा।

इसके उत्तर में यह जाने रहना चाहिए कि मुख्य प्रतिपाद्य यदि स्वयं में कोई चमत्कार न रखता हो और यदि चमत्कार अवान्तर प्रतिपाद्यों में ही हो, तो काव्यकला की दृष्टि से प्रधान उन्हीं अवान्तर व्यङ्ग्यों को ही मान लिया जाता है। यह तो सभी का अनुभव है कि जमाँई छोटा ही प्रधान होता है, पुराने जमाँई सीनियारिटी से बड़े भले ही बने रहें। सच यह है कि कला में प्रधान वही होता है जिसमें चमत्कार रहता है। साहित्य में कनिष्ठा ही ज्येष्ठा होती है क्योंकि प्रिय की प्रीतिधारा उसी की ओर वेगवती और संपुष्ट रहती है।

[३] ध्वनि-वाच्यालङ्कारमिश्रण :

[अ] संकर :

ध्वनि का वाच्य अलङ्कारों से जो मिश्रण होता है वह अलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य के उन उदाहरणों में तो बहुत ही स्पष्ट रूप से सुलभ है जिनमें रस भी रहता है और अलङ्कार भी। ऐसे स्थल कविशिक्षानामक अगले प्रकरण में रसानुरूप अलंकारयोजना के लिए दिए गए उदाहरण पद्यों में सुलभ हैं। जहाँ तक अन्य ध्वनियों का सम्बन्ध है उनमें अनुरणनरूप व्यङ्ग्य के साथ वाच्य अलंकार के मिश्रण के हेतु स्वयं आनन्दवर्धन का ही पृष्ठ ५४ पर उद्धृत **'या व्यापारवती०'** पद्य लिया जा सकता है। इस पद्य में 'कवि' का 'सहृदय' या 'सहृदय' का 'कवि' होना सामान्यतः विरुद्ध तत्त्व है, अतः उससे विरोधालंकार को जन्म मिल रहा है। उधर 'नवा' शब्द से नवीनता के ही साथ दृष्टिगत प्रतिभात्व भी प्रकट हो रहा है, अतः 'दृष्टि' पद प्रतिभारूपी अन्य अर्थ में संक्रमित है। इस प्रकार यहाँ विरोधालङ्कार अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि का पोषण कर रहा है[1]।

---

१. इस पद्य पर लोचनकार की सहृदयता सहस्रधारा रेखा बन गई है। ध्व० पृ० ५०८-१०.

[आ] ससृष्टि

मेघदूत मे उज्जयिनी का वर्णन करते हुए यक्ष कह रहा है—

दीर्घीकुर्वन् पटुमदकल कूजित सारसाना
प्रत्यूषेषु स्फुटितकमलामोदमैत्रीकषाय ।
यत्र स्त्रीणा हरति सुरतग्लानिमङ्गानुकूल
सिप्रावात प्रियतम इव प्रार्थनाचाटुकार ॥

जहा सारसों के पटु और मदकल कूजन को सुदीर्घ बनाता, प्रत्यूषकाल में खिलते कमलो के सौरभ की मैत्री से कषायित और अङ्गो को प्रिय लगने वाला अत प्रार्थनाचाटुकार प्रियतम जैसा सिप्रावात, स्त्रियो की सुरत-ग्लानि को दूर किया करता है।[1]

यहाँ 'मैत्री'—पद लाक्षणिक पद है। उसका वाच्य अर्थ है मित्रता। वह चेतन धर्म है। पवन जड है। इसमें यह सम्भव नही। अत उसे छोडना पडता है और 'गहन सपर्क' रूपी दूसरा अर्थ अपनाना पडता है। इसमे व्यक्त होता है 'सादृश्य रूपी' अर्थ और पवन का चेतनत्व। फलत मैत्रीपद 'अत्यन्त-तिरस्कृतवाच्य ध्वनि' का स्थल है। उधर पवन को दी प्रियतम की उपमा भी शब्दत प्रस्तुत कर दी गयी है। अन्य भी अनेक अलकार यहाँ सम्भव है। फलत इस उक्ति में एक ओर तो ध्वनि विद्यमान है और दूसरी ओर अलकार। इनके अपने अपने क्षेत्र है जो स्वतन्त्र है। इस कारण यह उक्ति वाच्यालकार और ध्वनि की ससृष्टि का स्थल मानी जा सकती है।[2]

[४] ध्वनि ससृष्टालकार मिश्रण

[अ] सकर

अपने बच्चो को खाने जा रही सिंही को दयार्द्र बोधिसत्त्व स्वय का शरीर दे देते है। सिंही उनके उस शरीर को दांतो और नाखूनो से कुरेदती और फाडती है। अन्य मुनि बोधिसत्त्व की इस दशा को देख उनकी स्पृहणीयता के लिए लालायित हो रहे है। कवि कहता है

दन्तक्षतानि करजैश्च विपाटितानि
प्रोद्भिन्नसान्द्रपुलके भवत शरीरे।

१ इस पद्य का अनुवाद असभव है।

२ अभिनवगुप्त ने इस पद्य की भी व्याख्या रम कर की है और इसमें उत्प्रेक्षा, स्वभावोक्ति तथा रूपक भी स्वीकार किए हैं। ध्व० पृ० ५१३

दत्तानि रक्तमनसा मृगराजवध्वा
जातस्पृहैर्मुनिभिरप्यवलोकितानि ॥

रक्तचित्त[1] मृगराजवधू ने आपके सान्द्रपुलक शरीर में जो दन्तक्षत[2] तथा नखक्षत[3] किए उन्हे मुनिजनों ने भी स्पृहापूर्वक निहारा।

यहाँ मृगराजवधू नायिका प्रतीत हो रही है और बोधिसत्त्व नायक। उन दोनों के व्यवहारों पर नायिका तथा नायक के व्यवहारों का आरोप हो रहा है, अतः यहाँ समासोक्ति नामक अलंकार बहुत ही स्पष्टता के साथ अनुभव में आ रहा है। उधर मुनियों का मुनि होते हुए भी स्पृहा से युक्त होना विरोधी तथ्य है जिससे विरोधालंकार को जन्म मिल रहा है। दोनों का परस्पर मे नीरक्षीर जैसा मिश्रण है, अतः इसे कहा जाएगा अलंकारसाङ्कर्य। यह साङ्कर्य यहाँ प्रधान रूप से व्यङ्ग्य बन रहे दयावीर नामक रस का परिपोष कर रहा है, अतः इसे रसरूपी अलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य ध्वनि के साथ संसृष्ट वाच्यालंकार का अनुग्राह्यानुग्राहकभाव-मूलक संकर मानना होगा[4]।

[आ] संसृष्टि :

वर्षावर्णन की निम्नलिखित द्वयर्थक प्राकृत गाथा की पदयोजना पर ध्यान दीजिए :

अहिणअपओअरसिएसु पहिअसामाइएसु दिअहेसु।
सोहइ पसारिअगिआणं णच्चिअं मोरवन्दाणं ॥[5]

इसकी संस्कृत छाया दो प्रकार की होगी—

[१] अभिनय-प्रयोग-रसिकेषु पथिकसामाजिकेषु दिवसेषु।
शोभते प्रसारितग्रीवाणां नर्तनं मयूरवृन्दानाम् ॥

इन अभिनय के प्रयोग से सरस दिनों में जब पथिक जन सामाजिक का कार्य करते है तो मयूरों की टोलियों का ग्रीवा फैला फैला कर नृत्त करना बड़ा ही सुहावना लगता है।

---

१. रक्त=खून पर है चित्त जिसका तथा रक्त=अनुरक्त है चित्त जिसका
२. दन्तक्षत=दाँतों के घाव या चीरे तथा कामकेलिविशेष
३. नखक्षत=नाखूनों के घाव और कामकेलिविशेष
४. द्र० लोचन पृ० ५१४.
५. ध्व० पृ० ५१५–१६.

[२] अभिनव-पयोद रसितेषु पथिक श्यामायितेषु दिवसेषु ।
शोभते प्रसारितगीताना नर्त्तन मयूरवृन्दानाम् ॥

नए नए बादलो की गडगडाहट से भरे [अतएव] पथिको के लिए श्यामा रात्रि का कार्य कर रहे इन दिनों में मयूरो की टोलियो का जोर जोर से गा गाकर नाचना बडा ही सुहावना लग रहा है ।

यहाँ पथिको पर सामाजिक का आरोप रूपक को जन्म दे रहा है तथा पथिको के लिए दिवसो का श्यामा रात्रि के समान आचरण करना उपमालङ्कार को । इसी प्रकार 'गिआण' शब्द 'ग्रीवा' तथा 'गति' इन दोनो अर्थो को दुह रहा है, उसमे श्लेष है । उधर अभिनव तथा अभिनय एव रसित तथा रसिक भी एक एक प्राकृत शब्दो में ही गुँथे हुए है । उनमे भी श्लेष है । इस कारण उनसे निकलने एक अर्थ पर दूसरे अर्थ का आरोप भी हो रहा है । परिणामत उनमे भी रूपक को प्रतिष्ठा प्राप्त हो रही है । इस प्रकार यहाँ उपमा भी है और रूपक भी । इन दोनो अलङ्कारो में आनन्दवर्धन परस्परनिरपेक्षता देखते है, अत वे इन्हें समृष्टि का विषय स्वीकार[1] करते है । इनसे मयूर और नर्तको का साम्य[2] अनुरणनरूप व्यङ्ग्य अर्थ के रूप में प्रकट हो रहा है और पोषण भी पा रहा है । फलत यहाँ ध्वनि को ससृष्ट अलङ्कारो से ससृष्ट मानना होगा ।

अभिनवगुप्त ने इसी पद्य में सकीर्णालङ्कारसकीर्णत्व और सकीर्णालङ्कार-समृष्टत्व की भी उद्भावना की है, जिसे आनन्दवर्धन ने छोड दिया है । लोचन के अनुसार यहाँ 'पथिक-सामाजिक' और 'पथिक-श्यामायित'—शब्दो को जन्म देने वाले 'पहिअसामाइएसु' शब्द में उपमा और रूपक का सन्देहसकर है । इसी प्रकार इसी अश को लेकर अभिनयप्रयोग की ध्वनि को भी जन्म मिल रहा है, अत वह इन दोनों के संदेहसकर से सकीर्ण है । फलत यह हुआ सकीर्णालङ्कारसकीर्ण ध्वनि का स्थल ।

उधर, 'अभिनयप्रयोगरसिक' तथा 'अभिनवपयोदरसित' शब्दों को 'अहि-

---

१ वस्तुत यहाँ समासोक्ति अलङ्कार है । 'मयूरवृन्द' इस विशेष्यवाचक पद में श्लेष नही है । शेष सभी पदो में श्लेष है । फलत अभिनय का मयूर-नृत्त पर आरोप प्रतीत होता है ।

२ ऐसी ही कुछ करनी होगी इस पद्य में ध्वनि की योजना । आनन्दवर्धन ने यहाँ अनुरणनरूप व्यङ्ग्य का अस्तित्व स्वीकार किया है, परन्तु उसका स्पष्टीकरण नही किया । (ध्व० पृ० ५१६)

णअपओअरसिएसु' शब्द से जन्म मिल रहा है एवं 'प्रसारितगीतानां' तथा 'प्रसारितग्रीवाणां' को 'पसारिअगिआणं' शब्द से। इन दोनों के अर्थों में परस्पर में केवल संसर्गमात्र है, समर्थ्यसमर्थकभाव या अनुग्राह्यानुग्राहकभाव नही। फलतः इनमें से जो भी अर्थ व्यङ्ग्य है उसका 'पहिअसामाइएसु' के अर्थों से मिश्रण नहीं हो पाता। निदान उनमें स्वतन्त्रता रही आती है और इसीलिए इनके बीच संसृष्टि मानी जा सकती है। इस प्रकार यही स्थल संकीर्णालङ्कारसंसृष्टि का भी उदाहरण बन जाता है[1]। क्योंकि यहाँ 'समाइएसु' आदि शब्दों को नही बदला जा सकता अतः इसे शब्दशक्तिमूलक स्वीकार करना होगा।

इस निर्वचन से स्पष्ट है कि ध्वनि की स्थिति मिश्रित भी रहती है। इन मिश्रित भेदों को अलग से गिना जाने लगे तो इनका पार पाना सम्भव न होगा।[2]

यह हुआ ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य के विविध रूपों और उनसे युक्त काव्य के भेदों एवं प्रभेदों का परिशीलन। इससे स्पष्ट है कि ध्वनितत्त्व एक ऐसा तत्त्व है जिसका निरूपण और निर्वचन किया जा सकता है। इतने पर भी :

अनिर्वचनीयतावाद

आनन्दवर्धन के समय कुछ समीक्षकों ने यह धारणा बना रखी थी कि ध्वनि एक अनिर्वचनीय तत्त्व है अर्थात् ध्वनि का अनुभव तो किया जा सकता है, परन्तु निर्वचन नही किया जा सकता[3]। इनने ध्वनितत्त्व को स्वीकार तो कर लिया था किन्तु उसका लक्षण माना था—शब्द और अर्थ का रत्नगत जातिविशेष

---

१. अभिनवगुप्त का यह विवेचन अतीव उलझा विवेचन है।

२. एवं ध्वनेः प्रभेदाः प्रभेदभेदाश्च केन शक्यन्ते।
संख्यातुं दिङ्मात्रं तेषामिदमुक्तमस्माभिः॥ ध्व० ३।४४॥
इसके आधार पर अभिनवगुप्त ने ७४२० भेदों की कल्पना की है।
द्र० ध्व० पृ० ५०२।

३. केचिद् वाचां स्थितमविषये तत्त्वमूचुस्तदीयम्, केचित् पुनर्लक्षणकरणशालीनमतयो ध्वनेस्तत्त्वं गिरामगोचरं सहृदयहृदयसंवेद्यमेव समाख्यातवन्तः।
(ध्व० पृ० ९ तथा ३३)

के समान विशिष्ट ज्ञाता द्वारा संवेद्य किन्तु अनाख्येय चारुत्व[1]।' इस प्रकार के चारुत्व से युक्त काव्य को भी ये समीक्षक ध्वनि नाम से पुकारने को राजी हो गए थे।[2]

आनन्दवर्धन के शब्दो में ये समीक्षक या तो सुकुमार[3] हैं और लक्षण-निर्माण का जो कठोर श्रम है उसे उठाने में असमर्थ है, या फिर इन्हें गहन और सूक्ष्म वस्तु का विश्लेषण करना आता ही नही है[4]। वे नहीं जानते कि उलझी हुई वस्तुओं को अलग करके किस प्रकार समझा जाना है। आनन्दवर्धन इन समीक्षकों को दो वर्गों में बाटते हैं [क] सहृदय एवं [ख] दार्शनिक। इनमें से प्रथम वर्ग के अनिर्वचनीयतावादी समीक्षकों के लिए अपने विश्लेषण का सार सक्षेप पुन उपस्थित करते और कहते हैं—

[१] 'ध्वनिकाव्य के शब्द स्वरूपत अक्लिष्ट एवं अपुनरुक्त होते हैं, अर्थात् वे माधुर्य या ओज की अनुभूति के विपरीत नही पड़ते और अव्यर्थ एवं सम्पूर्ण रूप से सार्थक रहते है। इन शब्दों में जो अर्थसमर्पकता रहती है वह भी स्पष्ट और प्रासादिक रहती है, जिसमें प्रतीयमान अर्थ को भी प्रतिपादित करने की क्षमता रहा करती है।[5]

[२] ध्वनिकाव्य के अर्थों की विशेषता हुआ करती है—उनका स्पष्टरूप से प्रतीत होना', 'प्रमुख प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति कराने में अप्रधान बनकर तत्पर रहना' तथा 'स्वय के भीतर अवान्तर व्यङ्ग्य अर्थों को छिपाए रखना'[6]।

१-२ यत्र शब्दानामर्थाना च प्रतिपत्तृविशेषसंवेद्य जात्यत्वमिव रत्नविशेषाणा चारुत्व-मनाख्येयमाभासते काव्ये तत्र ध्वनिव्यवहार इति लक्षण ध्वनेरुच्यते केन-चित्। (ध्व० पृ० ५१७–१८।)

३. लक्षणकरणशालीनमतय (ध्व० पृ० ३३)

४ अनाख्येयविशेषसम्भावना तु विवेकावसादमूलैव (ध्व० पृ० ५१८)

५ शब्दानां स्वरूपाश्रय [विशेष] अक्लिष्टत्वे सत्यप्रयुक्तप्रयोग, वाचकाश्रयस्तु प्रसादो व्यञ्जकत्व चेति विशेष। (ध्व० पृ० ५१८।)

६ अर्थाना च स्फुटत्वेनावभासन व्यङ्ग्यपरत्व व्यङ्ग्यांशविशिष्टत्वं चेति विशेष। (ध्व० पृ० ५१८)

इस प्रकार आनन्दवर्धन के अनुसार ध्वनिकाव्य के घटक शब्द और अर्थ में ऐसा कोई भी तत्त्व नहीं रहता जिसका निर्वचन सहृदयों द्वारा भी न किया जा सके।

दार्शनिकों के अनिर्वचनीयतावाद को आनन्दवर्धन ने निम्नलिखित तीन रूपों में प्रस्तुत किया है—

[क] सर्वशब्दागोचरतावाद

[ख] सामान्यसंस्पर्शिविकल्पशब्दागोचरतावाद तथा

[ग] अनिर्देश्यतावाद[1] :

इनमें से—

[क] सर्वशब्दागोचरतावाद :

सर्वशब्दागोचरतावाद ब्रह्मवादी दार्शनिकों का प्रतीत होता है। इनके अनुसार ब्रह्म आदि किसी भी अनिर्वचनीय वस्तु का शब्द के द्वारा निर्वचन करना सम्भव नहीं होता। रस ब्रह्म जैसी ही वस्तु है, और क्योंकि रस ध्वनि है अतः उसका भी निर्वचन शब्द से सम्भव नहीं। तब अन्य वस्तुध्वनि और अलङ्कारध्वनि का भी निर्वचन शब्द से मानना उचित नहीं।

आनन्दवर्धन इसके उत्तर में इतना ही कहते हैं कि ऐसी अनिर्वचनीयता तो प्रत्येक पदार्थ में रहती है, केवल ध्वनि में नहीं। इस क्रम से संसार की प्रत्येक वस्तु के ज्ञान में शब्दशक्ति को अक्षम मानकर उसके लक्षणनिर्वचन की ओर प्रवृत्त न होना मनोहीनता होगी। अनिर्वचनीय पदार्थ को भी कम से कम 'अनिर्वचनीय'-शब्द से तो कहा ही जा सकता[2] है।

[ख] सामान्यसंस्पर्शिविकल्पशब्दागोचरतावाद :

यहाँ विकल्प शब्द का अर्थ है बोध। फलतः 'सामान्य ०० गोचरता' का अर्थ हुआ ज्ञेय वस्तु का जो बोध शब्द से होता है उसमें वस्तु के समान्य रूप का ही आभास होता है, विशिष्ट रूप का नहीं। इस सिद्धान्त के अनुसार ध्वनि का

---

१. अनाख्येयत्वं सर्वगोचरत्वेन न कस्यचित् संभवति। अन्ततोऽनाख्येयशब्देन तस्याभिधानसम्भवात्। (ध्व० पृ० ५१८–१९)

२. अन्ततोऽनाख्येयशब्देन तस्याभिधानसम्भवात्। (ध्व० पृ० ५१९)

निर्वचन शब्द से सम्भव नहीं हो सकता, क्योंकि ध्वनि काव्यार्थ का सामान्य रूप नहीं, उसका विशिष्टरूप हुआ करता है।[1]

शब्द की इस असमर्थता को ये दार्शनिक रत्न का उदाहरण देकर स्पष्ट करते हैं। जैसे पुखराज या नीलमशब्द केवल यही बतलाता पाता है कि यह पत्थर मणिजाति का है, अतः अन्य पत्थरों से भिन्न है। यह शब्द यह नहीं बतलाता कि नीलम या पुखराज की क्वालिटी क्या है। वह १० रुपये मिलीग्राम की कीमत का है या २ रुपये मिलीग्राम की कीमत का। यह सब जानना केवल प्रत्यक्ष से ही सम्भव होता है, वह भी प्रत्येक व्यक्ति के लिए नहीं, अपितु केवल पारखी

---

१ सामान्यसस्पर्शिविकल्पशब्दागोचरत्वे सति प्रकाशमानत्वमनाख्येयत्वम्।

(ध्व० पृ० ५१९)

तुलनीय सामग्री प्रमाणवार्तिक प्रत्यक्षपरिच्छेद कारिका ६१, १८३, १९४, १९६ बौद्धभारतीग्रन्थमाला, वाराणसी।

न्यायमञ्जरी शब्दप्रमाणखण्ड, चौखम्बासस्करण पृ० २७२–८५

वाक्यपदीय तृतीयकाण्ड जातिसमुद्देश कारिका १२,३३

व्यक्तिविवेक

००वस्तुनस्तावद् द्वैरूप्यमिह विद्यते।
तत्रैकमस्य सामान्य यद् विकल्पैकगोचर।
स एव सर्वशब्दाना विषय परिकीर्तित।
अत एवाभिधेय ते सामान्य बोधयन्त्यलम्।
द्वितीयमस्य यद् रूप तत् प्रत्यक्षस्य गोचर॥

(हमारा अनुवाद पृ० ४५२)

वस्तु के दो रूप होते हैं सामान्य और विशेष। शब्द केवल सामान्य का बोध कराता है। विशेष का बोध केवल प्रत्यक्ष से ही सम्भव है।

पूर्वमीमासा भट्टसम्प्रदाय का उपाधिशक्तिवाद तथा प्रभाकरसम्प्रदाय का सामान्यावच्छिन्न विशिष्ट-शक्तिवाद।

न्यायदर्शन जातिविशिष्ट शरीरशक्तिवाद।

व्याकरण उपाधिचतुष्टयवाद।

व्यक्ति के लिए ही। ध्वनि काव्यरूपी रत्न की क्वालिटी है, संज्ञा या जाति नहीं, अतः उसका निर्वचन शब्दों से नहीं किया जा सकता।[१]

इस पर आनन्दवर्धन का कहना है कि अशक्ति, अक्षमता और वाणी की पङ्गुता की यह उक्ति अतिशयोक्तिमात्र है। इस प्रकार के उद्गारों से केवल इतना ही माना जा सकता है कि ध्वनितत्त्व सर्वजनसंवेद्य नहीं होता, ठीक वैसे ही जैसे रत्नों का जात्यत्व क्वालिटी। रत्नों की इस विशेषता के भी लक्षण रत्न-विद्या के विशेषज्ञ विद्वानों ने बनाए ही हैं, इसीलिए वे उसका मोलभाव घटा-बढ़ाकर किया करते हैं। इसी प्रकार ध्वनितत्त्व को भले ही प्रत्येक काव्यपाठक न समझ पाए किन्तु जो सहृदय अति विदग्ध होते हैं वे तो उसे समझ ही लेते हैं। इस प्रकार ध्वनि मे यदि कोई अभाव सिद्ध होता है, तो वह केवल सर्वजनवेद्यत्व का अभाव है, अतः उसमे यदि निर्वचनीयता का अभाव स्वीकार करना हो तो केवल साधारण जनों द्वारा असम्भव निर्वचनीयता का ही अभाव स्वीकार कर सकते हैं। इतने से ध्वनि मे निर्वचनीयता का आत्यन्तिक अभाव सिद्ध नहीं होता। अति-विदग्ध सहृदय तो उसका निर्वचन कर ही लेते हैं। स्वयं हमने ही उसका निर्वचन पर्याप्त मात्रा में कर ही दिया है।[२]

[ग] अनिर्देश्यतावाद[३] :

अनिर्देश्यतावाद को आनन्दवर्धन ने बौद्धदर्शनिकों का सिद्धान्त कहा है।[४] यह वाद बौद्धों के क्षणभङ्गवाद पर आश्रित एक विवशतावाद है। बौद्धों का सिद्धान्त है कि—

---

१. ध्व० पृ० ५१९, ४०३. रत्न का दृष्टान्त मुख्यतः प्रत्यक्ष में भी सूक्ष्मतत्त्व के निर्वचन की अक्षमा जतलाने हेतु अपनाया जाता है, शब्द की अक्षमा की बात आनुषङ्गिक है।

२. ध्व० पृ० ५१९.

३. ध्व० पृ० ५१९, अभिनवगुप्त ने इस वाद का स्वरूप बतलाने हेतु केवल बौद्ध-दर्शन के किसी ग्रन्थ के 'नार्थं शब्दः स्पृशत्यपि' तथा 'अनिर्देश्यस्य वेदकम्' ये दो वचन उद्धृत कर दिए है। हमें प्रमाणवार्तिक में ये नहीं मिले।

४. ध्व० पृ० ५१९. 'अनिर्देश्यत्वं सर्व-स्वलक्षणविषयं बौद्धानां प्रसिद्धम्।' चौखंभा के उक्त संस्करण में '०सर्वलक्षणविषयं' पाठ छपा है। 'सर्वस्वलक्षणविषयं' निर्णयसागरीय संस्करण के पाठान्तर में मिलता है। डॉ० का० च० पाण्डेय ने भी इसी को मूल पाठ माना है।

स्वलक्षण

प्रत्येक वस्तु प्रतिक्षण बदलती जाती है। इसीलिए एक दिन उठाई गई भित्ति किसी दिन ढह जाती है, बालक वृद्ध हो जाता है और कच्चा फल पककर सड जाता है। जो वस्तु प्रतिक्षण बदल रही हो उसका ज्ञान एक क्षण के बाद के किसी भी क्षण में सभव नही, क्योकि उस समय उस वस्तु का अस्तित्व ही शेष नही रहता। एक क्षण के लिए जो ज्ञान होता है वह उस वस्तु के अपने पिण्डमात्र का ज्ञान होता है, अत उस ज्ञान में वस्तु के अपने पिण्ड के अतिरिक्त कुछ भी भासित नही होता। इस कारण इस ज्ञान को 'स्व'-मात्र तक सीमित अत 'स्वलक्षण' ज्ञान कहा जाता है। यह ज्ञान निर्विकल्पक होता है, क्योकि इसमे केवल पिण्ड का ज्ञान होता है, पिण्डगत विकल्प अर्थात् विशेषणीभूत धर्मों का नही।

इस वाद के अनुसार किसी भी वस्तु का सविशेष या सविकल्पक ज्ञान सभव नही होता, अत वस्तु के किसी साधारण या असाधारण धर्म का निर्धारण भी असम्भव रहता है। किन्तु वस्तु का बोध केवल वस्तुपिण्ड तक सीमित नही रहता, वह उससे आगे बढता और एक सी अनेक वस्तुओं के पिण्डो मे निहित सामान्य तत्त्व को भी विषय बनाता है। भले ही एक घट का ज्ञान घट के केवल 'स्व' को पकडकर रह जाता हो, किन्तु अनेक घटो का एक साथ या कालक्रम से हुआ ज्ञान 'स्व' के आगे उन सबमें रहने वाले 'घटत्व-सामान्य' को भी पकडता है, फलत बोध होता है कि 'यह भी घट है और यह भी घट है, दोनो ही घट हैं, इनमें से कोई भी घटभिन्न या घटेतर नही है'। क्षणिकतावाद या क्षणभङ्गसिद्धान्त मे सामान्यविषयक यह प्रतीति व्यवहारत सम्भव नही हो सकती। अत

सामान्यलक्षण अपोहवाद

बौद्ध एक नये वाद की कल्पना करते है, वह है अपोहवाद। इस वाद के अनुसार वस्तु के सामान्यविषयक बोध का मूल है 'उसका उससे भिन्न अन्य समस्त वस्तुओं से भिन्न होना।' इसीको 'तद्भिन्नभिन्नत्व' शब्द से पुकारा जाता है। उदाहरणाथ तद् = घट, तद्भिन्न = पट आदि, उनसे भिन्न = स्वय घट, भिन्नत्व = घटत्व। क्षणिक वस्तु मे यदि क्षणिकता के कारण किसी धर्म का रहना सभव नही होता तो उसी क्षण की अन्य वस्तुओ से उसकी भिन्नता का रहना तो सभव है ही। यह भिन्नता वस्तु के 'स्व' मे भी मानी जा सकती है और उसके बोध में भी, जिसे बौद्ध 'विज्ञान'-परिभाषा से पुकारते हैं। इस प्रकार बौद्ध दार्शनिक अपोह को ही सामान्य मानते और उसी के बोध को सामान्यलक्षण-बोध कहते हैं।

स्वलक्षण और सामान्यलक्षण नामक उक्त दोनों बोधों में न तो वस्तु के अपने 'स्व' का निर्देश सम्भव है और न उसके सामान्य का। फलतः प्रत्येक वस्तु अनिर्देश्य ठहरती है। यह हुआ अनिर्देश्यतावाद। पूर्वोक्त 'सामान्यसंस्पर्शिविकल्प-शब्दागोचरत्ववाद' को हम 'सामान्यलक्षण' ज्ञान से भी मिलाकर देख सकते हैं, और यद्यपि आनन्दवर्धन ने इस वाद के साथ बौद्धों का नामोल्लेख नहीं किया है तथापि हम इसे बौद्ध सिद्धान्त की पृष्ठभूमि पर भी समझ सकते हैं। इसी प्रकार 'सर्वशब्दागोचरत्व'-वाद को भी 'स्वलक्षण' बोध और उसमें आये वस्तु के अनिर्देश्यत्ववाद के परिप्रेक्ष्य में समझा जा सकता है। सर्वथा, ये दोनों वाद ध्वनि के निर्वचन को भी प्रभावित कर सकते हैं, क्योंकि आनन्दवर्धन ने ध्वनिनाम से जिस तत्त्व का निरूपण किया है वह भी एक वस्तु है।

आनन्दवर्धन इस मत की अधिक समीक्षा नहीं करते। वे केवल इतना कहते हैं कि जो बौद्ध क्षणभङ्गवाद मानकर किसी भी वस्तु के लक्षण-निर्धारण को असंभव बतलाता है वह भी लक्षण बनाए बिना रह नहीं पाता। आनन्दवर्धन इसके लिए प्रमाण भी प्रस्तुत करते हैं। यह प्रमाण है बौद्धों के सर्वाधिक प्रतिष्ठित आचार्य धर्मकीर्त्ति का 'प्रत्यक्षादिप्रमाणलक्षण'[1]। धर्मकीर्त्ति अपने न्यायबिन्दु में कहते हैं—सम्यग्ज्ञान दो प्रकार का होता है प्रत्यक्षरूप और अनुमानरूप[2]।' वे इतना ही कहकर रुक नहीं जाते, इन दोनों के लक्षण भी बनाते और लिखते हैं :

[क] प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तम्[3]।
[ख] त्रिरूपाल्लिङ्गाद् यदनुमेये ज्ञानं तदनुमानम्[4]।

[क] प्रत्यक्ष है अकल्पित और अभ्रान्त इन्द्रियजन्य ज्ञान (तथा)
[ख] तीन प्रकार के हेतु से अनुमेय का ज्ञान है अनुमान।

आनन्दवर्धन का कहना है कि बौद्धदर्शन में जब किसी भी वस्तु का लक्षण निर्धारित करना संभव ही नहीं है तब उसी दर्शन के महान् आचार्य धर्मकीर्त्ति ये लक्षण क्यों बना रहे हैं? यदि ये लक्षण मान्य है और इन लक्षणों की कोई उपयोगिता

---

१. ध्व० पृ० ५१९.
२. द्विविधं सम्यग्ज्ञानम्, प्रत्यक्षमनुमानञ्चेति। न्यायबिन्दु १।२–३ सूत्र॥
३. न्यायबिन्दु १।४ सूत्र।
४. न्यायबिन्दु २।३ सूत्र।

हैं तो कोई कारण नही कि ध्वनि का लक्षण भी मान्य न हो और उसकी कोई उपयोगिता सिद्ध न हो सके।

आगे बढकर आनन्दवर्धन की ओर से यह भी कहा जा सकता है कि यदि बौद्ध प्रत्यक्ष को ज्ञान रूप मान रहा है और वह ज्ञान अन्य ज्ञानो से जिन विशेषताओ को लेकर भिन्न होता है उन्ही का अपोह-पथ से हुआ आकलन ही लक्षण है, और इस प्रकार का आकलन अनुचित नही, तो ध्वनिवादी की ओर से भी यही तर्क दे दिया जाएगा। उसका भी ध्वनि तत्त्व ज्ञानरूप ही है।

निदान ध्वनि का लक्षण हो सकता है और उसका निवचन भलीभाति किया जा सकता है। अनिवचनीयतावाद के परिवेष में उसके जो लक्षण बनाए गए है वे लक्षण लक्षण तो अवश्य है किन्तु ऐसे लक्षण नही है जिनसे ध्वनि का निर्वचन सम्भव हो, अत ध्वनि का 'यत्रार्थ शब्दो०'[1] इत्यादि पूर्वोल्लिखित लक्षण ही मान्य है।

ध्वनि भेद सख्या

जहाँ तक ध्वनि के भेदो की सख्या का प्रश्न है आनन्दवर्धन उसका उत्तर नही देते। वे अभिनवगुप्त और मम्मट के समान यह नही कहते कि ध्वनि के ३५ या ५१ भेद होते है। उनने केवल इतना ही कहा है कि ध्वनि भेद गणनातीत है[2]। इतने पर भी उनने जो उदाहरण दिए है उनके आधार पर हम यह मान सकते है कि आनन्दवर्धन के अनुसार ध्वनि के भेदो की सख्या १४ है।[3] अविवक्षितवाच्य ४ तथा विवक्षितान्यपरवाच्य १०।

उपसहार

इस प्रकार इस अध्याय में हमने ध्वनि की स्थापना, उसके भेद तथा

---

१ पृष्ठ पर उद्धृत १।१३ कारिका। ध्वनिस्वरूपसम्बन्धी अन्य उद्गारो के लिए देखिए ध्वन्यालोक पृष्ठ ९, १०७, १२०, १३१, १।१५–१६, १।१८, २।४, पृ० २३५–६, २३९, २।२७–३२, २।३३, पृ० ३६४, ३।३२, ३।३३–वृत्ति, पृ० ५००, ५१७–१९,

अनाख्येयाशभासित्व निर्वाच्यार्थतया ध्वने.।
न लक्षण, लक्षण तु साधीयोऽस्य यथोदितम्॥ (ध्व० पृ० ५२०।)

२ ध्व० पृ० ५५१–५३

३ ध्व० ३।४४

उसके प्रभेदों का अनुशीलन आनन्दवर्धन के अनुसार किया और देखा कि ध्वनि-तत्त्व एक वास्तविक तत्त्व है जिसका लक्षणनिर्वचन भी किया जा सकता है और सूक्ष्मतम विश्लेपण भी। अव हम उन शब्दशक्तियों या शब्दव्यापारों पर आनन्दवर्धन के विचार संकलित करेंगे जिनके आधार पर उक्त ध्वनि भेदों की पारस्परिक भिन्नता सिद्ध होती है।

●

तृतीय अध्याय

- शब्दव्यापार
    - < वाचकत्व
    - < गुणवृत्ति
    - < व्यञ्जना

शब्दव्यापार

काव्यकला अपने अर्थ के प्रतिपादन मे शब्द को माध्यम बनाती है, जिस प्रकार मूर्तिकला द्रव्यो को, चित्रकला वर्णों को एव सगीतकला स्वरो को। शब्द, प्रत्यक्ष और अनुमान के ही समान, एक अर्थ-बोधक माध्यम[1] है। माध्यम या साधन बिना किसी व्यापार के फल तक नहीं पहुँचता। प्रत्यक्ष जो अर्थ बतलाता है उसमें इन्द्रिय तथा विषय का सम्पर्क आवश्यक होता है। यही सम्पर्क उसका व्यापार है। इसे सम्बन्ध भी कहा जाता है और शक्ति तथा वृत्ति[2] भी। ये सभी शब्द पर्यायशब्द है। अनुमान से जो अर्थबोध होता है उसमें भी यह ज्ञान व्यापार माना जाता है कि 'अनुमेय के साथ निश्चित रूप से सबद्ध रहने वाला यह पदार्थ इस स्थान पर[3] है'। न्यायशास्त्र इसी ज्ञान को 'परामर्श' शब्द से पुकारता है। इन व्यापार, सम्बन्ध, वृत्ति या शक्ति के बिना कोई भी ज्ञापक ज्ञान नही करा सकता। क्योंकि शब्द भी एक ज्ञापक है, अत उसमे भी इस प्रकार के

---

१ प्रमाण शब्द न चुनकर हमने माध्यम शब्द इसलिए चुना है कि हम काव्य की सीमा में 'शब्द' पर विचार कर रहे है। काव्य में यह आवश्यक नही है कि शब्द जिस अर्थ का बोध करा रहा है वह यथार्थ ही हो, अत काव्यशब्द को प्रमाण नहीं कहा जा सकता। प्रमाण का अर्थ है यथार्थ ज्ञान का साधन। धूम को देखकर पर्वत पर जिस अग्नि का अनुमान किया जाता है वह यथार्थ है, क्योकि वहाँ अग्नि मिल भी जाती है। आँख यदि धुँधलेपन में सामने खडे खच्चर को घोडा समझे तो उसका यह ज्ञान यथार्थ न होगा। और क्योंकि यहाँ ज्ञान प्रमा नही है अत उसके जनक चक्षु को भी प्रमाण नही कहा जा सकता। उसे ज्ञापकमात्र कहा जा सकता है।

२ व्यापार, शक्ति और वृत्ति शब्दों के अर्थ यत्र तत्र भिन्न भी माने जाते है।

३ परामर्श का स्वरूप बतलाया जाता है—'व्याप्य की पक्ष में स्थिति का बोध'। व्याप्य मानें हेतु, पक्ष माने जहाँ अनुमान किया जा रहा है।

किसी व्यापार का होना आवश्यक है। दूसरे शब्दों में अर्थबोध में अर्थ ज्ञाप्य है और बोध के लिए यह आवश्यक है कि ज्ञापक का ज्ञाप्य के साथ सम्बन्ध हो, नही तो किसी भी शब्द से किसी भी अर्थ का बोध माना जा सकेगा, इसी प्रकार किसी भी हेतु से किसी भी वस्तु का अनुमान माना जा सकेगा, आँख पहुँचेगी पट पर और बोध माना जा सकेगा तट का या घट का या किसी का भी; फलतः [ज्ञाप्य=] अर्थ के साथ [ज्ञापक=] शब्द का सम्बन्ध माना जाना आवश्यक है।

यह सम्बन्ध काव्यशास्त्रेतर शास्त्रों में दो प्रकार का माना गया है—(१) मुख्य तथा (२) अमुख्य। अमुख्य को भी दो प्रकार का बतलाया गया, (क) गुणवृत्ति यथा (ख) भक्ति या लक्षणा[1]। मीमांसाशास्त्र इसके लिए प्रमुख-शास्त्र है। काव्यशास्त्र में शब्दशक्ति का यह विचार पहले पहल आनन्दवर्धन ही छेड़ते है, किन्तु वे अमुख्य सम्बन्ध में एक कड़ी और जोड़ देते हैं 'व्यञ्जना'[2] की। यद्यपि वे अमुख्य सम्बन्ध या अमुख्य शब्दशक्ति की संख्या दो ही मानते है, क्योंकि वे गुणवृत्ति और भक्ति को एक और अभिन्न ही स्वीकार कर लेते है। इस प्रकार आनन्दवर्धन के अनुसार—शब्दशक्तियाँ :

---

१. (क) आनन्दवर्धन ने कारिका में 'लक्षणा'-शब्द का प्रयोग नही किया। वृत्ति में लक्षणा का प्रयोग ४२३, ४२४, ४२७, ४२८ पृष्ठों पर ही हुआ है।

(ख) व्याकरणशास्त्र भी मुख्य और अमुख्य दो ही शब्दवृत्तियाँ मानता है।

(ग) गुणवृत्तिशब्द मीमांसाशास्त्र में प्रयुक्त शब्द है। जैमिनि का 'गुणदर्शनात्' सूत्र उसका मूल है। समान गुणों के आधार पर यजमान को प्रस्तर = दर्भमुष्टि कह दिया जाता है।

(घ) आनन्दवर्धन ध्वनि के गुणवृत्ति में अन्तर्भाव का जो विकल्प प्रस्तुत करते है उसमें वे उपसंहार के समय गुणवृत्ति के लिए भक्ति शब्द का प्रयोग कर देते हैं। [ध्व० पृ० १६२]

(ङ) अमुख्यवृत्ति शब्द का आनन्दवर्धन ने प्रयोग भी किया है 'अमुख्यवृत्त्या काव्येषु व्यवहारं दर्शयता ध्वनिमार्गो मनाक् स्पृष्टोऽपि न लक्षितः'। [पृ० ३१–३२]

(च) मुख्यवृत्ति शब्द का प्रयोग—'मुख्यां वृत्तिं परित्यज्य०' [१।१७ ध्व०]

२. शाब्दे व्यवहारे त्रयः प्रकाराः, वाचकत्वं, गुणवृत्तिः व्यञ्जकत्वं चेति। [ध्व० पृ० ४२९] वाचकत्व अभिधा का ही दूसरा नाम।
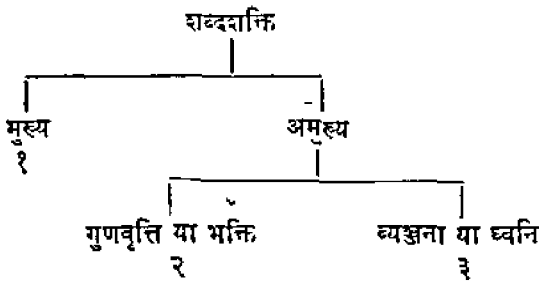
इस प्रकार तीन ठहरती है। इनके जो स्वरूप आनन्दवर्धन ने अपने ग्रन्थ में यत्र तत्र विकीर्ण रूप से प्रस्तुत किए हैं उन सबका निष्कर्ष यह है

[१] मुख्य शब्दशक्ति

शब्दों में रहने वाली वह शक्ति है जिससे शब्द का प्रसिद्ध अर्थ प्रतीत होता है, जैसे रामशब्द से दशरथ के ज्येष्ठ पुत्र का और सीता से उनकी धर्मपत्नी का। इस शक्ति को आनन्दवर्धन ने अधिक बार वाचकत्व कहा है। वाचक शब्द का अर्थ है वह शब्द जो अभिधा वृत्ति द्वारा अर्थ का ज्ञान कराए। अभिधाशब्द का अर्थ है वह शक्ति जो 'अभि' = अभिमुख अर्थात् प्रसिद्ध अर्थ के लिए शब्द में 'धा'=निहित रहती है। यानी मुख्य या प्रथम शब्दशक्ति। जो शब्द इस मुख्य शब्दशक्ति के द्वारा अर्थ का ज्ञान कराता हो उसे 'वाचक' कहा जाता है। वाचकत्व का अर्थ है 'अभिधा', क्योंकि 'त्व' प्रत्यय संस्कृत का भावार्थक प्रत्यय है और भाव का अर्थ होता है वह तत्त्व जो इस प्रत्यय के लगने के पहले प्राप्त शब्द के अर्थ में विशेषणरूप से विद्यमान हो। जैसे 'दण्डित्व' का अर्थ होगा 'दण्ड'। वाचक में विशेषण है 'वाचन'-क्रिया। यह क्रिया और कुछ नहीं, वही तत्त्व है जिसे अभिधाशब्द से पुकारा जा रहा है। इस प्रकार वाचकत्व भी अभिधा ही है। अभिधा के आधार पर वाचक का पर्याय होगा अभिधायक और वाचकत्व का पर्याय होगा 'अभिधायकत्व'। उक्त 'भाव'-पदार्थ के आधार पर अभिधायकत्व भी 'अभिधा' ही होगा। आनन्दवर्धन ने अभिधाशब्द का प्रयोग नहीं के बराबर किया है।

अभिधा के आधार पर प्रतीत होने वाले अर्थ को अभिधेय कहा जाएगा। अभिधेय का पर्याय होगा 'वाच्य'। भारतीय साहित्यशास्त्र के अध्येताओं को ध्यान रखना चाहिए कि इस वाच्य अर्थ को और भी अनेक शब्दों से पुकारा जाता है। उनमें 'मुख्य अर्थ' तथा 'सङ्केतित अर्थ' शब्द प्रमुख हैं। इस अर्थ को बतलाने

वाली वृत्ति को भी मुख्य वृत्ति कहा जाता है। मुख्य वृत्ति के आधार पर मुख्य शब्द और मुख्य अर्थ की कल्पना सहज है।

(१) मुख्य शब्द, (२) मुख्य अर्थ और (३) मुख्य वृत्ति इस त्रिक को हम निम्नलिखित तीन तीन अन्य नामों में इस प्रकार समझ सकते है—

	१	२	३
	शब्दनाम	शक्तिनाम	अर्थनाम
१.	वाचक	वाचकत्व	वाच्य
२.	अभिधायक	अभिधा, अभिधान	अभिधेय
३.	संकेतवान्	संकेत	संकेतित
४.	शक्त	शक्ति, वृत्ति	शक्य
४.	मुख्य	मुख्य	मुख्य

इस तालिका से स्पष्ट है कि शास्त्रकार केवल शक्तिनाम का प्रयोग अभिधा के लिए ही करते है जैसे कविजन केवल हारशब्द का प्रयोग मुक्ताहार के लिए।

इन सब नामों में आनन्दवर्धन के समय तक 'वाचकत्व' और 'मुख्य' ये दो नाम अधिक प्रचलित मिलते है। शेष संज्ञाएँ परवर्त्ती विकास है।

वाक्यार्थ ही वाच्यार्थ :

वाचकत्व के विषय में इतना जान लेना आवश्यक है कि यह जिस शब्द में रहता है वह केवल पदात्मक शब्द ही है, वाक्यात्मक नही, क्योंकि आनन्दवर्धन ने कही भी यह नही लिखा कि वाक्य में शक्ति अर्थात् वाचकत्व रहता है। किन्तु यह भी जाने रहना आवश्यक है कि आनन्दवर्धन वाक्य को भले ही वाचक न मानें वाक्यार्थ को वाच्यार्थ अवश्य मानते[1] है। इसका अर्थ या अभिप्राय केवल इतना

१. [क] काव्य किसी एक शब्द का नाम नहीं हो सकता। जब आनन्दवर्धन यह कहते है कि 'काव्य में प्रमुख होता है अर्थ, किन्तु वह केवल वाच्य नहीं होता, प्रतीयमान भी होता है' तो वे अवश्य ही वाक्यार्थ को वाच्य अर्थ मानते है। वाक्य से निकलने वाले पहले अर्थ को सभी मुख्यार्थ या वाच्यार्थ कहते भी है।

[ख] वाक्यार्थ के सन्दर्भ में अन्य आचार्यों ने जिन अभिहितान्वय और अन्विताभिधान की चर्चा की है आनन्दवर्धन उनसे अछूते है। इनमें यह प्रपञ्च नही मिलता।

ही है कि वाक्य से निकलने वाले अर्थ के एक एक अङ्ग या खण्ड को आनन्दवर्धन अभिधा से कथित मानते हैं। 'नम शिवाय' का अर्थ होगा 'शिव को प्रणाम'। इनमें से शिव अर्थ शिवशब्द से तथा प्रणाम अर्थ प्रणामशब्द से अवश्य ही अभिधा-द्वारा प्रतिपादित है। 'को' से प्रतीत होने वाला 'कर्मत्व' भी अभिधाद्वारा ही प्रतिपादित है, किन्तु इस 'कर्मत्व' का जो शिव के साथ सम्बन्ध है, अर्थात् यह जो प्रतीत होता है कि यह 'कर्मत्व शिव में रह रहा है, इसके लिए यहाँ किसी शब्द का प्रयोग नहीं है। इसकी प्रतीति पदो के सन्निधान से हो रही है, अर्थात् क्योंकि 'को'-शब्द शिव के साथ प्रयुक्त है इसलिए यही प्रतीत होता है कि उसका सबन्ध शिव के ही साथ है इस वाक्य में। 'गुरु को प्रणाम' वाक्य मे वह गुरु से सबद्ध प्रतीत होगा। यह जो एक अतिरिक्त तत्त्व है सबन्धनामक, इसको कहा जाता है 'अ-पदार्थ' अर्थात् 'यह पदार्थ नहीं है' यानी इसकी प्रतीति किसी पद से, शब्द से नही हो रही है। किन्तु यह प्रतीति 'शिव को प्रणाम' वाक्य के पहले नही हुई और न इस वाक्य को भूलने पर होती, अत निश्चित ही यह प्रतीति शब्द से होती है, क्योंकि वाक्य भी अन्तत शब्द ही है। इतना अवश्य है कि वाक्य पदात्मक शब्द नही है, सबद्धार्थप्रत्यायक पदसमुदायात्मक शब्द है। फलत 'सबन्ध'-नामक अर्थ की प्रतीति केवल वाक्यात्मक शब्द से मानी जाती है और (सबन्ध रूपी अतिरिक्त अर्थ को) इस प्रतीति को पदार्थ न कहकर 'वाक्यार्थ' कहा जाता है। इस प्रकार सबन्धतत्त्व 'अ-पदार्थ' भी है और 'वाक्यार्थ' भी। चूँकि यह अतिरिक्त अर्थ है, अत 'विशिष्ट अर्थ है, इसीलिए मम्मट ने इसे 'विशेषवपु' भी कहा है।

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट हुआ कि 'सम्बन्ध'—तत्त्व ही वाक्य का अर्थ है और वह वाच्य नहीं होता है, किन्तु यह सम्बन्ध जिन पदार्थों में रहता है वे पद से वाच्य रहते है। उधर सम्बन्ध अपने आप में कोई स्थान नही रखता पदार्थों को छोड़कर, फलत सम्बन्धनामक अतिरिक्त अर्थ के रहने पर भी पदार्थों का महत्त्व कम नही होता, और क्योंकि पदार्थ पद के अर्थ होते है अर्थात् पद की अभिधा से प्रतीत होते है, अत वाक्यार्थरूपी मेघ का अधिकाश अभिधारूपी विद्युत् से आवेष्टित रहता है और इसीलिए वाक्य के अर्थ को भी वाच्य अर्थ कह दिया जाता है। 'मैं जा रहा हूँ' का वाक्यार्थ क्या है ? इसमें घटकरूप से वे ही अर्थ प्रतीत हो रहे है जो 'मैं' आदि पदो से प्रतीत होते हैं और उसी विशेषणविशेष्य-भाव के रूप में जो इन पदो के अर्थों में प्रतीत होता है। इसलिए 'मैं जा रहा हूँ' वाक्य का प्रमुख अर्थ वही है जो पदो से निकल कर जुड रहा है। उसे वाच्यबहुल होने से वाच्यार्थ कहा ही जा सकता है, केवल जोड ही न, अतिरिक्त अर्थ है।

उसकी यहाँ कितनी बड़ी मात्रा है ? काव्यभाषा में समीक्षक इसी अर्थ को वाच्यार्थ कहता है और प्रतीयमान अर्थ को इससे भिन्न।

इस प्रकार एक विषमता, जो वाक्य में वाचकत्व न मानने पर भी वाक्यार्थ मे वाच्यत्व मानने से उत्पन्न होती है, उसका समाधान मिल जाता है।

आनन्दवर्धन का कहना है कि ज्ञाता की प्रज्ञा जब वाक्यार्थ तक पहुँच जाती है तब उसमें पृथक् रूप से पदार्थों की प्रतीति का होना रुक जाता है, अर्थात् वाक्यार्थ की प्रतीति एक संमिश्र-स्थिति रहती है, किन्तु वाक्यार्थ तक पहुँचने में पदार्थ वही स्थान रखते है जो प्रकाश तक पहुँचने मे दीपशिखा[1]। अर्थ यह कि उद्देश्य वाक्यार्थ ही है, पदार्थ केवल माध्यम या साधन है।

पदार्थ का जो बोध होता है उसके लिए पद का जो अर्थ के साथ सम्बन्ध आवश्यक होता है जिसे अभी अभी अभिधा कहा गया है उसे कुछ दार्शनिकों ने पद में रहने वाली एक स्वतन्त्र शक्ति भी स्वीकार किया है। समझने की बात यह है कि आनन्दवर्धन ने ऐसी कोई बात नही कही है। ध्वन्यालोक केवल इतना कहता है कि पद में वाचकता रहती है, यह नही कहता कि वाचकता एक स्वतन्त्र शक्ति है जो पद में वैसे ही रहती है जैसे अग्नि में दाहकता या जल में शामकता।

यह हुई अभिधा या वाचकत्व नामक शब्द व्यापार की चर्चा। यही वह व्यापार है जिसे मुख्य व्यापार कहा जाता है। जैसे मुख सभी अङ्गों में सब से पहले दृष्टिपथ मे आता है वैसे ही यही वह व्यापार है जो अन्य व्यापारों की अपेक्षा पहले सामने आता है। इसी कारण 'मुख के समान'[2] होने से इसे मुख्य कहा जाता है। समानता किस बात में है इसे ऊपर दिए विवेचन से स्पष्ट कर लेना चाहिए। अब

[२] अमुख्य शब्दव्यापार

हम उन शब्दव्यापारों की ओर चलें जो मुख के समान सबसे पहले सामने नही आते अतः मुख्य नहीं होते, अतएव जिन्हें 'अमुख्य' माना और कहा जाता है।

कहा जा चुका है कि आनन्दवर्धन गुणवृत्ति और भक्ति को एक ही मानते

---

१. आलोकार्थी यथा दीपशिखायां यत्नवाञ्जनः।
तदुपायतया तद्वदर्थे वाच्ये तदादृतः॥ (ध्व० १।९)

२. शाखादिभ्यो यः (पा० सू० ५।३।१०३)

है तथा व्यञ्जना नामक एक अन्य व्यापार स्वीकार करते हैं फलत उनके मत में भी अमुख्य शब्दव्यापारो की सख्या २ ही रहती है। गुणवृत्ति और भक्ति शब्द में आनन्दवर्धन ने गुणवृत्तिशब्द को अधिक अपनाया है। इस प्रकार आनन्दवर्धन द्वारा स्वीकृत अमुख्य व्यापारो के नाम है [क] गुणवृत्ति तथा [ख] व्यञ्जना।

[क] गुणवृत्ति

इनमें से गुणवृत्ति का स्वरूप आनन्दवर्धन ने जैसा माना है वह परवर्ती मम्मट द्वारा प्रस्तुत लक्षणा के स्वरूप से बहुत कुछ मिलता है, किन्तु सर्वथा नही। उससे उसमें कुछ अन्तर भी है। नीचे हम गुणवृत्ति का वह स्वरूप तथा भेदो की वह गणना प्रस्तुत कर रहे है जो आनन्दवर्धन के ध्वन्यालोक में प्राप्त होती है।

स्वरूप

आनन्दवर्धन ने गुणवृत्ति को जिस विविधता के साथ प्रस्तुत किया है तद-नुसार उसका स्वरूप 'गुणवृत्ति' शब्द में ही निहित है। अभिप्राय यह कि 'गुण-वृत्तित्व' ही है गुणवृत्ति का स्वरूप, ठीक वैसे ही जैसे श्रुतिकटुत्व, श्रुतिकटुत्वनामक दोष का। आचार्यजन कभी-कभी नामशब्द ही ऐसा गढते है जिसमे स्वरूप या लक्षण निहित रहता है। गुणवृत्तिशब्द भी ऐसा ही शब्द है, जहाँ तक आनन्दवर्धन का सम्बन्ध है। इस शब्द में आया हुआ जो 'गुण'-शब्द है वह सस्कृतभाषा का ऐसा शब्द है जिसके अनेक अर्थ होते है। अमुख्यत्व उसका मुख्य अर्थ है। अन्य अर्थ हैं माला, रसोइया और धर्म या विशेषता। माला आदि भी अमुख्य ही होते है। आनन्दवर्धन ने गुणवृत्ति शब्द में आए गुण-शब्द के दो ही अर्थ अपनाए है धर्म तथा अमुख्य। इस प्रकार आनन्दवर्धन के अनुसार गुणवृत्तिशब्द का अर्थ होगा :

[१] गुण = साधारण धर्म, उसके आधार पर अन्य अर्थ में अन्य शब्द की वृत्ति = प्रयोग, तथा

[२] गुण = अमुख्य अर्थ में शब्द की वृत्ति = प्रयोग[1]।

---

१ अमुख्य तथा साधारण धर्म इन दोनो अर्थों में अभिनवगुप्त ने भी अपने लोचन में 'गुण'-शब्द का प्रयोग इस प्रकार किया है :

[क] गुणतया वृत्तिर्व्यापारो गुणवृत्ति ।

[ख] गुणेन निमित्तेन सादृश्यादिना च वृत्ति अर्थान्तरविषयेऽपि शब्दस्य सामानाधिकरण्यम्। [ध्व० पृ० ४३०]

फलतः गुणवृत्ति का स्वरूप या लक्षण गुणवृत्तित्व ही है और उसमें गुणवृत्ति के उक्त दोनों भेदों का समाहार हो जाता है।

भेद :

आनन्दवर्धन के अनुसार गुणवृत्ति के मुख्य दो भेद होंगे—

[१] अभेदोपचाररूपा[१] तथा
[२] लक्षणरूपा[२]।

इनमे से—

[१] अभेदोपचाररूपा :

अभेदोपचाररूपा को आनन्दवर्धन ने 'उपचार'[३] भी कहा है। इसका अर्थ होगा अभेद को सम्बन्ध बनाकर अन्य अर्थ में प्रचलित शब्द का अन्य किसी अर्थ के उप=पास, चार=पहुँचना।

इस अभेद का कारण गुणधर्मरूप भी हुआ करता है और रूढिरूप भी। धर्म भी कहीं कथित रहता है और कहीं अकथित। अकथित को हम व्यङ्ग्य भी कह सकते हैं। इन तीन स्थितियों के कारण आनन्दवर्धन ने अभेदोपचार को तीन प्रकार का कहा है :

[१] वाच्यधर्माश्रय[४]
[२] व्यङ्ग्यधर्माश्रय[५] तथा
[३] निरूढाश्रय[६]।

---

१. [क] गुणवृत्तिस्तु उपचारेण लक्षणया चोभयाश्रयापि भवति। (ध्व० पृ० ४२३)
[ख] गुणवृत्तिः ००० अभेदोपचाररूपा। (ध्व० पृ० ४३३)

२. यापि लक्षणरूपा गुणवृत्तिः। (ध्व० पृ० ४३३)

३. [क] उपचारमात्रं भक्तिः। (ध्व० पृ० १४१)
[ख] उपचरितशब्द। (ध्व० पृ० १४६)

४-५. गुणवृत्तिस्तु वाच्यधर्माश्रयेणैव व्यङ्ग्यमात्राश्रयेण चाभेदोपचाररूपा संभवति, यथा 'तीक्ष्णत्वादग्निर्माणवकः', 'आह्लादकत्वाच्चन्द्र एवास्या मुखम्' इत्यादौ, यथा च 'प्रियो जनो नास्ति पुनरुक्तम्' इत्यादौ। (ध्व० पृ० ४३३)

६. ध्व० पृ० ११९६।

[१] वाच्यधर्माश्रय :

वाच्यधर्माश्रय में उपचार या अभेद का कारण धर्म होता है और यह धर्म शब्दत कथित रहा करता[1] है। आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में इसके उदाहरण बतलाए हैं

[१] तीक्ष्णता के कारण बालक अग्नि[2] है, तथा
[२] आह्लादकता के कारण मुख चन्द्र[3] है।

[२] व्यङ्ग्यधर्माश्रय

व्यङ्ग्यधर्माश्रय में उपचार या अभेद का कारण अपने वाचक शब्द से कथित नही रहता। ध्वन्यालोक मे उसके उदाहरण हैं—

[१] प्रियजन पुनरुक्त नही होता[4], तथा
[२] बालक अग्नि[5] है।

इनमें से प्रथम दो स्थलो मे 'तीक्ष्णत्व' तथा 'आह्लादकत्व' शब्द धर्मवाचक-शब्द है और ये दोनो शब्द उदाहरणवाक्य में बोले जा रहे है, अत इन धर्मों को इन शब्दो से वाच्य कहा जाएगा। बालक को जो अग्नि से अभिन्न बतलाया जा रहा है और मुख को चन्द्र से, इसमें ये धर्म ही कारण हैं। फलत 'अग्नि + बालक' एव 'चन्द्र + मुख' इस प्रकार का जो अभेदोपचार हो रहा है यह स्ववाचक शब्द से कथित अतएव वाच्य जो धर्म अर्थात् तीक्ष्णत्वादि साधारण धर्म, उन पर आश्रित हैं। इसके विरुद्ध

---

१ अभिनवगुप्त वाच्यधर्माश्रय शब्द का अर्थ करते है—
'वाच्यविषयो यो धर्मोऽभिधाव्यापारस्तस्याश्रयेण तदुपबृहणायेत्यय, श्रुतार्थापत्ताविवार्थान्तरस्याभिधेयार्थोपपादन एव पर्यवसानात्' इति भाव।
(ध्व० पृ० ४३३ लोचन)
स्पष्ट ही अभिनवगुप्त की दृष्टि उदाहरण वाक्यो के 'तीक्ष्णत्वात्' और 'आह्लादकत्वात्' अर्थात् 'तीक्ष्णता के कारण' तथा 'आह्लादकता के कारण' इन अशो पर नही है। ये दोनो शब्दत कथित हैं, अत वाच्यधर्माश्रय शब्द का अर्थ होगा 'वाच्य = शब्दत कथित धर्म है आश्रय जिसका'। 'पुनरुक्त' मे धर्म कथित नही है।

२-४ द्र० पृष्ठ २४४ पर टिप्पणी ४-५।

५ ध्व० पृ० ४३०।

'प्रियजन पुनरुक्त नहीं होता, भले ही सैकड़ों बार चुम्बन कीजिए, सैकड़ो बार आलिङ्गन'[1] वाक्य में 'पुनरुक्त'-शब्द पुरानी वस्तु के लिए प्रयुक्त शब्द है। पुनरुक्त-शब्द का स्वयं का अर्थ है 'पुनः = फिर से, 'उक्त = कथित'। फिर से कथित होगा शब्द ही, न कि पुरानी वस्तु। पुरानी वस्तु के लिए पुनरुक्त का प्रयोग वैसा ही है जैसा 'बाँगला देश' पर अत्याचार कर रहे पाकिस्तानियों के लिए 'दैत्य'-शब्द का प्रयोग। दैत्य, दैत्य ही है और मनुष्य मनुष्य ही। मनुष्य को दैत्य से अभिन्न नहीं बतलाया जा सकता। इतने पर भी यहाँ जो पाकिस्तानियों को दैत्य से अभिन्न बतलाया गया वह केवल सादृश्य के कारण। सादृश्य है क्रूरता में। दैत्य जैसे निष्करुण होता और बर्बरतापूर्वक क्रूरता का व्यवहार करता है वैसे ही पाकिस्तानी बाँगलावासियों के साथ कर रहे हैं[2]। अतः मानव होते हुए भी वे दैत्य कहे जा रहे हैं। इसी प्रकार जो शब्द पुनः कहा जाता है वह अरुचिकर होता है। वैसा ही होता है पुरानापन। इस अरुचिकरत्व के आधार पर पुरानी वस्तु को पुनरुक्तशब्द से पुकार दिया गया है। यहाँ जो यह अरुचिकरत्व धर्म है, जिसके कारण पुनरुक्त 'शब्द' का पुराने 'अर्थ' के साथ अभेदोपचार किया गया, क्या यह उक्त उदाहरण वाक्य में शब्दतः कथित है ? नहीं। जबकि 'तीक्ष्णत्व के कारण बालक अग्नि है' इस वाक्य में अभेदोपचार का कारण 'तीक्ष्णत्व'-रूपी धर्म शब्दतः कथित है। इस कारण यह मानना होगा कि 'अरुचिकरत्व' धर्म व्यङ्ग्य है, अतएव पुरानी वस्तु के साथ पुनरुक्त शब्द का अभेदोपचार व्यङ्ग्य-धर्माश्रित है। उधर, 'बालक अग्नि है' वाक्य में :

बालक पर अग्नि का आरोप तीक्ष्णता आदि धर्मों पर निर्भर है, किन्तु तीक्ष्णत्वादि धर्मों के लिए यहाँ उस प्रकार किसी वाचक शब्द का प्रयोग नहीं है जिस प्रकार पूर्वोक्त 'तीक्ष्णता के कारण बालक अग्नि है'—इस वाक्य में था, अतः यहाँ तीक्ष्णत्व भी व्यङ्ग्य है और उसके कारण हुआ उपचार भी व्यङ्ग्यधर्माश्रित है। यह हुई अभेदोपचाररूपा गुणवृत्ति।

---

१. चुम्बिज्जइ असहुत्तं अवरुन्धिज्जइ सहस्सहुत्तम्मि।
विरमइ पुणो रमिज्जइ पिओ जणो णत्थि पुनरुत्तं॥
(ध्व० पृ० १४३ का भाव)

२. यह ग्रन्थ १६ दिसम्बर '७१ के पूर्व पूर्ण हो चुका था। अब प्रकाश में आए तथ्यों से तो पाकिस्तानियों के लिए दैत्य शब्द भी छोटा हो चुका है। ले० गणतन्त्रदिवसपर्व १९७२।

[३] निरूढाश्रय

निरूढ अभेदोपचार ऐसे स्थलो मे होता है जिनमे कारण न तो वाच्य रहता और न व्यङ्ग्य । ऐसे स्थलो को आनन्दवर्धन ने 'निरूढा' लक्षणा का स्थल कहा है और इसका उदाहरण माना है 'लावण्य'[1] आदि शब्दो को । लावण्य का वास्तविक अर्थ है खारापन । लवण यानी नमक, लावण्य यानी उसका भाव=गुण। किन्तु यह शब्द प्रयुक्त होता है अङ्गो पर झलकते 'आब' के लिए । इसका कारण साम्य ही है । जिस प्रकार व्यञ्जनो मे लवणरस के बिना फीकापन रहता है उसी प्रकार आब के बिना अङ्गो में भी । फीकेपन को लेकर यहाँ 'आब' के लिए लावण्य शब्द का प्रयोग किया गया । यह 'फीकापन' यहा न तो शब्द से कथित रहता और न व्यङ्ग्यरूप से ही प्रतीत होता, क्योकि लावण्यशब्द अब 'आब' के लिए उसी प्रकार प्रसिद्ध हो गया है जिस प्रकार राम, कृष्ण, शिव, गङ्गा, नमदा आदि के लिए राम कृष्ण आदि शब्द । राम कहने से रामरूपी अर्थ की प्रतीति तो होती है किन्तु उसके आगे और किसी अर्थ की प्रतीति नही होती, वैसे ही यहाँ भी लावण्य कहने से 'आब' की ही प्रतीति होती है अन्य किसी धर्म की नही । यह हुई अभेदोपचार-रूपा गुणवृत्ति ।

विशेष ज्ञातव्य

[क] गुणवृत्ति के उक्त सब स्थलो में जहाँ अभेदोपचार हो रहा है सादृश्य है । सादृश्य के सदा दो पक्ष होते हैं उपमेय तथा उपमान । आनन्दवर्धन का कहना है कि इन स्थलो में गुणवृत्ति उपमानवाचक शब्दो में रहती[2] है और इन शब्दो के जो अर्थ होते

---

१ रूढा ये विषयेऽन्यत्र शब्दा स्वविषयादपि लावण्याद्या । (ध्व० १।१६)

२ इसे आनन्दवर्धन ने 'अत्यन्तनिरस्कृतस्वार्थ'-शब्द कहा है, और उदाहरण 'अग्निर्माणवक' ही दिया है

'गुणवृत्तौ हि०० शब्द ००० अत्यन्ततिरस्कृतस्वार्थ, यथा 'अग्निर्माणवक' इत्यादौ । ध्व० पृ० ४३०

मम्मट ने इसी प्रकार की लक्षणा को लक्षणलक्षणा कहा है और इसका उदाहरण 'गङ्गाया घोष ' आदि प्रयोगो को माना है जिनमें सादृश्य नही रहता । सादृश्यस्थलों में मम्मट ने 'लक्षणलक्षणा' को स्वीकार नही किया । मम्मट →

है वे सर्वथा छूट जाते हैं। अग्निशब्द के अर्थ को जब बालक शब्द के अर्थ के साथ अभिन्न होने जाना होता है, तब उसका अपना सारा स्वरूप छूट जाता है, केवल तीक्ष्णता ही उसमें बच रहती है। इसी को अन्य आचार्यों ने जहत्स्वार्था लक्षणा कहा है, किन्तु उसके लिए उदाहरण और ही दिए हैं।

[ख] दूसरे आचार्यों के अनुसार अभेदोपचारनामक इस भेद को गौणी लक्षणा कहा जा सकता। अभिनवगुप्त ने लोचन में ऐसा कहा भी है। यद्यपि अभेद सादृश्येतर सम्बन्धों से भी होता है, किन्तु, आनन्दवर्धन ने उसकी कोई चर्चा नहीं की। मम्मट ने ऐसे स्थलों के लिए 'घृत आयु है' आदि उदाहरण चुने हैं। फलतः आनन्द-वर्धन के अनुसार केवल सादृश्यमूलक अभेद ही अभेदोपचाररूप गुणवृत्ति का आधार होता है।

इस प्रकार आनन्दवर्धन के अनुसार अभेदोपचाररूप गुणवृत्ति के तीन भेद होते हैं—

१. वाच्यधर्माश्रित

२. व्यङ्ग्यार्थाश्रित तथा

३. रूढ

इन तीनों गुणवृत्तियों को दो वर्गों में बाँटा जा सकता है अकारण और सकारण। सकारण दो प्रकार की मानी जा सकती है (१) वाच्यकारणा तथा (२) व्यङ्ग्यकारणा। अकारणा में रूढ, वाच्यकारणा में वाच्यधर्माश्रित तथा व्यङ्ग्यकारणा में व्यङ्ग्यार्थाश्रित भेद की गणना होगी। इनका भेदवृक्ष इस प्रकार बनेगा :

→ के काव्यप्रकाश की टीका 'प्रदीप' इसे स्वीकार करना चाहती है, किन्तु वह मूलविरुद्ध है। इस विषय पर देखिए हमारा लेख 'मम्मटाभिमतं लक्षणायाः षड्विधत्वं हेत्वलङ्कारश्च' (Principles of literary criticism) तथा सागरिका ९.२ में प्रकाशित। 'गङ्गायां घोषः' को आनन्दवर्धन ने अजह-त्स्वार्था या उपादानलक्षणा का स्थल माना है।
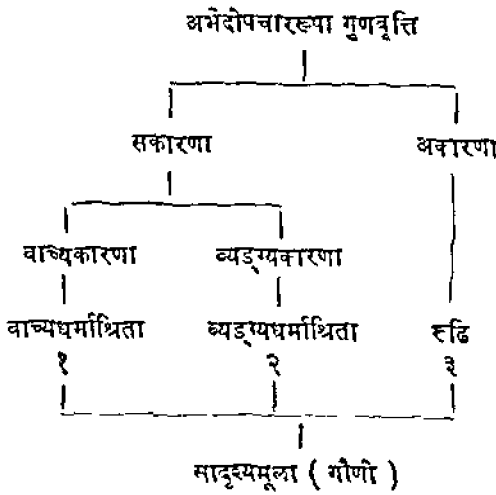
[२] लक्षणरूपा सोपादाना

लक्षणरूपा गुणवृत्ति वहाँ होती है जहाँ सादृश्यसबन्ध नही रहता। मम्मट ने इसे शुद्धा लक्षणा कहा है। शुद्धशब्द का अर्थ होता है 'सफेद'। सफेद का अर्थ है ऐसी वस्तु जिस पर कोई विशिष्ट रङ्ग न हो। विशिष्ट रङ्ग होने पर वस्तु को उसी रङ्ग से युक्त नीली, पीली आदि कहा जाता है। लक्षणा में भी गौणी या सादृश्यमूला लक्षणा में लक्षणा एक वैशिष्टय लिए रहती है। यह वैशिष्टय होता है सादृश्य रूप। जहाँ यह नही रहता वह भेद 'शुद्ध'-नाम से पुकारा जाता है। मम्मट की शुद्धा लक्षणा आनन्दवर्धन की लक्षणरूपा गुणवृत्ति है। इस विधा को आनन्दवर्धन ने भेदों में विभक्त नही किया है। प्राप्त सामग्री के आधार पर इसका एक ही भेद हो सकता है। लक्षणरूपा गुणवृत्ति के अतिरिक्त इसका कोई दूसरा नाम आनन्दवर्धन ने तो नही दिया है, परन्तु उनने इसका जो विश्लेषण किया है उसके आधार पर हम इसे 'सोपादाना' गुणवृत्ति भी कह सकते है, वैसे लक्षणरूपा गुणवृत्ति तो इसका नाम है ही। ध्वन्यालोक में इसके दो उदाहरण मिलते है—

१ गङ्गा में घर[1] तथा

२ मचान चिल्ला रहे है।

---

१ गुणवृत्तौ शब्द स्वार्थमपरित्यजंस्तत्सम्बन्धद्वारेण विषयान्तरमाक्रामति यथा 'गङ्गाया घोष' इत्यादौ। (ध्व० पृ० ४३१, ४३३)

मम्मट ने उक्त उदाहरणों मे से प्रथम मे उपादानलक्षणा स्वीकार नही की है,[१] केवल लक्षणलक्षणा ही स्वीकार की है, किन्तु जब गङ्गा की धारा पर घर का बनना सम्भव नही होता तब गङ्गा का अर्थ गङ्गा का तट किया जाता है। इस तट मे गङ्गा का अनुवेध रहता है। अतः गङ्गारूपी अर्थ सर्वथा छूट नही जाता। मम्मट भी इतना तो मानते ही है कि तट में धर्मरूप से तटत्व भासित नही होता, अपितु 'गङ्गात्व' ही भासित होता है।[२] जो हो। इन आचार्यो के चिन्तन में अपनी अपनी मौलिकता है। हमें यहाँ आनन्दवर्धन का चिन्तन प्रस्तुत करना है। आनन्दवर्धन 'गङ्गा पर घर' प्रयोग में गङ्गाशब्द के अर्थ का सर्वथा परित्याग नही मानते। मम्मट की दृष्टि आधाराधेयभाव पर ही केन्द्रित है, जबकि आनन्दवर्धन की दृष्टि घर तक व्याप्त है। आधाराधेयभाव में गङ्गा का जलरूप वस्तुतः सर्वथा ही छूट जाता है, किन्तु गङ्गा का सम्बन्ध घर के साथ अपेक्षित है, नही तो घर की गङ्गा पर अवस्थिति बतलाना व्यर्थ ही होगा, अतः घर के साथ गङ्गा का सम्बन्ध बना ही रहता है। वस्तुतः प्रयोजन है घर में शैत्य पावनत्व की प्रतीति, न कि तट में। गङ्गा का गङ्गात्व तट में संक्रान्त होकर तट पर स्थित घर मे भी संक्रान्त होता है। इस प्रकार मुख्य प्रतिपाद्य मे गङ्गा का परित्याग केवल प्रवाहरूप से [शरीरात्मना] होता है, धर्मात्मना—गङ्गात्वरूप से नही। इस प्रकार 'गङ्गा पर घर' प्रयोग उपादानलक्षणा का प्रयोग कहा जा सकता है।

यही स्थिति 'मचान चिल्ला रहे हैं' इस प्रयोग में भी होती है। खेत में फसल की रक्षा के लिए जो मचान बनते हैं उन पर बैठे रक्षक रात-बिरात चिल्लाया करते हैं। इनका चिल्लाना सुन सहसा इस प्रकार का वाक्य बोल दिया

---

१. काव्यप्रकाश उल्लास २—

गङ्गायां घोषः इत्यत्र तटस्य घोषाधिकरणत्वसिद्धये
गङ्गाशब्दः स्वार्थमर्पयति, इत्येवमादौ लक्षणेनैषा लक्षणा।

(पृ० ४६ वामनी.)

मम्मट के अनुसार उपादानलक्षणा केवल 'मञ्चाः क्रोशन्ति'='मचान चिल्ला रहे हैं' में होगी।

२. अनयोर्लक्ष्यस्य लक्षकस्य च न भेदरूपं ताटस्थ्यम्, तटादीनां गङ्गादिशब्दैः प्रतिपादने तत्त्वप्रतिपत्तौ हि प्रतिपिपादयिषित-प्रयोजन-संप्रत्ययः, गङ्गासम्बन्ध-मात्रप्रतीतौ तु गङ्गातटे घोष इति मुख्यशब्दाभिधानाल्लक्षणायाः को भेदः।

(काव्यप्रकाश, पृ० ४६. वामनी टीका।)

जाता है। किन्तु मचान जड पदार्थ है। उनमे 'चिल्लाना'—क्रिया का कर्तृत्व सम्भव नही है। वह चेतन में ही सम्भव है। चेतन है मचान पर बैठे पुरुष। अत मचान का अर्थ मचान पर बैठे पुरुष कर लिया जाता है। और पूरे वाक्य का अर्थ कर लिया जाता है 'मचान पर बैठे रखवाले चिल्ला रहे हैं'। यहाँ चिल्लाने के साथ पुरुषो का तो सम्बन्ध होता है, किन्तु मचानो का सम्बन्ध नही होता ऐसा नही है। इस प्रकार यहाँ मचान ने चिल्लाने के साथ सम्बन्ध जोड़ने हेतु अपने सम्बन्धित पुरुषों का उपादान कर लिया, अत यह गुणवृत्ति भी सोपादाना गुणवृत्ति हुई। मम्मट ने ऐसे स्थलो में सोपादाना लक्षणा ही मानी है। आनन्दवर्धन ने इस स्थल के लिए उपयुक्त गुणवृत्ति को 'लक्षणरूपा' गुणवृत्ति नाम दिया है।[1] हम हिन्दी में इसे 'लक्षणारूपा' भी कह सकते हैं।

गुणवृत्ति में प्रयोजन :

इस प्रकरण में आनन्दवर्धन मम्मट आदि परवर्ती आचार्यों से भिन्न एक तथ्य और प्रस्तुत करते हैं। वह है प्रयोजनांश को लेकर। मम्मट निरूढा लक्षणा के अतिरिक्त सभी लक्षणाओ में प्रयोजन का अस्तित्व अपरिहार्य और अनिवार्य मानते[2] हैं। आनन्दवधन इसके विपरीत 'मचान चिल्ला रहे हैं' इस प्रयोग में कोई भी प्रयोजन नही मानते। वे मानते हैं कि यहाँ जो गुणवृत्ति हुई है वह सम्बन्धमात्र से हो गई है।[3] क्योंकि चिल्ला रहे पुरुषो का सम्बन्ध मचान से है,

---

१ लक्षणरूपा गुणवृत्ति उपलक्षणीयार्थसम्बन्धमात्राश्रयेण चारुरूपव्यङ्ग्यप्रतीति विनापि सम्भवत्येव, यथा—'मञ्चा क्रोशन्ति'-त्यादौ विषये।

(ध्व० पृ० ४३३)

इस विवेचन के आधार पर लोचन मे अभिनवगुप्त ने गुणवृत्ति को लक्षणा से भिन्न माना है। गुणवृत्ति को उनने केवल सादृश्य तक सीमित रखा है और सादृश्येतरसम्बन्धमूलक भेदों को लक्षणा के भेद कहा था। यह वस्तुत मीमासको का क्रम था। आनन्दवर्धन, जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है, गुणवृत्ति को सादृश्य तक सीमित नही मानते। इसी कारण लोचनकार ने भी 'गुणवृत्ति'–शब्द के दो अर्थ किए हैं, जो यहाँ पहले दिए जा चुके हैं।

२ व्यङ्ग्येन रहिता रूढौ सहिता तु प्रयोजने।

(काव्यप्र०-२। प्रयोजन व्यङ्ग्य ही होता है।)

३ द्र० इसी पृष्ठ पर टिप्पणी १ अभिनवगुप्त 'मञ्चा क्रोशन्ति' में भी प्रयोजन मानना चाहते है, किन्तु इस संशोधन के साथ कि वह 'चारु' नही होता।

वे मचान पर से ही चिल्ला रहे हैं, अतः पुरुषों को मचान से अभिन्न बतला दिया गया। शीघ्रता में कभी ऐसा हो जाता है। रिक्शावाले को पुकारते समय बहुधा केवल 'रिक्शा' शब्द बोल दिया जाता है। सम्बोधन चेतन का ही सम्भव होता है। रिक्शा जड़ है। उसका सम्बोधन सम्भव नहीं। निश्चित ही सम्बोधन रिक्शा-वाले का किया गया है, किन्तु उसके लिए बोला गया है केवल 'रिक्शा' शब्द। क्या इस प्रयोग का सौकर्य के अतिरिक्त कोई और कारण है ? क्या इसमें रिक्शा-वाले को अपमानित करना प्रयोजन है ? निश्चित ही इस प्रयोग में कोई प्रयोजन नही है। 'मचान चिल्ला रहे हैं' में पुरुषों को मचान कहना भी ऐसा ही प्रयोग है जिसमें कोई प्रयोजन नही। इसमें चाहे तो व्यङ्ग्यार्थ निकाल सकते है, परन्तु वह व्यङ्ग्य भी अचारु ही होगा और वह प्रयोजन तो कथमपि न होगा।

इस प्रयोजनांश की प्रतीति किस वृत्ति से होती है ? इसके उत्तर में कुछ समीक्षक कहते है कि इसकी भी प्रतीति गुणवृत्ति से ही हो सकती है। आनन्द-वर्धन इसका खण्डन करते और कहते है 'यदि प्रयोजन की प्रतीति के लिए गङ्गा आदि शब्द असमर्थ हों जैसे तट की प्रतीति में असमर्थ होते है तो इनका प्रयोग काव्यात्मक और कलात्मक प्रयोग न होकर सदोष और हेय प्रयोग होगा। वस्तुतः प्रयोजन की प्रतीति में शब्द असमर्थ नहीं रहता[१]।

भक्ति :

गुणवृत्ति के सन्दर्भ में भक्तिशब्द पर भी विचार आवश्यक है, क्योंकि आनन्दवर्धन ने गुणवृत्ति के लिए पहले पहल इसी शब्द का प्रयोग किया[२] है। आनन्दवर्धन भक्ति को उपचाररूप मानते हैं। उनका वाक्य है—

'उपचारमात्रं तु भक्तिः'। [ध्व० पृ० १४१]

अभिनवगुप्त ने भक्तिशब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है कि उसमे मुख्यार्थबाध, प्रयोजन तथा सम्बन्ध तीनों का संकेत मिल जाता है। उनकी व्युत्पत्तियाँ ये हैं—

---

१. मुख्यां वृत्ति परित्यज्य गुणवृत्त्यार्थदर्शनम्।
यदुद्दिश्य फलं तत्र शब्दो नैव स्खलद्गतिः॥ (१।१७ ध्व०)
चारुत्वातिशयविशिष्टार्थप्रकाशनलक्षणे प्रयोजने कर्त्तव्ये यदि शब्दस्यामुख्यता तदा प्रयोगे दुष्टतैव स्यात्॥ (ध्व० पृ० १४९–५०)

२. काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्व-
स्तस्याभावं जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये॥ (ध्व० १।१)

[१] मुख्य अर्थ का भङ्ग अर्थात् बाध है भक्ति[1]
[२] मुख्य अर्थ का भाग = अंश = धर्म = साधारण धर्म 'अग्नि है बालक' आदि प्रयोगों में तीक्ष्णत्वादि है भक्ति।[2] अथवा भक्ति यानी सामीप्य या तीक्ष्णत्वादि में अतिशय श्रद्धा।[3]
[३] प्रसिद्ध होने के कारण जिसको पदार्थ भजे = अपनाए वह धर्म भक्ति, जैसे 'गङ्गा पर घर' इस प्रयोग में सामीप्य।[4]

उपचार का अर्थ अभिनवगुप्त ने अतिशयित व्यवहार किया[5] है। उसका अर्थ है लोकस्थिति से ऊपर उठकर और बढ़-चढ़कर बोलना। इसके अनुसार उपचार सादृश्य तक सीमित न होकर सादृश्येतर सम्बन्धों तक व्यापक हो जाता है। उधर आनन्दवर्धन ने गुणवृत्ति से भक्ति को अभिन्न कहकर जब भक्ति को उपचाररूप कहा तो इसका यह भी अर्थ हुआ कि वे गुणवृत्ति के सम्पूर्ण व्यक्तित्व को उपचाररूप स्वीकार करते हैं, न कि उसके एक अंश को। किन्तु ऊपर गुणवृत्ति के एक अंश को ही उपचाररूप बतलाया गया है। इस असङ्गति का उत्तर यह है कि आनन्दवर्धन ने जब भक्ति को उपचार कहा तब उनकी दृष्टि में सादृश्यमूलक गुणवृत्ति ही थी। यह इससे स्पष्ट है कि उनने भक्ति को उपचार कहने के तुरन्त पश्चात् जो उदाहरण दिए हैं वे सब सादृश्यमूलक गुणवृत्ति के उदाहरण[6] हैं। दूसरी बात यह भी ध्यान देने की है कि आनन्दवर्धन ने गुणवृत्ति को लक्षणरूपा भी कहा है। यदि वे उपचार को सादृश्येतरसम्बन्ध तक व्यापक मानते तो ऐसा न कहते। ऐसा मानने पर वे गुणवृत्ति को अभेदोपचाररूपा और लक्षणोपचाररूपा कहते। वस्तुत उपचार को सादृश्येतर सम्बन्ध तक फैलाने का उपक्रम अभिनवगुप्त

---

१ मुख्यस्यार्थस्य भङ्गो भक्ति । (लोचन पृ० ३०)
२ गुणसमुदायवृत्ते शब्दस्य अर्थभाग तैक्ष्ण्यादि भक्ति । (लोचन पृ० २९)
३ भक्ति प्रतिपाद्ये सामीप्यतैक्ष्ण्यादौ श्रद्धातिशय । (लोचन पृ० २९)
४ भज्यते सेव्यते पदार्थेन प्रसिद्धतयोत्प्रेक्ष्यते इति भक्ति धर्मोऽभिधेयेन सामीप्यादि (लोचन पृ० २८)
५ ध्व० पृ० १४१
६ आनन्दवर्धन ने भक्ति को 'उपचारमात्र' १।१४ के पूर्वार्ध की वृत्ति में कहा है और उत्तरार्ध की वृत्ति में उसके 'वदति, पुनरुक्तम्, हरन्ति, दत्त, अनुभवति' ये उदाहरण दिये हैं। ये सब सादृश्यमूलक हैं। १६वी कारिका में लावण्यशब्द को उपचरितशब्दवृत्ति का उदाहरण कहा। यह भी सादृश्यमूलक गुणवृत्ति का ही उदाहरण है।

ही कर रहे हैं, कदाचित् वे मुकुलभट्ट[1] से प्रभावित हैं। इस उदारता को मम्मट[2] ने भी स्वीकार नहीं किया। उनने लक्षणा के सादृश्यमूलक भेदों में ही उपचार स्वीकार किया है।

यदि उपचार को सम्पूर्ण गुणवृत्ति का प्रतिनिधि मान लिया जाए तो उपर्युक्त विवेचन में आए भेदों के आधार पर गुणवृत्ति का भेदवृक्ष इस प्रकार बनाना होगा—
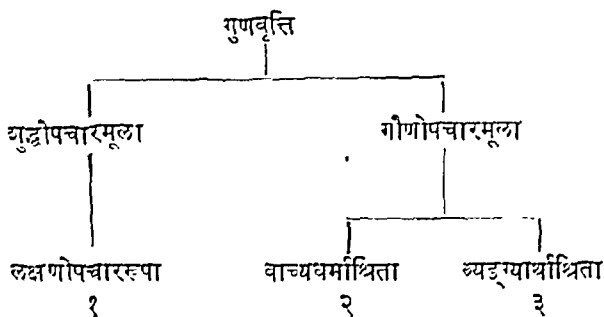
वस्तुतः निम्नलिखित भेदक्रम ही आनन्दवर्धन को मान्य है—
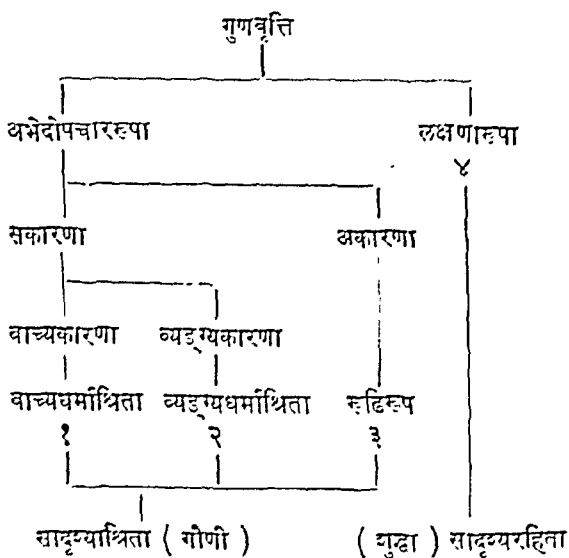
१. मुकुलभट्ट ने अभिधावृत्तिमातृका में उपचार को दोनों ही प्रकार का माना है।

२. उभयरूपा चेयं शुद्धा, उपचारेणामिश्रणात्। (काव्यप्र० २)

इस प्रकार आनन्दवर्धन को गुणवृत्ति के चार ही भेद मान्य हैं। उनके द्वारा प्रदर्शित उक्त चारों भेदों के नाम तथा उदाहरणों की तालिका निम्नलिखित है—

नाम	उदाहरण
[१] वाच्यधर्माश्रिता	[क] तीक्ष्ण होने से बालक अग्नि है[1] या [ख] आह्लादक होने से मुख चन्द्र है।
[२] व्यङ्ग्यार्थाश्रिता	[क] प्रियजन पुनरुक्त नहीं होता या [ख] बालक अग्नि है।
[३] रूढरूपा	लावण्य।
[४] लक्षणरूपा	[क] मचान चिल्ला रहे हैं या [ख] गङ्गा में घर है।

यह हुआ प्रथम अमुख्य व्यापार। अब द्वितीय अमुख्य व्यापार पर आनन्दवर्धन के विचार देखें।

[ख] व्यञ्जकत्व

पहले कहा जा चुका है कि अमुख्य शब्दव्यापार का दूसरा भेद है व्यञ्जकत्व। व्यञ्जकत्व का अर्थ ठीक वैसे ही व्यञ्जना है जैसे पूर्वकथित क्रम से अभिधायकत्व का अर्थ अभिधा। हम यहाँ व्यञ्जना-शब्द का भी प्रयोग करेंगे।

एक तथ्य और। यह कि यहाँ व्यञ्जना के लिए 'अमुख्य'—शब्द का प्रयोग उतने सब अर्थों में नहीं हुआ है जितने अर्थों में इस शब्द का प्रयोग अभी अभी गुणवृत्ति के लिए हुआ है। गुणवृत्ति को अमुख्य दो कारणों से कहा गया है। एक तो इसलिए कि वह, शब्द सुनते ही उस प्रकार पहले उपस्थित नहीं होती जिस प्रकार अभिधा हुआ करती है। दूसरे, इसलिए कि वह अभिधा के समान प्रधानता भी नहीं लिए रहती। व्यञ्जना की अमुख्यता केवल अभिधा के बाद उपस्थित होने

---

१ इन उदाहरण के संस्कृतरूप क्रमशः निम्नलिखित हैं
[१] 'तीक्ष्णत्वादग्निर्माणवक' अथवा 'आह्लादकत्वान्मुखं चन्द्र'।
[२] 'प्रियो जनो नास्ति पुनरुक्तम्'।
[३] 'लावण्यकान्तिपरिपूरितदिङ्मुखं मुखम्'।
[४] 'मञ्चाः क्रोशन्ति' अथवा 'गङ्गायां घोषः'।

तक सीमित है। जहाँ तक प्रधानता का प्रश्न है व्यञ्जना कहीं कहीं अभिधा से भी प्रधान हुआ करती है। इसकी प्रधानता चारुत्व की मात्रा पर निर्भर है। जहाँ चारुत्व की मात्रा अभिधाजनित चारुत्व की मात्रा से व्यन्जना में अधिक रहती है, वहाँ व्यन्जना अभिधा से प्रधान भी हुआ करती है। इसीलिए व्यञ्जना से निकलने वाला अर्थ ध्वनि कहलाता है।

व्यञ्जना का शब्दवृत्तित्व :

ध्वनि प्रकरण में ऐसे अनेक उदाहरण दिए गए है जहाँ वाच्य विधि रूप होता है और प्रतीयमान निषेध रूप। यह निषेधरूपी अर्थ यद्यपि वाच्यार्थ से प्रतीत होता है तथापि यह नही कहा जा सकता कि इसकी प्रतीति में शब्द कारण नही है, क्योंकि वह अर्थ भी, जो इस निषेधरूपी अर्थ की प्रतीति कराता है, शब्द द्वारा ही प्रतीत होता है। उदाहरणार्थ

> हे धार्मिक ? तुम घूमो, घूमो, प्रेम से घूमो, उस दुष्ट कुत्ते को गोदावरी की झुरमुट में रह रहे दृप्त सिंह ने समाप्त कर दिया है।

यही पूर्वोद्धृत वाक्य लीजिए।

इसमें ऐसा कोई शब्द नहीं है जिसका अर्थ उस प्रकार असङ्गत हो रहा हो जिस प्रकार 'गङ्गा पर घर' वाक्य मे गङ्गा शब्द का हुआ करता है। इस कारण यहाँ गुणवृत्ति की कोई गुंजाइश नही है। इसके अतिरिक्त यहाँ ऐसा भी कोई शब्द नहीं है जिसका अर्थ ठीक उसी प्रकार 'निषेध' हो जिस प्रकार सूर्य का अर्थ सूर्य होता है और चन्द्र का चन्द्र। इस कारण यहाँ जिस निषेध की प्रतीति हो रही है उसे अभिधा से निष्पन्न नहीं कहा जा सकता। यहाँ तो वक्ता के वक्तव्य पर ध्यान देने से प्रतीत होता है कि वह धार्मिक को 'घूमने' का नही, अपि तु 'न घूमने' का सुझाव दे रहा है, क्योंकि वह उसी भ्रमणस्थल में जहाँ कुत्ते के भय से धार्मिक नहीं घूमता था, कुत्ते से भी अधिक भयावह सिंह का अस्तित्व प्रतिपादित कर रहा[1] है। क्या कुत्ते से डरने वाला सिंह के रहते हुए घूम सकता है ? अवश्य ही वह वहाँ नही घूम सकता।

---

१. इस वाक्य का वक्ता पुरुष न होकर स्त्री मानी गयी है। वह भी पुंश्चली स्त्री। परन्तु और भी कोई व्यक्ति ऐसा कहे तो निषेधरूपी अर्थ निकल ही सकता है। कोई आवश्यक नही कि हर एक जगह लुकाछिपी का शृङ्गार ही देखा जाए। वैसे वह है तो आनन्दवर्धन को भी अत्यधिक प्रिय।

यह निषेध यहाँ वक्ता के उक्त वक्तव्य से ही निकल रहा है, अत इसकी प्रतीति शब्द से निष्पन्न मानी जाएगी, और क्योंकि इसकी प्रतीति में अभिधा और गुणवृत्ति दोनों असमर्थ है, अत इसके लिए शब्द में ही एक तृतीय व्यापार की अभिस्वीकृति आवश्यक होगी और उसे शब्द का व्यञ्जकत्व या व्यञ्जनाव्यापार कहना[1] होगा। क्योंकि शब्द प्रतीयमान की प्रतीति प्रथम अर्थ की उपस्थिति के बिना नही करा पाता, अत अर्थयोजना को भी प्रतीयमान अर्थ का व्यञ्जक मानना होगा और यह मानना होगा कि धार्मिक के कथित उद्धृत वाक्य में 'आरम्भिक अर्थों की योजना और उसको उपस्थित करने वाले शब्द, दोनो ही अभिधा तथा गुणवृत्ति से भिन्न व्यञ्जकत्व नामक एक अतिरिक्त व्यापार द्वारा प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति कराते है। अभिप्राय यह कि यहाँ व्यञ्जकत्व-नामक जो रथ है वह जिन दो चकों की अपेक्षा रखता है उनमें से एक है शब्द और दूसरा है अर्थ। व्यञ्जकत्व के लिए दोनो नित्यसापेक्ष है। कभी-कभी यह अवश्य देखा जाता है, जैसा कि ध्वनिप्रकरण में दिए उदाहरणों से स्पष्ट है कि कही प्रधानता शब्द की ही रहती है और कही अर्थ की है। इस कारण व्यञ्जकत्व को कभी कभी शब्दगत या अर्थगत कह दिया जाता है।

---

१ आनन्दवर्धन के निम्नलिखित वाक्य इस तथ्य के प्रमाण है कि वे शब्द में व्यञ्जनाशक्ति मानते है।

[क] शब्दे व्यवहारे त्रय प्रकारा, वाचकत्व गुणवृत्ति व्यञ्जकत्वं च। (ध्व० पृ० ४२९)

[ख] व्यङ्ग्यश्चार्थो वाच्यसामर्थ्याक्षिप्ततया वाच्यवद् शब्दस्य सम्बन्धी भवत्येव। (ध्व० पृ० ४५२)

[ग] युक्तिविदामनुभवसिद्ध एव व्यञ्जकभाव शब्दानाम्। (ध्व० पृ० ४४४)

[घ] अस्ति व्यङ्ग्य शब्दाना कश्चिद् विषय। (ध्व० पृ० ४२२)

[ङ] वाचकत्व शब्दविशेषस्य नियत आत्मा, स [व्यञ्जकभाव] तु अनियत। (ध्व० पृ० ४३७)

[च] यदा अर्थो व्यङ्ग्यत्रय प्रकाशयति तदा शब्दस्य तत्रोपयोग कथमपह्नूयते। (ध्व० पृ० ४२५)

[छ] व्यञ्जकत्व शब्दार्थोभयाश्रितम्। (ध्व० पृ० ४२४)

व्यञ्जकत्व एक स्वतन्त्र व्यापार :

पूर्वस्थिति : आनन्दवर्धन के पहले दर्शन के क्षेत्र में शब्दशक्तिओं पर जो विचार हुआ था उसमे व्यञ्जकत्व को स्थान मिल चुका था। वैयाकरणों[1] ने वर्ण से पद तक यह देखा कि वे उच्चारण के तुरन्त बाद नष्ट हो जाते है, अतः उनका 'समुदाय' नही बन पाता, स्थिति यह है कि अर्थ का ज्ञान समुदाय से ही होता है, चाहे वह वर्ण का हो या पद का। इस समस्या को सुलझाने के लिए उनने कानों से सुनाई देने वाले इस 'ध्वन्यात्मक' [sound रूप] शब्द के अतिरिक्त एक और शब्द की कल्पना की और उसे एक तथा नित्य माना। उस शब्द को स्फोट कहा और उसे मुख की नहीं, अपितु हृदय की ध्वनिविहीन वाणी, जिसे हम चिन्तन की वाणी कह सकते है और जिसे तन्त्रों की भाषा मे मध्यमा वाणी कहा जाता है, माना। इस वाणी को इन चिन्तकों ने प्रसुप्त वाणी कहा और इसके जागरण में हेतु माना उसी वाणी को जो ध्वन्यात्मक और अनित्य थी, जिसे इनने 'वैखरी' वाक् कहा था। ध्वनि [sound]-रूप वैखरी वाक् इस स्फोटात्मक मध्यमा वाक् को जगा दिया करती है। वाणी का जागना और सोना आखिर है क्या ? कुल मिलाकर अभिव्यक्ति और उसका अभाव है। स्फोट की यह अभिव्यक्ति उसी रूप में होती है जिस रूप में वर्णो और पदों का ज्ञान होता है। वर्णो और पदों का ज्ञान ज्ञाता के मस्तिष्क मे जिस रूप में आहित होता है स्फोट उसी रूप में व्यक्त होता है। यदि ज्ञाता को वर्णो का ज्ञान 'र् आ म् अ, क् ई, ज् अ य् अ' इस रूप मे हुआ है तो पदों का ज्ञान 'राम, की, जय,' इस रूप में ही होगा, इनसे वाक्य का ज्ञान भी 'राम की जय' इसी रूप में होगा और यह ज्ञान जिस स्फोट को जगाएगा वह स्फोट भी 'राम की जय' इसी आकार का होगा। अन्धकार से आच्छन्न विशाल दीवाल पर टार्च की रश्मियां जितने अंश मे और जिस आकार मे पड़ती है दीवाल उतने ही अंश मे और उसी आकार में दृष्टिगोचर होती है। टार्च की रश्मियां व्यञ्जक है, उनमें व्यञ्जकत्व है, और दीवाल है उनसे व्यङ्ग्य। इसी प्रकार स्फोट-नामक एक ऐसा शब्द जो वैयाकरणों के यहां दीवाल ही नही, आकाश के समान, और आकाश के समान ही नही, ब्रह्मतत्त्व के समान व्यापक और नित्य माना गया है, वक्ता के मुख से उच्चरित तथा श्रोता की श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा गृहीत ध्वन्यात्मक वाणी के संस्कार से उसी आकार में व्यक्त हो जाया करता है।

---

१. भर्तृहरि ने अपने 'वाक्यपदीय'-नामक ग्रन्थ के आगमकाण्ड में व्यञ्जना स्वीकार की है। इनका समय ई० सन् ४५० से ५०० माना जाता है। कुछ विद्वान् इन्हें ७०० ई० स० का मानते है। सर्वथा ये है आनन्दवर्धन के पहले के।

वैयाकरणो की इस कल्पना में दो बातें नवीन हैं। एक तो एक ऐसे शब्द की स्थापना जो प्रसिद्ध शब्द से भिन्न और निगूढ अत सर्वजनवेद्य न होकर, केवल विज्ञजनगम्य है, दूसरे इसके साथ उस वाणी का व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव सम्बन्ध, जो वाणी प्रसिद्ध, स्पष्ट और सर्वजनवेद्य है, दूसरे शब्दो में जो वैखरी है।

आनन्दवर्धन की कल्पना

आनन्दवर्धन ने जिस प्रतीयमान अर्थ की गवेषणा की वह भी स्फोट के ही समान नवीन, निगूढ और विज्ञैकवेद्य अर्थ था। उसका प्रसिद्ध अर्थ से सम्बन्ध भी था। उधर व्याकरणशास्त्र सर्वमान्य शास्त्र था, यहाँ तक कि उसे 'मुख' कहा गया था। कश्मीर मे उन दिनो उसका बोलबाला भी था। फलत आनन्दवर्धन ने स्फोट-कल्पना से अपनी प्रतीयमानकल्पना को जोडा और प्रसिद्ध अथ से अपने प्रतीयमान अर्थ का जो सम्बन्ध था उसे उसी सम्बन्ध के नाम से पुकारना उचित समझ लिया जिस नाम से ध्वनि और स्फोट के सम्बन्ध को व्याकरणशास्त्रियो ने पुकारा था। यह नाम था 'व्यञ्जकत्व'। तदनुसार आनन्दवधन ने प्रसिद्ध या प्राथमिक अर्थ और प्रतीयमान अर्थ के बीच व्यञ्जना नामक सम्बन्ध स्वीकार कर लिया[1]।

कठिनाई यह थी कि इस व्यञ्जकत्व या व्यञ्जना को केवल शब्दशास्त्रियो ने ही अपने यहाँ स्थान दिया था, वह भी एक क्षीण कल्पना के रूप[2] में। अन्य दार्शनिको ने इसे स्वीकार नही किया था। इनमें प्रधान थे मीमासक और तार्किक। मीमासाशास्त्र में वाक्य से अर्थ का निणय करना ही प्रमुख विषय था। उसे इसी-लिए कहा ही जाता है—'वाक्यशास्त्र'[3]। तर्कशास्त्र का निश्चय था—'प्रमाण के बिना किसी अर्थ को स्वीकार न करना'। वस्तु-परीक्षण का मानदण्ड इस शास्त्र में प्रमाण था। अत उसे 'प्रमाणशास्त्र'-नाम से भी पुकारा जाता है। इन दोनों शास्त्रो ने व्यञ्जकत्व को अतिरिक्त व्यापार नही माना था। अत इनके विरोधी तर्क व्यञ्जनावादी आचार्यों के समक्ष उपस्थित थे। इन आचार्यों में उक्त तर्कों का उत्तर वैयाकरणों के लिए अधिक महत्त्व नही रखता था, क्योंकि उनने जिस व्यञ्जकत्व की कल्पना की थी वह अधिक समृद्ध न था, किन्तु ध्वनिवादी आनन्दवधन के लिए इन तर्कों का उत्तर एक अनिवार्यता थी, क्योंकि उनने व्यञ्जकत्व को बहुत ही अधिक महत्त्व दिया था।

१ 'बुधे वैयाकरणै'। (ध्व० १।१३ वृत्ति)

२ कहा जा चुका है कि वाक्यपदीयकार का आगमकाण्ड इसके लिए मुख्य आधार है।

३ 'वाक्य'-शब्द मीमासाशास्त्र के लिए संस्कृतवाङ्मय में प्रसिद्ध है।

मतभेद :

स्फोटवादी[1] आचार्यों की जो 'ध्वनि' थी वह अनित्य शब्दमात्र तक सीमित थी। उनका व्यञ्जकत्व भी केवल इसी अनित्य शब्द तक सीमित था। यह जो अनित्यशब्द था इसमें व्यञ्जकत्व के अतिरिक्त कोई अन्य वृत्ति, व्यापार या शक्ति उनने नही मानी थी। आनन्दवर्धन अपनी ध्वनि-कल्पना में बहुत आगे बढ़े हुए थे। अभिनवगुप्त के अनुसार उनने 'ध्वनि'-संज्ञा व्यञ्जक शब्द तक ही सीमित नही रखी, प्रथम अर्थ को भी ध्वनि कहा, उससे प्रतीत होने वाले प्रतीयमान नामक अर्थ को भी ध्वनि कहा, व्यञ्जकत्व नामक शब्दव्यापार को भी ध्वनि कहा और उस काव्य को भी जिसमे यह विधा, यह शिल्प उन्हे दिखाई देता था। इस प्रकार (१) शब्द (२) वाच्यार्थ (३) व्यङ्ग्यार्थ (४) व्यञ्जनाव्यापार तथा (५) इनसे युक्त काव्य, इन पाँच[2] अर्थो में 'ध्वनि' शब्द को आनन्दवर्धन ने अपनाया। अर्थात् उन्होंने ध्वनि शब्द को अर्थविकास के उर्वरक पर बिठा 'काव्य की प्रत्येक कड़ी' तक व्यापक बना दिया। ध्वनि को यदि वटवृक्ष का बीज कहे तो कहना होगा कि जहाँ वह वैयाकरणों के यहाँ केवल कच्चा बीज था वहाँ वह आनन्दवर्धन के यहाँ आकाश के विपुल वक्ष को अपनी प्रकाण्ड शाखाओं में समेटने वाला महान् वृक्ष बनकर प्रकट हुआ।

शब्दशास्त्रियों और आनन्दवर्धन की ध्वनिकल्पना में एक मौलिक भेद भी था। वह यह कि आनन्दवर्धन ने व्यञ्जक रूप से जिस शब्द को स्वीकार किया था वह शब्द, वह शब्द नहीं था जो व्यञ्जकरूप से शब्दशास्त्रियों को स्वीकार था। ऊपर दिए विवेचन से स्पष्ट है कि शब्दशास्त्रियों का शब्द वैखरी वाणी था जिसमें

---

१. वाक्यपदीय व्याकरणशास्त्र का प्रथम ग्रन्थ है जिसमें स्फोट का स्पष्ट प्रतिपादन किया गया है। द्रष्टव्य आगमकाण्ड।

२. [क] ध्वनिः काव्य—'काव्यविशेषः स ध्वनिः'—ध्व० १।१३ तथा अनेक अन्य प्रयोग।

[ख] ध्वनिः प्रतीयमान अर्थरूप काव्यधर्म—'काव्यस्यात्मा ध्वनिः'—ध्व० १।१ तथा अनेक अन्य प्रयोग।

शब्द,, वाच्य अर्थ तथा व्यञ्जना वृत्ति के लिए ध्वनिशब्द ही कल्पना अभिनवगुप्त की कल्पना है। ध्वन्यालोक में इनके लिए ध्वनिशब्द का स्पष्ट उल्लेख नही मिलता। प्रतीयमान अर्थ को ध्वनि कहने से इन सबके लिए भी ध्वनि शब्द की कल्पना अस्वाभाविक नही कही जा सकती।

अभिधा या अर्थसमर्पकता नहीं थी। उनने अर्थसमर्पकता या अभिधा का अस्तित्व उस शब्द में माना गया था जिसे उन्होंने स्फोट नाम दिया था। अर्थ यह कि शाब्दिकों का व्यंजक शब्द केवल भौतिक उपादान था, एक स्थूल माध्यम था, अत्यन्त बाह्य और प्राकृतिक वस्तु था। वह तो एक ढेला था जिसे स्फोट के स्वच्छ जल को तरंगित करने हेतु काम में लाया जाता था। उसके स्वरूपमात्र की वहाँ आवश्यकता थी प्रकाश के समान। उसके स्वरूप में किसी अन्य शक्ति की कोई कल्पना नहीं थी। इस प्रकार शाब्दिकों के ध्वनि नामक शब्द का व्यंजकत्व भौतिक व्यंजकत्व था जिसे सर्वतोभावेन लौकिक व्यंजना कहा जा सकता है, ऐसी व्यंजना जिसका प्रत्येक अणु, प्रत्येक घटकांश भौतिक था, नितान्त भौतिक। इसके विपरीत आनन्दवर्धन का शब्द वह शब्द था जिसे वैयाकरणों ने स्फोट कहा था। यानी आनन्दवर्धन की व्यंजना उस शब्द में रहती है जो उक्त स्थूल शब्द से प्रकाशित होता है, जिसमें अर्थसमर्पकता रहती है, जिसमें अभिधा-व्यापार का अस्तित्व है। अभिप्राय यह कि व्याकरणशास्त्री की व्यञ्जकता अभिधा के पहले का व्यापार है और आनन्दवर्धन की व्यञ्जकता अभिधोत्तरवर्ती व्यापार। निम्नलिखित तालिका से यह अन्तर अधिक स्पष्ट हो सकेगा

	व्यञ्जक	व्यङ्ग्य
व्याकरणशास्त्री	अभिधारहित, अनित्य ध्वनिरूप, वैखरी वाक्	स्फोटनामक नित्य और प्रमुख मध्यमा वाक्
ध्वनिवादी	अभिधायुक्त, स्फोटनामक नित्य, प्रमुख मध्यमावाक्	अर्थान्तर

[स्पष्ट ही व्याकरणशास्त्री का जो व्यङ्ग्य है वह ध्वनिवादी का प्रथम शब्दात्मक व्यंजक है]

अर्थ में व्यङ्ग्यता की कल्पना शब्दशास्त्री को स्पर्श तक नहीं करती, उसके यहाँ वह केवल अभिधायक या वाचक शब्द तक ही सीमित है। यानी शाब्दिक के यहाँ व्यंजक और व्यङ्ग्य दोनों शब्द ही हैं, अर्थ नहीं। आनन्दवर्धन के यहाँ शब्द के व्यङ्ग्य होने की कोई बात ही नहीं है। उनके यहाँ व्यङ्ग्य केवल अर्थ ही होता है, वह भी वाच्य या प्रथम अर्थ नहीं, अपितु वह अर्थ जो इस प्रथम अर्थ को भूमिका बनाकर आत्मलाभ करता या प्रकट होता है, अर्थात् प्रतीयमान अर्थ। कितना बड़ा अन्तर है शाब्दिकों की व्यञ्जकता और आनन्दवर्धन की व्यञ्जना के बीच ?

आगे आने वाले विचारमन्थन के पूर्व यह अतीव आवश्यक है कि पाठक इस अन्तर को अपने चित्त में भलीभाँति जमा लें।

व्यञ्जनाविचार :

अभी दिए विवरण से स्पष्ट है कि आनन्दवर्धन ने व्यञ्जकता को जिस विन्दु से आरम्भ माना था वह वही विन्दु था जिसमें व्याकरणदर्शन ने अभिधा-नामक प्रथम शब्दशक्ति स्वीकार की थी। आनन्दवर्धन की यह अभिस्वीकृति उनकी विचार-स्वैरता थी। इसमे वे इतने आगे बढ़े कि उन्होंने स्फोट को भी कोई स्पष्ट मान्यता नहीं दी। अभिधा का उद्गमस्थान स्फोट ही था व्याकरणदर्शन में। निश्चित ही आनन्दवर्धन ने अपनी व्यञ्जकता या व्यञ्जना का आरम्भ स्फोट से ही माना, उस शब्द से नहीं जिसमें व्याकरणदर्शन ने व्यञ्जकता मानी थी अर्थात् अनित्य शब्द में।

इस स्वैरता का परिणाम यह हुआ कि व्याकरणसहित मीमांसा और तर्कशास्त्र ने विरोधी स्वर उठाया, जिनका उत्तर आनन्दवर्धन को देना पड़ा। आपत्ति और समाधान में प्रकट इस विचार को हम व्यञ्जनाविचार कहे और ध्वन्यालोक मे इस पर प्राप्त प्रश्नों और उत्तरों का अध्ययन करें[1]।

[क] **वाचकत्व और व्यञ्जकत्व :**

प्रश्न : यदि व्यञ्जकत्व और वाचकत्व दोनों का आश्रय एक ही शब्द है तो इन्हे अभिन्न और एक ही क्यों न मान लिया जाए। साथ ही इन दोनों से प्रतीत होने वाले अर्थों को भी क्यों न एक और अभिन्न ही स्वीकार किया जाए।

प्रश्न का आशय यह है कि व्यञ्जकत्व को वाचकत्वस्वरूप ही मान लिया जाना चाहिए तथा व्यङ्ग्य को भी वाच्यार्थस्वरूप। इनमें भेद मानने की आवश्यकता नही।

उत्तर :

[१] आनन्दवर्धन ने इसका उत्तर दिया और लिखा—माना कि व्यञ्जकत्व उसी शब्द मे रहता है जिसमें वाचकत्व और इसलिए दोनों का आश्रय एक ही है, किन्तु इन दोनों को एक और अभिन्न नही माना जा सकता, कारण कि व्यञ्जकत्व केवल शब्द में ही नही रहता, वह अर्थ में भी रहता है। इस प्रकार शब्द को लेकर यदि व्यञ्जकत्व और वाचकत्व के आश्रय में अभिन्नता है तो अर्थ को लेकर भिन्नता भी है। एक अंश को लेकर यदि अभिन्नता मानी जाए तो दूसरे

---

१. ध्वन्यालोक में ये तर्क और इनके उत्तर ३।३३ वृत्ति में आए हैं।

को लेकर भिन्नता भी मानी जाएगी, और जब द्वितीय अंश में भिन्नता माननी ही पड़ती है तब प्रथम अंश में भी उन्हें भिन्न ही क्यों न माना जाए। इस प्रकार आश्रय के अभेद का तर्क एकाङ्गी और आंशिक तर्क है। उससे व्यञ्जकत्व को वाचकत्व में अन्तर्भूत नहीं किया जा सकता।

[२] केवल आश्रयगत भेद ही व्यञ्जकत्व को वाचकत्व से पृथक् सिद्ध नहीं करता, स्वरूपगत भेद भी उसमें कारण है। वाचकत्व ऐसी शक्ति है जो कोश या व्याकरण से सिद्ध निश्चित अर्थ को ही बतला पाती है, अतः यह केवल अभिधानशक्ति है। ऐसी अभिधानशक्ति जो शब्द के स्वरूप पर निर्भर न होकर उसके साथ अर्थ के कोश आदि से सिद्ध सम्बन्ध पर निर्भर हुआ करती है। व्यञ्जकत्व की स्थिति इससे भिन्न है। वह शब्द के स्वरूप मात्र तक ही सीमित रहती है। इसका प्रमाण है 'गीत'। 'गीत' नादात्मक होता है। उसमें अर्थ बोध का कोई स्थान नहीं रहता, अतः कोष और व्याकरण की उसे आवश्यकता नहीं रहती। इसमें जो शक्ति रहती है वह शुद्ध व्यञ्जकता ही होती है। इस प्रकार अभिधा संकेतात्मक है, व्यञ्जकत्व नहीं। और इसलिए दोनों का स्वरूप अवश्य ही भिन्न है।

गीत भी शब्दात्मक ही है, क्योंकि वह नादात्मक है और नाद शब्द ही है। व्यञ्जकत्व ऐसे भी स्थलों में रहता है जो एकदम शब्दात्मक होते ही नहीं। इसका प्रमाण है 'चेष्टा'। हाथ पैर की जो मुद्राएँ नृत्य और नाट्य में सामने आती हैं वे चेष्टाएँ ही हैं। आङ्गिक क्रियाएँ ही हैं वे। इस प्रकार वे आङ्गिक अभिनय ही हैं, शब्द नहीं। इन्हें अर्थ भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अर्थ का आशय है वह अर्थ जो शब्द के माध्यम से विदित हुआ हो। अर्थात् वाच्य या लक्ष्य अर्थ। अभिनय शब्दप्रमाण से प्राप्त न होकर प्रत्यक्षप्रमाण से प्राप्त होने वाला अर्थ है।

[३] वाचकत्व से, इसलिए भी व्यञ्जकत्व भिन्न है कि इनके सम्बन्ध में भेद है। जिस शब्द में वाचकत्व रहता है उसमें यदि व्यञ्जकत्व भी रहता हो तो वहाँ ध्यान देने से विदित होगा कि व्यञ्जकत्व वाचकत्व को आश्रय बनाकर चलता है। पूर्वोद्धृत 'धार्मिक घूमो'

स्थल इसका उत्तम उदाहरण है। यहाँ वाक्य में जो निषेधरूपी अर्थ को अर्पित करने की शक्ति है वह उसी वाक्य के पदों से अवगत होने वाले अर्थों पर निर्भर है। ये अर्थ अभिधा या वाचकत्व से ही प्राप्त होते हैं, अतः स्पष्ट ही निषेध की व्यञ्जना विधान की अभिधा पर आश्रित है। आश्रय और आश्रयी को अभिन्न कैसे कहा जा सकता है ? अभिन्नता का मूल है तादात्म्य सम्बन्ध, न कि आश्रयाश्रयिभाव सम्बन्ध। वाचकत्व का तादात्म्य अपने स्वयं के साथ है, व्यञ्जकत्व के साथ नहीं। व्यञ्जकत्व वाचकत्व पर आश्रित है, अतः उसका वाचकत्व के साथ आश्रयाश्रयिभाव है। फलतः दोनों भिन्न हैं।

[४] सम्बन्धभेद की उक्त युक्ति से एक युक्ति और प्राप्त हो जाती है, जिससे वाचकत्व और व्यञ्जकत्व की अभिन्नता निर्मूल सिद्ध होती है। यह है प्रतीतिकाल का अन्तर। वाचकत्व जिस क्षण प्रतीत होता है अवश्य ही उससे भिन्न होता है व्यञ्जकत्व की प्रतीति का क्षण। वाचकत्व, गणेश[1] के समान आरम्भ में ही प्रतीत हो जाता है, जब कि व्यञ्जकत्व नन्दी के समान बाद में।

[५] व्यञ्जकत्व का वाचकत्व से अभेद इसलिए भी नहीं माना जा सकता कि इन दोनों के विषय भी भिन्न होते हैं। वाचकत्व का विषय होता है उसका अपना अर्थ जैसे राम शब्द के वाचकत्व का विषय है केवल राम। व्यञ्जकत्व का विषय ऐसा नहीं होता। वह कोई भी हो सकता है। प्रकरण आदि पर निर्भर है व्यञ्जकत्व के विषय का निर्धारण। प्रकरण जैसा होगा वैसा ही होगा व्यञ्जकत्व का विषय। यद्यपि यह व्यञ्जकत्व जिस शब्द में रहेगा उसके वाचकत्व का विषय एक ही रहेगा। उसमें प्रकरणभेद से भेद नहीं होगा। 'सूर्यास्त होने को आया'[2]—वाक्य आश्रमवासी तपस्वियों के प्रकरण में धार्मिक अनुष्ठान के समय की व्यञ्जना कराएगा और अभिसार के प्रकरण में उसके लिए तैयारी की। इसी प्रकार भिन्न भिन्न

---

१. गणेश और नन्दी की योजना हमारी योजना है, आनन्दवर्धन की नहीं।

२. यह उदाहरण मम्मट ने दिया है। आनन्दवर्धन ने नहीं। आनन्दवर्धन का उदाहरण है 'कस्स व ण०'।

सन्दर्भों में इस वाक्य की व्यञ्जकता भिन्न भिन्न लक्ष्यों का संकेत देगी। किन्तु वाचकता उन सब सन्दर्भों में केवल एक ही अर्थ देती रहेगी 'सूर्य का डूबना'। इस प्रकार अवश्य ही व्यञ्जकता का विषय वाचकता के विषय से भिन्न है।

इसी तथ्य को इस प्रकार भी समझा जा सकता है कि वाचकता का सम्बन्ध प्रथम अर्थ से रहता है जबकि व्यञ्जकता का प्रथम अर्थ से सम्बद्ध तद्भिन्न किसी अन्य अर्थ से। अभिप्राय यह कि वाचकता का विषय होता है केवल वाच्य अर्थ, जबकि व्यञ्जकता का विषय होता है इस वाच्य अर्थ से सम्बद्ध अर्थ। ऊपर दिए 'सूर्यास्त' के उदाहरण से यह तथ्य स्पष्ट है।

[६] वाचकत्व और व्यञ्जकत्व की भिन्नता इससे भी सिद्ध होती है कि वाचकत्व शब्द में निश्चित रूप से रहता ही है। रामशब्द के कहते ही उसकी वाचकता उद्बुद्ध होती और अपना अर्थ बतलाती ही है। व्यञ्जकता की स्थिति इससे भिन्न है। शब्द में वह सदा रहे ही ऐसा नहीं है। वह कभी रहती है और कभी नहीं। 'राम'-शब्द का उच्चारण जब अभिधानकोश के पाठक करते हैं तो उनसे एक ही अर्थ विदित होता है, केवल राम। किन्तु उत्तररामचरित में इसी शब्द को जब पाठक स्वयं राम के मुख से सुनता है, वह सुनता है कि शम्बूक को मारने के लिए उद्यत, सीतापरित्याग से व्यथित राम स्वयं कह रहे हैं—

"अरे[1] मेरे दाहिने हाथ, क्यों नहीं उठाता तू शूद्रमुनि पर कृपाण, अरे तू तो राम का हाथ है, सीता को जंगल में तृणवत् फिकवा देने वाले राम का। तुझे भी दया आती है?"

तो उसे इस 'राम' शब्द से कोई दूसरा अर्थ भी विदित होता है—निर्दयतारूपी। किन्तु क्या यह अर्थ 'राम'-शब्द के साथ सदा ही रहता है। उसके साथ सदा रहने वाला अर्थ केवल एक ही है—वाच्य अर्थ, जो उसकी वाचकता नामक प्रथम शक्ति से विदित होता है। निर्दयता आदि अर्थ अनियत और सामयिक अर्थ हैं। ये

---

१ यह उदाहरण आनन्दवर्धन ने नहीं दिया है। उनका उदाहरण है पूर्वोपस्थित 'रामोऽस्मि सर्वं सहे'।

अर्थ रामशब्द के साथ सदा नही रहते । यदि वाचकत्व और व्यञ्जकत्व में भेद न होता तो दोनों अर्थ समान रूप से विदित होते । तब उक्त रामशब्द से निर्दयत्वरूपी अर्थ भी सदा ही विदित होता रहता, अथवा निर्दयतारूपी इसी अर्थ के समान प्रथम अर्थ भी यदा कदा ही विदित होता । किन्तु[1] स्थिति स्पष्ट रूप से भिन्न है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार 'अनुमापक' हेतु की हुआ करती है । धूम आदि अनुमापक सदा ही अग्नि आदि का अनुमान कराते ही रहते हों ऐसी बात नहीं है । अपनी अँगीठी से उठ रहे धूम से क्या कोई अग्नि का अनुमान कराता है ? पर्वत शृङ्ग पर भी धुँआ क्या अग्नि का अनुमान करा पाता है, यदि द्रष्टा की इच्छा न हो । निश्चित ही अग्नि में जो अनुमापकता है वह एक अनियत धर्म है । ठीक ऐसा ही है व्यञ्जकत्व भी । उसमें भी अनियतता रहती है । एक ही चन्द्र[2] कान्ता से अवियुक्त और वियुक्त के लिए भिन्न अनुभूति का उत्पादक होता है । व्यञ्जकत्वशक्ति से व्यङ्ग्य अर्थ भी इस प्रकार भिन्न भिन्न सन्दर्भो में भिन्न अर्थ देने वाला हुआ करता है । यह भी एक कारण है अर्थ के साथ व्यञ्जकत्व की अनियतता का ।

मीमांसाशास्त्री के लिए यह व्यञ्जकता अतीव लाभप्रद है । वह अपौरुषेय वेदवाक्यों को पौरुषेय वाक्यों से एकमात्र इसी व्यञ्जकत्व की अनियतता के आधार पर भिन्न कर सकता है । अपौरुषेय वाक्यों का वक्ता कोई नही है, अतः उनमें वक्ता का कोई अभिप्राय नही माना जाता । पौरुषेय वाक्य में वक्ता का अभिप्राय अनिवार्यरूप से रहता है और वह अभिप्राय एकमात्र व्यङ्ग्य ही रहता है, फलतः अनियतता और अनेकत्व भी लिए रहता है और इसीलिए वह अप्रामाणिक भी होता[3] है । इन शिथिलताओं का अभाव ही वह

1. इस दृष्टान्त की व्याख्या अभिनवगुप्त ने यह कहते हुए की है कि—'कभी-कभी धूम अग्नि का अनुमान नही भी कराता, साथ ही कभी-कभी वह किसी अन्य वस्तु का भी अनुमान करा देता है ।' ध्व० लोचन पृ० ४३७.
2. ध्वन्यालोक पृ० ४४०
3. ध्वन्यालोक पृ० ४३६ से ४४२

कारण हैं जिनसे वैदिक वाक्य प्रामाणिक माने जाते हैं। इस प्रकार वाचकत्व व्यञ्जकत्व से अपनी अनियतता के कारण भी भिन्न है।

[ख] तात्पर्य

प्रश्न व्यञ्जकत्व को वाचकत्व से पृथक् करने हेतु जो जो तर्क यहाँ दिए गए हैं इनमें मुख्य है वाचकत्व की नियतता का। परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि *वाचकत्व को कोश आदि से निर्धारित अर्थ तक* ही नियत और सीमित माना जाए। उसे उस अन्तिम अर्थ तक व्यापक भी माना जा सकता है जिसको उद्देश्य बनाकर वक्ता द्वारा वाक्य का प्रयोग किया जाता है।[1] ऐसी स्थिति में प्रतीयमान अर्थ भी इसी वाचकत्व द्वारा जाना जा सकता है, फलतः उसके लिए व्यञ्जकत्वनामक पृथक् व्यापार की कल्पना अनावश्यक है। अभिप्राय यह कि व्यङ्ग्य अर्थ को तात्पर्यार्थस्वरूप मान लिया जाए।

उत्तर आनन्दवर्धन इसका उत्तर दो तर्कों द्वारा देते हैं। एक तो यह कि व्यञ्जकत्व से प्राप्त अर्थ कभी प्रधान नहीं[2] भी होता जैसे गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य में, जबकि तात्पर्य सदा प्रधान ही रहता है। ऐसी स्थिति में तात्पर्य में व्यङ्ग्य अर्थ का अन्तर्भूत करने की अपेक्षा तात्पर्य को ही व्यङ्ग्य अर्थ में अन्तर्भूत करना अधिक वैज्ञानिक है, क्योंकि व्यापक में ही एकदेशीय वस्तु का अन्तर्भाव सम्भव है। दूसरा 'अभिनय' और 'चेष्टा' की व्यञ्जकता का पूर्वोक्त दृष्टान्त उपस्थित कर। जब हम शब्दसीमा के बाहर के इन तत्त्वों में भी व्यञ्जकता स्वीकार कर लेते हैं, तब शब्दसीमा के भीतर उसे अस्वीकार करने का हठ शोभा नहीं देता। फिर शब्द में व्यञ्जकता को स्वीकार न करने पर उससे होने वाले अप्रसिद्ध और अतिरिक्त अर्थ के ज्ञान के लिए यदि कोई नई कल्पना न करनी पड़ती तो यह भी स्वीकार किया जा सकता था कि एकमात्र वाचकत्व ही सभी अर्थों का ज्ञान कराने हेतु पर्याप्त है। किन्तु स्थिति भिन्न है। वाचकत्व के अप्रसिद्ध अर्थ तक पहुँचने की कल्पना एक नवीन कल्पना है। यदि वाचकत्व प्रथम या प्रसिद्ध अर्थ का ज्ञान कराने हेतु निश्चित सम्बन्ध की अपेक्षा रखता है और उसके लिए

१–२ ध्वन्यालोक पृष्ठ ४४३

> कोश, व्यवहार या व्याकरण आदि की ओर देखता है तो ऐसे किसी पूर्व सिद्ध सम्बन्ध के विना द्वितीय या अप्रसिद्ध अर्थ का ज्ञान वह कैसे करा सकेगा। प्रकरण आदि को उसके लिए सहायक माना जा सकता है, परन्तु प्रकरण आदि पूर्वसिद्ध सम्बन्ध नहीं कहे जा सकते। वे तो तात्कालिक और आगामापायी स्थितियाँ हैं। उनसे अर्थबोध की कोई निश्चित दिशा उपलब्ध नहीं होती। निश्चित अर्थ देने वाला वाचकत्व अनिश्चित अर्थ तक सक्रिय कैसे माना जा सकता है। यदि माना जाता है तो, उसे एक नवीन कल्पना कहना होगा। इस प्रकार वाचकत्व अप्रसिद्ध अर्थ का बोध कराने के लिए नवीन वस्तु की आवश्यकता रखता है। आप उसे वाचकत्व का परिवेष मानते हैं और हम उसे सर्वथा स्वतन्त्र। हम ऐसा इसलिए मानते हैं कि चेष्टा आदि में यह स्वतन्त्र रूप से आपको भी स्वीकार है।

इस प्रकार आनन्दवर्धन का पक्ष प्रबल सिद्ध होता है[1]।

[ग] वाच्य और व्यङ्ग्य में क्रम :

वाचकत्व और व्यञ्जकत्व के अन्तर को लेकर ऊपर जो विवेचन हुआ उसमें आनन्दवर्धन का जो पक्ष है उसका समर्थन वाच्य और प्रतीयमान अर्थ की स्थिति से भी होता है। इन दोनों की स्थिति ऐसी है जिससे सिद्ध होता है कि ये दोनों भिन्न हैं।

प्रतीयमान अर्थ की मुख्य विधाएँ तीन हैं—वस्तु, अलङ्कार और रस। इन तीनों मे प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति वाच्य अर्थ की प्रतीति के वाद होती है, अतः तीनों ही विधाओं में वाच्य तथा प्रतीयमान की प्रतीति में क्रम रहता है। इस क्रम का ज्ञान वस्तु और अलङ्कार नामक प्रथम दो विधाओं मे तो बहुत ही स्पष्ट रहता है। ध्वनिप्रकरण में दिए गए उदाहरणों से यह तथ्य बहुत ही स्पष्ट है।

वस्तु में :

उसी प्रकरण मे 'बाघम्बर के ग्राहक व्यापारी से कहे गए वृद्ध व्याध' के[2]

---

१. यद्यपि महिमभट्ट इसके आगे भी तर्क करते और आनन्दवर्धन के पक्ष को पुनः शिथिल सिद्ध कर देते हैं।

२. वाणिजक हत्थिदन्ताः कुत्तो अह्माणं वग्घकित्तीए।

(गाथा—पदप्रकाश्य वस्तुध्वनि)

वाक्य में आए 'लुलितालकमुखी' पद से जो प्रथम अर्थ निकलता है, द्वितीय अर्थ अवश्य ही उसके बाद निकलता प्रतीत होता है, तृतीय और चतुर्थ अर्थों की प्रतीति में तो क्रम का भान बहुत ही स्पष्ट है। इसी प्रकार कवि के इस वचन में कि "व्याध[1] की 'मयूरपिच्छविभूषित' वधू मौक्तिकालङ्कृत सपत्नियों के बीच गर्व के साथ घूमती है—" जो 'मयूरपिच्छविभूषित' और 'मौक्तिकालङ्कृत' पद हैं इनसे निकलने वाले प्रथम अर्थों की प्रतीति अवश्य ही बहुत पहले हो जाती है उन अर्थों की अपेक्षा जो बाद में प्रतीत होते हैं। व्याधयुवक की मनःस्थिति और तदाश्रित शरीरस्थिति का जो अन्तर इन सूक्तियों से झलकता है वह अवश्य ही प्रथम अर्थ के बाद कुछ समय लेकर झलकता है। ये हुई वस्तुव्यञ्जनाएँ।

अलङ्कार में :

अलङ्कार की प्रतीयमानता के लिए दिए गए उदाहरणों में भी यह क्रम स्पष्ट है। जब कोई असमर्थ उदार स्वयं को 'जड कूप'[2] के रूप में देखने की इच्छा करता है तो जडशब्द से शीतलतारूपी अर्थ भी निकलता है, किन्तु वह अचेतनरूपी अर्थ के बाद। कूप और उस वक्ता की तुलना तथा उसमें कूप की उत्कृष्टता की प्रतीति उसके भी बाद होती है। यही स्थिति है 'सूर्य की गौएँ[3] आपको अपरिमित आनन्द दें'—उक्ति में। यहाँ पहले 'गौ'-शब्द का अर्थ किरण होता है, फिर धेनु, तब किरणों के साथ लगे विशेषणों का धेनु से भी सबन्ध प्रतीत होता है। इन प्रतीतियों में क्रम है ही। अन्त में जब तक किरणों और 'गौओं' का परस्पर में साम्य प्रतीत होता है तब तक काफी देरी हो जाती है, और इस साम्य की प्रतीति और किरणरूपी अर्थ की प्रतीति में क्रम का ज्ञान बहुत ही स्पष्टता के साथ सामने आ जाता है।

इस प्रकार वस्तु और अलङ्कार, दोनों की प्रतीति में क्रम रहता है।

यही क्रम वहाँ भी प्रतीत होता है जहाँ वाच्यार्थ गुणवृत्ति द्वारा बदलकर सामने आता है, अतः जिसे हम 'अविवक्षितवाच्यता' का रूप मानते हैं। श्रीराम

---

१ सिहिपिच्छलुम्पकाऊरा वहुआ वाहस्स गव्विरी भमई।

(गाथा—वाक्यप्रकाश्य वस्तुध्वनि)

२ प्राप्तु धनैरर्थिजनस्य वाञ्छा दैवेन॰' इत्यादि पद्यार्थ।

(पदप्रकाश्य अलङ्कारध्वनि)

३ पूर्वोक्त 'गावो व पावनाना॰' पद्यार्थ = वाक्यप्रकाश्य अलङ्कारध्वनि

की इस उक्ति में कि 'मैं तो ठहरा राम[1], मैं सब सह लूँगा' जो 'राम' शब्द है इसका पहला अर्थ तो दशरथपुत्र राम ही है, किन्तु दूसरा अर्थ है 'क्रूरकर्मा कठोर राम।' यह जो दूसरा अर्थ है यह कुछ क्षणों के बाद प्रतीत होता है, क्योंकि इसके लिए प्रकरण और पूर्व घटनाओं की आवश्यकता रहती है। द्वितीय अर्थ इसके बाद प्रतीत होता है। इस प्रकार इस अर्थ की प्रतीति मे कुछ समय लग जाता है और यह बाद मे होती है, फलतः प्रथम अर्थ और इस अर्थ की प्रतीतियों में क्रम रहता ही है। इसी प्रकार जब 'दर्पण को अन्धा'[2] कहा जाता है तब अन्ध-शब्द से भी दो अर्थ निकलते हैं और इन दोनों अर्थो की प्रतीति क्रम से होती है। इस प्रकार—

यह स्पष्ट है कि जहाँ वस्तु तथा अलंकार की प्रतीति प्रतीयमान अर्थ के रूप में होती है वहाँ वाच्य की प्रतीति पहले हो जाया करती है, और इतने पहले हो जाया करती है कि प्रतीयमान की प्रतीति होते समय यह भी प्रतीत होता रहता है कि वह बाद मे हो रही है।

रस में :

जहाँ तक रस, भाव, दोनों के आभास, भावशान्ति, [भावशबलता, भावोदय या भावसन्धि] का सम्बन्ध है इनकी स्थिति कुछ भिन्न है। इनके स्थलों मे वाच्य अर्थ की प्रतीति के बाद ऐसा प्रतीत नहीं होता कि ये सब बाद में प्रतीत हो रहे है। ऐसा ही कुछ लगता है कि इनकी प्रतीति वाच्य की प्रतीति के साथ ही हो रही है। किन्तु वास्तविकता यह है कि रस आदि की प्रतीति भी वाच्य की प्रतीति के बाद ही होती है और उसमें क्रम भी रहता है। वस्तु और अलंकार से इसका अन्तर केवल इतने अंश में है कि उनमें क्रम की भी प्रतीति होती है, इसमें नहीं। दुष्यन्त जब कहता है—'मैंने शकुन्तला का मुख किसी प्रकार ऊँचा तो कर लिया परन्तु उसे चूम नहीं पाया'[3] तो उसके अनुशयदिग्ध प्रेम की प्रतीति मे कितना समय लगता है? किन्तु, क्या प्रेम का जो यहाँ रस है वह पदबोध, पदार्थबोध, वाक्यार्थबोध, परिस्थितिबोध और ऐसे ही अन्य बोधों की सीढियाँ चढ़े बिना प्राप्य है? कदापि नहीं। इतना ही है कि ये सब सीढ़ियाँ हम

---

१. पूर्वोक्त 'रामोऽस्मि सर्वं सहे'—पदप्रकाश्य अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य ध्वनि
२. पूर्वोक्त 'निश्वासान्ध इवादर्शः-पद्यार्थ'—पदप्रकाश्य अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य-ध्वनि।
३. निपातप्रकाश्य रसध्वनि का पूर्वोक्त उदाहरण = मुहुरङ्गुलि' पद्य।

कब चढ जाते है यह हमे प्रतीत नही होता। अभिप्राय यह कि इनकी प्रतीतियो मे क्रम रहता है, किन्तु भासित नही होता।

इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि प्रतीयमान अर्थ की प्रत्येक कली वाच्य अर्थ के वृन्त [डठल] पर खिलती है। अथवा यह कहना चाहिए कि प्रतीयमान अर्थ का सौरभ वाच्य अर्थ की पुष्पित कलिका के गर्भ से बिखरता है, किन्तु यह प्रतीत नही होता कि कलिका पहले खिली और सौरभ बाद में बिखरा।[1] किन्तु यह है निश्चित, कि कली पहले खिलती है और सौरभ बाद मे बिखरता है। निष्कर्ष यह है कि भले ही प्रतीति न हो परन्तु क्रम रहता अवश्य है, प्रत्येक ध्वनि में, प्रत्येक विधा में प्रतीयमान की।[2]

इस क्रम से यह सिद्ध है कि वाच्य तथा प्रतीयमान, यानी अभिधेय तथा अनभिधेय अर्थ एक दूसरे से भिन्न है।[3] उन्हे कथमपि एक नही कहा जा सकता, क्योकि ये दोनो अर्थ भिन्न है इसलिए इनका ज्ञान कराने वाले व्यापारों [वाच्यकत्व तथा व्यञ्जकत्व] को भी एक नही कहा जा सकता।

प्रश्न वस्तु और अलङ्कार की प्रतीति में क्रम का भान होता है अत उनमें क्रम माना जा सकता है, रस की प्रतीति मे उसे मानने की आवश्यकता नही, क्योकि उसमें उसका भान नही होता। रस-प्रतीति के स्थल में रसप्रतीति को उसी प्रकार वाच्यनिरपेक्ष और स्वतन्त्र रूप से निष्पन्न मान लेना उचित है जिस प्रकार गीत में माना जाता है। गीत में वाच्य अर्थ नही रहता, किन्तु रस रहता है। गीत के उदाहरण पर जब व्यञ्जकत्व को वाचकत्वनिरपेक्षरूप से स्वतन्त्र भी स्वीकार किया जा रहा है तब व्यङ्ग्य को भी उसी रूप में स्वीकार करना उचित है। निदान काव्यवाक्य से एक साथ दो स्वतन्त्र अर्थो का ज्ञान मान लेना चाहिए, एक वाच्य अर्थ और दूसरा रस आदि अर्थ।

उत्तर प्रतीयमान अर्थ की वाच्यनिरपेक्षता के इस तर्क से व्यञ्जकत्व-नामक व्यापार का अभाव तो सिद्ध नही होता, क्योकि गीत के समान उसके लिए व्यञ्जकत्व मानना ही होगा, इसलिए यह तर्क एक प्रकार से साधक तर्क ही है, बाधक नही। इतने पर भी इस

---

१ कलिका का दृष्टान्त हमारी योजना है।

२-३ ध्वन्यालोक पृष्ठ ४१२

> तर्क पर विचार करने से प्रतीत होता है कि यह अनुभवविरुद्ध है। रसरूपी अर्थ वाच्यरूपी अर्थ से असम्बद्ध नही ही रहता। रस की प्रतीति विभाव, अनुभाव आदि पर निर्भर है और इनकी प्रतीति वाच्य रूप में ही होती है। फलतः रस को वाच्यनिरपेक्ष तो माना जा सकता ही नहीं, उसे एक प्रकार से उतना अधिक वाच्यसापेक्ष माना जाएगा जितना कि कार्य माना जाता है कारणसापेक्ष। वाच्य कारण है और प्रतीयमान कार्य।

यहाँ इतना और समझे रहना चाहिए कि वाच्य और प्रतीयमान के बीच हम जिस कार्यकारणभाव का अनुभव करते हैं, यह कार्यकारणभाव घट और प्रदीप के बीच परस्पर मे रहने वाला कार्यकारणभाव है। प्रदीप कारण है और घट कार्य। यह कार्यकारणभाव केवल व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव है। व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभाव दो कारणों से, एक तो इस कारण कि प्रदीप घट को पैदा नही करता, उसका केवल ज्ञान कराता है, और दूसरे इस कारण कि घट का ज्ञान जब तक होता है तब तक प्रदीप का ज्ञान भी होता रहता[1] है। व्यञ्जक का लक्षण ही यह है कि वह व्यङ्ग्य का ज्ञान कराते समय स्वयं का ज्ञान भी कराता रहता है। वाच्य अर्थ और रस में यही स्थिति रहती है। वाच्य का ज्ञान रस के ज्ञान के समय हट नही जाता। वह उस समय बना ही रहता है, क्योंकि वाच्य अपने आपमें कुछ नहीं होता, विभाव आदि को छोड़कर।

जहाँ तक घट और उसके उपादान[2] कारण की समानता का सम्बन्ध है यह समानता वाच्य और पदार्थ के बीच रहती है। वाच्य का अर्थ, जैसा कि पहले कहा गया है इस सन्दर्भ में वाक्यार्थ है। पदार्थ और वाक्यार्थ के बीच ठीक वैसा ही सम्बन्ध रहता है जैसा मिट्टी और घट या सूत और पट के बीच। घट या पट का निर्माण हो जाने के बाद मिट्टी या सूत का भान नही होता। दोनों में सात्म्य रहता है। पदार्थ और वाक्यार्थ के सम्बन्ध की भी यही स्थिति है। जब वाक्यार्थ की प्रतीति होती है तब पदार्थ की प्रतीति घटजल में बिन्दुजल के समान विलीन रहती है। इसलिए कुछ चिन्तकों ने पदार्थ-प्रतीति को असत्य[3] और मिथ्यात्मक भी कहा है। दही[4] के रूप में परिणत हो जाने पर क्या दूध की प्रतीति होती है?

१-३. ध्वन्यालोक पृ० ४२०–२२

४. दूध-दही का दृष्टान्त हमारी योजना है। ध्वन्यालोककार ने एतदर्थ घट और मिट्टी का दृष्टान्त दिया है। दूधदही की बात व्यक्तिविवेककार ने भी उठाई है।

पदार्थ दूध है और वाक्यार्थ दही। विभाव आदि रूप वाच्य और रस आदि रूप प्रतीयमान की स्थिति ऐसी नही है। विभाव आदि तब भी प्रतीत होते है जब रस की प्रतीत होती रहती है।

इस प्रकार यह तय हुआ कि प्रतीयमान अर्थ वाच्यनिरपेक्ष न होकर वाच्य-सापेक्ष ही हुआ करता है। सापेक्षता में भी वह वाच्य की उतनी ही अपेक्षा रखता है जितनी प्रकाश्य वस्तु प्रकाश की। उक्त तर्क से यह भी तय हुआ कि वाच्य और प्रतीयमान की प्रतीति में एक छोर से क्रम रहता है यद्यपि दूसरे छोर से नही, क्योंकि जब प्रकाश्यतुल्य प्रतीयमान की प्रतीति हो जाती है तब प्रकाशतुल्य वाच्य की प्रतीति भी होती ही रहती है। इस क्षण में दोनो प्रतीतियो में एककालिकता रहती है। किन्तु प्रथमत जब वाच्य की प्रतीति होती है तब प्रतीयमान की प्रतीति नही रहती, अत इस प्रथम छोर में प्रतीतिगत क्रम रहता है। परिणामत दोनो *अर्थों की प्रतीति को अन्योन्यनिरपेक्ष और बिना क्रम के एक साथ निष्पन्न नही* माना जा सकता। और इसीलिए यहां व्यञ्जकत्व को गीत के समान वाच्यनिरपेक्ष भी नही कहा जा सकता। सच यह है कि क्रम तो गीत से निष्पन्न रस की प्रतीति में भी रहता है। गीतप्रतीति पहले होती है, रसप्रतीति बाद में। इसीलिए जहां कहीं गीतक्रम टूटता है वहां रसप्रतीति नही रहती।[1]

प्रश्न वाच्य और प्रतीयमान की प्रतीति के बीच भले ही क्रम रहे और भले ही इन दोनो में ऐक्य या विभिन्नता सिद्ध न हो, किन्तु यह जो कहा जाता है कि 'रस आत्मा है और वाच्य अर्थ शरीर' यह एक अतिरञ्जित वक्तव्य है। रस को अधिक से अधिक गुण माना जा सकता है और वाच्य को गुणी, कारण कि, प्रतीति में वाच्य अर्थ रसमय भासित होता है।[2]

उत्तर रस को गुण और वाच्य अर्थ को गुणी मानने पर रस की प्रतीति विदग्ध और अविदग्ध दोनो को अनिवार्य रूप से होगी ही, जैसे गौर वस्तु के दिखाई देने पर उसका गौरता-रूपी गुण विदग्धता या अविदग्धता की अपेक्षा बिना रखे सभी को दिखाई देता है। रस की स्थिति ऐसी नहीं है। वह केवल विदग्ध व्यक्ति को ही भासित होता है।

---

१ ध्व० पृष्ठ ४०८

२ ध्व० पृष्ठ ४०२

प्रश्न : गुण भी दो प्रकार के होते हैं। एक प्रकार वे जो सबको प्रतीत होते है, यथा उपर्युक्त गौरता आदि। दूसरे प्रकार के गुण वे होते है जो सबको प्रतीत नहीं होकर, केवल गुणी लोगों को ही प्रतीत होते है, जैसे रत्न की उत्कृष्टता। कौन सा रत्न कितना उत्कृष्ट है यह सब नहीं समझ पाते। रस को हम इस दूसरे प्रकार के गुण के समान मान सकते।[1]

उत्तर : उत्कृष्टता रत्न के स्वरूप से भिन्न होकर प्रतीत नहीं होती, जबकि रस वाच्य से भिन्न होकर ही प्रतीत होता है। वाच्य, जैसा कि कहा जा चुका है, विभाव आदि रूप होता है और रस हुआ करता है उनको माध्यम बनाकर उनसे प्रतीत होने वाला एक पृथक् तत्त्व, क्योंकि रस केवल विभावादि रूप नही है। विभावादि कारण है, प्रकाशक है और रस कार्य या प्रकाश्य। इसीलिए रस गीत से भी उपलब्ध होता है। वहाँ विभाव अनुभाव की सामग्री नही रहती।

प्रश्न : यदि विभावादि की प्रतीति को रस की प्रतीति से भिन्न माना जाता है तो एक वाक्य से दो पृथक् अर्थो की प्रतीति मानी जाती है। इसका अर्थ यह है कि काव्य को अकाव्य बतलाया जा रहा है, क्योंकि एक वाक्य से दो भिन्न भिन्न अर्थों की प्रतीति वाक्य-भेद नामक दोष माना जाता है, कारण कि दोनों अर्थो के लिए एक ही वाक्य को दो बार पढ़ना पड़ता है। जहाँ दोष हो वहाँ कला-सौन्दर्य कैसे रहेगा और उसके अभाव में कोई भी वाक्य काव्य कैसे माना जा सकेगा[2]।

उत्तर : वाक्यभेद दोष वहाँ आया करता है जहाँ किसी वाक्य से निकल रहे अनेक अर्थो में परस्पर सम्बन्ध न हो। रस और विभावादि-रूप वाच्य अर्थ की प्रतीति में ऐसी स्थिति नहीं है। यहाँ दोनों में सम्बन्ध रहता है। वह सम्बन्ध भी ऐसा नहीं रहता जिसमें दोनों के दोनों प्रधान रहें, अपितु उसमें एक प्रधान रहता है और दूसरा अप्रधान। प्रधान रहता है रस और अप्रधान रहा करते है विभा-

---

१. ध्व० पृष्ठ ४०३-४.

२. ध्वन्यालोक पृ० ४२०-२२

वादि । ऐसी स्थिति में वाक्यभेददोष की कल्पना सभव ही नही है ।

उक्त विश्लेषण से यह सिद्ध होता है कि प्रतीयमान अर्थ वाच्य अर्थ से भिन्न होता है, अत उसकी प्रतीति के लिए किसी भिन्न व्यापार, भिन्न सम्बन्ध, भिन्न वृत्ति या भिन्न शक्ति की आवश्यकता है। वह शक्ति व्यञ्जकत्व कही जा सकती है और उसे शब्द तथा अर्थ दोनों में अवस्थित स्वीकार किया जा सकता है। इसलिए इसके केवल दो ही भेद हो सकते हैं शब्दगत व्यञ्जकत्व तथा अर्थगत व्यञ्जकत्व। जो व्यञ्जकत्व अर्थगत होता है, वह शब्द से भी सम्बन्धित रहता है, क्योंकि अर्थ की प्रतीति बिना शब्द के नही होती। इसलिए मुख्यत व्यञ्जकत्व एक अतिरिक्त शब्दव्यापार ही है।

इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि मीमासाशास्त्री के लिए भी अपौरुषेय वाक्यों को पौरुषेय वाक्यो से पृथक् सिद्ध करने के लिए व्यञ्जकत्व स्वीकार करना आवश्यक है। जहाँ तक शब्दशास्त्रियों का सम्बन्ध है उनको तो अपने स्फोट की प्रतीति के लिए व्यञ्जकत्व मान्य ही है[1]।

[घ] व्यञ्जकत्व और गुणवृत्ति -

जैसा कि पहले कहा जा चुका है उक्त दोनो शास्त्रो में वाचकत्व के अतिरिक्त एक अन्य शक्ति भी मानी गई है जिसे वे अमुख्य शक्ति कहते हैं। मीमासाशास्त्र में इसे गुणवृत्तिनाम से भी पुकारा जाता है। इन दोनो शास्त्रो की ओर से प्रश्न होता है कि

प्रश्न व्यञ्जकत्व को यदि वाचकत्व रूप नही माना जा सकता तो उसे गुणवृत्तिरूप ही मान लेने में क्या आपत्ति है। गुणवृत्ति भी एक अतिरिक्त वृत्ति है और इसमे भी वाच्यातिरिक्त अर्थ का ही बोध होता है। अर्थान्तरसक्रमित-वाच्य और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य नामक ध्वनिभेदों में तो ध्वनिवादी भी गुणवृत्ति को स्वीकार करता है। इसी गुणवृत्ति को सभी व्यङ्ग्य अर्थों तक सक्रिय मान लिया जाए और व्यञ्जकत्व नामक तृतीय व्यापार की कल्पना न की जाए।

उत्तर इसके उत्तर में आनन्दवर्धन ये दो दोष प्रस्तुत करते हैं

---

१ ध्व० पृ० ४४३-४५

[१] अव्याप्ति :

गुणवृत्ति और व्यञ्जकत्व को अभिन्न मानने पर बहुत से ध्वनि-भेद, जहाँ व्यङ्ग्य अर्थ रहता है, व्यङ्ग्यरहित माने जाने लगेंगे, क्योंकि वहाँ गुणवृत्ति नहीं रहती, फलतः व्यङ्ग्य की प्रतीति संभव नहीं होगी। उदाहरणार्थ रसध्वनि का स्थल, जिसे विवक्षितान्य-परवाच्यध्वनि का वर्ग कहा गया है। इस वर्ग में गुणवृत्ति नहीं होती। ऐसी स्थिति में यहाँ व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति संभव न होगी, फलतः अनुभवविरुद्ध स्थिति सामने आएगी[1]।

[२] अतिव्याप्ति :

दूसरा दोष यह होगा कि कुछ ऐसे स्थलों में भी व्यङ्ग्य अर्थ की कल्पना करनी पड़ जाएगी जहाँ वह होता ही नहीं है, किन्तु गुण-वृत्ति होती है। जैसे 'लावण्य'-शब्द। इस शब्द के विषय में बत-लाया जा चुका है कि इसमें 'रूढि'-नामक गुणवृत्ति रहती है। इसका अर्थ यह हुआ कि इस शब्द का प्रयोग सौन्दर्य अर्थ में इस-लिए होता है कि वह अनादि काल से होता चला आ रहा है। इससे किसी अतिरिक्त अर्थ का बोध अभीष्ट नहीं होता। सौन्दर्य अर्थ अमुख्य अर्थ है, अतः उसके बोध के लिए 'लावण्य'-शब्द में वाचकत्व न मानकर गुणवृत्ति का माना जाना आवश्यक है। यदि गुणवृत्ति को व्यङ्ग्य अर्थ का प्रत्यायक माना गया तो इन स्थलों में भी व्यङ्ग्य अर्थ की कल्पना करनी पड़ेगी और इन्हें ध्वनिस्थल स्वीकार करना पड़ेगा, क्योंकि गुणवृत्ति जिस अमुख्य अर्थात् अन्य अर्थ को व्यङ्ग्यरूप में बतलाएगी वह प्रधान ही होगा, जैसे 'गङ्गा जी पर घर' इस प्रयोग में गङ्गाशब्द की गुणवृत्ति जब गङ्गातट-रूपी अर्थ में होती है तब उससे घोष में प्रतीत होने वाली शीत-लता या पावनता सौन्दर्यबोध या चमत्कार की दृष्टि से प्रधान ही होगी, क्योंकि इनकी प्रतीति से होने वाला चमत्कार मात्रा में अधिक ही होगा। 'लावण्य' आदि प्रयोगों में भी ये दोनों कल्पनाएँ करनी पड़ेंगी और ये होंगी अनुभवविरुद्ध, क्योंकि इन प्रयोगों में कोई प्रयोजन नहीं रहता जिसे व्यङ्ग्य कहा जाए और जब प्रयो-

---

१. इसी दोष को शास्त्रीय भाषा में अव्याप्ति कहा जाता है।

जन ही नही रहता तब उनकी प्रधानता या अप्रधानता का प्रश्न ही नही उठता। स्पष्ट है कि कभी कभी व्यङ्ग्य अर्थ के साथ गुणवृत्ति का सम्बन्ध नही रहता, अत व्यङ्ग्य की प्रतीति के लिए व्यञ्जकत्व का अतिरिक्त वृत्ति के रूप में माना जाना आवश्यक है[1]।

कभी कभी गुणवृत्ति और व्यञ्जकत्व एक ही स्थल में आ जुटते है, फलत इनमें केवल उपलक्ष्य-उपलक्षक-भाव सम्बन्ध माना जा सकता है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार 'देवदत्त का घर वह है जिस पर कौवा बैठा है' इत्यादि प्रयोगो में कौवा और देवदत्त के घर के बीच रहता है। कौवा घर का कोई अङ्ग नही होता। उसका घर के साथ जो सम्बन्ध है वह क्षणिक और अस्थिर है। इतने से सम्बन्ध से जैसे काक और घर को अभिन्न नही माना जा सकता वैसे ही गुणवृत्ति और व्यञ्जकता को भी अभिन्न नही माना जा सकता[2]।

इसके अतिरिक्त गुणवृत्ति कुल मिलाकर एक ऐसा ही व्यापार है जैसा वाचकत्व हुआ करता है। लावण्यशब्द के प्रयोग से सौदर्य के अतिरिक्त किसी अर्थ का बोध नही होता। व्यञ्जकत्व भिन्न भिन्न सन्दर्भों में भिन्न भिन्न अर्थ प्रस्तुत करता है। व्यञ्जकत्व अप्रधान तो होता ही है, प्रधान भी हुआ करता है फलत इससे निकलने वाला अर्थ अप्रधान और प्रधान दोनो प्रकार का होता है। गुणवृत्ति से जिस अन्य अर्थ का बोध होता है वह एकमात्र प्रधान ही होता है। इसलिए भी इन दोनो व्यापारो मे एकता सभव नही है। इस प्रकार

[१] व्यञ्जकत्व के साथ व्यङ्ग्य अर्थ नियमत रहता ही है, जबकि गुणवृत्ति के साथ नही।

[२] व्यञ्जकत्व से प्रतीत अर्थ अप्रधान भी होता है और प्रधान भी, जबकि गुणवृत्ति से प्रतीत अर्थ प्रधान ही हुआ करता है अप्रधान नही।

[३] व्यञ्जकत्व से प्रतीत अर्थ जब प्रधान होता है तब इतना प्रधान होता है कि वह ध्वनित्व तक अर्थात् काव्यात्मता तक पहुँच जाता

---

१ शास्त्रीय भाषा में इस दोष को अतिव्याप्ति कहा जाता है। इन दोनो दोषो के लिए आनन्दवर्धन ने प्रथम उद्योत में लिखा था—
अतिव्याप्तेरथाव्याप्तेर्न चासौ लक्ष्यते तया। ध्व० १।१४॥

२ कस्यचिद् ध्वनिभेदस्य सा तु स्यादुपलक्षणम्॥ ध्व० १।१९॥

है, जबकि गुणवृत्ति से प्रतीत अर्थ, प्रधान होकर भी इतनी दूरी तक नहीं पहुँच पाता।

[४] गुणवृत्ति वाचकत्व के बिना निष्पन्न नहीं होती, जबकि व्यञ्जकता रीति, वृत्ति, अनुप्रास,[1] अभिनय आदि में कभी बिना वाचकत्व के भी निष्पन्न हो जाया करती है।

इन कारणों से व्यञ्जकत्व को गुणवृत्ति में अन्तर्भूत नहीं किया जा सकता।

उक्त तर्कों से स्पष्ट है कि मीमांसाशास्त्र और व्याकरणशास्त्र के किसी भी तर्क से व्यञ्जकत्व को वाचकत्व और गुणवृत्ति दोनों में से किसी में अन्तर्भूत नहीं माना जा सकता। अब शेष रहता है तर्कशास्त्र।

तर्कशास्त्र के अन्तर्गत हम बौद्धदर्शन को भी अपना लें और उनकी स्थापनाओं के प्रकाश में भी व्यञ्जकत्व की अतिरिक्तता पर विचार करें तो हमें उसपर कोई आँच आती दिखाई नहीं देती।

[ङ] व्यञ्जकत्व और अनुमान :

तर्कशास्त्र की दूसरी संज्ञा है न्यायशास्त्र, क्योंकि तर्क और न्याय दोनों का अर्थ है—'प्रमाणों के आधार पर वस्तुपरीक्षण'। किसी भी वस्तु का अस्तित्व, इन शास्त्रों में, तब तक स्वीकार नहीं किया जा सकता, जब तक उसके लिए कोई प्रमाण प्राप्त न हो। प्रमाणों में आस्तिक तर्कशास्त्र प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द की गणना करता है तथा नास्तिक या बौद्ध तर्कशास्त्र केवल प्रत्यक्ष तथा अनुमान की। अभिप्राय यह कि सम्पूर्ण तर्कशास्त्र प्रमाणों की अधिकतम संख्या ४ मानता है।

प्रत्यक्ष :

इनमें से प्रत्यक्ष वह प्रमाण है जिसे काव्य में नहीं गिना जा सकता, क्योंकि प्रत्यक्ष का अर्थ होता है इन्द्रियों द्वारा गृहीत वस्तु और वस्तु का इन्द्रियों द्वारा ग्रहण। काव्य में इन्द्रियों द्वारा केवल शब्द का ही प्रत्यक्ष होता है, अर्थ का नहीं, क्योंकि अर्थ शब्दद्वारा प्रतीत होता है।

उपमान :

उपमान वह प्रमाण है जिसमें किसी वस्तु का निश्चय तत्सदृश अन्य वस्तु के सादृश्य पर होता है। इस सादृश्य का बोध किसी प्रामाणिक व्यक्ति के

---

१. ध्वन्यालोक पृ० ३५९-६०.

वचन पर निर्भर रहता है। 'गवय' नामक पशु का ज्ञान न रहने पर किसी व्यक्ति से जब यह बोध होता है कि 'गवय गोसदृश होता है' और जब वनस्थली में जाकर ऐसे पशु को आँखो से देखा जाता है तब 'गवय पदार्थ' का निश्चय होता है। इस निश्चय के दो आधार हैं (१) आप्तवाक्य यानी शब्द और (२) सदृश पदार्थ का प्रत्यक्ष। इसका अभिप्राय यह हुआ कि उपमान से होने वाला अर्थनिश्चय मूलत प्रत्यक्ष और शब्द इन प्रमाणों की अपेक्षा रखता है। इसीलिए कुछ तार्किक उपमान को अतिरिक्त प्रमाण नहीं भी मानते। काव्य की सीमा में उपमान का प्रथम आधार=शब्द तो आ सकता है, किन्तु द्वितीय आधार जो प्रत्यक्ष है वह नहीं आता, क्योंकि काव्यपाठक काव्यशब्द से गृहीत अर्थ के प्रत्यक्ष के लिए प्रयत्नशील नहीं होता। इस कारण उपमानात्मक प्रमाण भी काव्यसीमा में नहीं आता।

शब्द •

जहाँ तक शब्दप्रमाण का सम्बन्ध है उसका विचार हो ही चुका है। तर्कशास्त्र भी शब्द से अर्थ के ज्ञान में 'वाचकत्व' को ही अपनाकर चलता है। आवश्यकता पडने पर वह इसी वाचकत्व के परिशिष्ट के रूप में एक क्षीण व्यापार और मान लेता है, जिसे गुणवृत्ति, लक्षणा या भक्ति कहा जाता है। तर्कशास्त्री के शब्दप्रमाण में व्यञ्जना को कोई स्थान नहीं मिलता। कारण कि व्यञ्जना जिस अर्थ का बोध कराती है वह अर्थ अनिश्चित अर्थ होता है और अर्थ का अनिश्चय प्रमा नहीं कहा जा सकता, जबकि प्रमाण का प्रमाणत्व 'प्रमात्मक ज्ञान के निष्पादन' पर ही निर्भर है और ये सभी शास्त्र जिस शब्द पर विचार करते हैं वह प्रमाणात्मक शब्द है, शब्दसामान्य नहीं। फलत न केवल तर्कशास्त्र की सीमा में, अपितु पूर्वोक्त मीमासाशास्त्र की सीमा में भी काव्यशब्द का विचार केवल गुणवृत्ति-गम्य अर्थ तक सीमित रह सकता है, उससे आगे उसकी पहुँच नहीं, क्योंकि वैसा होते ही उसका प्रमाणत्व उच्छिन्न होने की सभावना होने लगती है। परिणामत

तर्कशास्त्र के चार प्रमाणो में से प्रत्यक्ष, उपमान और शब्द ये तीन प्रमाण व्यञ्जकत्वविचार के सन्दर्भ में अनुपयुक्त[1] है। शेष रहता है अनुमान। जब हम इस

---

१ यहाँ तक की प्रस्तावना हमारी अपनी सूझ है ध्वन्यालोक में इसका सकेत नहीं है।

अनुमान :

अनुमान को लेकर काव्यसीमा मे प्रवेश करते हैं तो प्रतीत होता है कि यहाँ यह केवल एक ही तथ्य तक सीमित है। वह है 'वक्ता की इच्छा'। इच्छा दो प्रकार की हो सकती है, (१) एक तो शब्द के उच्चारण की और (२) दूसरी उच्चारित शब्द से अर्थ का ज्ञान कराने की[1]। किसी के मुख से शब्द निकलता है तो सुनने वाला यह अनुमान करता है कि अवश्य ही इस व्यक्ति के मन में कोई वात वतलाने की इच्छा है और इसीलिए इसके मन में शब्दप्रयोग की भी इच्छा है, क्योंकि यदि इच्छा नही होती तो यह व्यक्ति शब्द का प्रयोग न करता, कारण कि कोई भी क्रिया इच्छा के विना नहीं होती, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कोई भी इच्छा ज्ञान के विना[2]। इस इच्छा का ज्ञान वक्ता के मुख से उच्चारित शब्द के ही आधार पर हो सकता है, अतः यहाँ हेतु होगा शब्द और इच्छा होगी साध्य। इन दोनों का परस्पर में नियत सम्बन्ध, जिसे व्याप्ति कहा जाता है गृहीत होगा अनुभव के आधार पर। इस प्रकार यहाँ शब्द से वक्ता की अर्थप्रकाशनेच्छा तथा शब्दप्रयोगेच्छा का अनुमान होगा। यह हुआ शब्द का वह क्षेत्र जिस तक शब्द अनुमान द्वारा श्रोता को पहुँचाता है। जहाँ तक व्यङ्ग्य अर्थ का सम्बन्ध है,

व्यङ्ग्य अर्थ का क्षेत्र भिन्न है। अनुमान का जो क्षेत्र अभी वतलाया गया वह ऐसा क्षेत्र है जिसमें शब्द से अर्थ की ओर न जाकर शब्दोत्पत्ति के स्रोत की ओर जाया जाता है। इसका फल केवल इतना ही है कि इससे विदित हो जाता है कि शब्द का प्रयोग करने वाला व्यक्ति जीवित है। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते है कि अनुमान हमारे मस्तिष्क को शब्द के शरीर से टकराकर कही ले जाता है, शब्द के गर्भ में प्रविष्ट कराकर नहीं। फलतः अनुमान के लिए शब्द एक जड़, स्थूल, निष्प्राण और भौतिक पिण्ड मात्र रहा करता है, उससे अधिक कुछ नही। व्यञ्जकत्व शब्द के स्थूल पिण्ड से आगे बढ़ता और उसके गर्भ तक पहुँचता है, फलतः वह शब्द के भीतर छिपे प्राणों के स्पन्दन की अपेक्षा रखता और उसके चेतन, अर्थज्ञापक रूप को लेकर आगे बढ़ता है। इस प्रकार यदि हम शब्द को एक केन्द्र मानें तो उसकी जो दो विरुद्ध दिशाएँ होगीं उनमें से जिस दिशा में अर्थ खड़ा होगा, वक्ता उसकी ठीक विपरीत दिशा मे खड़ा पाया जाएगा। शब्दरूपी

---

१. ध्वन्यालोक पृष्ठ ४८९.

२. ज्ञानजन्या भवेदिच्छा इच्छाजन्या क्रिया भवेत्। (प्रसिद्ध सिद्धान्त)

केन्द्र स निकलती अनुमानरश्मि वक्ता की दिशा में[1] दौडेगी और व्यञ्जकत्व-रश्मि अर्थ की दिशा में, इस प्रकार
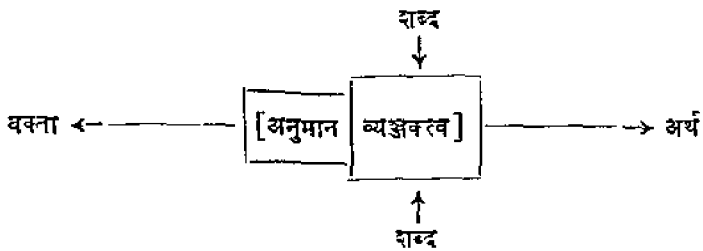
इस प्रकार अनुमान और व्यञ्जकत्व दोनो की दिशाएँ सर्वथा विपरीत और भिन्न[2] होती है।

अनुमान से प्रतीत होने वाले तथ्यो को हम शब्द का अनुमेय विषय कह सकते है और व्यञ्जकत्व से प्रतीत होने वाले तथ्यो को प्रतिपाद्य। अनुमेय होगी वक्ता की विवक्षा और शब्दस्वरूपप्रयोगेच्छा। प्रतिपाद्य होगा अर्थ। अनुमान को लेकर शब्द श्रोता के मस्तिष्क तक पहुँचकर लौटता है और श्रोता को वक्ता की ओर खीच लाता है, जबकि व्यञ्जकत्व को लेकर वक्ता की ओर नही लौटता, अपितु अर्थ के साथ अपने सम्बन्धो के श्रोता में निहित सस्कार जगाकर वह श्रोता के ही मस्तिष्क में सक्रियता अपनाए रहता है, वक्ता प्रतीत भी होता है तो उसी सक्रियता में सश्लिष्ट होता हुआ। इस प्रकार मनोवैज्ञानिक स्तर पर अनुमान का अधिकाश वक्तृसबद्ध है, और व्यञ्जकत्व का श्रोतृसबद्ध। दोनों की दो भिन्न स्थितियाँ और उपलब्धियाँ है। इस प्रकार

निष्कर्ष

जो अनुमान शब्द सुनने से हो सकता है उसको व्यञ्जकत्व से भिन्न मानना ही होता है।

अर्थ और अनुमान

तार्किक यह प्रश्न कर सकता है कि उक्त अन्तर वाचकत्व के साथ हो सकता है, व्यञ्जकत्व के साथ नही, क्योकि व्यञ्जकत्व वाचकत्व के बाद आने

१ रश्मि की कल्पना हमारी है। ऐसा कोई भाव स्वय ध्वन्यालोककार ने उपस्थित नही किया।

२ ध्व० पृ० ४४९

वाला बतलाया जाता है। फलत. उसकी प्रतीति शब्द से न होकर शब्दनिष्ठवाचकत्व-जनित अर्थ से होती है। यह जो वाच्य अर्थ है इससे होने वाली अर्थान्तर-प्रतीति के लिए हम एक अनुमान और मान लेगें। यह द्वितीय अनुमान, शब्द से प्रतीत हुए वाच्य अर्थ को हेतु बनाकर अर्थान्तर को साध्यरूप से प्रतीत कराएगा। श्रोता यह सोचेगा कि 'अमुक वाक्यार्थ अमुक परिस्थिति मे कहा गया है, अतः अवश्य ही इसका अभिप्राय यह होना चाहिए।' इस प्रकार के अनुमान एकाधिक होते रहेगे और भिन्न भिन्न सन्दर्भों में भिन्न भिन्न अभिप्राय या भिन्न भिन्न अर्थान्तर अनुमित हो सकेंगे। फलतः वक्ता की शब्द-प्रयोगेच्छा और अर्थप्रकाशनेच्छा का ज्ञान एक अनुमान से होगा और वक्ता के अभिप्राय का ज्ञान दूसरे अनुमान या अनुमानों से। इन दोनों अनुमानों में मे प्रथम वाचकत्व-वृत्ति के पहले होगा और उसमें शब्द ही हेतु होगा, इसके विपरीत द्वितीय अनुमान वाचकत्व-वृत्ति के बाद होगा और उसमें हेतु होगा अर्थ यानी वाचकत्व द्वारा प्रसूत अर्थ, वाच्य अर्थ। इस प्रकार द्वितीय अनुमानों में व्यञ्जकत्व का अन्तर्भाव माना जा सकता है।

आनन्दवर्धन इसका उत्तर संकेतरूप से केवल यह कहकर देते हैं कि व्यञ्जकत्व एक शब्दवृत्ति है जबकि अनुमान शब्दसीमा से बहिर्भूत एक स्वतन्त्र प्रमाण है। यदि द्वितीय अनुमान को शब्दवृत्ति स्वीकार किया जाता है, तो कोई आपत्ति नही,[१] क्योंकि हमारा अभीप्ट है अतिरिक्त शब्दवृत्ति। उसका नाम हमें व्याकरण के अनुसार व्यञ्जना सूझा, आपने अपने तर्क-शास्त्र के अनुसार उसे अनुमान कह दिया। इस प्रकार विवाद केवल नामकरण का रहा, वह तत्त्वचिन्तन में नगण्य है। आप अतिरिक्त शब्दवृत्ति को खुशी के साथ अनुमान कह सकते हैं। यह नही कहा का सकता कि दूसरा अर्थ केवल प्रथम अर्थ से निकलता है, क्योंकि उस प्रथम अर्थ का ज्ञान भी शब्द से ही होता है, और कही कही दूसरा अर्थ प्रथम अर्थ की प्रतीति के बिना भी निकलता दिखाई देता है, जहाँ चेप्टाओं की योजना रहती है। इस प्रकार वाचकत्व के बाद के अनुमान को शब्द से असंबद्ध नहीं किया

---

१. पूर्वपक्ष : वक्त्रभिप्रायापेक्षया व्यञ्जकत्वमिदानीमेव त्वया प्रतिपादितम्, वक्त्रभिप्रायश्चानुमेय एव।

उत्तरपक्ष : नन्वेवमपि यदि नाम स्यात्, किं नश्छिन्नम्। वाचकत्वगुणवृत्तिव्यतिरिक्तो व्यञ्जकत्वलक्षणः शब्दव्यापारोऽस्तीत्यस्माभिरभ्युपगतम्। तस्य चैवमपि न काचित् क्षतिः। तद्धि व्यञ्जकत्वं लिङ्गत्वमस्तु अन्यद् वा। ध्व० पृ० ४४८.

जा सकता और यदि उसका सम्बन्ध शब्द से है, तो उक्त क्रम से तर्कशास्त्र का मतभेद केवल नामकरण में है, तत्त्व एक ही है।

उक्त तर्क के ही समर्थन में आनन्दवर्धन एक तर्क और प्रस्तुत करते हैं। वह है अनुमान के प्रमाणत्व का। ऊपर कहा जा चुका है कि अनुमान एक ऐसा माध्यम है जिससे होने वाला ज्ञान प्रमात्मक होता है, उसमें किसी भी प्रकार का अनिश्चय नहीं होता। अनिश्चित अर्थ का ज्ञापक कोई भी माध्यम प्रमाण नहीं कहा जा सकता। व्यङ्ग्य कहा जाने वाला अर्थ, यानी अतिरिक्त अर्थ एक ऐसा अर्थ हुआ करता है, जो सर्वथा अनिश्चित रहता है, फलत उसके ज्ञान को प्रमात्मक नहीं कहा जा सकता। यदि व्यङ्ग्य कहे जाने वाले अर्थ को अनुमानलभ्य माना जाय तो अनुमान के व्यक्तित्व में एक परिवर्तन और करना होगा। वह होगा उसके तर्कशास्त्र में प्रसिद्ध व्यक्तित्व से प्रमाणत्व का उच्छेद। तर्कशास्त्र का अनुमान एक प्रमाण है उसमे प्रमाणत्व है। उसमें व्यङ्ग्यार्थबोधकत्व मानते ही इस प्रमाणत्व को हटा देना होगा। इस प्रकार तर्कशास्त्र को अपने अनुमान में दो परिवर्तन करने होंगे—

[१] एक तो यह कि उसे शब्दशक्ति स्वीकार करना होगा और
[२] दूसरा यह कि उसे प्रमाणत्व से शून्य मानना होगा।

इतने परिवर्तन के बाद तर्कशास्त्री का अनुमान अनुमान ही नही रहेगा। वह एक ऐसे जन्तु जैसा तत्त्व बन बैठेगा जिसका सिर अश्व का हो, धड मनुष्य का और निचला भाग चीटे का[1]। ऐसे जन्तु को क्या कहा जाएगा पशु, मनुष्य या कीट। ये तीनो ही योनियो इस जन्तु को अपने में गिनना स्वीकार नही करेंगी। अनुमान को यदि अर्थान्तर का प्रत्यायक माना गया और उसमें ऊपर दिए दोनो आवश्यक एव अपरिहार्य सशोधन कर दिए गए तो उसकी स्थिति ऐसे ही जन्तु की स्थिति होगी। उसे न तो तर्कशास्त्री का ही अनुमान अपने बीच बिठाएगा और न अन्य शास्त्रियो का। इस प्रकार व्यञ्जकत्व को अनुमान रूप मानते ही अनुमान का अपना स्वत्व ही उच्छिन्न हो जाएगा। फलत,

व्यञ्जकत्व को अनुमान में अन्तर्भूत नही किया जा सकता। परिणामत यह मानना अनिवार्य है कि,

---

१ ध्व० पृ० ४४८, अश्व, मनुष्य और चीटे का दृष्टान्त हमारी ओर से प्रस्तुत किया गया है।

सिद्धान्त : व्यञ्जनालक्षण

व्यञ्जकत्व, वाचकत्व और गुणवृत्ति से भिन्न एक ऐसा अतिरिक्त शब्दव्यापार है जिससे अनिश्चित अर्थ का अनिश्चित बोध संभव होता है।

तीन शब्दव्यापार

इस पूरे अध्याय में हुए विश्लेषण से स्पष्ट है कि काव्य में शब्द के व्यापारों की संख्या अन्य शास्त्रों की अपेक्षा एक अधिक माननी पड़ती है, फलतः अन्य शास्त्रों में जहाँ शब्दव्यापार नाम से वाचकत्व और गुणवृत्ति ये ही दो व्यापार माने जाते हैं वहाँ काव्य में निम्नलिखित तीन व्यापार मानने पड़ते हैं :

[१] वाचकत्व = अभिधा
[२] गुणवृत्ति = लक्षणा तथा
[३] व्यञ्जकत्व = व्यञ्जना ।

•

चतुर्थ अध्याय

काव्यधर्म
- गुण
- अलङ्कार
- सङ्घटना
- रीति
- वृत्ति
- दोष

काव्यधर्म

गत द्वितीय अध्याय में हमने काव्यशरीर और उसके विविध घटकों के विषय में आचार्य आनन्दवर्धन की स्थापनाओं का अनुशीलन किया। अब हम उन तत्त्वों का अनुशीलन करेंगे जो काव्यशरीर या काव्य के व्यक्तित्व में ग्राह्य या परिहार्य तत्त्वों के रूप में प्राचीन आचार्यों तथा आनन्दवर्धन ने स्वीकार किए हैं। इन तत्त्वों में ग्राह्य तत्त्व हैं

१ गुण
२ अलङ्कार
३ सङ्घटना
४ रीति तथा
५ वृत्ति, एव
६ दोष

है अग्राह्य तत्त्व। अब हम इनमें से एक एक के विषय में आचार्य आनन्दवर्धन के विचारों का अध्ययन करें।

[१] गुण

गुणों के विषय में भरत मुनि से लेकर वामन तक भांति भांति की उद्भावनाएँ की गई थी।

पुरावृत्त

'भरत ने गुण को दोष का विपर्यय कहा था तथा वामन ने दोष को गुण का विपर्यय। दण्डी चुप थे। फलत भरत से वामन तक गुणों का कोई स्वरूप-लक्षण नहीं बन सका था, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार दोषों का। इस विषय का अधिक विशकलन हम दोष प्रकरण में करेंगे, यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त समझते है कि

काव्यभाषा सामान्य भाषा से उत्तम होती है, और काव्यवस्तु वस्तु की अपेक्षा। शब्दों या भाषा की यह उत्तमता और अर्थों का यह परिष्कार जिन तत्त्वों पर निर्भर था उनमें एक अतिशय तत्त्व भी था, जिसे अलंकारों के भीतर गिना जा चुका था। इस 'अतिशयतत्त्व' और भाषा की लौकिक स्थिति के बीच छिपी हुई कुछ विशेषताएँ और थी। उनकी पहचान की गयी और उनमें भी दो विधाएँ पाई गयी। उनमें से एक को 'लक्षण' या 'भूषण' नाम दिया गया, जो लगभग अलंकारों—जैसी ही वस्तु थी, और सत्य तो यह है कि यह अलंकारों की ही पूर्व-स्थिति थी, यानी इनमें अलंकार तत्त्व उल्व में गर्भ के समान निहित था, परिपक्व हो रहा था। शेष बची दूसरी विधा को 'गुण' कहा गया और इसे अन्य काव्यतत्त्वों से पृथक् कर समझने की चेष्टा की गई। इस दिशा के अतिरिक्त अन्य कोई ऐसी दिशा नहीं हो सकती जिसे पूर्ण स्वस्थ और पूर्ण सक्षम कहा जा सके।

भरत से दण्डी तक गुणों की जो पहचान हुई थी, उसमें गुणों की संख्या १० तक पहुँची थी। इस संख्या में एक अव्यवस्था थी। वह यह कि इससे यह विदित नहीं होता था कि कितने गुण शब्द तक सीमित है और कितने गुण अर्थ की सीमा में प्रविष्ट है। सत्य यह है कि दण्डी तक काव्य को 'शब्द'-रूप में ही अधिक देखा गया था। अर्थ की स्थिति दण्डी तक शब्द के समकक्ष या समानान्तर नहीं थी। काव्य को उत्तम कमलाकर कहा जाए तो शब्द को जल और अर्थ को कमल-कुञ्ज मान यह कहना होगा कि दण्डी तक अर्थ का यह कमलकुञ्ज पानी के ऊपर आई स्थिति में नहीं था। इस कारण गुणों का विचार अलङ्कारों के विचार के समान ही शब्द और अर्थ के दो पृथक् पृथक् वर्गों में दण्डी तक बँट नहीं पाया था। भामह ने अर्थ को शब्द के समानान्तर और समकक्ष रूप में गिना। वामन ने उनके इस पक्ष को महत्त्व दिया और अर्थ को भी शब्द के बराबर स्थान देते हुए इन दोनों को वैसा बतला दिया जैसे बैल के सिर पर उगे सींग होते हैं। बैल के किसी सींग को किसी दूसरे से हीन स्तर का नहीं कहा जा सकता। काव्य के शब्द और अर्थ में भी वामन ने यही समानस्तरीय स्थिति स्थापित की। वस्तुतः यह दूसरे शास्त्रों का प्रभाव था। व्याकरणशास्त्र, शब्द और अर्थ की यह बराबरी तो बहुत दूर है, उनके अभेद तक की टिग्गी पीट रहा था। वह कभी तो इनकी मानसिक स्थिति की भूमिका पर बैठकर विचार करता था और कभी वहाँ से कूदकर इनकी भौतिक और बाह्य स्थिति पर चला आता था। वामन स्वयं भी शब्दशास्त्री थे भले ही वे काशिकाकार न माने जा सकें।

शब्द और अर्थ की पृथक्ता तथा पृथक्ता में भी इनकी समानान्तर स्थिति

काव्यक्षेत्र में भामह से आरम्भ होती और वामन तक परिपक्व हो जाती है। इस कारण अलङ्कार आदि काव्यधर्मों का इन दो वर्गों में बाँटा जाना भी स्वाभाविक-रूप से आवश्यक हो जाता है। वामन वैसा करते भी है। पहली बार उनमे ही शब्द और अर्थ के स्पष्ट दो वर्ग काव्यशास्त्र मे आने दिखाई देते है।

गुणो का विश्लेषण भी इन दो वर्गों के धरातल पर होना स्वाभाविक था। वामन ने ऐसा ही किया भी। उनने भरत से दण्डी तक काव्यतत्त्वों की कल्पना में गुणो को जो १० सख्या प्राप्त हुई थी, उसे द्विगुणित कर दिया और २० सख्या तक पहुँचा दिया। उनने १० गुणो को शब्दगुण माना और १० गुणो को अर्थ-गुण। विशेषता यह थी कि उनने ऐसा करते हुए प्राचीन आचार्यों का सम्मान सुरक्षित रखा और यह बतलाने के लिए कि इनकी नवीन कल्पना प्राचीन आचार्यों पर ही निर्भर है, दोनों प्रकार के गुणो को 'नाम' एक ही दिया। दोनों के नामो में भेद नही किया।

वामन के नवीन गुण

आचार्य वामन ने अपनी इस परिकल्पना में कुछ स्वतन्त्रता भी अपनाई और गुणो के स्वरूपों में कुछ नवीनता भी देखी। उनने

[१] माधुर्य
[२] उदारता एव
[३] कान्ति

इन तीन नामो के अन्तर्गत दो दो परस्पर स्वतन्त्र गुणों की उद्भावना की, जिनमें से एक एक गुण पर्ववर्ती आचार्यों के माधुर्य, उदारता और कान्ति से मिलता था, किन्तु दूसरा सर्वथा भिन्न था।

उक्त सभी गुणो को एक साथ रखकर विचार किया जाए तो लगेगा कि गुणो की सख्या २३ है, २० नही। आगे दिए विवरण से यह तथ्य स्पष्ट हो सकेगा

गुणनाम	गुणस्वरूप	
	भरत	दण्डी
१. श्लेष	अभीष्टार्थयुक्त पदो का आश्लेषण [नाट्यशास्त्र १७।९७]	अल्पप्राणाक्षरीय पदों का अशिथिल बन्ध [काव्यादर्श १।४३]
२. प्रसाद	शब्द से अर्थ का सुखपूर्वक ज्ञान [नाट्यशास्त्र १७।९९]	अर्थ की स्पष्टता [काव्यादर्श १।४५]
३. समता	पदों की अन्योन्यसमता [नाट्यशास्त्र १७।१००]	आरम्भ से अन्त तक एकसा बन्ध [काव्यादर्श १।४७]
४. माधुर्य	अनुद्वेजक पदावली [नाट्यशास्त्र १७।१०२]	अनुप्रास, यमक और अग्राम्यता से युक्त सरस पदावली [काव्यादर्श १।५१]
५. सुकुमारता	पदों की सुकुमारार्थकता, मिलितता तथा सुखोच्चार्यता [ना० शा० १७।१०४]	अनिष्ठुराक्षर बन्ध = पदरचना [काव्यादर्श १।७०]
६. अर्थव्यक्ति	अर्थ का अविलम्ब बोध [ना० शा० १७।१०५]	अर्थ का सीधे सीधे बोध [काव्यादर्श १।७३]
७. उदारता	१. विविध विचित्रार्थक सौष्ठव युक्त उक्ति तथा २. दिव्यभाव, शृङ्गार, अद्भुत से युक्त उक्ति [ना० शा० १७।१०६]	१. नायक में उदात्तता या उत्कर्ष का ज्ञापन २. श्लाघ्य विशेषणों से युक्त होना [काव्यादर्श १।७६,७९]
८. ओज	१. शब्द और अर्थ की उदात्तता २. समासयुक्त उदारस्वर वाले विविध पद [ना० शा० १७।१०३]	समासाधिक्य [काव्यादर्श १।८०]
९. कान्ति	शब्दबन्ध की मनःश्रोत्रप्रसाद-दायकता [ना० शा० १७।१०७]	अर्थों का लौकिकरूप में ही प्रस्तुत करना [काव्यादर्श १।८५]
१०. समाधि	अर्थ की विशिष्टता [ना० शा० १७।१०१]	अन्य के गुण का अन्य में स्वाभाविक संक्रमण [काव्यादर्श १।९३]

भामह	वामन	
	शब्द गुण	अर्थ गुण
	शब्दों की मसृणता=अनेक शब्दों की एक शब्द सी प्रतीति [काव्यलङ्कारसूत्र ३।१।२०]	क्रम और कुटिलता का अभाव [काव्यलङ्कार सूत्र ३।२।४]
अर्थ की स्पष्टता [काव्यालंकार २।१,३]	शब्दों की ओजोमिश्रित शिथिलता [का० सू० ३।१।६-८]	अर्थ की विमलता [का० सू० ३।२।३]
	आरम्भ से अन्त तक एक ही मार्ग [का० सू० ३।१।११]	अविषम बन्ध [का० सू० ३।२।५]
पदों की अतिसमासहीनता तथा श्रव्यता [काव्याल० २।१,३]	पदों की पृथक्ता, अमिश्रितता, अदीर्घसमासता [का० सू० ३।१।२०]	उक्तिवैचित्र्य [का० सू० ३।२।१०]
	अपरुष शब्द [का० सू० ३।१।२१]	अपरुषता [का० सू० ३।२।११]
	अर्थसमर्पकता में विलम्ब का अभाव [का० सू० ३।१।२३]	वस्तु के स्वभाव की स्फुटता [का० सू० ३।२।१३]
	अग्राम्यता [का० सू० ३।१।२२]	पदों का नृत्य करता हुआ सा लगना [का० सू० ३।२।१२]
पदों की समासबहुलता [काव्याल० २।२]	पदबन्ध की गाढ़ता [का० सू० ३।१।५]	प्रौढि अर्थात् १ पद के स्थान पर वाक्य २ वाक्य के स्थान पर पद का प्रयोग ३ व्यास ४ समास तथा ५ साभिप्रायता [का० सू० ३।२।२]
	उज्ज्वलता [का० सू० ३।१।२४]	रसदीप्ति [का० सू० ३।२।१४]
	आरोह तथा अवरोह से युक्त क्रम [का० सू० ३।१।१२-१९]	वक्तव्य अर्थ का भान होना [का० सू० ३।२।६-९]

इस तालिका पर ध्यान देने से स्पष्ट हो जाता है कि दण्डी के १० गुणों मे से वामन ने निम्नलिखित गुणों को केवल अर्थगुणों के रूप में स्वीकार किया :

[१] प्रसाद
[२] समाधि,

निम्नलिखित गुणों को उनने केवल शब्दगुण स्वीकार किया :

[१] श्लेष
[२] ओज,

निम्नलिखित गुणों को उनने उभयगुणों के रूप में देखा :

[१] समता
[२] सुकुमारता
[३] अर्थव्यक्ति,

और निम्नलिखित गुणों पर नए सिरे से प्रकाश डाला :

[१] माधुर्य
[२] उदारता
[३] कान्ति[1]।

इस प्रकार भरत और दण्डी के माधुर्य, उदारता और कान्ति स्वतन्त्र गुण रहे आते हैं। उनका वामन के गुणों में सर्वथा अन्तर्भाव नहीं हो पाता। फलतः हमें दण्डी से वामन तक गुणों की यात्रा में २३ तीर्थ दिखाई देते हैं, केवल २० नहीं। २० तो नाम हैं, जिनमें से तीन नाम के दो दो व्यक्ति हैं। इस प्रकार गुणव्यक्तियों का जो समुदाय है उसमें घटकों की संख्या २३ है, किन्तु नाम केवल २० हैं। गणना में भ्रम न हो इसलिए एक नाम वाले तीन घटकों को उनकी वल्दियत के साथ पुकारना होगा।

आगे संघटना तत्त्व के प्रकरण में हमने यह बतला दिया है कि उक्त दश गुण तीन भागों में बँट जाते हैं—

---

१. डॉ० राघवन् ने अपने अंग्रेजी ग्रन्थ 'भोजाज् शृङ्गारप्रकाश' के गुणखण्ड में भिन्न ही प्रकार का वर्गीकरण किया है, क्योंकि वे भोज से प्रभावित हैं। द्र० पृ० २७४–८१। आनन्दवर्धन तक ही सीमित होकर विचार करना है हमें। भोज परवर्ती हैं।

[१] कविगुण
[२] सहृदयगुण तथा
[३] काव्यगुण ।

आनन्दवर्धन ने काव्यचिन्तन की दिशा मे अपना जो प्रमातृनिष्ठता का दृष्टिकोण अपना रखा था उसकी झलक उनके गुणचिन्तन में भी दिखाई देती है। वे गुणतत्त्व को सहृदयनिष्ठ तत्त्व भी मानते हैं, क्योंकि वे गुणो को रसधर्म भी मानते हैं । रस न कविनिष्ठ है, न काव्यनिष्ठ, वह एकमात्र सहृदयनिष्ठ है । आनन्द-वर्धन का गुणतत्त्व के विषय में कहना है

तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिन ते गुणा स्मृता ।[1]

वे धर्म होते है गुण जो काव्यशरीर में रहते तो हैं, किन्तु अङ्गी के आसरे। यहाँ अङ्गी का अर्थ आत्मा है, और 'आत्मा'-शब्द काव्य में 'ध्वनि' के लिए अपनाया है, आनन्दवर्धन ने। ध्वनि के मुख्य स्वरूप तीन हैं रस, अलकार और वस्तु। माधुर्य आदि गुण रसधर्म है, लोक में भी। अत काव्य में भी आनन्द-वर्धन ने उन्हें रसधर्म भी स्वीकार किया है। इसमें वे उदाहरण देते हैं—'शौर्य[2] आदि गुणो का'। शौर्य शरीर में रहता है किन्तु मृत या सुप्त शरीर में नही, अत मानना होगा कि वह आत्मा में भी रहता है, क्योंकि जागा और जीवित व्यक्ति ही शूर होता है, सोया और मृत नही। किन्तु यह भी नही कहा जा सकता कि शौर्य केवल आत्मा में ही रहता है, क्योंकि शरीर से अलग रहकर वही आत्मा किसी भी प्रकार का शौर्य नही दिखा पाती जो शरीर में रहकर बहुत कुछ करती है। स्मरणीय है कि आनन्दवर्धन ने **यह कहीं नहीं कहा है कि गुण एकमात्र रस में रहते हैं**। यह अभिनवगुप्त[3] का अतिरेक है। मम्मट उसी पर चलते है।

---

१ ध्व० २।६, पृ० २०४

२ ध्व० २।६, पृ० २०४

३ [क] वस्तुतो माधुर्यं नाम शृङ्गारादे रसस्यैव गुण, तन्मधुर-रसाभिव्यञ्जकयो शब्दार्थयोरुपचरितम्। मधुर शृङ्गाररसाभिव्यक्तिसमर्थता शब्दार्थयोर्माधुर्यमिति हि लक्षणम्।

(ध्व० पृ० २०६–२०७ लोचन।)

[ख] माधुर्यौज प्रसादास्त्रय एव गुणा उपपन्ना भामहाभिप्रायेण। ते च प्रतिपत्रास्वादमया मुख्यतया तत आस्वाद्य उपचरिता रसे, ततस्तद्-व्यञ्जकयो शब्दार्थयोरिति तात्पर्यम्। (ध्व० पृ० २१३ लोचन।)

इन गुणों की संख्या आनन्दवर्धन ने उतनी ही मानी जितनी भामह[१] ने मानी थी। भामह ने केवल ३ गुण माने थे। आनन्दवर्धन ने भी ३ ही गुण स्वीकर किए। आनन्दवर्धन ने उन्हीं गुणों को गुण स्वीकार किया जिन्हें भामह ने स्वीकार किया था। भामह ने केवल 'माधुर्य, ओज और प्रसाद' इन तीन गुणों को स्वीकार किया था[२]। आनन्दवर्धन ने भी इन्हीं को गुण स्वीकार[3] किया। विशेष बात यह है कि संख्या और नाम में अभेद होने पर भी भामह और आनन्दवर्धन के गुणस्वरूपों में अन्तर है। भामह के माधुर्य, ओज और प्रसाद वे ही हैं जो दण्डी के, जबकि आनन्दवर्धन के उनसे भिन्न हैं। इनका स्वरूप यह है—

[१] माधुर्य[४]

स्वरूप :

चित्त की आर्द्रता का नाम है माधुर्य ।

यह शृङ्गार में पँहचाना जा सकता है। शृङ्गार में भी विप्रलम्भशृङ्गार मे अधिक। करुण में भी यह गुण पाया जाता है और संभोगशृङ्गार से अधिक मात्रा मे। इस प्रकार चित्त की आर्द्रता का अनुभव जो वरिष्ठताक्रम निर्धारित करता है, तदनुसार—

विप्रलम्भ शृङ्गार को प्रथम
करुण को द्वितीय तथा
संभोग शृङ्गार को तृतीय

स्थान मिलता है।

आनन्दवर्धन ने माधुर्य के लिए कोई उदाहरण नहीं दिया, किन्तु रसध्वनि के प्रकरण में दिए उदाहरणों मे यह आवश्यकता पूरी हो जाती है। स्वयं आनन्दवर्धन का ही पूर्वोद्धृत 'लावण्यकान्ति०' पद्य इसके लिए अपनाया जा सकता है।

१-२. भामहकृत काव्यालंकार २।१–२.

३. ध्व० २।७–१० कारिका

४. [क] शृङ्गार एव मधुरः परः प्रह्लादनो रसः।
तन्मयं काव्यमाश्रित्य माधुर्यं प्रतितिष्ठति ॥
शृङ्गारे विप्रलम्भाख्ये करुणे च प्रकर्षवत्।
माधुर्यमार्द्रतां याति यतस्तत्राधिकं मनः ॥ (ध्व० २।८–९)

[ख] ध्व० पृ० ३११

विक्रमोर्वशीय का रसवदलङ्कार के सन्दर्भ में उद्धृत 'तवी मेघ' पद्य विप्रलम्भ-शृङ्गार के लिए उत्तम उदाहरण है। मेघदूत का निम्नलिखित पद्य विप्रलम्भ में माधुर्य को समझने के लिए पर्याप्त होगा—

> भित्त्वा सद्य किसलयपुटान् देवदारुद्रुमाणा
> ये तत्क्षीरस्रुतिसुरभयो दक्षिणेन प्रवृत्ता ।
> आलिङ्ग्यन्ते गुणवति मया ते तुषाराद्रिवाता
> पूर्वं स्पृष्ट यदि किल भवेदङ्गमेभिस्तवेति ॥

रामगिरि पहुँचा वियुक्त यक्ष हिमगिरि की गोद में बसी अलका में स्थित यक्षी को सन्देश भेज रहा है—

> हे गुणवति ! हिमगिरि की हवा के जो झोके देवदारु की कोपलो के पुट बिखेर कर और उनसे बहे दूध से सुरभित होकर इधर दक्षिण की ओर आते हैं मैं उनका आलिङ्गन करता रहता हूँ, यह सोचकर कि कदाचित् इनने तुम्हारे अङ्गो का स्पर्श किया हो ।

कितनी मार्मिक है विरही कामी की यह आतुरतापूर्ण उक्ति। आर्द्रता की पराकष्ठा, यहाँ किस सहृदय के अनुभव में नही आ रही।

करुण रस में माधुर्य की पँहचान के लिये कालिदास के ही निम्नलिखित पद्य अपनाये जा सकते हैं—

> धृतिरस्तमिता रतिश्च्युता विरत गेयमृतुर्निरुत्सव ।
> गतमाभरणप्रयोजन परिशून्य शयनीयमद्य मे ॥
> गृहिणी सचिव सखा मिथ प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ ।
> करुणाविमुखेन मृत्युना हरता त्वां वद किं न मे हृतम् ॥

प्रियतमा इन्दुमती के शव के समक्ष अज विलाप कर रहा है—

> धैर्य अस्त हो गया, रति टूट गयी, गेय चुक गया, ऋतु निरुत्सव हो गए, आभरण का अब कोई प्रयोजन नही रह गया और मेरा शयनतल्प सर्वथा शून्य हो गया। तुम मेरी गृहिणी थी, सचिव थी, सखा[1] थी, एकान्त की ललितकलाओं में तुम मेरी प्रिय शिष्या थी। निष्ठुर मृत्यु ने तुम्हें हर लिया तो मेरा क्या नही हर लिया गया ? (रघु० ८।६६-७)

---

१ हमारे द्वारा सपादित रघुवशदर्पण नामक टीका में हेमाद्रिभट्ट ने 'सखी' नही सखा पाठ ही माना है जो वैज्ञानिक है। भास का विरही उदयन भी वासवदत्ता को 'सखा' से अभिन्न बतलाता है।

आनन्दवर्धन का कहना है कि करुण की यह आर्द्रता एकमात्र चित्तधर्म है इसलिए इनका सम्बन्ध केवल सहृदय से है, इसका आश्रय सहृदय की ही आत्मा है, किन्तु इसे काव्य में भी माना जा सकता है, यदि उसकी अर्थयोजना और पदावली इसकी अभिव्यक्ति में सक्षम हो। भामह ने पदावली में माधुर्य की पहचान 'श्रव्यता'-नामक[1] विशेषता के आधार पर की थी। आनन्दवर्धन का कहना है कि केवल 'श्रव्यता' तो ओजोबन्ध[2] में भी रहती है। आगे आने वाले उदाहरणों से यह तथ्य प्रमाणित है।

[२] ओज[3]

स्वरूप :

रौद्र आदि उग्र रसों में चित्त के भीतर जो एक दीप्ति का अनुभव होता है उसका जो कारण है वही है उन रसों में विद्यमान 'ओज'–नामक गुण।

काव्य की जिस अर्थयोजना और शब्दयोजना में यह तत्त्व दिखाई देता है उसे भी 'ओजो'–गुण से युक्त कह दिया जाता है। अर्थयोजना का उदाहरण होगी ऐसी उक्ति जिसमें लम्बे समास न[4] हों और उसके प्रत्येक शब्द का अर्थ सुस्पष्ट हो। उदाहरणार्थ—'पिता द्रोण के शिरश्छेद की खबर से क्रुद्ध अश्वत्थामा की यह उक्ति—

> यो[5] यः शस्त्रं बिभर्ति स्वभुजगुरुमदः पाण्डवीनां चमूनां
> यो यः पाञ्चालगोत्रे शिशुरधिकवया गर्भशय्यां गतो वा।
> यो यस्तत्कर्मसाक्षी चरति मयि रणे यश्च यश्च प्रतीपः
> क्रोधान्धस्तस्य तस्य स्वयमिह जगतामन्तकस्यान्तकोऽहम्॥

पाण्डवों की सेना में अपनी भुजाओं का गुरु गर्व लेकर जो जो शस्त्र धारण किए हुए है, पाञ्चालवंश में [धृष्टद्युम्न पाञ्चाल पुत्र था और उसी

---

१. भामहकृत काव्यालङ्कार

श्रव्यं नातिसमस्तार्थं काव्यं मधुरमिष्यते॥ २।३॥

२. ध्वन्यालोक पृष्ठ २०७.

३. (क) रौद्रादयो रसा दीप्त्या लक्ष्यन्ते काव्यवर्तिनः।
तद्व्यक्तिहेतू शब्दार्थावाश्रित्योजो व्यवस्थितम्॥ (ध्व० २।९)
(ख) रौद्रादभुतादिविषयमोजः। (पृ० २११ ध्व०)

४-५. ध्व० पृ० २११

ने द्रोण का सिर काटा था इसलिए] बच्चा, बूढ़ा या गर्भ भी जो कोई है, और जिस जिसने बिना विरोध किए वह दुष्कर्म देखा है, या जो युद्ध करते समय मेरा विरोध करेगा, उसका ही नहीं, संसार के संहारक यमराज भी सामने आएँगे तो क्रोधान्ध मैं उनका भी काल हूँ।

क्रुद्ध अश्वत्थामा की यह उक्ति अर्थबोध में कहीं भी कठिनाई नहीं लिये है, अतः इसमें जो दीप्ति का अनुभव होता है उसकी अभिव्यक्ति में कारण निर्मल और स्पष्ट अर्थ योजना ही है।[1]

शब्दयोजना यहाँ अर्थयोजना के विरुद्ध समास की कठोरता और दीर्घता लिए रहेगी[2]। उदाहरणार्थ क्रुद्ध भीम की यह उक्ति—

> चञ्चद्भुजभ्रमितचण्डगदाभिघात-[3]
> सञ्चूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य।
> स्त्यानावनद्धघनशोणित-शोणशोचि-
> रुत्तंसयिष्यति कचास्तव देवि भीमः॥

सुयोधन की मेरे चञ्चद्भुजभ्रमितचण्डगदाभिघात से सञ्चूर्णित जाँघों के सूखे गाढ़े घने शोणित से शोणकान्ति मैं, हे देवि! तेरी वेणी बाँधूँगा।

यहाँ शब्दयोजना इतनी ऊर्जस्वी है कि इसमें चित्त में दीप्ति का अनुभव होता है। लगता है कि किसी ने चित्तरूपी कपासराशि को अग्निज्वाला छुला दी। यह हुआ ओजोगुण।

[३] प्रसाद[4]

स्वरूप

शब्द और अर्थ की जो स्वच्छता वही है प्रसाद[5]।

वह सभी रसों में और सभी प्रकार की रचनाओं में पाया जाता है, किन्तु रहता है वह भी व्यङ्ग्य अर्थ पर निर्भर। माधुर्य और ओज के लिए यही उद्धृत

---

१ ध्व० पृ० २११

२ ध्वन्या पृ० २०९

३ ध्वन्या पृ० २१०

४-५ [क] समर्पकत्वं काव्यस्य यत्तु सर्वरसान् प्रति।
स प्रसादो गुणो ज्ञेयः सर्वसाधारणक्रियः॥
(२।१० ध्व०) →

उदाहरणों में इसका अनुभव किया जा सकता है। 'धृतिरस्तमिता०' और 'यो यः' पद्य के शब्द और अर्थ ऐसे ही है जिनमें कहीं भी उलझन नही है।

गुण केवल रसधर्म नहीं :

हम यहाँ यह लिख देना आवश्यक समझते हैं कि आनन्दवर्धन के गुण-सिद्धान्त के विषय में यह एक बहुत बड़ा भ्रम है कि वे गुणों को केवल रसधर्म मानते हैं। वस्तुतः उनके अनुसार गुण शब्दार्थधर्म भी है। रस केवल एक ही कार्य करते है। वह है गुणों की व्यवस्था। माधुर्य आदि गुणों की जो व्यवस्था है वह रसों के बिना संभव नही है। किन्तु इसका अर्थ यह कदापि नही है कि गुण केवल रसधर्म ही है। आनन्दवर्धन 'श्रुति-दुष्टत्व' आदि दोषों की व्यवस्था रसों पर ही निर्भर मानते है। इतने से, यदि गुणों को रसधर्म कहा जाए तो 'श्रुति-दुष्टत्वदोष' आदि को भी रसधर्म मानना होगा। 'श्रुतिदुष्टत्व' अवश्य ही शब्दधर्म है। यदि, दोष कोई ऐसी वस्तु है जो इससे जन्म पाती है तो कोई कारण नही कि श्रुतिदुष्टत्व को दोष न माना जाए। दोष यदि प्राणघात है तो उसे हत व्यक्ति के साथ ही हत्यारे के भीतर भी देखा जाता है, और सत्य तो यह है कि हत्यारे में ही उसको अधिक मात्रा में देखा जाता है। अपूर्व और संस्कारों की बात करने वाले तो कृत कर्म से हत्यारे में ही दोष की उत्पत्ति मानेंगे। इस प्रकार—

गुणों के आश्रय के विषय में आनन्दवर्धन का चिन्तन सन्तुलित है। वह पारमार्थिक भी है और व्यावहारिक भी। उसमें न तो प्राचीन सिद्धान्त का निराकरण है और न अपने सिद्धान्त की उपेक्षा। ध्वन्यालोक के—

शृङ्गार एव मधुरः परः प्रह्लादनो रसः।
तन्मयं काव्यमाश्रित्य माधुर्यं प्रतितिष्ठति॥

शृङ्गार एव रसान्तरापेक्षया मधुरः प्रह्लादनहेतुत्वात्। तत्प्रकाशनपर-शब्दार्थतया काव्यस्य स माधुर्यलक्षणो गुणः, श्रव्यत्वं पुनरोजसोऽपि साधारणम्।

→ प्रसादस्तु स्वच्छता शब्दार्थयोः। स च सर्वरससाधारणो गुणः, सर्व-रचनासाधारणश्च, व्यङ्ग्यार्थापेक्षयैव मुख्यतया व्यवस्थितो मन्तव्यः।
(पृ० २१३ ध्व०)

[ख] गुणानां हि माधुर्यप्रसादप्रकर्षः करुणविप्रलम्भशृङ्गारविषय एव।
(पृ० ३११ ध्व०)

[ग] माधुर्यप्रसादौ रसभावतदाभासविषयावेव। (पृ० ३११ ध्व०)

शृङ्गारे विप्रलम्भाख्ये करुणे च प्रकर्षवत् ।
माधुर्यमार्द्रतां याति यतस्तत्राधिकं मनः ॥

विप्रलम्भशृङ्गार-करुणयोस्तु माधुर्यमेव प्रकर्षवत्, सहृदयहृदयावर्जनातिशयनिमित्तत्वात् ।

रौद्रादयो रसा दीप्त्या लक्ष्यन्ते काव्यवर्तिनः ।
तद्व्यक्तिहेतू शब्दार्थावाश्रित्यौजो व्यवस्थितम् ॥

रौद्रादयो हि रसाः परां दीप्तिमुज्ज्वलतां जनयन्तीति लक्षणया त एव दीप्तिरित्युच्यते । तत्प्रकाशनपरः शब्दो दीर्घसमासरचनालङ्कृतं वाक्यम् । यथा—'चञ्चद्भुज००' । तत्प्रकाशनपरश्चार्थोऽनपेक्षितदीर्घसमासरचनः प्रसन्नवाचकाभिधेयः । यथा—'यो यः०' इत्यादौ द्वयोरोजस्त्वम् ।

समर्पकत्वं काव्यस्य यत् तु सर्वरसान् प्रति ।
स प्रसादो गुणो ज्ञेयः सर्वसाधारणक्रियः ॥

प्रसादस्तु स्वच्छता शब्दार्थयोः । स च सर्वरससाधारणो गुणः सर्वरचनासाधारणश्च व्यङ्ग्यार्थापेक्षयैव मुख्यतया व्यवस्थितो मन्तव्यः[1] ।'

इस पूरे सन्दर्भ में

१ 'तन्मयं काव्यमाश्रित्य माधुर्यं प्रतितिष्ठति ।
२ तत्प्रकाशनपरः शब्दार्थतया काव्यस्य स माधुर्यलक्षणो गुणः
३ तद्व्यक्तिहेतू शब्दार्थावाश्रित्यौजो व्यवस्थितम् ।
४ द्वयोः ओजस्त्वम् ।
५ 'समर्पकत्वं काव्यस्य०' [पूरी कारिका]
६ प्रसादस्तु स्वच्छता शब्दार्थयोः —

इन वाक्यखण्डों पर ध्यान दिया जाए तो ऐकान्तिकता का आग्रह आनन्दवर्धन के सिर पर नहीं थोपा जा सकेगा । वह यदि कहीं मिलेगा तो अभिनवगुप्त और मम्मट में । सचमुच अभिनवगुप्त अभिनव हैं किन्तु गुप्त रूप से । यह तथ्य संघटना प्रकरण में आए इन वचनों से भी स्पष्ट है—

[१] ननु यदि संघटना गुणानां नाश्रयस्तत् किमालम्बना एते परिकल्प्यन्ताम् ? उच्यते, प्रतिपादितमेवैषामालम्बनम्—'तमर्थमवल०' इति । अथवा भवन्तु शब्दाश्रया एव गुणाः, न चैषामनुप्रासादितुल्यत्वम्,

---

1 ध्व० द्वितीय उद्योत

यस्मादनुप्रासादयोऽनपेक्षितार्थशब्दधर्मा एव प्रतिपादिताः। गुणास्तु व्यङ्ग्यविशेषावभासि-वाच्यप्रतिपादन-समर्थ-शब्दधर्मा एव। शब्द-धर्मत्वं चैषामन्याश्रयत्वेऽपि शरीराश्रयत्वमिव शौर्यादीनाम्[1]।'

[२] अनियतसङ्घटनाः शब्दा एव गुणानां व्यङ्ग्यविशेषानुगता आश्रयाः०[2]।

[३] रौद्रादीन् हि प्रकाशयतः काव्यस्य दीप्तिरोजः[3]।

इन सन्दर्भों से इतना ही स्पष्ट होता है कि गुण रसधर्म होते हुए भी शब्दार्थ-धर्म है, ठीक वैसे ही जैसे गणतन्त्र का राज्यपाल राष्ट्रपति का प्रतिनिधि होते हुए भी राज्याश्रित है। राष्ट्रपति उसे अधिकार सौंपता है, किन्तु यदि राज्य न हो तो उसे ये अधिकार राष्ट्रपति ही नहीं, ब्रह्मदेव भी नहीं सौंप सकते।

गुणाभिव्यञ्जक :

संघटनाप्रकरण में यह बतलाया जाएगा कि प्राचीन आचार्य दण्डी और भामह गुणों को समास और असमास पर निर्भर मानते थे। ओजोगुण के लिए वे समास को आवश्यक मानते थे और उसे गौडी वृत्ति या गौडीया रीति पर निर्भर बतलाते थे। आनन्दवर्धन समास या असमास को गुणों का प्रतिमान या मानदण्ड नहीं मानते। वे कहते हैं कि समास माधुर्य में भी सम्भव है और उसका उदाहरण भी उन्होंने प्रस्तुत कर दिया है—**'मन्दारकुसुमरेणुपिञ्जरितालका नायिका'**। समास को वे ओजोगुण में नियमतः नहीं पाते, **'यो यः शस्त्रं बिभर्ति'** उक्ति उसमें उनका प्रमाण है। इतना अवश्य है कि यदि ओजोगुण के स्थल में समास होता है तो वह असमास की स्थिति से अधिक उत्तम प्रतीत होता है आनन्दवर्धन को। संघटना वृत्ति और रीति के प्रकरण में आगे इस दिशा में पर्याप्त लिखा जा चुका है। उसमें बतला दिया गया है कि अभिव्यञ्जक सामग्री कभी अभिव्यङ्ग्य गुण के विरुद्ध भी रहती है और उतने पर भी गुण की व्यञ्जना में वह उपादेय मानी जाती है। इस प्रकार आनन्दवर्धन के अनुसार—

१. गुण शब्द और अर्थ के धर्म तो है ही, रसधर्म भी है। इसलिए शब्द और अर्थ भी गुणों के प्रमुख आश्रय हैं।

---

१. ध्व० पृ० ३१२-१३.

२. ध्व० पृ० ३१५.

३. ध्व० पृ० ३१५.

२ गुण केवल तीन हैं माधुर्य, ओज तथा प्रसाद, १० या २० नहीं। यदि रसनिष्ठ माधुर्य ओज और प्रसाद को पृथक् मान लिया जाए तो गुणों की संख्या ६ होगी।

३ प्रसाद व्यापक गुण है, माधुर्य तथा ओज एकदेशीय, क्योंकि उनमें से माधुर्य केवल शृङ्गार तथा करुण में रहता है और ओज रौद्र आदि दीप्त रसों में ही।

४ गुणों की व्यञ्जना भिन्न भिन्न स्थितियों में भिन्न भिन्न व्यञ्जकों से होती है, उनका कोई एक और अचल व्यञ्जक नहीं है।

[२] अलङ्कार

कहा जा चुका है कि आनन्दवर्धन के समय तक काव्यचिन्तन की लगभग तीन शताब्दियाँ बीत चुकी थीं और इस बीच चार प्रमुख आचार्य हो चुके थे दण्डी, भामह, उद्भट तथा वामन। इन आचार्यों ने अलङ्कारसम्बन्धी जो चिन्तन प्रस्तुत किया उसके सांख्यिकीय अध्ययन से विदित होता है कि वामन तक अलङ्कारों की संख्या ५२ हो चुकी थी। ये अलङ्कार निम्नलिखित है—

१. अतिशयोक्ति
२. अनन्वय
३. अनुप्रास [वृत्त्यनुप्रास]
४. अपह्नुति
५. अप्रस्तुतप्रशंसा
६. अर्थान्तरन्यास
७. आक्षेप
८. आवृत्ति
९. आशीः
१०. उत्प्रेक्षा
११. उत्प्रेक्षावयव
१२. उदात्त
१३. उपमा
१४. उपमारूपक
१५. उपमेयोपमा
१६. ऊर्जस्वि
१७. चित्र
१८. काव्यलिङ्ग
१९. क्रम [यथासंख्य]
२०. छेकानुप्रास
२१. तुल्ययोगिता

२२ दीपक
२३ दृष्टान्त
२४ निदर्शना
२५ परिवृत्ति
२६ पर्यायोक्त
२७ पुनरुक्तवदाभास
२८ प्रतिवस्तूपमा
२९ प्रेय
३० भाविक
३१ यमक
३२ रसवत्
३३ रूपक
३४ लाटानुप्रास
३५ लेश
३६ वक्रोक्ति
३७ विभावना
३८ विरोध
३९ विशेषोक्ति
वृत्त्यनुप्रास [अनुप्रास में]
४० व्यतिरेक
४१ व्याजस्तुति
४२ व्याजोक्ति
४३ श्लेष
४४ संसृष्टि
४५ संकर
४६ समासोक्ति
४७ समाहित
४८ ससन्देह
४९ सहोक्ति
५० सूक्ष्म
५१ स्वभावोक्ति
५२ हेतु

आनन्दवर्धनोल्लिखित अलंकार :

आनन्दवर्धन ने इनमें से निम्नलिखित केवल २८ अलंकारों का उल्लेख किया है—

१. अतिशयोक्ति
२. अनुप्रास
३. अपह्नुति
४. अप्रस्तुतप्रशंसा
५. अर्थान्तरन्यास
६. आक्षेप
७. उत्प्रेक्षा
८. उपमा
९. चित्र
१०. तुल्ययोगिता
११. दीपक
१२. निदर्शना
१३. पर्यायोक्त
१४. प्रेयः
१५. यथासंख्य
१६. यमक
१७. रूपक
१८. वक्रोक्ति
१९. विरोध
२०. विशेषोक्ति
२१. व्यतिरेक
२२. व्याजस्तुति
२३. श्लेष
२४. संसृष्टि
२५. सङ्कर
२६. समासोक्ति
२७. ससन्देह तथा
२८. स्वभावोक्ति.

इनमें से उपमा को मालोपमारूप में भी स्वीकार किया है तथा श्लेष को शब्दश्लेष के रूप में भी। आनन्दवर्धन के समकालीन अथवा कुछ पूर्ववर्ती आचार्य रुद्रट ने श्लेष को उद्भट की मान्यता के विरुद्ध केवल अर्थालंकार स्वीकार न कर शब्दालंकार भी स्वीकार किया था, परवर्ती मम्मट ने भी उनका अनुकरण किया और शब्दश्लेष को पृथक् अलंकार स्वीकार किया। इस दृष्टि से यदि आनन्दवर्धन के अनुसार भी श्लेष को शब्द और अर्थ के बीच स्वतन्त्र रूप से विद्यमान दो पृथक् अलंकार स्वीकार कर लिया जाए तो आनन्दवर्धन के द्वारा उल्लिखित अलंकारों की संख्या २९ हो सकती है।

आनन्दवर्धन ने 'समुच्चय'[1] शब्द का प्रयोग इस संदिग्ध स्थिति में किया है कि यह कहना कठिन है कि वे उसे पृथक् अलंकार स्वीकार करते हैं, यद्यपि रुद्रट ने समुच्चय की गणना अलंकारों में कर ली है।

आनन्दवर्धन ने 'रसवत्' का भी उल्लेख किया है, किन्तु उसको उपमा आदि जैसा अलंकार नहीं माना है।

अनुल्लेख का कारण

उक्त अलंकारों के उल्लेखों से हम यह निष्कर्ष नहीं निकाल सकते कि आनन्दवर्धन ने जिन—

१ अनन्वय	२ आवृत्ति	३ आशी
४ उत्प्रेक्षावयव	५ उदात्त	६ उपमारूपक
७ उपमेयोपमा	८ ऊर्जस्वि	९ काव्यलिङ्ग
१० छेकानुप्रास	११ दृष्टान्त	१२ परिवृत्ति
१३ पुनरुक्तवदाभास	१४ प्रतिवस्तूपमा	१५ भाविक
१६ लाटानुप्रास	१७ लेश	१८ विभावना
१९ व्याजोक्ति	२० समाहित	२१ सहोक्ति
२२ सूक्ष्म	तथा	२३ हेतु

इन २३ अलंकारों का उल्लेख नहीं किया उनका ज्ञान आनन्दवर्धन को नहीं था, क्योंकि आनन्दवर्धन वामन से परिचित हैं और भामह[2] तथा उद्भट[3] का नाम लेते हैं। उन्हें दण्डी का ज्ञान नहीं है ऐसा भी कहना सरल नहीं है। ऐसी स्थिति में

१ ध्व० पृ० २७४
२-३ ध्व० पृ० ११९, २३६

यह मानना आवश्यक है कि आनन्दवर्धन को उक्त चारों आचार्यों के सभी अलंकारों का ज्ञान था। जहाँ तक इन अलंकारों में से अनुल्लिखित २३ अलंकारों को अलंकार मानने का प्रश्न है यह कहना कठिन है कि इस विषय में आनन्दवर्धन का मत क्या है। उक्त प्राचीन आचार्यों मे परवर्त्ती ३ आचार्यो के दृष्टिकोण से इस दिशा में कुछ अनुमान लगाया जा सकता है।

प्राचीन आचार्यों में दण्डी सबसे प्राचीन हैं[1]। उनने केवल ३७ अलंकार स्वीकार किए हैं। उनकी सूची उन्हें मान्य क्रम से यह है—

दण्डी :

१. स्वभावोक्ति	२. उपमा	३. रूपक
४. दीपक	५. आवृत्ति	६. आक्षेप
७. अर्थान्तरन्यास	८. व्यतिरेक	९. विभावना
१०. समासोक्ति	११. अतिशयोक्ति	१२. उत्प्रेक्षा
१३. हेतु	१४. सूक्ष्म	१५. लेश
१६. क्रम	१७. प्रेयः	१८. रसवद्
१९. ऊर्जस्वि	२०. पर्यायोक्त	२१. समाहित
२२. उदात्त	२३. अपह्नुति	२४. श्लेष
२५. विशेषोक्ति	१६ तुल्ययोगिता	२७. विरोध
२८. अप्रस्तुतप्रशंसा	२९. व्याजस्तुति	३०. निदर्शना
३१. सहोक्ति	३२. परिवृत्ति	३३. आशीः
३४. संसृष्टि	३५. भाविक	३६. यमक तथा
३७. चित्र.		

भामह :

इनमें से दण्डी के प्रथम परवर्त्ती आचार्य भामह[2] ने ५ अलङ्कारों को अलङ्कार नहीं माना, साथ ही ६ अन्य अलङ्कारों की अपनी ओर से कल्पना की। इन दोनों का विवरण यह है—

अमान्य अलङ्कार : आवृत्ति, हेतु, सूक्ष्म, लेश तथा चित्र।

स्वकल्पित अलङ्कार : अनुप्रास, उपमारूपक, उत्प्रेक्षावयव, उपमेयोपमा, सन्देह, अनन्वय।

१-२. द्र० हमारे अलंकारसर्वस्व की भूमिका।

उद्भट वामन

भामह के परवर्ती आचार्य उद्भट ने दण्डी और भामह के अलङ्कारो में से भामह के ही समान कुछ अलङ्कारो को छोडा और कुछ की नवीन कल्पना की। इनका विवरण निम्नलिखित है—

अमान्य अलकार दण्डी के-आवृत्ति, हेतु, सूक्ष्म, लेश, आशी, यमक, चित्र
भामह के-उपमारूपक तथा उत्प्रेक्षावयव

स्वकल्पित अलकार (१) पुनरुक्तवदाभास, (२) छेकानुप्रास (३) लाटानुप्रास, (४) प्रतिवस्तूपमा, (५) काव्यलिङ्ग, (६) दृष्टान्त तथा (७) सकर।

वामन उद्भट के समकालीन हैं। उनने अपने पूर्ववर्ती आचार्य दण्डी और भामह दोना के ही अलङ्कारों में से कुछ अलङ्कारो को अमान्य करते हुए कुछ अलङ्कारो की कल्पना स्वय की। उनका विवरण यह है

अमान्य अलङ्कार दण्डी के—स्वभावोक्ति, आवृति, हेतु, सूक्ष्म, लेश, रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वि, पर्यायोक्त, उदात्त, भाविक, आशी, चित्र

भामह के—उत्प्रेक्षावयव तथा उपमारूपक

स्वकल्पित अलङ्कार (१) वक्रोक्ति[1] (२) व्याजोक्ति (३) प्रतिवस्तूपमा[2]।

इस विवरण से स्पष्ट है कि भामह से वामन तक केवल १६ अलङ्कार विवादास्पद रहे है। उन्हें हम निम्नलिखित ६ वर्गों में बाँट सकते है

१ भामह + उद्भट + वामन
२ भामह + उद्भट
३ भामह + वामन
४ उद्भट + वामन
५ उद्भट मात्र
६ वामन मात्र

---

१ वक्रोक्ति नामक एक अलकार परवर्ती रुद्रट ने भी स्वीकार किया है किन्तु उसका स्वरूप वामन की वक्रोक्ति के स्वरूप से भिन्न है।

२ प्रतिवस्तूपमा की कल्पना उद्भट ने भी की है, अत कुल अलकारो की सख्या ५२ ही माननी पडती है, ५३ नही।

इनमें से उक्त अलंकारों में एक भी ऐसा नहीं है जिसे द्वितीय और तृतीय वर्ग में गिना जा सके। अर्थात् ऐसा एक भी अलंकार नहीं है जिसको केवल भामह और उद्भट तथा केवल भामह और वामन नहीं मानते। फलतः उक्त १६ अमान्य अलंकारों को चार ही वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। वर्गों और उनमें आने वाले अलंकारों के नाम निम्नलिखित होंगे :

वर्ग	अलंकार	
[१] भामह + उद्भट + वामन को अमान्य	१. आवृत्ति	[१]
	२. चित्र	[२]
	३. श्लेष	[३]
	४. सूक्ष्म	[४]
	५. हेतु	[५]
[२] उद्भट + वामन को अमान्य	१. आशीः	[६]
	२. उत्प्रेक्षावयव	[७]
	३. उपमारूपक	[८]
[३] केवल उद्भट को अमान्य	१. यमक	[९]
[४] केवल वामन को अमान्य	१. उदात्त	[१०]
	२. ऊर्जस्वि	[११]
	३. पर्यायोक्त	[१२]
	४. प्रेय	[१३]
	५. भाविक	[१४]
	६. रसवत्	[१५]
	७. स्वभावोक्ति	[१६]

पूर्ववर्ती आचार्यों में विवाद का विषय बने इन १६ अलंकारों में से आनन्दवर्धन ने :

१. चित्र
२. यमक
३. पर्यायोक्त
४. प्रेयः
५. रसवत् तथा
६. स्वभावोक्ति

इन ६ का उल्लेख किया है, जैसा कि उनके २८ अलंकारों की पूर्वप्रदत्त सूची से स्पष्ट है। रसवत् को उनने अलंकार नहीं कहा, अतः शेष पांच उन्हें अलंकार

रूप से मान्य है। फलत उक्त १६ विवादास्पद अलकारो में से रसवत् को अल-काररूप से अमान्य है ही

१ आवृत्ति २ श्लेश ३ सूक्ष्म ४ हेतु ५ आशी
६ उत्प्रेक्षावयव ७ उपमारूपक ८ उदात्त ९ ऊर्जस्वि १० भाविक

ये १० अलकार आनन्दवर्धन को भी अमान्य हो सकते है, यद्यपि उनके परम अनुयायी मम्मट ने इनमें से भी उदात्त, सूक्ष्म और भाविक को अलकार मान लिया है। आनन्दवर्धन के द्वारा

उल्लिखित २८ अलकारो में रसवत् सहित उक्त ११ अमान्यतुल्य अलकारो को जोडने से लब्ध ३९ सख्या को आनन्दवर्धन के समय तक मान्य ५२ अलकारो में से घटाने पर जो—

१ अनन्वय २ उपमेयोपमा ३ काव्यलिङ्ग
४ छेकानुप्रास ५ दृष्टान्त ६ परिवृत्ति
७ पुनरुक्तवदाभास ८ प्रतिवस्तूपमा ९ लाटानुप्रास
१० विभावना ११ व्याजोक्ति १२ समाहित तथा
१३ सहोक्ति

ये १३ अलङ्कार शेष रहते है, इनमें से पुनरुक्तवदाभास तथा व्याजोक्ति को आनन्दवर्धन के लगभग समकालीन आचार्य रुद्रट ने अलङ्कार नही माना है, अत इन्हें अलङ्कार गणना से हटाया जा सकता है। सहोक्ति में साहचर्य के आधार पर प्रधान और अप्रधान में सादृश्य मानकर उपमा स्वीकार की जा सकती है। रुद्रट ने इसके एक भेद को उपमावर्ग में गिनाया भी है। इसी प्रकार समाहित को गुणीभूतव्यङ्ग्य के अन्तर्गत गिना जा सकता है। छेकानुप्रास और लाटानुप्रास को शुद्ध अनुप्रास में अन्तर्भूत किया जा सकता है, जैसा कि रुद्रट और मम्मट ने किया है। अनन्वय, उपमेयोपमा और प्रतिवस्तूपमा को उपमावर्ग में गिनना अस्वा-भाविक नही है। दण्डी ने ऐसा किया ही है। वामन ने भी प्रतिवस्तूपमा को उपमा में ही गिनाया है। काव्यलिङ्ग को दण्डी के ही समान हेतु में अन्तर्भूत माना जा सकता है। दृष्टान्त को निदर्शना या उपमा में एव विभावना को विरोध या विशेषोक्ति मे विलीन किया जा सकता है, क्योंकि इनमें बहुत थोडा अन्तर है और उतने अन्तर को आनन्दवर्धन अलङ्कारविशेष की कल्पना के लिए पर्याप्त नही मानते। उसे वे भणितिवैचित्र्य और वाग्विकल्प कहकर छोड देते है। शेष जो परिवृत्ति है उसे रुद्रट और मम्मट ने अलङ्कार माना है। आनन्दवर्धन उसके लिए भी अधिक उदार नही माने जा सकते। इस प्रकार अवशिष्ट १३ अलङ्कारों के

विषय में आनन्दवर्धन की ओर से जो एक क्षीण कल्पना की जा सकती है वह यह कि—

	१. पुनरुक्तवदाभास, व्याजोक्ति, परिवृत्ति	अलंकारत्व-शून्य है
	२. समाहित	गुणीभूतव्यङ्ग्य
	३. छेकानुप्रास, लाटानुप्रास	अनुप्राससामान्यरूप
	४. अनन्वय, उपमेयोपमा, प्रतिवस्तूपमा, सहोक्ति	उपमा
	५. दृष्टान्त	उपमा या निदर्शना
	६. काव्यलिङ्ग	हेतु रूप से अलंकार
तथा	७. विभावना	विरोध या विशेषोक्ति।

नवीन कल्पना :

इस सन्दर्भ में यह एक अत्यन्त ध्यान देने योग्य तथ्य है कि आनन्दवर्धन ने भामह के उत्प्रेक्षावयव तथा उपमारूपक की ही भाँति 'उपमाश्लेष' तथा 'श्लेष-व्यतिरेक' नाम के दो नवीन अलंकारों की ओर भी समीक्षकों का चित्त आकृष्ट किया है। इनमें से—

[१] श्लेषव्यतिरेक[1]

के लिए आनन्दवर्धन का कहना है कि वह वहाँ होता है जहाँ उन्हीं शब्दों में व्यतिरेक भी चला आए जिनसे श्लेष निष्पन्न हो रहा हो। उदाहरण के रूप में उन्होंने निम्नलिखित वाक्य प्रस्तुत किया है—

'स हरिर्नाम्ना देवः स हरिर्वरतुरगनिवहेन'।

कवि का आश्रयदाता और विष्णु राजा दोनों 'सहरि' हैं किन्तु विष्णु केवल नाम से और राजा उत्तमोत्तम अश्वों से युक्त होने के कारण।

---

१. अभिनवगुप्त ने 'श्लेषव्यतिरेक' के प्रति आनन्दवर्धन का दृष्टिकोण बिल्कुल विपरीत दिखलाया है। तदनुसार आनन्दवर्धन 'सहरि' स्थल में केवल सङ्कर मानते हैं। अभिनवगुप्त का यह कथन मूल से सर्वथा विरुद्ध है। द्र० ध्वन्या० पृ० २२८।

'श्लेषव्यतिरेक'-शब्द का प्रयोग मम्मट ने भी किया है किन्तु अत्यन्त संदिग्ध स्थिति में। वस्तुतः वह आनन्दवर्धन के मन का संस्कार है। द्र० काव्यप्रकाश नवमउल्लास का श्लेषप्रकरण।

यहाँ 'सहरि'[1] का अर्थ है 'हरि' से युक्त। संस्कृत में हरि का अर्थ होता है अश्व और विष्णु। यहाँ विष्णुपक्ष में हरि का अर्थ है 'हरि'-नाम। विष्णु का एक नाम हरि है, अतः वे हरि से युक्त यानी 'सहरि' हैं। उधर राजा के पक्ष में हरि का अर्थ है अश्व। राजा अश्वों की उत्तम सेना से लैस हैं, फलतः 'सहरि' हैं। इस प्रकार 'सहरि'-शब्द में श्लेष हुआ। इस श्लेष से व्यतिरेक भी निकल रहा है। व्यतिरेक में उपमेय उपमान की अपेक्षा उत्कृष्ट सिद्ध किया जाता है। यहाँ उपमान है विष्णु और उपमेय है राजा। कहा जा रहा है कि राजा ही सच्चे अर्थ में 'सहरि' हैं, विष्णु तो 'सहरि' केवल नाममात्र से हैं। इस प्रकार जिस 'सहरि' पद में श्लेष है उसी में व्यतिरेक भी निहित है, परिणामतः यहाँ 'श्लेष-व्यतिरेक' नामक अलङ्कार है।[2]

श्लेषव्यतिरेक के विषय में आनन्दवर्धन ने समीक्षकों को सावधान किया है और लिखा है कि जहाँ श्लेष भिन्न शब्दों से निष्पन्न हो रहा हो और व्यतिरेक भिन्न शब्दों से, अर्थात् दोनों की निष्पत्ति एक ही शब्द से नहीं हो रही हो वहाँ श्लेषव्यतिरेक नहीं माना जा सकता। उदाहरणार्थ—किसी वियुक्त व्यक्ति की अशोकवृक्ष के प्रति इस उक्ति को लीजिए—

> रक्तस्त्वं नवपल्लवैरहमपि श्लाघ्यैः प्रियाया गुणै-
> स्त्वामायान्ति शिलीमुखाः स्मरधनुर्मुक्ताः सखे मामपि।
> कान्तापादतलाहतिस्तव मुदे तद्वन्ममाप्यावयोः
> सर्वं तुल्यमशोक ! केवलमहं धात्रा सशोकः कृतः॥

हे अशोक ! हम दोनों रक्त हैं, तुम नए पत्तों से, मैं प्रियागुणों से, हम दोनों पर शिलीमुख (बाण और भ्रमर) टूट रहे हैं, तुम्हारे ऊपर भौंरे-रूपी शिलीमुख और मेरे ऊपर काम के धनुष से मुक्त बाणरूपी शिलीमुख, इसी प्रकार प्रिया के पादतल की सुकुमार चोट[3] भी तुम और मैं दोनों

---

१ 'सहरि' की व्याख्या में 'स हरिः नाम्ना सहरिः, देव सहरिः वरतुरगनिवहैन' इस प्रकार 'सहरि' शब्द की विष्णुपक्ष में आवृत्ति करनी होगी। इसे महिम-भट्ट दोष मानते हैं।

२ मम्मट ने इस प्रकार से आए अलङ्कारों को 'एकवाचकानुप्रवेश'-सङ्कर माना है।

३ संस्कृत के कवियों का अशोक तब फूलता है जब कोई सुन्दरी उसपर आलक्तकरञ्जित पादतल से चोट करती है।

को प्रिय है। इस प्रकार हमारी सब बातें समान है, परन्तु मित्र अशोक ! मुझे विधाता ने सशोक बना दिया है।

यहाँ जिन शब्दों में द्व्यर्थकता है उनमें व्यतिरेक नहीं है और जिन शब्दों में व्यतिरेक है उनमें द्व्यर्थकता नहीं है। द्व्यर्थकता वाले शब्द आए हैं समता के प्रतिपादन तक, जबकि व्यतिरेक वाले शब्द आते है अन्त में 'अ-शोक' तथा 'सशोक'। इस सम्पूर्ण उक्ति में कवि पहले श्लेष को अपनाकर आगे बढ़ता है, किन्तु अन्त में वह उसे छोड़ देता है, और व्यतिरेक को अपना लेता है। इस प्रकार इस उक्ति में श्लेप तथा व्यतिरेक भिन्न भिन्न वाक्यों में आए हुए दिखाई दे रहे है। उनमें परस्पर सम्बन्ध नहीं है। फलतः यहाँ श्लेप को व्यतिरेक से या व्यतिरेक को श्लेप से मिश्रित नही कहा जा सकता, और इसीलिए यहाँ यदि माना जाए तो 'संसृष्टि'[1] नामक अलंकार माना जा सकता है, श्लेपव्यतिरेक नही।[2]

प्रश्न : यह कहा जा सकता है कि उक्त उक्ति में व्यतिरेक तब तक निष्पन्न नही होता जब तक साम्य की निष्पत्ति नहीं होती। और चूँकि साम्यनिष्पत्ति श्लेप से हो रही है इसलिए इस उक्ति में भी व्यतिरेक के साथ श्लेप का सम्बन्ध है।

उत्तर : आनन्दवर्धन इसके उत्तर में कहते हैं—'व्यतिरेक की प्रतीति साम्य के प्रतिपादन के विना भी सम्भव हुआ करती है।' उदाहरण है—

नो कल्पापायवायोरदयरयदलत्क्ष्माधरस्यापि शम्या
गाढोद्गीर्णोज्ज्वलश्रीरहनि, न रहिता नो तमःकज्जलेन।
प्राप्तोत्पत्तिः पतङ्गान्न पुनरुपगता मोपमुष्णत्विपो वो
वर्तिः सैवान्यरूपा सुखयतु निखिलद्वीपदीपस्य दीप्तिः॥

सूर्यरूपी त्रैलोक्यदीपक की जो दीप्तिरूपी वत्ती है वह एक निराली ही वत्ती है। वह पर्वतों को भी अपने अदय रय से उखाड़ फेंकने वाले प्रबल वायु से भी नहीं बुझती। वह दिन में भी पूरा उजेला करती है। उसमें कज्जल नहीं रहता। वह पतङ्गसे (शलभ और

---

1. अभिनवगुप्त ने यहाँ सङ्कर स्वीकार करने का प्रयत्न किया है। द्र० ध्व० पृ० २२८-२९। मूल में आनन्दवर्धन ने संसृष्टि का ही नाम लिया है। ठीक भी है।
2. ध्वन्यालोक पृ० २२७-२२९.

सूर्य) से पैदा होती है, बुझती नही। यह दीप्ति आपको सुखी बनाए[1]।

यह उक्ति। इसमें सूर्य को उपमेय बनाकर दीपक का उपमान बनाया जा रहा है तथा सामान्य दीपक की लौ से सूर्यरूपी दीपक की लौ का उत्कृष्ट बतलाया जा रहा है। अत यहाँ व्यतिरेक की अभिव्यक्ति मिल रही है। ध्यान देने की बात यह है कि यहाँ सामान्य दीपक की लौ तथा सूर्यरूपी दीपक की लौ का साम्य, आरम्भ से अन्त तक कही भी नही बतलाया गया। इस प्रकार व्यतिरेक के लिए साम्य का प्रतिपादन आवश्यक नही है, फलत श्लेष भी अनिवार्य नही है, क्योकि व्यतिरेक मे श्लेष को साम्यसिद्धि के लिए ही अपनाया जाता है।

ऐसा भी नही कि साम्य की प्रतीति केवल श्लेष के द्वारा ही होती हो, अत साम्य सदा ही श्लेष से मिश्रित रहता हो। कारण कि—

> आक्रन्दा स्तनितैर्विलोचनजला यश्रान्तधाराम्बुभि
> स्तद्विच्छेदभुवश्च शोकशिखिनस्तुल्यास्तडिद्विभ्रमै ।
> अन्तर्मे दयितामुख तव शशी, वृत्ति समैवावयो-
> स्तत् किं मामनिश सखे ! जलधर त्व दग्धुमेवोद्यत ॥

हे मित्र जलधर तुम्हारी और मेरी स्थिति समान है, क्योकि मै आहे भर रहा हूँ, तुम भी गडगडा रहे हो, मेरे नेत्रो से आँसू बह रहे है, तुम भी निरन्तर वृष्टि कर रहे हो, मेरे भीतर मेरी उस प्रेयसी के विच्छेद की शोकाग्नि है, तुम्हारे भीतर भी बिजली की कौंध है, इसी प्रकार मेरे चित्त में प्रिया के मुख का प्रतिबिम्ब है और तुम्हारे भीतर चन्द्रबिम्ब है। इतना होने पर भी मित्र मेघ! तुम मुझे जला डालने के लिए क्यो उद्यत हो[2]। इत्यादि

ऐसी भी उक्तियाँ मिलती है जिनमें साम्य रहता है, किन्तु श्लेष नही।

इस प्रकार न तो साम्य श्लेष से बँधा है और न व्यतिरेक साम्य से, फलत व्यतिरेकस्थल में श्लेष का माना जाना अनिवार्यता नही है। इस कारण 'सहरि' स्थल मे जो श्लेष और व्यतिरेक का एक अपूर्व सयोग दिखाई देता है इसे 'श्लेष-व्यतिरेक'-नामक एक स्वतन्त्र अलकार का स्थल मान लेना उचित है। 'रजस्व' में वैसी स्थिति नही है, इसलिए वहाँ श्लेषव्यतिरेक न मानकर ससृष्टि मानना उचित है।

१-२ ध्व० पृ० २३०-३१

[२] उपमाश्लेप[1]

उपमाश्लेप वहाँ होता है जहाँ उपमा से श्लेप की सिद्धि होती है। उदाहरणार्थ—

> उद्दामोत्कलिकां विपाण्डुररुचं प्रारब्धजृम्भां क्षणा-
> दायासं श्वसनोद्गमैरविरलैरातन्वतीमात्मनः ।
> अद्योद्यानलतामिमां समदनां नारीमिवान्यां ध्रुवं
> पश्यन् कोपविपाटलद्युति मुखं देव्याः करिष्याम्यहम्[2] ॥

उद्दाम उत्कलिकाओं से युक्त, पीली पड़ी हुई, जँभाती जा रही, अविरल चलते श्वसन से आयासित उद्यानलता को काममोहिता नारी के समान देखकर मैं आज महारानी का मुख कोप से पाटलित कान्तिवाला बना दूँगा ।

इस उक्ति में लता के जो विशेषण हैं उनसे 'नारीपक्ष का भी कोई अर्थ निकलता है और उनमें द्व्यर्थकता या श्लेप है' यह तब विदित होता है जब लता को नारी के समान कहा जाता है। इस[3] प्रकार यहाँ श्लेप की निष्पत्ति उपमा के कारण होती है। यदि उपमा को हटा दिया जाए तो लता के सभी विशेषण केवल लता से ही संबद्ध प्रतीत होंगे। तब श्लेप की प्रतीति न होगी। इस प्रकार श्लेप की ओर जो ध्यान जाता है उसमें कारण है उपमा। फलतः यहाँ चमत्कार श्लेप में है, किन्तु उस श्लेप में जो उपमा से निष्पन्न होकर प्रतीत हो रहा है। अतः

---

१. ध्व० पृ० २२७।

२. रत्नावली–२।४; उत्कलिका = लतापक्ष में उद्गत कलिकाओं से युक्त, नारीपक्ष में–उत्कण्ठा से युक्त। श्वसन = लतापक्ष में वायु नारीपक्ष में लम्बी साँसें।

३. भामह और वामन ने श्लेप को उपमाप्रकरण में रखा है। द्रष्टव्य है वामन के काव्यालङ्कारसूत्र का ४।३।७ सूत्र। वामन ने उदाहरण भी ठीक ऐसा ही दिया है जैसा यहाँ आनन्दवर्धन ने। निश्चित ही आनन्दवर्धन यहाँ श्लेप को श्लेप और उपमा से भिन्न एक स्वतन्त्र अलङ्कार मानना चाहते हैं। मम्मट के अनुसार यहाँ प्रधान अलङ्कार उपमा ही है। उनके अनुसार यहाँ आया श्लेप साधारण धर्म का निष्पादक है, अतः साधनमात्र है। वे कहते हैं कि यदि ऐसे स्थलों में अलङ्कारत्व श्लेप में ही स्वीकार किया गया तो उपमा कहीं भी स्वीकार नहीं की जा सकेगी, क्योंकि साधारणधर्म केवल श्लेप से ही निष्पन्न होगा।

अलङ्कारत्व श्लेष में ही है किन्तु केवल श्लेष मे नही अपितु उपमा-जनित श्लेष में। यही श्लेष है उपमाश्लेष।

इन दो अलकारो की ओर ध्यान देने से प्रतीत होता है कि आनन्दवर्धन भामह द्वारा कल्पित उपमारूपक को भले ही अस्वीकार कर दें, किन्तु उत्प्रेक्षावयव को अवश्य ही स्वीकार करते होंगे। वामन ने भामह के इन दोनो अलकारो को ससृष्टि में अन्तर्भूत माना था और भोज ने उनका अनुमोदन किया था, किन्तु यह सत्य है कि श्लेषध्वनिरेक तथा उपमाश्लेष की नाई उत्प्रेक्षावयव की आशिक मौलिकता को मेटा नही जा सकता। उत्प्रेक्षावयव का

तुल्योदयावसानत्वाद् गतेऽस्त प्रति भास्वति।
वासाय वासर क्लान्तो विशतीव तमोगृहम्॥

सूर्य जब डूबने लगा तो दिन भी, ऐसा लगता है कि तमोगृह में निवास के लिए प्रविष्ट सा होने जा रहा है, क्योंकि उसके उदय और अस्त सूय के उदय और अस्त पर निर्भर है[1]।

यह उदाहरण देकर भामह ने लिखा था कि शुद्ध उत्प्रेक्षा से इस अलकार में श्लेष और रूपक के पुट को लेकर अन्तर होना[2] है। इस उदाहरण मे 'प्रविष्ट सा होने लगा इस स्थल मे उत्प्रेक्षा है। 'तमोगृह' में रूपक है। श्लेष भी 'उदय और 'अस्त' शब्दों में सुलभ है। सूर्य के उदय और अस्त का अर्थ उगने और डूबने को भौतिक या भौगोलिक घटना है। दिन के उदय और अस्त उससे भिन्न हैं। वे दिनरूपी मित्र या आश्रित जन के उदय और अस्त है अर्थात् जीवित व्यक्ति की उन्नति और अवनति है। भौगोलिक और चेतनोचित दोनो पक्षो के उक्त अर्थों का बोध एक ही बार प्रयुक्त किए गए 'उदय' और 'अस्त' शब्दों मे हो रहा है, अत उनमें द्वयर्थकता है, फलत श्लेष भी है।

परवर्ती आचाय वामन के अनुसार यहाँ ससृष्टि[3] होगी। मम्मट इसमें सकर स्वीकार करेंगे। आनन्दवर्धन के उक्त उदाहरण पर आपत्ति हो सकती है

१ काव्यालकार ३।४८।

२ श्लिष्टस्यार्थेन सयुक्त किञ्चिदुत्प्रेक्षयान्वित।
रूपकार्थेन च पुनरुत्प्रेक्षावयवो यथा॥ तुल्योदया० उपर्युक्त पद्य।
(३।४७ काव्यालकार)

३ वामन की ससृष्टि—'अलकारस्यालकारयोनित्व ससृष्टि'='ससृष्टि यानी एक अलकार का दूसरे अलकार के प्रति हेतु बनाना'—इस प्रकार वही है→

किन्तु इसकी मौलिकता पर नही। कदाचित् वे उत्प्रेक्षावयव और उपमारूपक को भी श्लेषव्यतिरेक के ही समान किसी ऐसे स्थल में स्वीकार करते जिसमें दोनों अलंकारों का उदय एक ही शब्द से सम्भावित होता। जो हो। आनन्दवर्धन अलंकार मिश्रण में न तो आत्यन्तिक रूप से वामन के अनुयायी है और न उसी प्रकार भामह के। इस पर वे अपना चिन्तन भी रखते है। उनका यह चिन्तन अत्यन्त महत्त्व रखता है, क्योंकि उनका विचार क्षेत्र केवल 'ध्वनि' था और अलंकारों के प्रति वे अधिक आकृष्ट नही थे। आकृष्ट न होने पर भी अलंकारों पर मौलिक चिन्तन रखना अवश्य ही आनन्दवर्धन की 'उदारता' का प्रमाण है।

अब हम आनन्दवर्धन द्वारा उल्लिखित उक्त २८ अलंकारों में से प्रत्येक का अध्ययन प्राचीन आचार्यों की भूमिका और स्वयं आनन्दवर्धन के उल्लेखों के आधार पर करेंगे। एतदर्थ हम अलंकारों को शब्द और अर्थ के दो वर्गों मे विभक्त कर लें, क्योंकि स्वयं आनन्दवर्धन ने भी वैसा किया[1] है।

शब्दालंकार

[१] अनुप्रास[2] :

आनन्दवर्धन ने अनुप्रास को 'एकरूपानुबन्ध'[3] कहा है, इससे अधिक न तो इसके स्वरूप पर कोई प्रकाश डाला है और न उसका कोई उदाहरण ही प्रस्तुत किया है। एतदर्थ वे पूरी तरह पूर्ववर्त्ती आचार्यों पर निर्भर है। पूर्ववर्त्ती आचार्यों

→ जो परवर्त्ती मम्मट का अनुग्राह्यानुग्राहकभावमूलक संकर है। वामन के पूर्ववर्त्ती भामह ने संसृष्टि को 'बह्वलंकारयोग'='अनेक अलंकारों का मिश्रण' माना था [काव्यालंकार ३।४९]। अपनी संसृष्टि के प्रकाश में वामन ने उत्प्रेक्षावयव और उपमारूपक के लिए लिखा—'तद्भेदावुपमारूपकोत्प्रेक्षावयवौ, उपमाजन्यं रूपकमुपमारूपकम्, उत्प्रेक्षाहेतुरुत्प्रेक्षावयवः'।

(काव्यालंकारसूत्र—४।३।३०—३३)

१. [क] शब्दगताश्चारुत्वहेतवोऽनुप्रासादयः, अर्थगताश्चोपमादयः।

(ध्व० पृ० १७)

[ख] वाच्यवाचकचारुत्वहेतुभ्य उपमादिभ्योऽनुप्रासादिभ्यश्च विभक्त एव ध्वनेर्विषयः। (ध्व० पृ० १०६)

२. ध्व० पृ० १७, १०६, २१८×२, २११×४, २२१.

३. ध्व० ३।१४

में अनुप्रास का लक्षण तो दण्डी ने अच्छा प्रस्तुत किया है, किन्तु भेद तथा उदाहरण उद्भट ने अच्छे दिए हैं। दण्डी ने अनुप्रास के लिए वर्णों की ऐसी आवृत्ति आवश्यक मानी है जिसमें पहले हुए प्रयोग से निष्पन्न उसी वर्ण के संस्कार का उद्बोध हो सके[1]। इस आवृत्ति में समय अधिक नहीं लाना चाहिए। उद्भट ने इसे छेकानुप्रास, अनुप्रास तथा लाटानुप्रास इन तीन भेदों में विभक्त माना है। इनमें से जो द्वितीय भेद है उसका ही दूसरा नाम वृत्त्यनुप्रास है, क्योंकि यह वृत्तियों पर निर्भर रहता है। वृत्ति का अर्थ है कोमल या कठोर वर्णों का सन्निपात। वृत्तियों की संख्या उद्भट ने तीन मानी हैं परुषा, उपनागरिका तथा ग्राम्या। इनमें से

[१] परुषा में 'श, ष, क्र, र्क, ट, ठ, ड, ढ' वर्णों की आवृत्ति रहती है,

[२] उपनागरिका में 'क्क, ष्प, ह्न, ञ्ज, न्त, म्प' आदि संयुक्ताक्षरों की आवृत्ति तथा

[३] ग्राम्या में अवशिष्ट व्यञ्जनों[2] की।

उद्भट की पदावली में तीनों वृत्तियों के उदाहरण क्रमशः ये हैं

[१] परुषा — शरत् तोयाशयाशेष व्याकोशित कुशेशया तथा शालि किंशारु-कपिशाऽऽमुखा है।[3]

[३] ग्राम्या — शरत् में सुन्दरस्पन्दसहित स्पन्दित सान्द्रारविन्दवृन्दोत्थम-करन्दाम्बुबिन्दुओं से इन्दिन्दिरों को नन्दित कर रही है।[4]

[२] उपनागरिका — शरत् केलि लोल-अलिमालाओं के कल कोलाहलों से कानना-रूढ श्रीनूपुर-रव-भ्रम को कर रही है।[5]

---

१ वर्णावृत्तिरनुप्रासः पादेषु च पदेषु च।
पूर्वानुभव संस्कार-बोधिनी यद्यदूरता॥ (काव्यादर्श १।५५)

२ तीनों भेदों की इस वर्ण योजना के लिए द्रष्टव्य उद्भटकृत काव्यालंकारसार-संग्रह १।१–६

३ तत्र तोयाशयाशेष – व्याकोशित कुशेशया।
चकास्ति शालि किंशारु-कपिशाशामुखा शरत्॥

४ सान्द्रारविन्द वृन्दोत्थ मकरन्दाम्बु बिन्दुभिः।
स्यन्दिभिः सुन्दरस्पन्द नन्दितेन्दिन्दिरा क्वचित्॥ इन्दिन्दिर = भ्रमर

५ केलिलोलालिमालानां कलैः कोलाहलैः क्वचित्।
कुर्वती काननारूढ – श्रीनूपुररवभ्रमम्॥

इन उदाहरणों के आधार पर उद्भट ने अनुप्रास का लक्षण पूर्वाचार्यों के ही स्वर में **'समान व्यञ्जनों का विन्यास'**[1] बतलाया है।

छेकानुप्रास समान वर्णों का समुदाय न होकर समान वर्णसमुदायों का समुदाय होता है। इस समुदाय में भी एक वर्णसमुदाय की आवृत्ति केवल एक ही बार मानी जाती है। उदाहरण—**गरिष्ठगोष्ठी प्रथम हैं प्रमथ** [शिव के गण]

लाटानुप्रास में पदों की आवृत्ति होती है यथा काश काश से हो हैं। इसको अनेक भेदों में विभक्त किया जाता है।[2]

आनन्दवर्धन ने छेकानुप्रास तथा लाटानुप्रास की ओर कोई संकेत नहीं किया। उन्होंने केवल वृत्त्यनुप्रास को महत्त्व दिया है और वृत्तियों को उसमें अभिन्न माना है।[2]

[४] यमक[3]

यमक पर आनन्दवर्धन का ध्यान पर्याप्त गहराई के साथ केन्द्रित है, किन्तु अनुप्रास के ही समान वे इसके भी स्वरूप तथा उदाहरण प्रस्तुत नहीं करते। पूर्ववर्ती आचार्यों में यमक को दण्डी और वामन ने अधिक महत्त्व दिया था।

---

१. भामह = सरूपवर्णविन्यासमनुप्रासं प्रचक्षते। काव्यालङ्कार १।५
उद्भट = सरूपव्यञ्जनन्यासं तिसृष्वेतासु वृत्तिषु।
पृथक् पृथगनुप्रासमुशन्ति कवयः सदा॥ काव्यालङ्कारसंग्रह–१
स्पष्ट ही वर्णों में स्वर भी गिने जा सकते थे, अतः उद्भट ने भामह के 'वर्ण' को बदला तथा व्यञ्जन शब्द अपनाकर स्पष्ट किया कि अनुप्रासों में जिन वर्णों की आवृत्ति होती है वे व्यञ्जन ही होते हैं। आवृत्ति का वैज्ञानिक रहस्य दण्डी ने खोला है। उसी वर्ण के पूर्ववर्ती संस्कार को जगाने में समर्थ अदूरता ही उनके शब्दों में आवृत्ति है।

२. छेक का अर्थ है विदग्ध पुरुष। वे पदों की आवृत्ति के प्रेमी होते हैं, अतः उनके प्रिय अनुप्रास को छेकानुप्रास माना जाता है। लाट का अर्थ है कच्छ देश। वहाँ प्रचलित होने से अनुप्रास को लाटानुप्रास कहा गया। दोनों के निरूपण के लिये देखिए—काव्यालंकारसंग्रह–१।
तदनतिरिक्तवृत्तयो वृत्तयोऽपि कैश्चिदुपनागरिकाद्याः प्रकाशिताः।
ध्वन्या० पृ० १७–१९

३. ध्वन्यालोक पृष्ठ २१८, २१९×४, २२१, २२२×३, ३६२, ४०५.

दण्डी ने काव्यादर्श के तीसरे परिच्छेद में यमक का विवेचन ७७ पद्यों में किया है और उसके १०५ भेद बतलाए है।

[१] श्लोकपद्य के जो चार पाद या चरण होते हैं उनमें से केवल एक पाद में यमक हो तो उसे 'एकपाद'-यमक कहा जाएगा। यह पद्य के चारो पादों में हो सकता है अत इसके चार भेद होते हैं

१ प्रथमपाद यमक
२ द्वितीयपाद यमक
३ तृतीयपाद यमक तथा
४ चतुर्थपाद यमक

[२] यमक कभी कभी पद्य के दो दो पादों में होता है तब उसे द्विपाद यमक कहा जाता है। इसके छ भेद होते हैं

१ प्रथमद्वितीयपादगत यमक
२ प्रथमतृतीयपादगत यमक
३ प्रथमचतुर्थपादगत यमक
४ द्वितीयतृतीयपादगत यमक
५ द्वितीयचतुर्थपादगत यमक तथा
६ तृतीयचतुर्थपादगत यमक

[३] यमक जब पद्य के तीन पादो में होता है तब त्रिपादयमक कहा जाता है और उसके चार भेद होते हैं

१ प्रथमद्वितीयतृतीयपादगत यमक
२ प्रथमद्वितीयचतुर्थपादगत यमक
३ प्रथमतृतीयचतुर्थपादगत यमक तथा
४ द्वितीयतृतीयचतुर्थपादगत यमक

[४] यमक जब पद्य के चारों पादो में होता है तब उसका एक ही भेद होता है। इसे चतुष्पादयमक कहा जाता है।

इस प्रकार पादगत यमक के १५ भेद होते हैं।

ये १५ भेद १०५ हो जाते हैं क्योंकि इनमें यमक कभी

१ पाद के आरम्भ में होता है =आदियमक कभी
२ पाद के मध्य में होता है =मध्ययमक कभी

३. पाद के अन्त में होता है =अन्तयमक कभी
४. पाद के आरम्भ और मध्य दोनों में रहता है =आदिमध्ययमक कभी
५. पाद के आरम्भ और अन्त दोनों में रहता है =आद्यन्तयमक कभी
६. पाद के मध्य और अन्त दोनों मे रहता है =मध्यान्तयमक कभी
७. पाद के आरम्भ, मध्य तथा अन्त तीनों मे =आदिमध्यान्यमक कभी

इस प्रकार १५ भेदों में से प्रत्येक मे सात सात विधाएँ निष्पन्न होती है और वे १५ भेद १०५ हो जाते है। ये १०५ भेद यमक के शुद्ध भेद है। इन भेदों के मिश्रण से यमक असंख्यता तक पहुँच जाता है। संकलन प्रक्रिया के अनुसार इसके मिश्रित भेदों की संख्या ५५६५ होगी अर्थात् शुद्ध भेदों के साथ ५६७० भेद। गुणन प्रक्रिया के अनुसार इन १०५ भेदों के मिश्रित भेदों की संख्या ४४१०० अर्थात् शुद्ध भेदों के साथ ४४२०५ भेद। इन भेदों के अतिरिक्त दण्डी ने यमक की पाँच अन्य विधाएँ भी बतलाई है। इनके नाम है—

१. संदष्ट यमक
२. समुद्ग यमक
३. पादाभ्यासयमक
४. श्लोकाभ्यासयमक तथा
५. महायमक [प्रतिलोमानुलोम यमक]

सभी यमकों में दण्डी ने आवृत्त होते पदों या पादों के बीच की दूरी पर भी ध्यान दिया और इनमें से कुछ को व्यपेतयमक तथा कुछ को अव्यपेत-यमक कहा। किन्तु यहीं तक भेदों की परिसमाप्ति नहीं की। उन्होंने दुष्करत्व तथा सुकरत्व के आधार पर उन्हें पुनः दो भागों में विभक्त किया। इस प्रकार यमक के भेदों की संख्या दण्डी के ही शब्दों में अत्यन्तबहुल[1] हो गयी।

---

१. (क) आवृत्तिं वर्णसंघातगोचरां यमकं विदुः।
तत्तु नैकान्तमधुरम्। (काव्यादर्श १।६१)

(ख) अव्यपेतव्यपेतात्मा याऽऽवृत्तिर्वर्णसंहतेः,
यमकम्, तच्च पादानामादिमध्यान्तगोचरम् ॥ ३।१ ॥
एकद्वित्रिचतुष्पादयमकानां विकल्पनाः।
आदिमध्यान्तमध्यान्त-मध्याद्याद्यन्तसर्वतः ॥ ३।२ ॥
अत्यन्तबहवस्तेषां भेदाः संभेदयोनयः। सुकरा दुष्कराश्चैव ॥ ३।३ ॥

भामह ने दण्डी के सभी यमक भेदों को केवल ५ संख्या तक सीमित किया—

[१] आदियमक
[२] मध्यान्तयमक
[३] आवलीयमक
[४] पादाभ्यासयमक तथा
[५] समस्तपाद यमक।

सदष्ट तथा समुद्ग को भामह ने यह कहते हुए पृथक् नहीं माना कि उनका अन्तर्भाव उक्त भेदों में ही हो जाता है। उनने दूरी पर भी ध्यान दिया और दुष्करता तथा सरलता पर भी।[1]

वामन ने भामह का ही अनुसरण किया तथा दण्डी के महान् विस्तार को यमक-प्रकरण में उन्होंने भी संक्षिप्तरूप में ही प्रस्तुत किया। अपनी ओर से वामन ने दो नई कल्पनाएँ की। एक तो यह कि यमक 'अक्षरों' का भी होता है तथा दूसरी यह कि यमक का उत्कर्ष 'भङ्ग' से होता है। भङ्ग के उपाय भी उनने बतलाए (१) शृङ्खला, (२) परिवर्तक तथा (३) चूर्ण। इन सबके लक्षण और उदाहरण भी वामन ने दिए।[2]

---

१ आदि मध्यान्त-यमक पादाभ्यास तथावली।
समस्तपादयमकमित्येतत् पञ्चधा मतम्॥ काव्यालङ्कार २।९॥
सन्दष्टकसमुद्गादेर्नैवान्तर्गतिर्मता।
आदौ मध्यान्तयोर्वा स्यादिति पञ्चैव तत्०॥ २।१०॥
अनन्तरैकान्तरयोरेव पादान्तयोरपि।
कृत्स्नं च सर्वपादेषु दुष्करं साधु तादृशम्॥ २।१६॥
तुल्यश्रुतीनां भिन्नानामभिधेयैः परस्परम्।
वर्णानां यः पुनर्वादो यमकं तन्निगद्यते॥ २।१७॥
प्रतीतशब्दमोजस्वि, सुश्लिष्टपदसन्धि च।
प्रसादि स्वभिधानं च यमकं कृतिनां मतम्॥ २।१८॥

२ पदमनेकार्थमक्षरं वाऽऽवृत्तं स्थाननियमे यमकम्॥ का० सू० वृ० ३।१।१॥
पादः, पादस्यैकस्थानेकस्य चादिमध्यान्तभागाः स्थानानि॥ ,, ३।१।२॥
भङ्गादुत्कर्षः, शृङ्खला परिवर्तकश्चूर्णमिति भङ्गमार्गः, वर्णविच्छेदचलनं शृङ्खला, सङ्गनिवृत्तौ स्वरूपापत्तिः परिवर्तकः, पिण्डाक्षरभेदे स्वरूपलोपश्चूर्णम्। (का० सू० वृ० ३-७) यहीं वामन ने यमक पर ६ उत्तम कारिकाएँ भी दी हैं।

उद्भट ने यमक का स्पर्श ही नहीं किया। वे लाटानुप्रास तक ही सीमित रहे और कदाचित् उनने यमक को लाटानुप्रास में ही विलीन मान लिया।[1]

यह हुआ यमक पर हुए अति विस्तृत विश्लेषण का आनन्दवर्धन के पूर्ववर्त्ती आचार्यों मे प्राप्त लेखा-जोखा। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि यमक पर कितना अधिक बल दिया जा रहा था। अब एक उदाहरण भी लीजिए—

रमणी रमणीय है।[2]

स्पष्ट ही इसमें 'रमणी' शब्द दो बार आया है। दूसरा रमणी शब्द केवल अक्षरसमुदाय है, सार्थक पद नहीं, क्योंकि वह 'रमणीय' शब्द का टुकड़ा है। इसे हम आदियमक कह सकते है। इसी उदाहरण को—**'यह रमणी रमणीय है'** इस प्रकार बना दिया जाए तो यही यमक मध्ययमक होगा और यदि इसी वाक्य को—**'है यह रमणी रमणीय'** इस स्थिति में रख दिया जाए तो यही होगा अन्तयमक। कितना स्थूल है यह दर्शन, किन्तु यह अति महत्त्व का तथ्य है कि लगभग १४ सौ वर्ष पूर्व ही भारतभूमि में रचना की क्षीणतम नूतनता तक गवेषकों ने ध्यान दिया था। आनन्दवर्धन ने यमक का एक भी उदाहरण नही दिया।

[५] चित्र[3]

चित्र का अर्थ है अक्षरों की ऐसी योजना जिससे खड्ग, पद्म, चक्र, मुरज आदि के चित्र बन सकें। इसका विवेचन दण्डी से आरम्भ होता है। भामह, उद्भट और वामन इस पर चुप है। दण्डी के पश्चात् आनन्दवर्धन के समकालीन रुद्रट ही इसे अपनाते और उनके परवर्त्ती महाराज भोज भी। कवियों में पहली बार भारवि ने इसका प्रयोग किया था। माघ ने उनका अनुकरण करते हुए इस प्रवृत्ति को पराकाष्ठा तक पहुँचा दिया। एक उदाहरण—

मदनो मदिराक्षीणामपाङ्गास्त्रो जयेदयम्।
मदेनो यदि तत् क्षीणमनङ्गायाञ्जलिं ददे॥[4]

---

१. द्र० काव्यालंकारसारसंग्रह

२. रमणी रमणीया मे पाटलापाटलांशुका।
वारुणीवारुणीभूतसौरभा सौरभास्पदम्॥ (काव्यादर्श ३।१८ दण्डी)

३. ध्वन्यालोक पृष्ठ २१९, २२२, ४९५.

४. काव्यादर्श ३।७९.

मदिरगामी वनिताओं के मदिर नेत्र जिसके अस्त्र हो ऐसे इस काम की यदि विजय हो जाए तो मेरा अपराध भी क्षीण हो सकता है। इसलिए काम के हाथ जोड़ता हूँ।

इस पद्य में वर्णरचना ऐसी है कि इससे गोमूत्रिका-बन्ध बन जाता है। गोमूत्रिका का अर्थ है घुमावदार करते हुए चल रहे बैल के मूत्र से भूमि पर बनी टेढ़ी आड़ी रेखाएँ। उक्त पद्य में वर्णों का ऐसा विन्यास है कि उनसे इस प्रकार का चित्र निकल आता है—
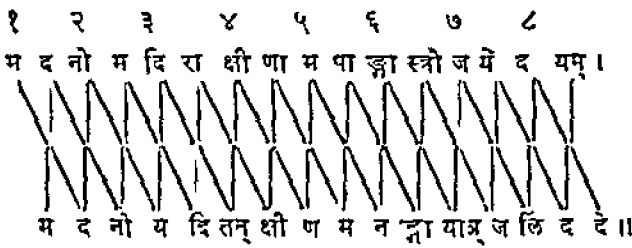
इस चित्र में तिर्यक् रेखाओं की सीध पर चलते हुए यदि ऊपर नीचे चढ़ा उतरा जाए और उन कोणों पर लिखे अक्षरों को अपनाया जाए तो श्लोक के दोनों भाग निष्पन्न हो जाते हैं। इन्हें अलग अलग लिखने पर यह योजना स्पष्ट हो सकेगी—
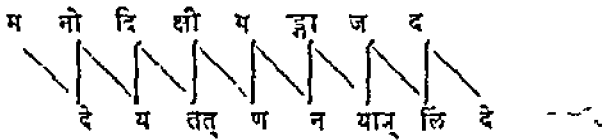
इस योजना में ऊपर से नीचे उतरने और नीचे से ऊपर चढ़ने में हमें श्लोक का उत्तरार्ध मिल जाता है—'मदेनो यदि तत् क्षीणमनङ्गायाञ्जलिं ददे'। इसी प्रकार—
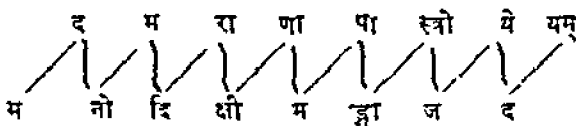
इस योजना में पूर्वार्ध निकल आता है। अब इन दोनों आठ आठ शृङ्गों वाले त्रिकों को चतुष्कोण बनाते हुए मिला दिया जाए तो उन नवीन शृङ्गों पर

हमें वे अक्षर भी मिल जाएँगे जिनके लिए हमें रेखा की सीध में नीचे उतरना या ऊपर चढना होता है। और इस प्रकार ऊपर श्लोक का पूर्वार्ध लिखा मिल जाएगा तथा नीचे उत्तरार्ध। अब उनके लिए हमें रेखा के सहारे नीचे उतरना और ऊपर चढ़ना नही पड़ेगा अपितु एक शृङ्ग से दूसरे शृङ्ग पर कूदना होगा। इसका अर्थ यह हुआ कि वस्तुतः गोमूत्रिकाबन्ध में दो गोमूत्रपङ्क्तियों के चित्र बनते है, फलतः एक पद्य के दो अर्धों के योग से दो चित्र निष्पन्न हो जाते है, किन्तु यदि हम एक अर्थ से एक चित्र स्वतन्त्र रूप से निष्पन्न करना चाहे तो वैसा नही कर सकते।

इस सम्बन्ध में कला केवल इतनी ही है कि पूर्वार्ध में जितने पूर्णाक्षर हों उतने ही उत्तरार्ध में भी होने चाहिए तथा १, ३, ५ आदि विषम संख्या पर आने वाला उत्तरार्ध का प्रत्येक अक्षर वही होना चाहिए जो उसी संख्या पर पूर्वार्ध में हो। यह तथ्य उक्त पद्य के पूर्वार्ध तथा उत्तरार्ध के अक्षरों को सीध में रखने से इस प्रकार स्पष्ट हो जात है— →

१	म	म
२	द	दे
३	नो	नो
४	म	य
५	दि	दि
६	रा	तत्
७	क्षी	क्षी
८	णा	ण
९	म	म
१०	पा	न
११	ङ्गा	ङ्गा
१२	स्त्रो	याब्
१३	ज	ज
१४	ये	ल्लि
१५	द	द
१६	यम्	दं

इस चित्र में १, ३, ५, ७, ९, ११, १३ तथा १५ इन विषम संख्याओं के अक्षर उत्तरार्ध में भी वे ही है जो पूर्वार्ध में है। महत्त्व की बात यह है कि यहां इस पद्य में वर्णों की योजना में उक्त कौशल भी है और उनसे निष्पन्न होने वाले शब्दों में सार्थकता भी है। उनसे सभी सन्धियाँ भी ठीक बनी हुई है और उनमे छन्दोरक्षा भी है। सब कुछ के बाद इस छन्द में आए शब्दों से वाक्यरचना भी निष्पन्न हो रही है और उससे निकलने वाले अर्थ में काव्यात्मकता भी है, क्योंकि उसमें शृङ्गार रस की सामग्री है। इस प्रकार कविकर्म की प्रौढ़ि अक्षरों, शब्दों, पदों, वाक्यों, छन्दःसंगीति, वाक्यार्थों एवं काव्यात्मकता की सीढ़ियाँ चढ़ती हुई प्रतीत हो रही है, अतः वह एक आश्चर्य का विषय बन जाती है, क्योंकि वह एक अत्यन्त ही 'दुष्कर' शिल्प है। संसार में ऐसा शिल्प कदाचित् ही किसी अन्य वाङ्मय में पाया जाता हो।

यमक और चित्र दोनो को दण्डी ने दो स्वरूपो में देखा है दुष्कररूप में और सुकर रूप में । चित्र का जो गोमूत्रिकानामक भेद अभी दिया है इसकी गणना दण्डी ने दुष्कर चित्रो मे की है, किन्तु दुष्करो में यह सब से कम दुष्कर चित्र है। इससे भी अधिक दुष्कर चित्रो का निरूपण दण्डी ने किया है—अध-भ्रम तथा सर्वतोभद्र के नाम से ।

यमक तथा चित्र के जो स्वरूप ऊपर दिए गए है उन्हे पाठक ध्यानपूर्वक समझे रहें, क्योकि आगे शिल्पाध्याय मे जो अलकारमीमासा प्रस्तुत की जाएगी उसमें इसकी आवश्यकता पडेगी ।

[६] श्लेप[1]

आनन्दवर्धन के पूर्ववर्ती पूर्वोक्त चार आचार्यों में श्लेप का वैज्ञानिक निरूपण केवल दण्डी और उद्भट में ही मिलता है। भामह और वामन इस दिशा में अधिक आदरणीय नही कहे जा सकते। विशेप ध्यान देने की बात यह है कि इन सभी आचार्यों ने श्लेप को अर्थ का अलकार माना है, क्योकि उसे अर्थ के अलकारो में गिना है। कदाचित् इन सबका यह सिद्धान्त है कि 'अर्थ में भिन्नता आ जाने से शब्द में भिन्नता नही आती अर्थात् यदि किसी एक शब्द से अनेक अर्थ निकलते हो तो यह नही माना जाएगा कि प्रत्येक नवीन अर्थ के साथ नए शब्द की कल्पना होगी, भले ही उस शब्द के घटक वर्ण और उनकी आनुपूर्वी एक ही हो। इस मान्यता के विरुद्ध आनन्दवर्धन ने श्लेप को दो रूपो में विभक्त माना है, एक उसका शब्दगतरूप और दूसरा अर्थगतरूप। कदाचित् वे 'अर्थभेद से शब्दभेद का सिद्धान्त स्वीकार करते है। शब्द में भेद स्वीकार करने पर ही उनमें श्लेप या चिपकाव माना जा सकेगा और तभी श्लेप को शब्दगत स्वीकार किया जा सकेगा। यदि श्लेप को श्लेपालकार से भिन्न मान लिया जाए, जो उचित है, और कहा जाए कि आनन्दवर्धन भी श्लेप में अलकारत्व अर्थ के आधार पर देखते हैं, भले ही श्लेप शब्दो में हो, तो यह कहना होगा कि वे 'अलकार तथा अलकार्य' का निर्णय अन्वय तथा व्यतिरेक के आधार पर करते[2] है।

---

१ ध्वन्यालोक पृ० १९६, २२८×२, २२९×२, २३१, २३५, २३६×२, २३७×२, २४४, २४६, २७२, ५४३

२ अर्थभेद से शब्दभेद या अन्वयव्यतिरेक के सिद्धान्तो का द्वन्द्व वस्तुत मम्मट से शुरू होता है आनन्दवर्धन में इसका कोई सकेत नही मिलता। →

दण्डी और उद्भट दोनों ने श्लेष को अर्थालंकार मानकर यह माना था कि इसकी पदावली में कही तोड़ मरोड़ करनी पड़ती है और कही नही। दण्डी ने इन्हे 'भिन्नपदश्लेष' तथा 'अभिन्नपदश्लेष'[१] कहा था। उद्भट के अनुयायी मम्मट ने इन्ही को 'सभङ्गश्लेष' तथा 'अभङ्गश्लेष' नाम दिए थे। इसका मूल हमारे आनन्दवर्धन थे। आनन्दवर्धन ने शब्द की तोड़ मरोड़ से निष्पन्न श्लेष को 'शब्दभङ्गश्लेष'[२] कहा है। अभङ्गश्लेष का उल्लेख उनमें नहीं मिलता। वे एक श्लेष को वाच्यश्लेष[3] कहते है। इससे प्रतीत होता है कि वे श्लेष को शब्द और अर्थ के दो भागों मे विभक्त मानना चाहते है। हम इसी धरातल पर श्लेष की गणना आनन्दवर्धन के अलंकार-विवेचन मे यहाँ शब्दालंकार के प्रकरण में भी कर रहे है और आगे अर्थालंकार के प्रकरण में भी करेंगे।

आनन्दवर्धन ने जिस शब्दभङ्गश्लेष का उल्लेख किया है उसका उदाहरण नही दिया। उद्भट ने पार्वती का वर्णन करते हुए उसके लिए निम्नलिखित उदाहरण दिया है :

पार्वती प्रभातसन्ध्या के समान है **'अस्वापफलप्रदा'**[४]।

यहाँ 'अस्वापफलप्रदा'—शब्द प्रभातसन्ध्या-पक्ष में 'अ-स्वाप-फल-प्रदा' इस प्रकार तोड़ा जाता है, जिसका अर्थ होता है 'न सोने वालों को फल देने वाली'। यहाँ 'अस्वाप'—शब्द में बहुव्रीहि माना गया। पार्वतीपक्ष में इसी पद को 'अ-सु-आप-फल-प्रदा' इस प्रकार तोड़ा जाएगा। इसका अर्थ होगा 'असुलभ फल को देने वाली'। यहाँ अस्वाप का अर्थ 'सु=सुखसे, आप=प्राप्य, तद्विरुद्ध 'अ-स्वाप' इस प्रकार भिन्न योजना द्वारा निकाला गया। इसका अर्थ यह हुआ कि यहाँ

→ हो सकता है आनन्दवर्धन में श्लेष को दो भागों में विभक्त देखकर उन्हें इस चिन्तन की दिशा मिली हो।

श्लेष के लिए देखिए अलंकारसर्वस्व के श्लेषप्रकरण पर हमारा हिन्दीविमर्श।

१. काव्यादर्श २।३१०

२. ध्वन्यालोक पृष्ठ २१९

३. ध्वन्यालोक पृष्ठ २४१, यहाँ वाच्यश्लेषशब्द का अर्थ शब्दतः कथित अर्थात् अव्यङ्ग्य श्लेष भी है।

४. काव्यालंकारसारसंग्रह— स्वयं च पल्लवाताम्रभास्वत्करविराजिता।
प्रभातसन्ध्येवास्वाप - फललुब्धेहित - प्रदा ॥

वस्तुत 'अ-सु-आप' एव 'अ-स्वाप' ये दो भिन्न शब्द थे, जिनका स्वरूप सन्धि हो जाने पर 'अस्वाप' ही बनता था। फलत उनको एक उच्चारण में बोला जा सकता था, अत कवि ने उन्हें 'अस्वाप अस्वाप' इस प्रकार अलग अलग नही बोला, एक ही साथ बोल दिया। किन्तु इसका अर्थ यह नही हुआ कि ये दोनो शब्द अपने मूलरूप मे एक ही हो गए। वे भिन्न ही है, फलत यह मानना होगा कि वे दो शुक्तियो की नाईं छुड गए है, और इस प्रकार जुड गए है कि ऐसा लगता है कि ये दोनो एक ही है। यही हुआ उनका श्लेष यानी आश्लेष, आलिगन, चिपकाव। क्योकि यह श्लेष शब्दो में है अत इसे शब्दालकार कहा जा सकता है। चमत्कार भी शब्द के भङ्ग में है अत इसे शब्द का ही अलकार मानना उचित है।

आनन्दवर्धन ने जो वक्रोक्ति का उदाहरण दिया है उसमे हम इस प्रकार के श्लेष को समझ सकते है। 'दृष्टया केशव'[1] आदि पद्य इसका उदाहरण है। इसमें आए 'गोपराग' तथा विषमेषु' शब्द ऐसे ही शब्द है। 'गो-पराग' तथा 'गोप-राग', इसी प्रकार 'विषम-इषु' एव 'विषमेषु' [सप्तमी बहुवचन]—इस प्रकार हमे इन शब्दो को भी दो पक्षों में तोडना पडता है।

पाठक इस पर भी ध्यान दिये रहें। आगे इसकी भी आलोचना होगी और तब आनन्दवर्धन का दृष्टिकोण समझने में सरलता होगी।

[७] वक्रोक्ति[2]

वक्रोक्ति का जो उदाहरण आनन्दवर्धन ने दिया है उससे स्पष्ट है कि ऐसे किसी भी अलकार की कल्पना दण्डी, भामह, उद्भट तथा वामन ने नही की है। वामन में 'वक्रोक्ति'[3]-नामक एक अलकार स्वीकार किया है, किन्तु उसको आनन्दवर्धन की वक्रोक्ति से अभिन्न नही माना जा सकता। इस प्रकार की वक्रोक्ति

---

१ पृ० २१३

२ ध्वन्यालोक पृ० २७, २३९

३ 'सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्ति' यथा 'उन्मिमील कमल सरसीनाम्'। उन्मीलन नेत्र का धर्म है। उसे सादृश्य के आधार पर कमल में निरूपित किया जा रहा है—लक्षणा के द्वारा। यही है वामन की वक्रोक्ति। अर्थ यह कि वह केवल वक्र उक्ति है। द्र० काव्यालकारसूत्रवृत्ति—४।३।८।

प्रथमतः 'रुद्रट'[1] मे ही मिलती है। हो सकता है आनन्दवर्धन और रुद्रट के समय वक्रोक्ति का यह स्वरूप आलोचकों के मस्तिष्क में आ गया हो और उसको अनेक आचार्यों ने एक साथ उपस्थित किया हो।

वक्रोक्ति मे शब्दों को तोड़-मरोड़ कर उनसे दूसरा अर्थ निकाला जाता है। शब्दशक्तिमूलक ध्वनि के प्रसंग में जो 'दृष्टया[2] केशव०' पद्य उद्धृत किया है उसमें ऐसी ही पदावली है। उससे, जैसा कि अभी श्लेष प्रकरण में बतलाया गया दो दो अर्थ निकाले जा सकते हैं। आनन्दवर्धन ने इसी को 'वक्रोक्ति' कहा है। वस्तुत. यह भी श्लेष ही है, क्योंकि वक्रोक्ति वहां होती है जहां दूसरा अर्थ बतलाना वक्ता को अभिप्रेत न हो। वहां दूसरा अर्थ केवल श्रोता ही निकालता है। मम्मट ने वक्रोक्ति का जो उदाहरण दिया है उससे यह स्पष्ट है। वह रुद्रट की ही छाया है। रुद्रट का उदाहरण है—

'किं गौरि मां प्रति रुषा'[3]।

शिवजी कहते है—'हे गौरि मा प्रति रुषा किम्' उनका अभिप्राय है कि हे गौरि मेरे प्रति रोष क्यों कर रही हो। पार्वती उसका पदच्छेद 'किं गौः इमां प्रति रुषा'—इस प्रकार करती है जिससे अर्थ निकलता है 'हे गौ मेरे प्रति रोष क्यों'। और वे उत्तर देती है 'क्या मैं गौ हूँ'। पार्वती द्वारा निकाला गया अर्थ शिव को विवक्षित नही था। आनन्दवर्धन के 'दृष्टया केशव गोप०' पद्य में जो द्वितीय अर्थ निकल रहा है वह वक्ता को अभिप्रेत है और वस्तुतः वक्ता उसी अर्थ को कहना चाह रहा है। इस प्रकार वह श्लेष ही है। यद्यपि वक्रोक्ति में श्लेष को भी स्थान मिला रहता है और इसीलिए उसे रुद्रट ने श्लेष-वक्रोक्ति कहा

---

१. वक्त्रा यदन्यथोक्तं व्याचष्टे चान्यथा तदुत्तरदः।
वचनं तत्पदभङ्गैर्ज्ञेया सा श्लेषवक्रोक्तिः॥ 'काव्यालंकार' २।१४

२. पृ० २१३ पर वही उद्धृत।

३. शिव = किं गौरि मां प्रति रुषा
पार्वती = ननु गौरहं किं, कुप्यामि कां प्रति
शिव = मयीत्यनुमानतोऽहं जानामि
पार्वती = अतस्त्वमनुमानत एव सत्यमित्थं शिवो गिरिभुवः कुटिला जयन्ति।
(काव्यालंकार—२।१५)

है, तथापि श्लेष ही वक्रोक्ति नही है, क्योकि वक्रोक्ति श्लेषरहित काकु से भी निष्पन्न होती है जिसे रुद्रट काकुवक्रोक्ति[1] कहते है।

आनन्दवर्धन ने 'वक्रोक्ति'[2] शब्द का प्रयोग अलकार सामान्य के अर्थ मे भी किया है जैसा कि भामह ने किया था। वह वक्रोक्ति केवल वक्र उक्ति है जिसे भङ्गीभणिति भी कहा जा सकता है। उसकी सीमा अलकार तक ही नही है, वह उसके आगे भी व्याप्त है। इसे हम इस 'अलङ्कार प्रकरण' के अन्त में दिखलायेंगे।

इस प्रकार शब्दालकारो में आनन्दवर्धन ने (१) अनुप्रास (२) यमक (३) चित्र (४) श्लेष तथा (५) वक्रोक्ति इन पाँच अलकारो का उल्लेख किया। स्मरणीय है कि रुद्रट ने भी शब्दालकारो के रूप मे इन्ही ५ अलकारो का निरूपण[3] किया है।

अर्थालङ्कार

अर्थालङ्कारो की गणना दण्डी[4] और वामन ने उपमा से आरम्भ की थी तथा भामह[5] और उद्भट ने रूपक से। आनन्दवर्धन इस विसवाद पर कोई टिप्पणी

---

१ २।१६ काव्यालकार

२ 'वक्रोक्तिशून्य च यत०' ध्व० पृ० २७, 'सैषा सर्वैव वक्रोक्ति'-ध्व० पृ० ४६७

३ वक्रोक्तिरनुप्रासो यमक श्लेषस्तथा पर चित्रम्।
शब्दस्यालङ्कारा श्लेषोऽर्थस्यापि सोऽन्यस्तु ॥ काव्यालकार २।१३ ॥

४ (क) दण्डी ने अर्थालङ्कारा मे पहले स्वभावोक्ति की गणना की, फिर उपमा की और तब रूपक आदि की।
स्वभावाख्यानमुपमा रूपक दीपकावृती।—काव्यादर्श २।४ ॥

(ख) वामन ने अर्थालङ्कारो का आरम्भ उपमा से किया और उस पर चतुर्थ अधिकरण का पूरा दूसरा अध्याय लिखा। उपमा के बाद उन्होने *समासोक्ति को स्थान दिया, फिर अप्रस्तुतप्रशसा और अपह्नुति को और* तब जाकर रूपक को। द्र० काव्यालकारसूत्रवृत्ति ४।२ तथा ३-१।९

५ भामह—उपमानेन यत् तत्वमुपमेयस्य रूप्यते।
गुणाना समता दृष्ट्वा रूपक नाम तद्विदु। काव्यालकार १।२१

उद्भट—पुनरुक्तवदाभास छेकानुप्रास एव च।
अनुप्रासस्त्रिधा लाटानुप्रासो रूपक चतु। का० सा० स० १।१

नहीं करते। वे कभी 'उपमादि'[1] लिख देते हैं कभी रूपकादि[2]। किन्तु प्रथम उल्लेख में आनन्दवर्धन ने 'उपमादि' शब्द का ही प्रयोग किया है। अवश्य ही वे दण्डी और वामन पर अधिक निर्भर हैं। हम भी यहाँ अर्थालङ्कारों का आरम्भ उपमा से ही करेंगे।

[८] उपमा[3]

उपमा सादृश्य का नाम है। जब इसमें चमत्कार चला आता है तब इसे अलंकारकोटि में प्रविष्ट मान लिया जाता है। अर्थ यह कि 'चमत्कारकारी सादृश्य[4] ही उपमालंकार है।' सादृश्य के लिए 'सदृश' की आवश्यकता होती है। सादृश्य सदा ही द्वैत में संभव होता है इसलिए इसके लिए एकाधिक सदृशों की आवश्यकता होती है। इनमें से जिसे सादृश्य से तौला जाता है उसे उपमेय कहते

१. अर्थगतश्चारुत्वहेतव उपमादयः—ध्वन्या० पृ० १७, १०४, १९८, २००, २०३, ५४३.

२. रूपकादिलंकारवर्गो यः—ध्व० पृ० २५८, रूपकादिरलंकारवर्ग एति—ध्व० पृ० २२३, रूपकादेरलंकारवर्गस्य—ध्व० पृ० २२४।

यहाँ जो अलंकारवर्ग शब्द है यह उद्भट के ग्रन्थ के अनुच्छेदों का उल्लेख है। उद्भट ने अपने ग्रन्थ काव्यालंकारसारसंग्रह को वर्ग नामक अनुच्छेदों में ही विभक्त किया है।

३. ध्वन्यालोक पृष्ठ १७, १०४, १९८, २००, २०३, २५८, २५९, २६०, २६२, ४७०, ४७१ × ४, ५१६, ५४३.

४. दण्डी. यथाकथञ्चित् सादृश्यं यत्रोद्भूतं प्रतीयते।
उपमा नाम सा। काव्यादर्श २।१४

भामह. उपमेयस्य यत् साम्यं गुणलेशेन सोपमा। काव्यालंकार १।३०।

उद्भट. यच्चेतोहारि साधर्म्यमुपमानोपमेययोः।
मिथोविभिन्नकालादिशब्दयोरुपमा तु तत्॥ काव्यालंकारसंग्रह १।१५

वामन. उपमानोपमेययोर्गुणलेशतः साम्यमुपमा। काव्यालंकारसूत्र ४।२।१।
उपर्युक्त सादृश्य, साम्य तथा साधर्म्य में सादृश्य और साम्य तो एक ही हैं, साधर्म्य को कुछ चिन्तकों ने सादृश्य का कारण माना है और कुछ विद्वानों ने सादृश्य से अभिन्न। पण्डितराज सादृश्यशब्द का प्रयोग इन दोनों रूपों में करते हैं।

हैं और जिसके द्वारा तौला जाता है उसे उपमान। इनमे सादृश्य का कोई कारण भी रहता है। उस कारण को साधारण धर्म कहा जाता है। कभी कभी इस सादृश्य के लिए जैसा, सा, तुल्य आदि शब्दो का भी प्रयोग कर दिया जाता है। इन्हें उपमा का प्रतिपादक कहा जाता है। इस प्रकार उपमालकार जिस सादृश्य की धुरी पर अवस्थित रहता है उसको उपमान, उपमेय, साधारण धर्म तथा उपमाप्रतिपादक-शब्द इन चार अन्य तत्त्वो का बल प्राप्त रहा करता है। उद्भट ने इन सबका विस्तार के साथ निरूपण किया है और उपमा को 'पूर्णा' तथा 'लुप्ता' इन दो भागो में विभक्त बतलाया है। आनन्दवर्धन का कहना है कि उद्भट ने उपमा आदि को व्यङ्ग्य[1] भी कहा था। आनन्दवर्धन ने इस व्यङ्ग्यता को अधिक महत्त्व दिया और उपमा की उस विच्छित्ति पर भी ध्यान दिया जिसमें उपमेय केवल एक रहता है किन्तु उपमानो की सख्या एकाधिक रहती है। दण्डी और भामह ने इसे मालोपमा कहा था।

आनन्दवर्धन स्वय कवि है। अलकारो का प्रयोग वे अपनी शास्त्रीय कारिकाओ में भी करते है। कुछ उदाहरण—

[१] प्रतीयमान पुनर यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत् तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्त विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ॥ १।४।

काव्य का अर्थ वाच्य तो होता ही है, प्रतीयमान भी होता है। वाच्य उपमा आदि के रूप में प्रसिद्ध है। जहाँ तक प्रतीयमान का सम्बन्ध है यह एक भिन्न ही तत्त्व है, यह अलङ्कृत और प्रसिद्ध अवयवो में रहता है किन्तु उनसे भिन्न है जैसी ललना में लावण्य (मोतियों मे दमकते पानी सी लुनाई)।

कितनी सटीक है यह उपमा[2]।

[२] मुख्या महाकविगिरामलङ्कृतिभृतामपि।
प्रतीयमानच्छायैषा भूषा लज्जेव योषिताम् ॥ ३।३७।

---

१ रूपकादिरलङ्कारवर्गो यो वाच्यता श्रित।
स सर्वो गम्यमानत्व बिभ्रद् भूम्ना प्रदर्शित ॥ ध्व० २।२६।

२ कुन्तक ने लावण्य को स्थूल मानकर अत्यन्त सूक्ष्म प्रतीयमान के लिए उपयुक्त उपमान नही माना। तदर्थ उन्होंने 'सौभाग्य' को उचित समझा। किन्तु सौभाग्य अदृश्य वस्तु है। प्रतिपादन मे दृश्य वस्तु ही अधिक सहायक होती है। लावण्य दृश्य है।

महाकवियों की अलंकृत वाणी की भी मुख्य भूषा प्रतीमानच्छाया है, जैसे नारियों मे लज्जा ।

[३] दृष्टपूर्वा अपि ह्यर्थाः काव्ये रसपरिग्रहात् ।
सर्वे नवा इवाभान्ति मधुमास इव द्रुमाः ।। ४।४ ।

जाने पहचाने और प्रसिद्ध वक्तव्य भी रसभूमिका पर आरूढ़ होकर दुहराने पर सबके सब बिलकुल नए लगने लगते है जैसे मधुमास में वृक्ष ।

[४] वाचस्पतिसहस्राणां सहस्रैरपि यत्नतः ।
निबद्धा सा क्षयं नैति प्रकृतिर्जगतामिव ।। ४।१० ।।

सहस्र सहस्र वाचस्पति भी मिलकर अर्थगत नवीनता को समाप्त नही कर सकते, ठीक वैसे ही जैसे सहस्र सहस्र ब्रह्माण्ड प्रकृति[1] को ।

उपमा के लिये प्रसिद्ध कालिदास से पूछिए, वे इन उपमाओं मे अपने शिल्प को कितनी गहराई तक प्रतिष्ठित देखते है ।

मालोपमा :

मालोपमा[2] के लिए आनन्दवर्धन ने कालिदास का पूर्वोद्धृत यह पद्य उद्धृत किया है—

प्रभामहत्या शिखयेव दीपस्त्रिमार्गयेव त्रिदिवस्य मार्गः ।
संस्कारवत्येव गिरा मनीषी तया स पूतश्च विभूषितश्च ।।'

गिरिराज हिमाचल के यहाँ कन्या हुई—पार्वती । उस कन्या से वह गिरिराज उसी प्रकार पवित्र भी हुआ और विभूषित भी जिस प्रकार खूब चमक रही शिखा के दीपक, गङ्गा से अन्तरिक्ष अथवा संस्कृतभाषा से विद्वान्[3] पवित्र और विभूषित हुआ करते है ।

---

१. इस उपमा में जो अर्थ योजना है उसे वृत्तिकार ने भिन्न रूप से प्रस्तुत किया है । 'जगतां सहस्रैः प्रकृतिरिव वाचस्पतिसहस्राणां सहस्रैः अपि निबद्धा सा (सरसा वस्तुगतिः) क्षयं नैति'—ऐसा अन्वय अधिक अच्छा लगता है । वृत्ति में जगतां की षष्ठी को प्रकृति से सम्बन्धित कर दिया गया है 'जगत्प्रकृतिः' इस प्रकार ।

२. ध्वन्यालोक पृ० ४३१.

३. कुमारसंभव १।२८ यहाँ संस्कृतभाषा का अर्थ संस्कृत नामक भाषा भी है और परिष्कृत शिष्ट भाषा भी ।

यहाँ उपमेय है पार्वती और हिमगिरि। उनमें से प्रत्येक के लिये उपमान दिए गए हैं तीन तीन। पार्वती के लिये दीपशिखा, गङ्गा तथा संस्कृतभाषा। इसी प्रकार हिमगिरि के लिये दीपक, अन्तरिक्ष तथा विद्वान्। एक उपमेय के लिये अनेक उपमानो की योजना यहाँ स्पष्ट है। विशेषता यह है कि इसप्रकार की योजना यहाँ एक बार नही, अपितु दो बार होती दिखाई दे रही है। दण्डी के उदाहरण[1] में भी ऐसी ही स्थिति थी।

व्यङ्ग्य उपमा[2] का निरूपण शब्दशक्तिमूलकध्वनि के प्रकरण में किया जा चुका है। आगे इस प्रकरण के अन्त में भी किया जाएगा। सामान्यत रूपक आदि अन्य अलङ्कारो में उपमा यानी सादृश्य व्यङ्ग्य होता है। आगे आ रहे इन अल-ङ्कारो के निरूपण से यह तथ्य स्पष्ट होगा।

[९] रूपक[3]

संस्कृत में रूपक शब्द नाट्य के लिए प्रचलित है। वहाँ इसका प्रयोग इसलिए किया जाता है कि वहाँ अनुकर्त्ता नट अपने ऊपर अनुकार्य के रूप आदि का आरोप कर लिया करता[4] है। यह आरोप वास्तविक नही, कल्पित होता है। दर्शन की भाषा में इसे 'आहार्य'[5] कहा जाता है। भाषा में जब हम इसी प्रकार किसी अन्य वस्तु पर अन्य वस्तु का आरोप कर देते हैं और उसमें चमत्कार पाते हैं तो उसीको रूपकालङ्कार[6] कह दिया करते है। उदाहरणार्थ—'पादपद्म'। यहाँ

---

१ पूर्ण्यातप इवाह्नीव पूषा व्योम्नीव वासर।
विक्रमस्त्वय्यधाल्लक्ष्मीमिति मालोपमा मता॥ काव्यादर्श २।४२॥

२ पृ० १८६। 'दत्तानन्दा' इत्यादि अन्य पद्यो में भी जहाँ सूर्यरश्मि के अतिरिक्त गायरूपी अर्थ भी निकलता है वहाँ उन दोनो अर्थों की उपमा व्यङ्ग्य ही रहती है।

३ ध्वन्या० पृ० २०२, २२३×२, २२४, २३२, २३३, २३८, २५८×२, २६२, ४७०, ४७२, ५१६

४ रूपक तत्समारोपात्। दशरूपक १

५ लोकानुभव से असिद्ध किन्तु केवल इच्छामात्र से सिद्ध अभेद आहार्य अभेद बाधकालिकमिच्छाजन्य ज्ञानमाहार्यम्।

६ दण्डी = उपमैव तिरोभूतभेदा रूपकमिष्यते।
यथा बाहुलता पाणिपद्म चरणपल्लव। काव्यादर्श २।६६॥ →

पाद पद्म नही है और पद्म पाद । तथापि यहाँ इन्हे अभिन्न बतला दिया गया है और इससे चमत्कार का भी अनुभव होता है, अतः यह रूपक है ।

दण्डी ने इसे अनेक भागों में विभक्त बतलाया था । भामह ने उनमें से केवल दो ही भाग चुने समस्तवस्तुविषय तथा एकदेशविवर्त्ति । प्रथम में अङ्गी का अङ्गी पर आरोप होता है और उनके अङ्गों का भी अङ्गों पर । ये सभी आरोप शब्दतः कथित रहते हैं । जब इनमें से कोई आरोप कथित नही रहता तब उस एक अंश में कमी रहने से उस भेद को 'एकदेशविवर्त्ति' कह दिया जाता है ।

आनन्दवर्धन ने रूपक[1] का केवल नाम लिया, उसके भेदों की चर्चा नही की । भामह ने इसके उपर्युक्त भेदों के जो उदाहरण दिये है वे ये है—

[१] समस्तवस्तुविषय :

शीकराम्भोमदसृजस्तुङ्गा जलददन्तिनः ।
निर्यान्तो मदयन्तीमे शक्रकार्मुकवारणाः ॥[2]

मेघरूपी ये हाथी फुहाररूपी मदजल बरसा रहे हैं और इन्द्रधनुष का वारण [झूल] धारण किए है । ये आ जा रहे है और मन को मदमा रहे हैं ।

[२] एकदेशविवर्त्ति :

तडिद्वलयकक्ष्याणां बलाकामालभारिणाम् ।
पयोमुचां ध्वनिर्धीरो दुनोति मम तां प्रियाम् ॥[3]

तडिद्वलय की कक्ष्या [जंजीर] तथा बकपंक्ति की माला से युक्त इन मेघों की धीर ध्वनि मेरी उस प्रिया को व्यथित कर रही है ।

→ भामह = उपमानेन यत् तत्त्वमुपमेयस्य रूप्यते ।
गुणानां समतां दृष्ट्वा रूपकं नाम तद् विदुः ।
समस्तवस्तुविषयमेकदेशविवर्त्ति च ।
द्विधा रूपकमुद्दिष्टम् ॥ काव्यालङ्कार २।१३ ॥

उद्भट = श्रुत्या सम्बन्धविरहाद् यत् पदेन पदान्तरम् ।
गुणवृत्तिप्रधानेन युज्यते रूपकं तु तत् ॥ का०सा०सं० १।११ ॥

१. द्र० ध्वन्यालोक पृष्ठ—२२२, २२३×२, २२४, २३२, २३३, २३८, २५८×२, २६२, ४३०, ४३२, ५१६.
इन स्थलों में आनन्दवर्धन ने रूपक के भेदों की चर्चा कहीं नहीं की ।
२-३ काव्यालङ्कार २।२३, २४.

प्रथम में मेघ पर हाथी का आरोप है और मेघ से सम्बन्धित वस्तुओं पर हाथी से सम्बन्धित वस्तुओं का। साथ ही सभी आरोप शब्दतः कथित हैं। द्वितीय में बिजली पर डोरी का आरोप शब्दतः कथित है, मेघ पर हाथी का आरोप उसके विरुद्ध मानसबोध का विषय है।

[१०] अपह्नुति[1]

अपह्नुति नामक अलङ्कार पृथक् अलङ्कार के रूप में पहले पहल भामह[2] के काव्यालङ्कार में मिलता है। दण्डी ने इसे तत्त्वाख्यानोपमा[3] नाम से उपमा में ही अन्तर्भूत रखा था। अपह्नुति का अर्थ है छिपाना। इस अलङ्कार में मुख आदि उपमेयों को यह कहते हुए कि ये मुख आदि नहीं हैं, चन्द्र आदि उपमानों से अभिन्न बतलाया जाता है अर्थात् 'यह मुख नहीं, अपितु चन्द्र है' इस प्रकार। यह जो मुख का निषेध है यह मुख के वास्तविक स्वरूप का छिपाव है। यही है अपह्नुति। क्योंकि इसमें चमत्कार है इसलिए इसे अलङ्कार मान लिया गया।

आनन्दवर्धन ने इसका स्मरण इसलिए किया है कि इसमें सादृश्य की व्यञ्जना रहती है। उन्होंने इसका स्वरूप उपस्थित नहीं किया और न कोई उदाहरण ही दिया। भामह ने उसका उदाहरण यह दिया है—

> नेयं विरौति भृङ्गाली मदेन मुखरा मुहुः।
> अयमाकृष्यमाणस्य कन्दर्पधनुषो ध्वनिः ॥ ३।२२ ॥

> वसन्त में भौरें गुञ्जार कर रहे हैं। कामी कहता है—'यह ध्वनि भृङ्गावलि की नहीं है, यह खींचे जा रहे कामधनुष की ध्वनि है'।

यहाँ भृङ्गध्वनि का निषेध किया जा रहा है और उसके बाद उसे काम के धनुष से अभिन्न बतलाया जा रहा है। स्पष्ट ही यहाँ उपमेय को छिपाकर उपमान को उपस्थित किया जा रहा है, अतः इसे अपह्नुति कहना उचित है।

---

१ ध्वन्या० पृ० १०८, ११५, ११९

२ भामह = अपह्नुतिरभीष्टा च किञ्चिदन्तर्गतोपमा भूतार्थापह्नवात्।
काव्यालङ्कार ३।२१ ॥

उद्भट = अपह्नुतिरभीष्टा च किञ्चिदन्तर्गतोपमा, भूतार्थापह्नवेन।
काव्याल० संग्रह ५।१ ॥

वामन = समेन वस्तुनाऽन्यापलापोऽपह्नुतिः ॥ काव्यालङ्कारसूत्र ४।३।५ ॥

३ न पद्मं मुखमेवेदं न भृङ्गौ चक्षुषी इमे।
इति विस्पष्टसादृश्यात् तत्त्वाख्यानोपमैव सा ॥ काव्यादर्श २।३६ ॥

[११] उत्प्रेक्षा[1]

उत्प्रेक्षा का अर्थ है साम्यमूलक प्रातिभ कल्पना। जहाँ इस कल्पना में ही चमत्कार हो वहाँ अलंकार का नाम उत्प्रेक्षा हुआ करता है। दण्डी, भामह, उद्भट और वामन सभी इसे मानते[2] हैं। उदाहरण—

> किंशुक-व्यपदेशेन तरुमारुह्य सर्वतः।
> दग्धादग्धमरण्यान्याः पश्यतीव विभावसुः॥[3]

> टेसू के फूलों के बहाने मानों आग वृक्ष पर चढ़कर जङ्गल का दग्धादग्ध जोख रही है।

इस पद्य में उत्प्रेक्षा शब्दतः कथित है अर्थात् वाच्य है, क्योंकि उसके लिए यहाँ 'इव'-शब्द का प्रयोग है। कहीं 'मन्ये[4] = मानों' आदि शब्दों का प्रयोग रहता है। वहाँ भी उत्प्रेक्षा वाच्य होती है। जहाँ कहीं ऐसे शब्दों का प्रयोग नहीं रहता वहाँ उत्प्रेक्षा व्यङ्ग्य हुआ करती है। उदाहरणार्थ—

---

१. ध्वन्यालोक पृ० २६९, ४९५.

२. दण्डी : अन्यथैव स्थिता वृत्तिश्चेतनस्येतरस्य वा।
अन्यथोत्प्रेक्ष्यते यत्र तामुत्प्रेक्षां विदुः००० ॥
(काव्यादर्श २।२२१)

भामह : अविवक्षितसामान्या किञ्चिच्चोपमया सह।
अतद्गुणक्रिया - योगादुत्प्रेक्षातिशयान्विता ॥
(काव्यालंकार २।९१)

उद्भट : साम्यरूपविवक्षायां वाच्येवाद्यात्मभिः पदैः।
अतद्गुणक्रियायोगादुत्प्रेक्षातिशयान्विता ॥
लोकातिक्रान्तविषया भावाभावाभिमानतः।
संभावनेयमुत्प्रेक्षा वाच्येवादिभिरिष्यते ॥
(का० सा० संग्रह ३।३-४)

वामन : अतद्रूपस्यान्यथाध्यवसानमतिशयार्थमुत्प्रेक्षा ॥
(४।३।९ का० सू०)

३. भामहकृत काव्यालंकार २।९३। इसमें अपह्नुति का भी स्पर्श है।

४. दण्डी ने उत्प्रेक्षावाचक शब्दों की एक अच्छी सूची दे दी है—
मन्ये शङ्के ध्रुवं प्रायो नूनमित्येवमादिभिः।
उत्प्रेक्षा व्यज्यते शब्दैरिवशब्दोऽपि तादृशः॥ (२।२३४ काव्यादर्श)

व्यङ्ग्योत्प्रेक्षा *

[१] चन्दनासक्तभुजगनिश्श्वासानिलमूर्च्छित ।
मूर्च्छयत्येष पथिकान् मधौ मलयमारुत ॥[1]

वसन्त की इस वेला मे यह मलयानिल मलय के चन्दनवृक्षो में लिपटे विषधरो की सांस मे सनकर आ रहा और पथिको को मूर्च्छित कर रहा है।

यहाँ पथिकमूर्च्छा मे कारण है मलयानिलगत कामोद्दीपकत्व, किन्तु बतलाया जा रहा है विषसपर्क को कारण। कवि का अभिप्राय यह है कि 'मानो यह मलयानिल विष-सपर्क के कारण पथिको को मूर्च्छित कर रहा है।' यहाँ 'मानो'-शब्द का प्रयोग नही है। न तो वैसे किसी अन्य शब्द का ही प्रयोग है। अत उत्प्रेक्षा व्यङ्ग्य ही है।

[२] ईर्ष्याकलुषस्यापि तव मुखस्य नन्वेष पूर्णिमाचन्द्र ।
अद्य सदृशत्व प्राप्याङ्ग एव न माति[2] ॥

प्रिये, तेरा मुख ईर्ष्याकोप से कषायित है, किन्तु इसकी समता प्राप्त कर आज पूर्णचन्द्र फूला नही समा रहा।

पूर्णिमा के चन्द्र में कान्ति का न अँटना एक प्राकृतिक तथ्य है, किन्तु यहाँ उसमें कान्तामुखसाम्य के दुर्लभ लाभ को कारण बतलाया जा रहा है। कवि कहना चाहता है 'मानो कान्तामुखसाम्यलाभ से चन्द्र में इतनी प्रसन्नता आई है।' किन्तु यहाँ 'मानो' आदि कोई शब्द प्रयुक्त नही है, फलत यहाँ उत्प्रेक्षा व्यङ्ग्य ही है।

[३] त्रासाकुल परिपतन् परितो निकेतान्
पुम्भिन कैश्चिदपि धन्विभिरन्वबन्धि।
तस्थौ तथापि न मृग क्वचिदङ्गनाभि-
राकर्ण-पूर्ण-नयनेषु-हृतेक्षण-श्री[3] ॥

---

१. ध्वन्यालोक पृष्ठ २६९। यहाँ उत्प्रेक्षावाचक का अभाव समास के कारण है जो सस्कृत में ही समझ में आता है।

२ ध्वन्यालोक पृ० २७१—
ईसाकलुसस्स वि तुह मुहस्स ण एस पुण्णिमाचन्दो।
अज्ज सरिसत्तण पाविऊण अङ्गे विअ ण माइ॥ (की सस्कृत छाया)
यहाँ व्यतिरेक वाच्य है। व्यङ्ग्य उत्प्रेक्षा उसी का उपस्कार कर रही है।

३ ध्वन्यालोक पृष्ठ २७२

मृग का छौना किसी भी कारण डरकर जंगल से गांव तक आ पहुँचा और चाहने लगा कि वह किसी घर मे छिप जाए, किन्तु वह घरों के आस-पास चक्कर ही लगाता रह गया, यद्यपि हाथ में धनुष लेकर किसी ने उसका पीछा नही किया। वहाँ सुन्दरियों के कर्णतट तक आयत नेत्रसायकों ने उसके नेत्रों की श्री हर ली थी।

यहाँ 'मन्ये' आदि किसी शब्द का प्रयोग नहीं है और प्रतीत होता है कि 'मानों इसलिए मृगपोत किसी भी घर मे नही ठहरा कि वहाँ उसको सुन्दरीनेत्रों से हार माननी पड़ रही थी'। फलतः यहाँ भी उत्प्रेक्षा व्यङ्ग्य ही है।

ये तीनों स्थल ऐसे है जिनमे व्यङ्ग्य उत्प्रेक्षा शृङ्गार रस के प्रति अङ्ग है, अतः वह गुणीभूतव्यङ्ग्य है। ध्वनित्व है यहाँ रस मे ही।

[१२] ससन्देह[१]

उपमेय पर जब उपमान का संशय किया जाता है तब यदि चमत्कार अनुभव मे आता है तो उसे सन्देह अलंकार कहा जाता[२] है। यह अलंकार जिस वाक्य में होता है उसे कहा जाता है 'ससन्देह' अर्थात् सन्देह से युक्त। ससन्देह शब्द का प्रयोग उद्भट ने अलंकार के लिए भी किया। इस अर्थ में ससन्देह शब्द को 'भावप्रधान' शब्द मानना चाहिये और उसका अर्थ ससन्देहत्व करना चाहिए। निष्कर्ष यह कि ससन्देहालंकार का अर्थ है 'ससन्देहत्वालंकार'। जैसा कि पहले कहा[३] जा चुका है समासयुक्त शब्द के बाद आए 'भाव'वाचक प्रत्यय का अर्थ वही होता है जो समासयुक्त शब्द से निकल रहे अर्थो में विशेषण होता है, इस कारण 'ससन्देहत्व' का अर्थ हुआ 'सन्देह'। इस प्रकार इस अलंकार का ठीक नाम ठहरता है सन्देह, न कि ससन्देह। वामन[४] ने इसे सन्देह ही कहा है। दण्डी ने इसे संशयोपमा

१. ध्व० पृ० २५८, ४७१.

२. भामह—उपमानेन यत् तत्त्वं भेदं च वदतः पुनः।
ससन्देहं वचः स्तुत्यै ससन्देहं विदुः०० ॥ (काव्यालंकार ३।४३)
उद्भट—ने भामह के इसी लक्षण के अन्त में 'विदुः' के आगे 'बुधाः' शब्द जोड़ दिया है। उद्भट ने एक संदेह और माना है। वह है 'अन्य अलंकार को चित्त में रख तदर्थ संदेह न होने पर भी संदेह करना।

३. यहीं पृ० २२९.

४. उपमानोपमेयसंशयः सन्देहः ॥ वामन का० सू० ४।३।११. उदाहरण—
हे विलासिनि! मैं यह नही समझ पाता कि यह नीलोत्पल है और यह नेत्र है।

कहा था। भामह और उद्भट इसे ससन्देह ही कहते हैं। भामह ने इसका उदाहरण यह माना है

किमयं शशी, न स दिवा विराजते,
कुसुमायुधो, न धनुरस्य कौसुमम्।
इति विस्मयाद् विमृशतोऽपि मे मति-
स्त्वयि वीक्षिते न लभतेऽर्थनिश्चयम् ॥[1]

राजन् धनुष धारणकर जब आप मेरे समक्ष आते हैं तो मेरी बुद्धि कुछ निश्चय नहीं कर पाती। वह सोचती है कि 'क्या यह चन्द्रमा है, परन्तु वह दिन में अच्छा नहीं लगता, क्या यह कुसुमायुध है, किन्तु इसका [आपका] धनुष पुष्प का नहीं है।

आनन्दवर्धन का कहना है इस प्रकार का जो ससन्देह अलंकार है इसका मूल है सादृश्य और वह यहाँ व्यङ्ग्य रहता[2] है।

[१३] अतिशयोक्ति[3]

अतिशयोक्ति आनन्दवर्धन के पहले ही दो रूपों में प्रतिष्ठा पा चुकी थी। एक था उसका अलंकारसामान्यरूप तथा दूसरा था अलंकारविशेषरूप।

सामान्य

सामान्य अलंकार के रूप में अतिशयोक्ति शब्द का अर्थ है—'अतिशय से युक्त उक्ति' अर्थात् ऐसी उक्ति जिसका अर्थ लोकलभ्य अर्थ से बढ़ा चढ़ा हो। दूसरे शब्दों में 'लोकातिक्रान्त वचोभङ्गी'। मुख कितना भी सुन्दर क्यों न हो वह चन्द्र या कमल के बराबर नहीं हो सकता, तथापि उसे वैसा बतलाया जाता है और उसमें 'उपमा' नामक अलंकार स्वीकार किया जाता है, इसीलिए कि इसमें जो बात कही जा रही है वह बढ़ा चढ़ाकर कही जा रही है, वह लोकातिक्रान्तता को लिये है। इससे कान्तामुख की श्री में अत्यधिक स्पृहणीयता द्योतित होती है। यह स्पृहणीयता 'मुख बड़ी ही स्पृहणीयता लिए हुए है'—इस प्रकार कहने से भासित नहीं होती, अतः उसके लिए इस घुमावदार वाक्य को अपनाया जाता है, इसलिए

१ भामहकृत काव्यालङ्कार ३।४४
२ ध्व० पृ० २५८, ४७१
३ ध्व० पृ० १६३, २५८, २६६, ४६५, ४६६, ४६७, ४७०

इस उक्ति को 'वक्रा उक्ति'[१] भी कहा जाता है। रूपक अपह्नुति आदि में भी इस 'वक्र उक्ति' का अस्तित्व देखा जा सकता है। यह हुआ अतिशयोक्ति का प्रथम रूप। यह ऐसा रूप है जिसे अलंकारमात्र का प्राण कहा जाता है। इसके विना कोई भी अलंकार, अलंकार बन ही नहीं पाता।

अतिशयोक्ति के इस स्वरूप को आनन्दवर्धन ने भी अपनाया है, और इसकी इस सार्वभौम विभूति के समक्ष अत्यन्त सहृदयता के साथ मस्तक झुकाया है।

विशेष :

अतिशयोक्ति के इस भेद में जो अतिशय रहता है उसमें सादृश्य, आरोप, अपह्नव आदि अन्य तत्त्वों के चमत्कार भी मिले रहते है, किन्तु एक भेद ऐसा भी होता है जिसमें ऐसा कुछ नहीं रहता और शुद्ध अतिशय ही चमत्कारकारक होता है। इस द्वितीय भेद को 'अतिशयोक्ति' नाम से ही पुकारा जाता है और यहाँ 'अतिशयोक्ति' संज्ञा को अलंकारसामान्य का वाचक न मानकर अलंकार-विशेष[२] का वाचक माना जाता है।

---

२. दण्डी = विवक्षा या विशेषस्य लोकसीमातिवर्त्तिनः।
असावतिशयोक्तिः स्यादलंकारोत्तमा०० ॥ (काव्यादर्श २।२१४)
अलंकारान्तराणामप्येकमाहुः परायणम्।
वागीशमहिता - मुक्तिमिमामतिशयाह्वयाम् ॥ (काव्यादर्श २।२२०)

भामह = निमित्ततो वचो यत्तु लोकातिक्रान्तगोचरम्।
मन्यन्तेऽतिशयोक्ति तामलङ्कारतया०० ॥ (काव्यालंकार २।८१)
सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना ॥
(काव्या० २।८५)

उद्भट = निमित्ततो वचो यत्तु लोकातिक्रान्तगोचरम्।
मन्यन्तेऽतिशयोक्ति तामलंकारतया बुधाः ॥
(काव्या सा० सं २।११)

वामन = में अतिशयोक्ति का यह स्वरूप नही मिलता।

३. इसका ठीक निरूपण उद्भट में ही मिलता है। उनने इसके इन भेदों का निरूपण किया है—भेद में अभेद, अभेद में भेद, संभाव्यमानार्थ मूलक, तथा कार्यकारण में पौर्वापर्य का उलटाव। रुद्रट तथा मम्मट ने इसका निरूपण और भी अधिक विशदता से किया। एतदर्थ द्र० हमारा हिन्दीअलंकारसर्वस्व।

आनन्दवर्धन में अतिशयोक्ति का प्रथम रूप ही प्राप्त होता है। आक्षेप की ध्वनि के प्रसङ्ग में उन्होंने वाच्य अतिशयोक्ति के इस भेद का एक पद्य प्रस्तुत किया है। वह यह है—

स वक्तुमखिलान् शक्तो हयग्रीवाश्रितान् गुणान्।
योऽम्बुकुम्भैः परिच्छेदं ज्ञातुं शक्तो महोदधेः॥[1]

हयग्रीव भगवान् के सभी गुणों की गणना वह व्यक्ति कर सकता है जो घड़ों में भरकर महान् समुद्र के जल की गणना कर सके।

इसका अर्थ यह हुआ कि न तो समुद्र का जल नापा जा सकता है और न हयग्रीव के गुण गिने जा सकते। इस उक्ति से हयग्रीव के गुणों में अतिशयितता का बोध स्पष्ट है।

[१४] तुल्ययोगिता[2]

दण्डी, भामह तथा वामन के अनुसार तुल्ययोगिता में न्यून गुण वाले व्यक्ति का अधिक गुण वाले व्यक्तियों के साथ किसी तुल्य कार्य में योग दिखलाया जाता है। अर्थ यह कि यहाँ तुल्यता का आधार होती है क्रिया, जिसे एक साथ अनेक में स्थित दिखलाया जाता है, ऐसे अनेक जिनमें से कुछ उत्कृष्ट होते हैं और कुछ अपकृष्ट[3]। उद्भट[4] ने तुल्यता का थोड़ा और विस्तार किया। उनने उसे क्रिया-

---

१ ध्व० पृ० २६५

२ ध्व० पृ० ४७०

३ दण्डी = विवक्षितगुणोत्कृष्टैर्यत् समीकृत्य कस्यचित्।
कीर्तनं स्तुतिनिन्दार्थं सा मता तुल्ययोगिता।
(काव्यादर्श २।३३०)

भामह = न्यूनस्यापि विशिष्टेन गुणसाम्यविवक्षया।
तुल्यकार्यक्रियायोगादित्युक्ता तुल्ययोगिता।
(काव्यालङ्कार ३।२७)

वामन = विशिष्टेन साम्यार्थमेककालक्रियायोगस्तुल्ययोगिता॥
(४।३।२६ काव्यालङ्कारसूत्र)

४ उपमानोपमेयोक्तिशून्यैरप्रस्तुतैर्वचः।
साम्याभिधायि प्रस्तावभाग्भिर्वा तुल्ययोगिता॥ (काव्या० सा० सं० ५।७)
रुद्रट ने तुल्ययोगिता नाम से किसी अलङ्कार का निरूपण नहीं किया।

गतत्व से आगे बढ़ाकर केवल प्रस्तुतत्व अथवा केवल अप्रस्तुतत्व में भी देखा। अर्थ यह कि उनके अनुसार एक क्रिया मे अन्वित होने वाले पदार्थो में या तो केवल प्रस्तुतता ही रहेगी यानी वे सब प्रस्तुत ही प्रस्तुत होंगे अथवा केवल अप्रस्तुतता ही यानी वे सब अप्रस्तुत ही अप्रस्तुत होंगे। तुल्ययोगिता का यह जो स्वरूप उद्भट ने निर्धारित किया इसको लेकर दण्डी और भामह की तुल्ययोगिता स्वयं को दीपक से पृथक् सिद्ध कर सकी, क्योंकि दीपक मे प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों का किसी एक क्रिया मे अन्वय दिखलाया जाता है। उद्भट के पूर्व की तुल्ययोगिता की स्थिति भी ठीक ऐसी ही थी। उद्भट ने एक बात और जोड़ी। वह थी 'साम्य के अकथन' की। अर्थात् इस अलंकार मे साम्य रहता तो है, किन्तु उसे शब्दतः नही कहा जाता। वह एकमात्र व्यङ्ग्य रहता है। आनन्दवर्धन ने तुल्ययोगिता का निम्नलिखित स्थल उपस्थित किया है—

> अङ्कुरितः पल्लवितः कोरकितः पुष्पितश्च सहकारः।
> अङ्कुरितः पल्लवितः कोरकितः पुष्पितश्च हृदि मदनः॥[1]

उधर सहकार अङ्कुरित, पल्लवित, कोरकित और पुष्पित हुआ, इधर हृदय मे मदन अङ्कुरित, पल्लवित, कोरकित और पुष्पित हुआ।

यहां एक ही सहकार को 'अङ्कुरितत्व' आदि अनेक धर्मो से सम्बद्ध बतलाया जा रहा है। मदन की भी यही स्थिति है। इस कारण यहां दो तुल्ययोगिताएँ है। पूर्वाचार्यो में इसके उदाहरण ये है—

दण्डी—**यमः कुबेरो वरुणः सहस्राक्षो भवानपि।**
बिभ्रत्यनन्यविषयां लोकपाल इति श्रुतिम्॥[2]

लोकपाल इस विरुद को यम, कुबेर, वरुण, इन्द्र और आप ही धारण करते है और कोई नही।

भामह—**शेषो हिमगिरिस्त्वं च महान्तो गुरवः स्थिताः।**
यदलङ्घितमर्यादां चलन्तीं बिभृथ क्षितिम्॥[3]

शेषनाग, हिमगिरि और आप ही अत्यन्त गुरु है, जो चलायमान पृथिवी को मर्यादा नही तोड़ने देते।

१. ध्व० पृ० २७४
२. काव्यादर्श २।३३१
३. काव्यालंकार ३।२८

वामन—जलनिधिरशनामिमां धरित्रीं वहति भुजङ्गविभुर्भवद्भुजश्च ।[1]

इस समुद्ररशना पृथिवी को शेषनाग और आपका भुजदण्ड, ये ही धारण कर रहे हैं ।

उद्भट—त्वदङ्गमार्दवं द्रष्टुः कस्य चित्ते न भासते ।
मालती-शशभृल्लेखा कदलीनां कठोरता ॥[2]

हे पार्वती ! तुम्हारे शरीर की मृदुता को देखने वाले किस व्यक्ति को मालती, चन्द्रकला और कदली कठोर प्रतीत नहीं होती ।

इन सब उदाहरणों में उद्भट का ही उदाहरण ऐसा है जिसमें 'मालती, चन्द्रकला तथा कदली' इन तीन केवल अप्रस्तुतों का कठोरतारूपी गुण में अन्वय है । शेष सबके उदाहरण ऐसे हैं जिनमें वर्णनीय व्यक्ति ही प्रस्तुत है, शेष सब अप्रस्तुत । और इस कारण उनका किसी एक क्रिया में जो अन्वय होता है उससे 'दीपक' को जन्म मिलता है । 'दीपक' जलाया जाता है पुस्तक पढ़ने के लिए, किन्तु वह पुस्तकातिरिक्त पदार्थों को भी प्रकाशित करता रहता है । पुस्तक प्रस्तुत है, अन्य पदार्थ अप्रस्तुत । दीपक की प्रकाशनक्रिया में इन सबका सम्बन्ध है । दीपक में प्रकाशित होने के बाद साम्य की प्रतीति होती है, तुल्ययोगिता में साम्य की प्रतीति पहले हो जाती है, उनका प्रकाशन बाद में । आनन्दवर्धन का उदाहरण ऐसा है जिसमें केवल प्रस्तुत ही प्रस्तुत पदार्थों से एक पदार्थ सम्बन्धित हो रहा है । इस प्रकार आनन्दवर्धन तुल्ययोगिता का वह पक्ष भी प्रस्तुत करते दिखाई देते हैं जिसे पूर्वाचार्यों ने छोड़ दिया था ।

आनन्दवर्धन ने तुल्ययोगिता[3] का स्मरण जिस लिए किया है वह है साम्य की व्यञ्जनाद्वारा प्रतीति । वह उक्त सभी आचार्यों के उल्लिखित सभी उदाहरणों में समान रूप से उपलब्ध है ।

[१५] दीपक[4]

तुल्ययोगिता के प्रकरण में दीपक की चर्चा आ चुकी है । उसका निरूपण भी हो चुका है । इसे दीपक 'दीप के समान'[5] होने से कहा जाता है, जैसा कि

---

१ काव्या० सू० वृ० ४।३।२६

२ काव्या० सा० स० ५।७ उदाहरण

३ ध्व० पृ० ४७०

४-५ ध्वया० पृ० २२२, २२३ × २, २२४, २३२, २३३, २३८, २५८ × २,→

अभी तुल्ययोगिता मे कहा जा चुका है। यह ऐसा भाग्यशाली अलङ्कार है जिसे भरत[1] मुनि से लेकर आज तक के किसी भी आलंकारिक आचार्य ने अस्वीकार नही किया। आनन्दवर्धन इसका स्मरण बड़ी ही निर्भरता के साथ करते और इससे व्यञ्जना की सिद्धि मे पर्याप्त सहायता[2] लेते है। उनका कहना है कि दीपक मे उपमा व्यङ्ग्य रहती है। एतदर्थ उन्होंने पूर्वोद्धृत[3] 'चन्द्रमयूखैर्निशा०' उदाहरण भी दिया है।

यहाँ मुख्य वक्तव्य है काव्यकथा और सज्जनों से सम्बन्धित। वे ही यहाँ वर्णनीय है, अतः प्राकरणिक है। शेष सब आनुषङ्गिक है, अतः अप्राकरणिक है। उनका उपादान यहाँ इसलिए किया गया है कि उनके साथ प्राकरणिक और मुख्य वर्णनीय की समता प्रतीत हो सके। यह समता उपमा ही है। यहाँ मुख्य अलंकार

→ २६२, ४७०, ४७२, ५१६. 'दीप इव' दीपकम्; तुल्यार्थक कन्प्रत्यय 'संज्ञायां च'-वार्त्तिक।

१. भरत—नानाधिकरणस्थानां शब्दानां संप्रदीपकम्,
एकवाक्येन संयोगं तद् दीपकमिहोच्यते ॥ नाट्यशास्त्र १६।५३ ॥

दण्डी—जाति-क्रियागुणद्रव्यवाचिनैकत्र वर्त्तिना।
सर्ववाक्योपकारश्चेत् तमाहुर्दीपकं००'। काव्यादर्श २।९७ ॥

भामह—ने दीपक का लक्षण नही दिया, केवल इसके भेद और उदाहरण दिए है। द्र० काव्यालङ्कार।

वामन—'उपमानोपमेयवाक्येष्वेका क्रिया दीपकम्'

उद्भट—आदिमध्यान्तविषयाः प्राधान्येतरयोगिनः।
अन्तर्गतोपमा धर्मा यत्र तद् दीपकं विदुः॥ १।१४ का० सा० सं०॥

रुद्रट—रुद्रट ने तुल्ययोगिता को दीपक में मिला दिया है—

१. यत्रैकमनेकेषां वाक्यार्थानां क्रियापदं भवति।
तद्वत् कारकपदमपि तदेतदिति दीपकं द्वेधा॥
आदौ मध्येऽन्ते वा वाक्ये तत् संस्थितं च दीपयति।
वाक्यार्थानिति भूयस्त्रिधैतदेवं भवेत् षोढा॥

काव्यालंकार ७।६४-६५

२. ध्व० पृ० १०८, ११५, ११९, २५१, ४६४, ४७१ ×४.

३. यहीं पृ० १९७.

दीपक है। उपमा अमुख्य है। वह दीपक में व्यङ्ग्य हो रही है, क्योंकि उक्त वाक्य में उपमा का प्रतिपादन करने वाला शब्द प्रयुक्त नहीं है। उपमा अमुख्य इसलिए है कि चमत्कार दीपक से ही अधिक हो रहा है।

[१६] निदर्शना[1]

निदर्शना संस्कृत काव्यशास्त्र में अपने तीन रूपों में प्रसिद्ध है—

१ वाक्यार्थनिदर्शना

२ पदार्थ-निदर्शना तथा

३ क्रियानिदर्शना।

इनमें से दण्डी, भामह तथा वामन केवल क्रियानिदर्शना से परिचित हैं। उनमें प्रथम दो भेद नहीं मिलते। उद्भट केवल पदार्थनिदर्शना से परिचित हैं, उनमें वाक्यार्थनिदर्शना तथा क्रियानिदर्शना नहीं मिलती। इस प्रकार आनन्दवर्धन तक निदर्शना क्रियानिदर्शना तथा पदार्थनिदर्शना के रूप में ही उभर पाई थी। उनके समय तक वाक्यार्थनिदर्शना[2] पर विचार नहीं हुआ था।

निदर्शना का स्वरूप उसके उदाहरणों से स्पष्ट होगा।

आनन्दवर्धन ने इसके किसी भी भेद का कोई उदाहरण नहीं दिया। पूर्वाचार्यों में इसके उदाहरण ये हैं—

[१] क्रियानिदर्शना :

दण्डी उदयन्नेव सविता पद्मेष्वर्पयति श्रियम्।
विभावयितुमृद्धीनां फलं सुहृदनुग्रहम्॥

यह सूर्य उदित होते ही कमलों को श्री अर्पित कर रहा है, यह बतलाने के लिए कि समृद्धि का फल है मित्रों पर अनुग्रह।[3]

---

१ ध्व० पृ० ४७०

२ वाक्यार्थनिदर्शना पहली बार कदाचित् मम्मट के काव्यप्रकाश में ही मिलती है। उनके पूर्ववर्ती रुद्रट में निदर्शना नाम का कोई अलङ्कार नहीं मिलता। उनके उभयन्यास नामक अलङ्कार से निदर्शना को मिलाया जा सकता है।

३ दण्डी काव्यादर्श २।३४९, लक्षण—

अर्थान्तरप्रवृत्तेन किंचित् तत्सदृशं फलम्।
सदसद् वा निदर्श्येत यदि तत् स्यान्निदर्शनम्॥ काव्यादर्श २।३४८॥

भामह अयं मन्दद्युतिर्भास्वानस्तं प्रति यियासति ।
उदयः पतनायेति श्रीमतो बोधयन् नरान् ॥

यह सूर्य तेजोहीन हो अस्ताचल को जाना चाह रहा है, श्रीमान् लोगों को यह बतलाते हुए कि उदय पतन के लिए ही होता है ।[1]

वामन अत्युच्चपदाध्यासः पतनायेत्यर्थशालिनां शंसत् ।
आपाण्डु पतति पत्रं तरोरिदं बन्धनग्रन्थेः ॥

वृक्ष का पीला पत्ता वृन्त से टपक रहा है, यह कहते हुए कि बहुत ऊँचे पद पर पहुँचना पतन में ही परिणत होता है ।[2]

[२] पदार्थनिदर्शना :

उद्भट विनोचितेन पत्या च रूपवत्यपि कामिनी ।
विधुवन्ध्यविभावर्याः प्रविभर्ति विशोभताम् ॥[3]

कामिनी रूपवती भी हो किन्तु उसका पति अनुरूप न हो तो वह चन्द्रहीन रात की शोभाहीनता धारण किए रहती है ।

स्पष्ट ही उक्त सभी स्थलों में उपमा या साम्य विद्यमान है, किन्तु अपनी अन्तर्लीनता के साथ, कारण कि उसके लिए उक्त स्थलों में से किसी में भी 'इव' 'जैसे' आदि किसी भी शब्द का प्रयोग नहीं है । निदान यहाँ के सभी स्थलों में उपमा

१. भामह काव्यालंकार ३।३४, लक्षण—

क्रिययेव विशिष्टस्य तदर्थस्योपदर्शनात् ।
ज्ञेया निदर्शना नाम यथेववतिभिर्विना ॥ काव्यालंकार ३।३३ ॥

२. वामन का० सू० वृ० ४।३।२०, लक्षण—

क्रिययैव स्वतदर्थान्वयख्यापनं निदर्शनम् । का० सू० ४।३।२० ।

जहाँ किसी एक क्रिया का परिणाम बतलाते हुए उसी जैसी किसी अन्य क्रिया का परिणाम बतलाया जाए वह होगी निदर्शना, यानी क्रियानिदर्शना । ऊपर दिए सभी उदाहरणों में यह तथ्य विद्यमान है ।

३. उद्भट का० सा० सं० ५।१०, लक्षण—

अभवन् वस्तुसम्बन्धो भवन् वा यत्र कल्पयेत् ।
उपमानोपमेयत्वं कथ्यते सा विदर्शना ॥ का० सा० सं० ५।१०॥

उद्भट ने निदर्शना को विदर्शना नामा दिय है, यदि यह लिपिदोष न हो ।

एकमात्र व्यङ्ग्य है, किन्तु चमत्कार की मात्रा 'निदर्शना' में ही अधिक है, इस लिए उपमा गुणीभूत है, फलत ये सब स्थल गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य[1] हैं।

[१७] व्यतिरेक[2]

व्यतिरेक के विषय में आनन्दवर्धन के समय तक जो विश्लेषण हुआ था उसमें उसके तीन रूप दिखाई देते हैं—

१ उपमान और उपमेय का साम्य दिखलाकर वैषम्य दिखलाना,
२ उपमान से उपमेय का उत्कर्ष दिखलाना तथा
३ उपमान से उपमेय का अपकर्ष दिखलाना।

---

१ वाक्यार्थ-निदर्शना का लक्षण मम्मट ने इस प्रकार किया है—

अभवन् वस्तुसम्बन्ध उपमापरिकल्पक ।

अर्थात् जहा दो वाक्यो को असम्बद्ध रूप में उपस्थित कर दिया जाए और जिनमें साम्य हो। उन्होंने इसका उदाहरण दिया है—

क्व सूर्यप्रभवो वश क्व चाल्पविषया मति ।
तितीर्षुर्दुस्तर मोहादुडुपेनास्मि सागरम् ॥ कालिदास रघु० १ ॥

कहा तो रघु का वश जो सूर्य से निकला है और कहाँ मेरी अल्पप्रकाशा मति। मैं तो डोंगे से समुद्र पार करने की गलती कर रहा हूँ।

यहाँ 'क्षुद्र मति से सूर्यवश का वर्णन' एक वाक्यार्थ है और 'डोंगे से समुद्र पार करना' दूसरा वाक्यार्थ। उपर्युक्त श्लोकवाक्य में इनको पृथक्-पृथक् रखा गया है। उनमें कोई सम्बन्ध नही दिखलाया गया। फलत आरम्भ में ऐसा लगता है कि ये दो वाक्यार्थ असबद्ध है, किन्तु सोचने पर विदित होता है कि दोनो में साम्य है। कवि कहना चाहता है कि मेरी क्षुद्र बुद्धि से जो मैं रघु के सूर्य से उत्पन्न महान् वश का वर्णन करने जा रहा हूँ यह वैसा ही है जैसा डोंगे से अनन्त जलराशि समुद्र को पार करना। दोनो में साधारण धर्म है 'दुष्करत्व'। डोंगे से समुद्र पार करना जितना दुष्कर है उतना ही है क्षुद्र मति से महान् वस्तु का वर्णन।

इस प्रकार वाक्यार्थनिदर्शना में भी साम्य की प्रतिष्ठा है।

२ ध्व० पृ० २२८×२, २२९×३, २३०, २३५, २४६, २६९

इनमे से प्रथम भेद केवल दण्डी और भामह[1] मे मिलता है, द्वितीय केवल वामन[2] मे और तृतीय केवल रुद्रट[3] मे। रुद्रट में द्वितीय भेद भी मिलता है, किन्तु प्रथम नही। इसी प्रकार वामन में प्रथम तथा तृतीय भेद नहीं मिलते। दण्डी और भामह केवल प्रथम भेद ही उपस्थित करते है, किन्तु उनने इसके लिए जो उदाहरण दिए है उनसे द्वितीय भेद को जन्म मिल जाता है। उद्भट बोलते भामह के स्वर में है, किन्तु उदाहरण देते है वामन के समान[4]।

भेदालङ्कार :

वस्तुतः व्यतिरेक के उक्त प्रथम भेद को 'भेदालङ्कार'[5] की संज्ञा दी जानी चाहिए। व्यतिरेकसंज्ञा केवल दूसरे और तीसरे भेद को दी जा सकती है, किन्तु

---

१. दण्डी—शब्दोपात्ते प्रतीते वा सादृश्ये वस्तुनोर्द्वयोः।
तत्र यद् भेदकथनं व्यतिरेकः स कथ्यते ॥ (काव्यादर्श २।१८०)

भामह—उपमानवतोऽर्थस्य यद् विशेषनिदर्शनात्।
व्यतिरेकं तमिच्छन्ति विशेषापादनात्०० ।

२. वामन—उपमेयस्य गुणातिरेकित्वं व्यतिरेकः ॥ (का० सू० ४।३।२२)

३. रुद्रट—उपमेय का उत्कर्ष—
यो गुण उपमेये स्यात् तत्प्रतिपन्थी च दोष उपमाने ॥
(काव्या० ७।८६)

उपमेय का अपकर्ष—
यो गुण उपमाने वा तत्प्रतिपक्षी च दोष उपमेये ॥ (काव्या ७।८९)

४. उद्भट—विशेषापादनं यत् स्यादुपमानोपमेययोः।
निमित्तादृष्टिदृष्टिभ्यां व्यतिरेको द्विधा तु सः ॥ (का०सा० सं० २।७)

उद्भट ने उदाहरण जितने दिए है उन सब में उपमेय को उपमान से उत्कृष्ट ही सिद्ध किया गया है। यही स्थिति दण्डी के भी उदाहरणों की है। वस्तुतः इसी कारण वामन ने उपमेय के उत्कर्ष को व्यतिरेक माना।

५. महाराजा भोज ने सरस्वतीकण्ठाभरण में व्यतिरेक को 'भेद' ही कहा है। दण्डी के स्वर में स्वर मिलाकर उनने कहा है—
शब्दोपात्ते प्रतीते वा सादृश्ये वस्तुनोर्द्वयोः।
भेदाभिधानं भेदश्च व्यतिरेकश्च कथ्यते ॥ (स० क० ३।३२)

भोज ने दण्डी के उदाहरण भी ज्यों के त्यों अपना लिए है।

'व्यतिरेकालङ्कार'-मना तो केवल द्वितीय भेद में ही फबती है क्योंकि चमत्कार उपमेय के उत्कर्ष में ही सम्भव है, अपकर्ष में नही।

आनन्दवधन ने व्यतिरेक के अनेक उदाहरण दिए है। इनसे स्पष्ट है कि वे व्यतिरेक के उक्त तीनो भेदो से परिचित है। यह कहा जा चुका है कि आनन्दवधन रुद्रट से परिचित नहीं है, अत यह मानना होगा कि **उपमान के उत्कर्ष में व्यतिरेक की कल्पना स्वय आनन्दवर्धन की है।**

१ उपमेय और उपमान का भेद

उदाहरण है उद्धृत 'रक्तस्त्व'[1] पद्य। इसमें विरही वक्ता और अशोक की पहले तीन चरणो में समता प्रस्तुत की गई है, अन्तिम चरण में उनमें परस्पर में अन्तर बतला दिया गया है। यहाँ यह अन्तर ही चमत्कारकारी है, उपमान या उपमेय का उत्कर्ष नही, अत यह भेदालङ्कारस्वरूप व्यतिरेक हुआ।

२ उपमेय का उपमान से उत्कर्ष

[क] पूर्वोद्धृत 'स हरि'[2] पद्य में कवि अपने आश्रयदाता राजा को सच्चा 'महरि' बतला रहा है, और विष्णु को झूठा। इस प्रकार विष्णुरूपी उपमान से आश्रयदातारूपी उपमेय में उत्कर्ष बतलाया जा रहा है।

[ख] पूर्वोद्धृत 'नो कल्पापायवायो'[3] पद्य मे सामान्य दीपक की लौ से सूर्यरूपी दीपक की लौ को उत्कृष्ट बतलाया जा रहा है। वहाँ सामान्य दीपक उपमान है और सूर्यरूपी दीपक उपमेय।

[ग] उदार चित्त के दरिद्र सत्पुरुष की पूर्वोद्धृत 'जायेय वनो०'[4] उक्ति में वृक्ष के दारिद्रय की अपेक्षा वक्ता के दारिद्रय मे उत्कर्ष की प्रतीति स्पष्ट है।

[घ] 'आनन्दवर्धन' ने आगे श्लेष के प्रकरण में उद्धृत अपने 'श्लाघ्याशेषतनु०'[5] पद्य में भी व्यतिरेकच्छाया मानी है, किन्तु श्लेषमिश्रित।

---

१ पृ० ३११

२ पृ० ३१०

३, पृ० ३१२

४ पृ० १९६

५ देखिए अर्थश्लेषप्रकरण।

३. उपमेय का उपमान से अपकर्ष :

[क] उपर्युक्त 'उदार दरिद्र' की उक्ति मे उपमानभूत वृक्ष की उत्कृष्टता सिद्ध होती है और उपमेयभूत वक्ता की अपकृष्टता ।

[ख] उपर्युक्त 'रक्तस्त्वं०'[1] पद्य, यदि उसमे अशोक की अपेक्षा विरही वक्ता में अपकर्ष प्रतीत होता हो और उससे चमत्कारानुभव होता हो ।

निम्नलिखित पद्य में व्यतिरेक के उक्त प्रथम और द्वितीय भेदों का मिश्रण है—

> खं येऽत्युज्ज्वलयन्ति लूनतमसो ये वा नखोद्भासिनो
> ये पुष्णन्ति सरोरुहश्रियमपि क्षिप्ताब्जभासश्च ये ।
> ये मूर्धस्ववभासिनः क्षितिभृतां ये चामराणां शिरां-
> स्याक्रामन्त्युभयेऽपि ते दिनपतेः पादाः श्रिये सन्तु वः[2] ॥

---

१. पृ० ३११

२. ध्व० पृ० २४६. यह पद्य स्वयं आनन्दवर्धन का ही है । कला की दृष्टि मे यह पद्य बहुत अच्छा नहीं कहा जा सकता । कवि ने किरण और चरण के बीच साम्य और वैषम्य दोनों स्थापित करना चाहा है । वह पद्य के सभी विशेषणों से सिद्ध होता है । 'वा नखोद्भाः' को 'वाऽनखो०' मानकर अथवा 'खोद्भासिनः न' इस प्रकार उसमें काकु मानकर आकाशोद्भासकत्व चरणों में भी देखा जा सकता है । अब्ज का अर्थ चन्द्र करने पर भी इस विशेषण को चरणों में लगाया जा सकता है—'क्षिप्ता अब्जस्य भासो नखेषु यैः' इस प्रकार । चरणनखों को चन्द्र के समान माना ही जाता है । विरोध स्पष्ट करने के लिए यहां 'पुष्णन्त्यब्जरुचीरपस्तु पटु ये' ऐसा पाठ होना चाहिए । तृतीय चरण में क्षितिभृत् शब्द से मर्त्यलोक का सम्बन्ध निकालकर उसके आधार पर अमरसिरों पर चढ़ने वाले चरणों का अन्तर किया जा सकता है, किन्तु सूर्य की किरणें भी देवताओं के सिरों पर आरूढ रहती हैं, अतः वह अन्तर बा नही पाता ।

विरोध से अन्तर निकलता भी है तो उससे कभी उपमान अपकृष्ट सिद्ध होता और कभी उपमेय । उपमेय किरण है । प्रथम में किरण ही उत्कृष्ट ठहरती है क्योंकि वे आकाश को उद्भासित करती हैं, चरण नहीं । द्वितीय में किरण अपकृष्ट सिद्ध होती हैं क्योंकि वे कमलकान्ति को जीत नहीं →

भगवान् सूर्य के वे दोनो ही प्रकार के पाद [किरण तथा चरण] आपकी *श्रीवृद्धि करें, अन्धकार को काटकर* जो *'ख'* [*आकाश*] को *अत्यन्त* उद्भासित करने वाले है और 'नखोद्भासी' [न-खो-द्भासी नही करते है ख=आकाश को उद्भासित जो, तथा नखो से उद्भासित] है, जो कमलश्री का परिपोष भी करते है और अब्ज [कमल तथा चन्द्र] की कान्ति को म्लान भी, जो क्षितिभृतो [पर्वतों] के सिर पर सुशोभित होते है एव जो देवताओ के मस्तक पर भी आरूढ रहते है।

यहाँ वाच्य है विरोधालकार। उससे उन दो वस्तुओ का अन्तर व्यङ्ग्य हो रहा है जो 'पाद' रूप में समान है। तृतीय चरण में यह अन्तर बिना विरोध के सामने आ रहा है। उससे विदित हो रहा है कि किरण और चरण दोनो है तो पादत्वेन समान, किन्तु दोनों की आरोहणक्रिया भिन्न है, एक की आरोहणक्रिया का कर्म पर्वतशृङ्ग है और दूसरे की आरोहणक्रिया का [कर्म] देवसिर। प्रथम दो चरणो में जो अन्तर प्रकट हो रहा है उससे यह भी झलक मिलती है कि सूर्य के किरण-रूपी पाद चरणरूपी पादो से उत्कृष्ट है। वर्णन का मुख्य विषय है सूर्यकिरण। चरण पादशब्द में विद्यमान श्लेष के कारण स्मरण आ रहे है। वे अप्राकरणिक और अमुख्य है। इस कारण चरण उपमान है और किरण उपमेय। यह इससे भी सिद्ध है कि पादशब्द चरणो के लिए अधिक प्रसिद्ध है। निदान इस उक्ति में उपमेय के उत्कर्ष की भी प्रतीति हो रही है।

यदि 'रक्तस्त्वं नवपल्लवै' तथा दरिद्र उदार की उक्ति 'जायेय वनोद्देशे' पद्य में उपमेय का अपकर्ष प्रतीत हो और अन्तर भी तो उनके आधार पर यह माना जा सकता है कि प्रथम और तृतीय भेदा का भी मिश्रण होना है।

इन सब स्थलों मे जो 'ख येऽत्युज्ज्वलयन्ति' तथा 'जायेय वनोद्देशे' ये दो स्थल है इनमें आए व्यतिरेक को आनन्दवर्धन ने व्यङ्ग्य माना है।

→ पातों, तृतीय में भी किरण ही अपकृष्ट सिद्ध होती है, क्योकि वे मर्त्यलोक तक सीमित बतलाई जा रहा है। इस प्रकार इस पद्य में कही उपमान अपकृष्ट सिद्ध होता है और कही स्वय उपमेय ही।

विशेषणो का क्रम भी एक सा नही है। प्रथम चरण में केवल किरण और चरण के विशेषण थे। द्वितीय तृतीय चरणो में चरण और किरण दोनो के विशेषणो का उपादान है। वस्तुत कवि को शब्दजाल यहाँ अधिक प्रिय है।

[१८] समासोक्ति[1]

समासोक्ति एक ऐसा अलङ्कार है जिसमें संक्षेप में ही दो बातें कह दी जाती है वाच्य और व्यङ्ग्य[2] रूप से। इनमें वाच्य वही बात रहती है जो प्रस्तुत या प्राकरणिक हुआ करती है। दूसरी बात विशेषणों की श्लिष्टता के कारण प्रतीत होती है। उदाहरण के लिये आनन्दवर्धन ने ही निम्नलिखित पद्य प्रस्तुत कर दिया है—

१. ध्व० पृ० १०८, १३०, ४६४, ४७१, ५१४.

२. [क] दण्डी = वस्तु किंचिदभिप्रेत्य तत्तुल्यस्यान्यवस्तुनः।
उक्तिः संक्षेपरूपत्वात् सा समासोक्तिरिष्यते ॥
काव्याद० २।२०५ ॥

भामह = यत्रोक्ते गम्यतेऽन्योऽर्थस्तत्समानविशेषणः।
सा समासोक्तिरुद्दिष्टा संक्षिप्तार्थतया०० ॥
काव्यालं० २।७९ ॥

उद्भट = प्रकृतार्थेन वाक्येन तत्समानैर्विशेषणैः।
अप्रस्तुतार्थकथनं समासोक्तिरुदाहृता ॥
का० सा० सं० २।१० ॥

वामन = उपमेयस्यानुक्तौ समानवस्तुन्यासः समासोक्तिः ॥
— संक्षेपवचनात् समासोक्तिरित्याख्या।
का० सू० वृ० ४।३।३ ॥

[ख] व्यङ्ग्य अंश के लिये आनन्दवर्धन ने असकृत् लिखा है—

[अ] समासोक्तौ००० व्यङ्ग्येनानुगतं वाच्यमेव प्राधान्येन प्रतीयते।
ध्वन्या० पृ० १०९ ॥

[आ] व्यङ्ग्यस्य यत्राप्राधान्यं वाच्यमात्रानुयायिनः।
समासोक्त्यादयस्तत्र वाच्यालंकृतयः स्फुटाः ॥
ध्वन्या० पृ० १३० ॥

[इ] दीपकसमासोक्त्यादिवदन्येऽप्यलङ्काराः प्रायेण व्यङ्ग्यालङ्कारान्तरवस्त्वन्तरसंस्पर्शिनो दृश्यन्ते।
ध्वन्या० पृ० ४६४-६५ ॥

[ई] समासोक्त्याक्षेपपर्यायोक्तादिषु तु गम्यमानांशाविनाभावेनैव तत्त्वव्यवस्थानाद् गुणीभूतव्यङ्ग्यता ॥
ध्वन्या० पृ० ४७१ ॥

उपोढरागेण विलोलतारकं तथा गृहीतं शशिना निशामुखम्।
यथा समस्तं तिमिरांशुकं तया पुरोऽपि रागाद् गलितं न लक्षितम्॥[1]

राग [ललाई तथा अनुराग] से शशी ने निशा का विलोलतारक [विलोल चचल है तारक = तारे तथा आँखा की पुतली जिसमें] मुख [आरम्भ भाग सन्ध्यान्त तथा चेहरा] इस प्रकार ग्रहण किया कि उस बेचारी ने यह भी नही जाना कि उसका पूरा तिमिरांशुक सामने से पहले ही खिसक गया।

यहाँ वर्णन निशामुख अर्थात् रात्रि के आरम्भकाल का ही हो रहा है। इस कारण वही यहाँ प्रस्तुत है, किन्तु उसके इस वर्णन मे नायक तथा नायिका के पारस्परिक प्रेमव्यवहार की भी प्रतीति हो जाती है। यह प्रेमव्यवहार यहाँ प्रस्तुत अर्थ के रूप में उपस्थित नही है।

आनन्दवर्धन का कहना है कि यहाँ जो व्यङ्ग्य अर्थ है वह प्रकरणसमर्थित न होने के कारण प्रधान नही है, फलत यहाँ वाच्य ही प्रधान है और व्यङ्ग्य अर्थ उसी वाच्य का शिरोमुकुट बनकर उसीकी शोभा बढाता[2] है।

आनन्दवर्धन ने समासोक्ति का एक उदाहरण और दिया है और बतलाया है कि उसमें विरोधालङ्कार का भी स्पर्श है। वह है पूर्वोक्त[3] 'दन्तक्षतानि' आदि पद्य।

यहाँ मुनिया को 'सस्पृह' कहा गया है। सस्पृहता का अर्थ है स्पृहायुक्तता। स्पृहा का अर्थ बलिदान की उत्कट इच्छा भी है और अपने साथ किसी सुन्दरी के प्रेमव्यवहार की इच्छा भी। एक ओर शान्त मुनित्व और दूसरी ओर चञ्चल कामना। दोनो विरुद्ध है। यह हुआ विरोधालङ्कार का अंश। मृगराजवधू एक सुन्दरी है और बोधिसत्त्व सुन्दर प्रौढ युवक। बोधिसत्त्व के रोमाञ्चरूपी सात्त्विक भाव से युक्त शरीर पर किसी वधू के नखक्षत तथा दन्तक्षत की घटना एक पृथक् घटना है, जिसका बलिदान के प्रसङ्ग में कोई स्थान नही है। इतने पर भी कविकर्म की ऐसी विशेषता है यहाँ कि वह घटना भी प्रतीत हो रही है। इस

---

१ ध्व० पृ० १०९

२ महिमभट्ट ऐसा नही मानते। वे व्यङ्ग्य को एकमात्र प्रधान ही मानते है। उनकी दृष्टि में वाच्य अर्थ घट है और प्रतीयमान अर्थ जल। द्र० व्यक्तिविवेक हमारे अनुवाद के साथ पृष्ठ ११-१४

३ पृष्ठ २२३-२४, ध्व० पृ० ५१४

प्रकार चन्द्र और रात्रि के व्यवहार के ही समान बलिदान की इस घटना में भी एक अन्य घटना इस प्रकार गूँथ दी गई है कि उसके लिए अलग से शब्द नहीं बोलने पड़ते। कितना संक्षेप है इन दोनों के कथन में। इसीलिए ये दोनों उक्तियाँ समासोक्तियाँ हैं। इस बलिदान वाले स्थल मे कामव्यवहार अप्रधान ही है।

[१९] अप्रस्तुतप्रशंसा[1]

अप्रस्तुतप्रशंसा की स्थिति समासोक्ति से ठीक उलटी होती है। समासोक्ति मे अप्रस्तुत अर्थ व्यङ्ग्य होता है जबकि अप्रस्तुतप्रशंसा में वाच्य। शेष सारी स्थितियाँ समान रहती है। समासोक्ति और अप्रस्तुतप्रशंसा में एक बात का अन्तर और है। इसका कि समासोक्ति एकमात्र साम्यमूलक होती है, जबकि अप्रस्तुत-प्रशंसा असाम्यमूलक भी हुआ करती है। दण्डी,[2] भामह, उद्भट और वामन ने इसके केवल साम्यमूलक स्वरूप पर विचार किया है। रुद्रट ने भी इसी स्वरूप को अपनाया है और उसे अन्योक्ति नाम दिया है। आनन्दवर्धन में इसके अन्य चार भेद भी मिलते है। वे इन्ही चार भेदों की गणना पहले करते है और साम्य-मूलक भेद की ही सबके बाद में। ये भेद निम्नलिखित है—

१. कार्य के विषय में पूछने पर कारण का कथन
२. कारण के विषय में पूछने पर कार्य का कथन
३. सामान्य के विषय में पूछने पर विशेष का कथन
४. विशेष के विषय मे पूछने पर सामान्य का कथन तथा
५. किसी (तुल्य) वस्तु के प्रस्तुत रहने पर वैसी किसी अन्य वस्तु का वर्णन[3]।

---

१. ध्वन्या० पृ० १२५, १२८.

२. दण्डी. अप्रस्तुतप्रशंसा स्यादप्रक्रान्तेषु या स्तुतिः ॥ (काव्यादर्श २।३४०)
भामह तथा उद्भट. अधिकारादपेतस्य वस्तुतोऽन्यस्य या स्तुतिः।
अप्रस्तुतप्रशंसा ॥ (काव्यालंकार ३।२९.)
वामन. उपमेयस्य किञ्चिल्लिङ्गमात्रेणोक्तौ समानवस्तुन्यासोऽप्रस्तुतप्रशंसा ॥ (का० सू० वृत्ति)
रुद्रट. असमानविशेषणमपि यत्र समानेतिवृत्तमुपमेयम्।
उक्तेन गम्यते परमुपमानेनेति सान्योक्तिः ॥ (काव्यालंकार ८।७४)

३. ध्वन्यालोक पृष्ठ १२५-१२८.
अप्रस्तुतप्रशंसा के इन पांचों भेदों का संग्रह मम्मट ने इस प्रकार किया है→

आनन्दवर्धन के लिखने मे ऐसा प्रतीत होता है कि इन पाँचो भेदो का निरूपण किसी आचार्य ने कर रखा है और वे उसका केवल उल्लेख कर रहे है, वह भी सकेतरूप से। दण्डी से लेकर उद्भट तक के चारो पूर्ववर्त्ती आचार्यों में इसके चार भेद प्राप्त नही होते। न तो समकालीन रुद्रट में भी। आनन्दवर्धन द्वारा निर्दिष्ट पाँचो भेदो पर टीका लिखते हुए लोचनकार ने उनको किसी पूर्ववर्ती आचार्य द्वारा स्वीकृत बतलाया है और निम्नलिखित कारिका उद्धृत की है—

> अधिकारादपेतस्य वस्तुनोऽन्यस्य या स्तुति ।
> अप्रस्तुतप्रशसा सा त्रिविधा परिकीर्तिता ॥[1]

इस कारिका के प्रथम तीन चरण भामह की कारिका से मिलते हैं। किन्तु लोचनकार भामह का नाम नही लेते। भामह के काव्यालङ्कार की समीक्षित पाठ वाली छपी पुस्तकों[2] में यह पाठ मूल और पाठान्तर दोनो में नही मिलता। लगता है यह पाठ स्वय उद्भट को भी नही मिला था, अन्यथा वे अन्य चार भेदो के विषय मे चुप क्यो रहते। लोचनकार ने इसी के आधार पर पाचो भेदो के लिए उदाहरण दिए है, किन्तु उनके विस्तार में न जाकर हम प्रथम चार भेदो को निम्नलिखित वाक्यो से समझ सकते है—

[१] कक्षा में न पहुँचने पर छात्र या अध्यापक से यह पूछने पर कि 'आप कक्षा मे नही पहुँचे' उत्तर दिया जाए 'पानी गिर रहा था'।

यहा पूछा गया था 'न पहुँचने' के विषय में जिसका उत्तर था 'जी हाँ नही पहुँचा', किन्तु वक्ता ने ऐसा न कहकर 'न पहुँचने' का कारण प्रस्तुत किया 'वर्षा'।

[२] सर्वप्रथम उत्तीर्ण होने वाले छात्र के विषय मे कहना तो है कि 'इसने बहुत परिश्रम किया', किन्तु कहा जाए कि 'यह सर्वप्रथम स्थान लेकर उत्तीर्ण हुआ'।

→ अप्रस्तुतप्रशसा या सा सैव प्रस्तुताश्रया।
कार्ये निमित्ते सामान्ये विशेषे प्रस्तुते सति।
तदन्यस्य वचस्तुल्ये तुल्यस्येति च पञ्चधा ॥ (काव्यप्रकाश—१०)

१ ध्वन्यालोक पृ० १२४

२ देखिए भामह के काव्यालकार का वि० स० १९८५ में चौखभा से छपा सस्करण तथा २०१९ में विहारराष्ट्रभाषा परिषद् से छपा सस्करण। दोनों सस्करणो में सपादकों ने ७ पाण्डुग्रन्थो का उपयोग किया है।

यहाँ बतलाना अभीष्ट है परिश्रमरूपी कारण के विषय में, किन्तु बतलाया जा रहा है उसका फल 'सर्वप्रथमता'।

[३] बतलाना यह हो कि 'पाकिस्तानी लोग बर्बर हैं' पर बतलाया जाए कि 'अयूब और याह्या बर्बर हैं'।

यहाँ सभी पाकिस्तानियों को बर्बर कहना एक सामान्य-विषयक वक्तव्य होता। उसे अयूब और याह्या का नाम लेकर विशेष में बाँध दिया गया। यह हुआ सामान्य के लिए विशेष का प्रस्तुतीकरण।

[४] कहना यह हो कि 'भारत बड़ा दयालु है' किन्तु कहा जाए कि 'वह राष्ट्र धन्य है जो व्यक्तिवाद से ऊँचा उठ मानवतावाद पर आरूढ है।'

यहाँ वर्णन करना था भरतनामक एक विशेष राष्ट्र का, किन्तु वैसा न करके, किया गया वर्णन राष्ट्रसामान्य का। यह हुआ विशेष के स्थान पर सामान्य का उपस्थापन।

पाँचवें भेद के लिए स्वयं आनन्दवर्धन ने ही कुछ उदाहरण दिए हैं।

[क] कोई महान् विद्वान्, सम्भवतः धर्मकीर्त्ति जिसे उसके गुणों का पारखी नहीं मिला, कहता है—

> लावण्यद्रविणव्ययो न गणितः क्लेशो महान् स्वीकृतः
> स्वच्छन्दस्य सुखं जनस्य वसतश्चिन्तानलो दीपितः।
> एषापि स्वयमेव तुल्यरमणाभावाद् वराकी हता
> कोऽर्थश्चेतसि वेधसा विनिहितस्तन्व्यास्तनुं तन्वता॥[1]

लुनाई के कोश को खुलकर खरचा, क्लेश भी काफी सहा, स्वच्छन्द और सुखी लोगों के चित्त में चिन्ता की आग सुलगा दी, और स्वयं इस बेचारी को भी जैसा चाहिए था वैसा रमण न देकर बर्बाद कर दिया। आखिर इस तन्वी की सुन्दर तनुयष्टि को बनाने में विधाता ने लाभ क्या देखा था।

[ख] हीन कुल के सज्जन धनाढ्य के पास न आकर याचक जब उच्च-कुल के उन्मर्याद श्रीमान् के पास पहुँचते हैं तो वह अपनी व्यथा श्मशानाग्नि से जले वृक्ष, जिसे शाखोटक कहा जाता है, पर ढाल-कर उक्तिप्रत्युक्ति के रूप में प्रस्तुत करता है—

१. ध्व० पृ० ४८७-९२

प्र०	'कस्त्व[1] भो,	अजी तुम कौन हो ?
उ०	कथयामि, दैवहतक मा विद्धि शाखोटकम्,	कह रहा हूँ, मुझे विधाता का मारा शाखोटक जानो।
प्र०	वैराग्यादिव वक्षि,	तुम तो विरक्तभाव से बोल रहे हो।
उ०	साधु विदितम्,	ठीक समझा आपने।
प्र०	कस्मात्	ऐसा क्यों,
उ०	इद कथ्यते। वामेनात्र[2] वटस्तमध्वगजन सर्वात्मना सेवते नच्छायापि परोपकारकरणे मार्गस्थितस्यापि मे[3] ॥	सुनिए कहता हूँ। देखिए यह जो वाम-पथ में स्थित वट है इसे सब पथिक सर्वात्मना काम में लाते है, और मेरी छाया को भी कोई नही पूछता, जबकि मैं मार्गस्थित हूँ।

[ग] परार्थे य पीडामनुभवति भङ्गेऽपि मधुरो
यदीय सर्वेषामिह खलु विकारोऽप्यभिमत ।
न सप्राप्तो वृद्धि यदि स भृशमक्षेत्रपतित
किमिक्षोर्दोषोऽसौ न पुनरगुणाया मरुभुव[4] ॥

जो सदा दूसरो के लिए पीडा झेलता है, जो तोडे जाने पर भी मधुर रहता है, जिसका (गुड शर्करा आदि) विकार भी (आबाल वृद्ध, स्त्री पुरुष, रक्त विरक्त, पशु मनुष्य) सबको समान रूप से अभिमत रहता है, वह इक्षु यदि खराब खेत में बो दिया जाए और अधिक न पनपे तो क्या इसे उस इक्षु का ही दोष माना जाएगा, अवगुणी मरुभूमि का नही ?

यहाँ कोई होनहार व्यक्ति प्रतिकूल वातावरण मे पडकर जब उन्नति नही कर पाता और उस पर उसके उच्च अधिकारी आक्षेप करते हैं तो अपनी व्यथा, अपनी विवशता, अपने दुर्भाग्य को इक्षुदण्ड पर ढालकर प्रस्तुत कर रहा है। वस्तुत यहाँ प्रस्तुत वही है जो नही कहा गया है, और वही अप्रस्तुत है जो कहा गया है। 'अक्षेत्र-पतितत्व' और मरुभूमि का विशेषण 'अगुणत्व' उस व्यङ्ग्य अर्थ को

---

१ ध्व० पृ० ४९२
२ 'वामेन' का अर्थ है वाममार्गी अर्थात् बिगडा हुआ।
३, मार्गस्थित का अर्थ है ठीक रास्ते स्थित, उत्पथगामी नही।
४ ध्व० पृ० ४९१

अधिक पास पहुँचकर व्यक्त कर रहे हैं, इतने पास पहुँचकर कि ये मानों व्यङ्ग्य अंश के वधूमुख को झीनी जवनिका के भीतर से नहीं दिखा रहे हैं, उसका स्पर्श-मुख भी लेकर दिखा रहे हैं। इस कारण यहाँ व्यङ्ग्य अंश बहुत स्पष्ट हो जाता[1] है, और इसीलिए उसका ध्वनित्व चल बसता है। वह ध्वनित्व का अधफुँका मुर्दा यानी गुणीभूतव्यङ्ग्य होकर बच रहता है। इन पाँचों भेदों में से

प्रथम चार भेदों मे व्यङ्ग्यांश अप्रधान ही रहता है, कारण कि उनमें वाच्यरूप मे उपस्थित अप्रस्तुत के भीतर व्यङ्ग्यरूप में उपस्थित प्रस्तुत का भी आंशिक समावेश रहता है, फलत. व्यङ्ग्य में पूर्णरूप से व्यङ्ग्यत्व नही रह पाता, उसमे आंशिक रूप से वाच्यत्व भी चला आता है। फलतः यहाँ का व्यङ्ग्य ध्वनि नही बन पाता और इन चारों भेदों में यह अलंकार गुणीभूतव्यङ्ग्य ही बना रह जाता है। स्पष्टीकरण के लिए सामान्यविशेषभाव[2] वाले दो भेदों में सामान्य के अन्तर्गत सभी विशेषों का अन्तर्भाव रहता है और सभी विशेष सामान्य के दामन को थामे रहते है, फलतः सामान्य और विशेष दोनों मे चाहे कोई व्यङ्ग्य हो, वह वाच्यत्व की सीमा से बाहर नही जा पाता। सामान्य वाच्य हो और विशेष व्यङ्ग्य, तो चूँकि सभी विशेष सामान्य मे अनुस्यूत रहते है, इसलिए पट मे धागे के समान व्यङ्ग्यरूप से उपस्थित विशेष भी उतने अंश में वाच्य हो जाता है। इसी प्रकार विशेष वाच्य हो और सामान्य व्यङ्ग्य तो चूँकि विशेष सामान्य का एक अंश होता है और सामान्य से पृथक् नही रहता—'मनुष्यत्व से देवदत्तत्व' के समान, इसलिए उतने अंश मे सामान्य भी वाच्य हो ही जाता है। यही स्थिति कार्य और कारण[3] की है। कारण के व्यक्तित्व में कार्य अन्तःप्रविष्ट रहता ही है। कारण यदि वाच्य हो और कार्य व्यङ्ग्य, तो, कार्य भी उतने अंश में वाच्य हो ही जाता है। कारण भी कार्य के शरीर मे प्रविष्ट रहता है, अतः कार्य वाच्य हो और कारण व्यङ्ग्य तो कारण भी उतने अंश में वाच्य हो जाता है। इस प्रकार प्रथम चार भेद में रहने वाला व्यङ्ग्य अंश सर्वथा व्यङ्ग्य नही रहता। इस कारण इन

---

१. काव्यप्रकाशकार ने इसीलिए अप्रस्तुतप्रशंसा के इस पाँचवें भेद को तीन भागों मे विभक्त बतलाया है—श्लेषवत् समान विशेषण से निष्पन्न, समासोक्तिवत् समान विशेषण से निष्पन्न तथा आक्षेपमूलक।

२. ध्व० पृ० १२५.

३. कार्यकारण-भाव के लिये ध्वनिकार ने केवल इतना लिखा है 'निमित्तनिमित्त-भावे चायमेव न्यायः'। (ध्व० पृ० १२६)

चारो भेदो में अप्रस्तुनप्रशासा को ध्वनि नही माना जा सकता, अथवा यह नही कहा जा सकता कि ध्वनि अप्रस्तुनप्रशसा में अन्तर्भूत की जा सकती है।

जहाँ तक सादृश्यमूलक पाँचवें भेद का सम्बन्ध है उसमें व्यङ्ग्य अश किसी भी स्थिति में वाच्य नही होता। इस कारण उसकी स्थिति प्रथम चार भेदो की अपेक्षा अधिक प्रबल रहती है। उसमें ध्वनि के या ध्वनि में उसके अन्तर्भाव की बात सोची जा सकती है। इस पर देखना यह है कि चमत्कार की मात्रा वाच्य में अधिक रहती है या व्यङ्ग्य में। यदि वह व्यङ्ग्य में अधिक रहती है तो बडी प्रसन्नता के साथ उसको ध्वनि में गिना जा सकता है, अर्थात् अप्रस्तुनप्रशसा की बूँद को ही ध्वनि की गङ्गा में डुबाया जा सकता है, और अप्रस्तुनप्रशसा के उस भेद को ध्वनि माना जा सकता[1] है। किन्तु यदि स्थिति विपरीत हो तो इस पाँचवें भेद को भी अलङ्कार ही मानना होगा।

[बात यह है कि यह जो सादृश्यमूलक पाँचवा भेद है उसमें प्राधान्य किसी का नही रहता, न व्यङ्ग्य का और न वाच्य का। कारण कि ये दोनों मिलकर अलकार का शरीर निष्पन्न करते है,[2] ठीक वैसे ही जैसे छाया और प्रकाश मिलकर चित्र के शरीर को। इन दोनो की ही प्रधानता रहती है, यानी दोनो ही बराबर होते हैं। सच पूछिए तो चमत्कार अप्रस्तुत के कथन में अधिक रहता है। चमत्कार इस तथ्य में अधिक रहता है कि 'कवि ने अपनी बात को अप्रस्तुत पर ढाला कैसे'। इसी कारण इस अलकार को नाम भी 'अप्रस्तुनप्रशसा' दिया जाता है 'अप्रस्तुत की प्रकृष्ट शसा = अभिधा' इस निरुक्ति के आधार पर। शसा तो व्यङ्ग्य की भी रहती है, किन्तु वह शसा प्रकर्ष लिए नही रहती इस कारण केवल शसा रहती है 'प्रशसा' नही। 'प्र' उपसर्ग लगाकर प्राचीन आलकारिकों ने स्वय यह स्वीकार कर लिया है कि अप्रस्तुनप्रशसा में प्रधान वाच्य ही होता है, क्योकि यहाँ वाच्य रहता है।]

[२०] श्लेप[3]

श्लेप का एक प्रकार शब्दालकारप्रकरण में प्रस्तुत किया जा चुका है।

---

१ ध्व० पृ० १२८, 'लावण्यद्रविणव्यय'-पद्य की मीमासा करते हुए ध्वन्यालोककार ने अप्रस्तुतप्रशसा को ध्वनि मान भी लिया है, ध्व० पृष्ठ ४१२।

२ रसगङ्गाधर आनन २, 'करतलनिर्गल०' पद्यार्थविवेचन।

३ ध्व० पृ० १९६, २२८×२, २२९×२, २३१, २३५, २३६×२, २३७×२, २४४, २४६, २७२, ५४३

हम उसे शब्दश्लेप कहकर इस प्रकरण मे अर्थश्लेप का निरूपण करेंगे। यद्यपि यह कहना बहुत कठिन है कि आनन्दवर्धन श्लेप को इन दो भागों में विभक्त करते है। मम्मट की कसौटी पर आगे इस प्रकरण में आने वाले श्लेप के स्थल भी शब्दालंकारवर्ग में गिने जा सकते है। इतने पर भी चूँकि आनन्दवर्धन ने, जैसा कि शब्दश्लेप के प्रकरण में कहा जा चुका है, श्लेप को वाच्यश्लेप भी कहा है, हम इसे इस प्रकरण मे भी रख रहे है। यह इसलिए भी कि आनन्दवर्धन ने स्पष्टरूप से यह नही कहा कि श्लेप के प्रमुख भाग को अर्थालंकार न माना जाए, बल्कि उन्होंने उद्भट को इस विषय मे अत्यधिक महत्त्व दिया है। उद्भट तो श्लेप को केवल अर्थालङ्कार ही मानते है और श्लेप को अर्थालङ्कार मानने के लिए वे ही सर्वाधिक प्रसिद्ध है। मुख्य बात यह है कि हमें आनन्दवर्धन को मम्मट के संस्कारों मे ढालकर नही देखना है।

आनन्दवर्धन ने श्लेप का निरूपण बड़ी ही विशदता के साथ किया है। सच यह है कि आनन्दवर्धन कवि थे और उस युग में कविता कर रहे थे जिसे कविता का उत्तराधिकार बाणभट्ट और माघ की पीढ़ी से मिला था, यानी कवि-कर्म के ऐसे धनियों से, जो कविता मे शब्दवादी अधिक थे, अर्थवादी कम। इस कारण आनन्दवर्धन भी उसी ढांचे के कायल थे और वे भी काव्य का समोसा श्लेप की चटनी मिलाए बिना किसी भी रसिक को चखाना नहीं चाहते थे। उनने स्वयं अपने पद्य भी इस प्रसङ्ग मे उद्धृत किये है। अब हम उनका श्लेपनिरूपण उन्ही की ज्योति में देखेंगे—

श्लेप लक्षण :

वस्तु-द्वये शब्दशक्त्या प्रकाशमाने श्लेपः।[1]

जहाँ एक ही शब्द अपनी शक्ति से एकाधिक अर्थ प्रकाशित करे वह श्लेप।

---

१. [क] ध्व० पृ० २३५. ध्वन्यालोकवृत्ति का यह वचन एक उत्तम सूत्र है। इसकी व्याख्या लोचनकार ने वाञ्छित गम्भीरता के साथ नहीं की। संस्कृत काव्यशास्त्र में 'वस्तु' शब्द 'वाक्यार्थ' के लिए प्रसिद्ध है। यहाँ उसके प्रयोग से प्रतीत होता है कि श्लेप केवल पदार्थ तक सीमित नहीं है, उसकी सीमा वाक्यार्थ तक व्यापक है।

[ख] श्लेपलक्षण के लिए देखिए दण्डी, काव्यादर्श २।३१०, भामह काव्यालंकार ३।१४, उद्भट का० सा० सं० ४।९-१०, वामन का० सू० ४।३।७. विशदविवेचन के लिए देखिए हमारा 'हिन्दीअलंकारसर्वस्व' पृ० ३७५-८१.

श्लेष दो स्थितियो मे पाया जाता है—

१ स्वतन्त्र स्थिति में और

२ सकीर्ण स्थिति में।

आनन्दवर्धन ने इन सब के उदाहरण दिए है। वे ये है—

स्वतन्त्र स्थिति

भगवान् के हरिहरात्मक मिश्रित विग्रह का वर्णन करते हुए कोई विदग्ध कवि कहता है—

येन ध्वस्तमनोभवेन बलिजित्काय पुरा स्त्रीकृतो
यश्चोद्वृत्तभुजङ्गहारवलयो गङ्गा च योऽधारयत्।
यस्याहु शशिमच्छिरोहर इति स्तुत्य च नामामरा
पायात् स स्वयमन्धकक्षयकरस्त्वा सर्वदो माधव ॥[1]

इस पद्य के शब्दो को विष्णुपक्ष में इस प्रकार से स्थित समझना होगा

विष्णुपक्ष—येन ध्वस्तमनोऽभवेन बलिजित्काय पुरा स्त्रीकृतो,
यश्चोद्वृत्तभुजङ्गहा, रवलयोऽग गा च योऽधारयत्।
यस्याहु 'शशिमच्छिरोहर' इति स्तुत्य च नामामरा
पायात् स स्वयमन्धक क्षय-करस्त्वा सर्वदो माधव ॥

जिन अभव = अज = अजन्मा ने [कृष्णावतार में] अन = शकट को ध्वस्त किया, जिनने बलिनामक असुर तथा बलवानो को जीत लेने वाला अपना शरीर [मोहिनी अवतार में] स्त्री बना दिया, जो क्रूर सर्प कालिय नाग तथा उद्वृत्त = चरित्रहीन वेश्यागामियो को नष्ट करते है, जो रव [नाद, ओङ्कार आदि श्रुतिस्वरो, सङ्गीत] में विलीन रहते है, जिनने [कृष्णावतार में] अग = गोवर्धनाद्रि तथा [वराहावतार में] पृथिवी को [रसातल जाने से बचाकर] धारण किया था, शशी को मथने वाले राहु का सिर काटने वाला होने से जिन्हें देवता लोग 'शशिमच्छिरोहर' इस नाम से पुकारते और स्तुति करते है, जिसने अन्धकवश के व्यक्तियो के लिए द्वारका में क्षय = निवासस्थान बनाया तथा [महाभारत के मौसलपर्व में] उनका क्षय = विनाश किया, इसी प्रकार जो सर्वप्रद है ऐसे माधव [मा = लक्ष्मी के धव = पति] भगवान् विष्णु आप की रक्षा करें।

---

१ ध्व० पृ० २३५, 'शशिन मथ्नातीति शशिमद् राहु, तस्य शिरो हरतीति'।

शिवपक्ष में ये ही शब्द इस प्रकार से स्थिति माने जाएँगे :

शिवपक्ष—येन ध्वस्तमनोभवेन बलिजित्कायः पुराऽस्त्रीकृतो
यश्चोद्वृत्तभुजङ्ग-हार-वलयो गङ्गां च योऽधारयत् ।
यस्याहुः शशिमच्छिरो, 'हर' इति स्तुत्यं च नामाऽमराः,
पायात् स स्वयमन्धक-क्षयकरस्त्वां सर्वदोमाधवः ॥

ध्वस्त किया है मनोभव = काम को जिनने ऐसे जिन [भगवान् शिव] ने बलि नामक असुर के विजेता विष्णु के शरीर को अस्त्र बनाया, जो क्रूर सर्पों को अपना हार और कङ्कण बनाए रहते हैं, जिनने गङ्गा को धारण कर लिया, जिनके सिर को चन्द्र से युक्त कहा जाता है, जिनको स्तुत्य 'हर' नाम से पुकारा जाता है, तथा जिनने अन्धकासुर का विनाश किया है, ऐसे उमाधव [उमा = पार्वती के धव = पति] भगवान् शिव आपकी रक्षा सर्वदा करें ।

उक्त पद्य में अवश्य ही विष्णुपरक और शिवपरक शब्दों का श्लेष या जोड़ है, ऐसा जोड़ जिसमें दोनों पक्षों के ये शब्द एक और अभिन्न ही भासित होते हैं। इन शब्दों से जो दो पक्षों के दो अर्थ निकलते हैं उनमें भी परस्पर में वैसा ही जोड़ है । इस प्रकार यहाँ 'श्लेष' है और बहुत ही स्पष्टता के साथ है । विशेषता यह है कि इस उक्ति के दोनों पक्षों में से कोई एक प्राकरणिक और दूसरा अप्राकरणिक नहीं है, जिससे एक को अभिधा से निष्पन्न मानकर दूसरे को व्यञ्जना से निष्पन्न माना जाए और उसके आधार पर इस उक्ति को श्लेष का स्थल न मानकर शब्दशक्तिमूलक ध्वनि का स्थल मान लिया जाए । यहाँ यदि प्राकरणिक हैं तो दोनों, और यदि अप्राकरणिक हैं तो दोनों । इस प्रकार यहाँ श्लेष ही अलंकार है ।

इस उक्ति में आरम्भ से अन्त तक कहीं भी किसी अन्य अलंकार का स्पर्श नहीं है, इसलिए यहाँ श्लेष स्वतन्त्र रूप से अवस्थित है और यहाँ एकमात्र वही अलंकार रूप से प्रतीति में आ रहा[1] है ।

---
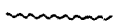
१. आनन्दवर्धन के इस उदाहरण का संस्कृत के काव्यशास्त्र में ऐतिहासिक महत्त्व है । उद्भट ने यह कह दिया था कि श्लेष सदा ऐसी ही जगह होता है जहाँ कोई न कोई दूसरा अलंकार अवश्य रहता है । इस उदाहरण के द्वारा यह सिद्ध हो जाता है कि उक्त मान्यता त्याज्य है ।

सकीर्ण स्थिति

सकीर्णता का अर्थ है ऐसी स्थिति जहाँ श्लेष के साथ चमत्कार के किसी अन्य कारण का भी अस्तित्व हो। अन्य कारणो में वाच्य अलकार और व्यङ्ग्य अर्थ की गणना हो सकती है। तदनुसार श्लेष की सकीर्णता को हम दो भागो में विभक्त कर सकते हैं—

[क] वाच्यालकारसकीर्ण तथा
[ख] व्यङ्ग्यसकीर्ण।

इन दोनो में से द्वितीय भी श्लेष के स्थलो में दो रूपो में पाया जाता है—

[क] रससकीर्ण
[ख] अलकारसकीर्ण

इस प्रकार ध्वन्यालोक में प्राप्त श्लेषविवेचन के आधार पर सकीर्ण स्थिति में श्लेष को हम तीन रूपो में पाते हैं—

[क] वाच्यालकार-सकीर्णरूप में
[ख] व्यङ्ग्यालकार-सकीर्णरूप में तथा
[ग] रसभाव-सकीर्णरूप में।

ध्वन्यालोक से इनके उदाहरण लीजिए—

[क] वाच्यालकारसकीर्ण श्लेष
[१] रूपकसकीर्ण

खण्डित मानस-काञ्चनपङ्कज निर्मथितपरिमला यस्य।
अखण्डितदानप्रसरा बाहुपरिघा इव गजेन्द्रा ॥[1]

जिसके गजेंद्र उसी के बाहुपरिघ[2] के समान हैं—चित्तरूपी सुवर्णकमल

---

१ चमहिअ-माणस-कचण-पअअ णिम्महिअ-परिमला जस्स।
अखण्डिअ-दाण-पसारा बाहुप्पलिघा विअ गइन्दा ॥ ध्व० पृ० २३८ ॥
इसमें जो समास हैं उसका चमत्कार पृथक् है, वह उसके समासरहित अनुवाद में नही आ सकता।

२ परिघ का आरोप बाहु पर अति प्रसिद्ध है। उदाहरणार्थ—'नगरपरिघप्रांशुबाहु'-शाकुन्तल-२, 'भुजपरिघरणग्रहणम्'-महिम्नस्तोत्र। परिघ का अर्थ →

को तोड़कर और घुमा घुमाकर उसकी सुरभि को मथ देने वाले[1] तथा दान-(मदजल तथा दान) प्रसर को खण्डित न होने देने वाले।

इस पद्य में 'खण्डित-०००-मलत्व' तथा 'अख-०००-रत्व' ऐसे विशेषण हैं जो समानरूप से दोनों पक्षों में लागू हो रहे हैं, गजपक्ष में भी तथा बाहुपरिघ-पक्ष में भी। यह हुआ इस पद्य में श्लेष। उधर रूपक है ही, क्योंकि यहाँ मानस पर सुवर्णकमल का आरोप है, मदजल पर दानजल[2] का तथा बाहु पर परिघ[3] का।

भ्रमिमरतिमलसहृदयतां प्रलयं मूर्च्छां तमः शरीरसादम्।
मरणं च जलदभुजगजं प्रसह्य कुरुते विषं वियोगिनीनाम्[4]॥

जलद-भुजग से उत्पन्न विष (पानी, जहर) वियुक्त वनिताओं को भ्रमि (चक्कर), अरति, आलस्य, प्रलय, मूर्च्छा, अँधियारी अवसाद और मरण दे रहा है।[5]

यहाँ विष शब्द द्वयर्थक है अतः उसमें श्लेष है, वह जलद पर भुजग के आरोप से निष्पन्न वाच्य रूपक से युक्त है।

→ इन स्थलों में प्राचीर या चहारदीवारी है। परिघ का दूसरा अर्थ है—अर्गला। यहाँ परिघ का बाहु पर आरोप न मानकर उसका बाहु के साथ सादृश्य मानना अधिक उपयुक्त है, तभी मानस पर काञ्चनपद्म के आरोप से यहाँ रूपक की सिद्धि हो जाती है।

१. लोचन में इसका अर्थ इस प्रकार किया गया है—'निराशा से खण्डित कर दिया है शत्रुओं के चित्तरूपी काञ्चनपद्मों को जिनने'। यहाँ शत्रु का क्या अवसर है ?।

२. संस्कृत में 'दान' शब्द का अर्थ हाथी का मदजल भी होता है। कप्फिणाभ्युदय के प्रसिद्ध 'भद्रात्मनो' पद्य में 'दानाम्बुसेकसुभग' शब्द आया है। जहाँ दो अर्थ एक ही शब्द से निकलते हैं वहाँ उनमें अभेद प्रतीत होता है। यह अभेद आरोपात्मक हो जाता है क्योंकि यहाँ प्रसङ्ग रूपक का है।

३. इस पद्य में उपमा भी वाच्य है अतः इसे उपमासंकीर्ण भी कह सकते हैं, परन्तु आनन्दवर्धन ने इसे रूपक से ही संकीर्ण कहा है।

४. ध्व० पृ० २२७, ३६८.

५. मम्मट ने इस पद्य में रूपक की ध्वनि मानी है। विष शब्द से जल पर जहर का आरोप उनकी दृष्टि से यहाँ गम्य ही है।

[२] व्यतिरेक सकीर्ण

स्वय आनन्दवर्धन भगवती रुक्मिणी की स्तुति करते और कहते है—

श्लाघ्याशेषतनु सुदर्शनकर सर्वाङ्गलीलाजित-
त्रैलोक्या चरणारविन्दललितेनाक्रान्तलोको हरि ।
बिभ्राणा मुखमिन्दुरूपमखिल चन्द्रात्मचक्षुर्दधत्
स्थाने या स्वतनोरपश्यदधिका सा रुक्मिणी वोऽवतात्[1] ॥

वे रुक्मिणी जी आपकी रक्षा करें जिन्हें भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने शरीर से उत्कृष्ट समझा और ठीक ही उत्कृष्ट समझा, क्योकि वे स्वय केवल सुदर्शनकर [सुदर्शन = अच्छा दिखाई देने वाला कर है जिनका तथा सुदर्शन चक्र है कर में जिनके ऐसे] थे, जबकि रुक्मिणी का पूर्ण शरीर श्लाघ्य था, स्वय उनने अपने केवल चरणारविन्दो के ललित [क्रम] से लोको को नापा था, जबकि रुक्मिणी ने अपने सभी अङ्गो की लीला से त्रैलोक्य को जीत लिया था, स्वय उनका केवल [एक बॉया] नेत्र ही चन्द्रात्मक था जबकि रुक्मिणी का पूरा मुख ही चन्द्र था।

यहाँ श्रीकृष्ण से रुक्मिणी को उत्कृष्ट दिखलाया गया है। श्रीकृष्ण ने रुक्मिणी की तुलना अपने स्वय के साथ की अत उपमान वे स्वय है तथा उपमेय रुक्मिणी। इस प्रकार उपमेय को उपमान से उत्कृष्ट सिद्ध किया जा रहा है और इसीलिए यहाँ व्यतिरेक का द्वितीय प्रकार अनुभव में आ रहा है। उधर 'सुदर्शन' शब्द में द्व्यर्थकता भी है। उसका एक अर्थ है—'सुदर्शननामक चक्र' और दूसरा अर्थ है 'सुन्दर दर्शन'। इस प्रकार इस स्थल में श्लेष भी है। फलत यहाँ श्लेष व्यतिरेक से मिश्रित है।

---

१ ध्व० पृ० २३७। यह पद्य स्वय आनन्दवर्धन का ही है। मम्मट के अनुसार यहाँ व्यतिरेक ही अलकार होगा, श्लेष नही। श्लेष व्यतिरेक का साधक-मात्र होगा, जैसे दीपक या उपमेयोपमा में उपमा हुआ करती है। उद्भट के अनुसार यहाँ श्लेष में ही अलकारत्व माना जाएगा, क्योंकि वे श्लेष को वाच्य और व्यतिरेकच्छायानुग्राही कहते हैं। 'व्यतिरेकच्छायानुग्राही' शब्द का अर्थ यहा 'व्यतिरेक की विच्छित्ति का साधक' भी किया जा सकता है और 'व्यतिरेक की छाया से मिश्रित भी'। लोचनकार ने इसका अर्थ अनु-ग्राह्यानुग्राहकभाव सकर किया है। ध्व० लोचन २३७।

[३] विरोधसंकीर्ण :

[क] तस्या विनापि हारेण निसर्गादेव हारिणौ ।
जनयामासतुः कस्य विस्मयं न पयोधरौ[1] ॥

उसके विना हार के भी हारी स्तनों ने किसमें विस्मय उत्पन्न नहीं किया।

यहाँ 'हार के विना हारी [हारवाला] होना' विरुद्ध वक्तव्य है, अतः यहाँ विरोधालंकार है। उसके लिए यहाँ अपि = भी शब्द भी प्रयुक्त है, जो उसका वाचक है, अतः वह वाच्यरूप से अवस्थित है। किन्तु हारी का एक अर्थ मनोहारी भी है, अतः उसमें श्लेप भी है, फलतः यहाँ श्लेप को विरोधच्छायानुग्राही कहा जाएगा।

वाणभट्ट भगवती का वर्णन करते और लिखते हैं—

[ख] समवाय इव विरोधिनां पदार्थानाम्,
सन्निहितवालान्धकारापि भास्वन्मूर्त्तिः[2] ॥

वह मानों विरुद्ध पदार्थों का समवाय थी, क्योंकि वह 'सन्निहितवालान्धकारा' भी थी और 'भास्वन्मूर्त्ति' भी। [विरोध = वाल अन्धकार भी उसके पास रहता है जबकि वह भास्वान् = सूर्य रूप है, विरोधपरिहार= उसके वाल=केशों में अन्धकार=कृष्णवर्ण रहता है और उनकी मूर्ति= शरीर भास्वती=तेजोमयी है [श्लेप में 'व' और 'ब' का भेद नहीं गिना जाता]।

यहाँ अन्धकार और सूर्य का एक साथ रहना परस्पर में विरुद्ध तथ्य है, इस कारण यहाँ विरोध है और उसमें चमत्कार भी है, अतः वह अलंकार भी है। साथ ही उसके लिए यहाँ भी 'अपि=भी' शब्द का प्रयोग है, जो उसका वाचक है, अतः यहाँ वह वाच्य भी है। उधर 'वाल'—शब्द और 'भास्वत्' शब्द द्वयर्थक हैं, अतः उनमें श्लेप है, इस कारण यहाँ श्लेप विरोधच्छायानुग्राही है, विरोध की जो छाया प्रतीत हो रही है उसको उत्पन्न कर रहा है।

[४] वक्रोक्तिसंकीर्ण :

[क] 'दृष्ट्या[3] केशवगोपराग००' इस पूर्वोक्त पद्य में वक्रोक्ति भी है,

---

१. ध्व० पृ० २३६.

२. ध्व० पृ० २४५.

३. ध्व० पृ० २४०, द्रष्टव्य इसी ग्रन्थ का पृ० २१३.

जैसा कि बतलाया जा चुका है और श्लेष भी है। श्लेष वाच्य है, क्योंकि कवि ने उसके लिए 'सलेश = छल' शब्द का प्रयोग कर दिया है जैसे 'श्लाघ्याशेष०' पद्य में 'स्थाने' शब्द का।

[ख] पूर्वोक्त[1] 'वत्से मा गा विषाद' पद्य की भी यही स्थिति है। इसमें भी विषाद, श्वसन, कम्प, गुरु और बलभित् शब्द द्व्यर्थक है। उनकी इस विशेषता की ओर स्वय कवि ने देवताओं के प्रत्याख्यान की बात कहकर हमारा ध्यान आकृष्ट कर दिया है, अत वह वाच्य ही है। फलत श्लेष यहाँ भी वाच्य है। वक्रोक्ति इसमें है ही।

[ख] व्यङ्ग्यार्थसकीर्ण श्लेष

[१] उपमा से सकीर्ण

[क] सूर्यशतक में मयूर कवि सूर्य भगवान् की स्तुति करते और उनकी किरणो का वर्णन करते हुए लिखते हैं—

> दत्तानन्दा प्रजाना समुचितसमयाकृष्टसृष्टै पयोभि
> पूर्वाह्णे विप्रकीर्णा दिशि दिशि विरमत्यह्नि सहारभाज ।
> दीप्तांशोर्दीर्घदु खप्रभवभवभयोदन्वदुत्तारनावो
> गावो व पावनाना परमपरिमिता प्रीतिमुत्पादयन्तु ॥[2]

सूर्य की गौएँ [गो = किरण तथा धेनु] आपको अपरिमित प्रीति प्रदान करें। वे समुचित समय पर खीचकर बरसाए, पय [जल, दूध] से प्रजाओं [जनता, बच्चो] को आनन्द देती है, वे पूर्वाह्ण मे दिशाओ मे यहाँ वहा बिखर जाती है और सायकाल पुन बटुर जाती है, जो भीषण सकटो की खान ससार के भयरूपी समुद्र को पार कराने वाली नौकाएँ है और जो परम पवित्र हैं।

यहाँ 'गो'-शब्द का प्राकरणिक अर्थ है किरण, क्योकि वणन सूर्य का है। धेनुरूपी अर्थ अप्राकरणिक है। अत अभिधाशक्ति से प्रतीत होता है किरणरूपी

---

१ द्रष्टव्य इसी ग्रन्थ का पृ० २११, १३। आनन्दवर्धन ने इसमें वक्रोक्ति का नाम नही लिया है, किन्तु उसे माना जा सकता है, क्योकि इसकी स्थिति 'दृष्टया केश०' पद्य मे बिलकुल मिलती है।

२ श्र० पृ० २४४

अर्थ ही । धेनुरूपी अर्थ व्यञ्जनामात्र से प्रतीत होगा । बाद में उन दोनों अर्थों की परस्पर में समता प्रतीत होगी । यह प्रतीत होगा कि 'किरणें धेनुओं के समान हैं' । यह होगा उपमालंकार, जो व्यङ्ग्य ही होगा । इसी के चमत्कार में यहाँ अधिकता है, अतः इसे ध्वनि कहा जाएगा । उधर किरण और धेनु दोनों पक्षों को एक ही पदावली से उपस्थित किया जा रहा है, अतः उस पदावली में श्लेष है । इस प्रकार यहाँ श्लेष को व्यङ्ग्य उपमा से संकीर्ण कहा जाएगा ।

[ख] अत्रान्तरे कुसुमसमय-युगमुपसंहरन्नजृम्भत ग्रीष्माभिधानः
फुल्लमल्लिकाधवलाट्टहासो महाकालः ।[1]

(हर्षचरित में ग्रीष्मवर्णन) इस बीच कुसुमसमय-युग का उपसंहार करता हुआ फुल्ल मल्लिका का धवल अट्टहास लिए ग्रीष्म नामक महाकाल उज्जृम्भित हुआ ।

यहाँ वर्णन ग्रीष्म का है, इसलिए महाकाल शब्द का अर्थ 'बड़े बड़े दिनों वाला समय' करना होता है, किन्तु उसका एक दूसरा भी अर्थ है और वह है उज्जयिनी में प्रसिद्ध भगवान् महाकालेश्वर शिव । वे महाप्रलय के समय अट्टहास करते और जँभाई लेते हैं । इस प्रकार यहाँ 'महाकाल'-शब्द में श्लेष है । इसमें जो दूसरा अप्राकरणिक अर्थ निकलता है उसके साथ ग्रीष्म की तुलना भी यहाँ व्यक्त होती है । तुलना उपमा ही है । इस प्रकार यहाँ श्लेष व्यङ्ग्य उपमा से संकीर्ण है ।

[ग] उन्नतः प्रोल्लसद्धारः कालागुरुमलीमसः ।
पयोधरभरस्तन्व्याः कं न चक्रेऽभिलाषिणम् ।।[2]

तन्वी के पयोधरभार (स्तन, मेघ) ने किसके मन में अभिलाषा नहीं जगा दी; वह उन्नत है, प्रोल्लसद्धार (प्रोल्लसत् है हार जिसमें तथा निकल रही हैं धाराएँ जिसमें से ऐसा मेघ) और कालागुरु-मलीमस [कालागुरु से मलीमस तथा कालागुरु के समान मलीमस] ।

---

१. ध्व० पृ० २४१ इस स्थल में 'फुल्लमल्लिकाधवलाट्टहास' शब्द में ग्रीष्मपक्ष में 'खिली मल्लिका है धवल अट्टहास के समान जिसमें' इस प्रकार उपमित-समास करना होगा । शिवपक्ष में भी यही समास होगा और अर्थ किया जाएगा 'खिली मल्लिका के समान है अट्टहास जिसका' । यहाँ वस्तुतः व्यङ्ग्य-पक्ष गुणीभूत है, क्योंकि उसकी प्रतीति बहुत ही स्पष्ट रूप से हो रही है ।

२. ध्व० पृ० २४१.

यहाँ वर्णन है नायिका का, अत 'पयोधर, उन्नत, प्रोल्लसद्धार तथा कालागुरुमलीमस' शब्द मेघ और उसके पक्ष के उपरिलिखित अर्थ देते है। ये अर्थ अप्राकरणिक या अप्रस्तुत हैं। किन्तु ये अर्थ समझ में आते है, अत इनके लिए प्रयुक्त शब्दो को श्लेषयुक्त मानना होगा। मेघरूपी दूसरे अर्थ से स्तनरूपी अर्थ की तुलना यहाँ पूर्वदत्त उदाहरणो के ही समान व्यक्त हो रही है, अत यहाँ भी श्लेष को व्यङ्ग्य उपमा से सकीर्ण मानना होगा।

[२] व्यतिरेकसकीर्ण पूर्वोद्धृत[1] 'स येऽस्युज्ज्वलयन्ति०' पद्य।

[३] विरोध सकीर्ण

[अ] स्वय आनन्दवर्धन श्रीकृष्ण की स्तुति करते और लिखते हैं—

> सर्वैकशरणमक्षयमधीशमीश धिया हरिं कृष्णम्।
> चतुरात्मान निष्क्रियमरिमथन नमत चक्रधरम्॥[2]

भगवान् श्रीकृष्ण को प्रणाम कीजिए, जो सबके लिए एकमात्र शरण [शरणद, शरण = घर] है तथा अक्षय [क्षयरहित, क्षय = घर से रहित] हैं, जो 'अधीश' [अधि = भद्र प्रकार से ईश स्वामी, 'अ-धी-ईश' = बुद्धि के अस्वामी] तथा धी के ईश हैं, हरि [विष्णु, हरे रङ्ग के] हैं तथा कृष्ण [कृष्ण नाम से प्रसिद्ध तथा काले] है, चतुरात्मा [चतुर है आत्मा बुद्धि जिनकी ऐसे और पराक्रमी] तथा निष्क्रिय [कुछ नही करने वाले] हैं, अरिमथ [अरि = शत्रु को नष्ट करने वाले और अरिन् = अर spokes से युक्त चक्र को भष्ट करने वाले] तथा चक्रधर [सुदर्शन चक्र धारण करने वाले] है।

यहाँ शरण, क्षय, अधीश, हरि तथा 'अरिमथन' शब्द में श्लेष है, जैसा कि इस पद्य के उक्त अनुवाद मे सिद्ध है। ये शब्द जिन दूसरे अर्थों को प्रकट कर रहे है उनसे विरोध प्रकट होता है, किन्तु वह विरोध शब्दत कथित नही होता, क्योकि यहाँ उसके लिए 'अपि' या 'भी' शब्द का प्रयोग नहीं है, फलत वह व्यङ्ग्य है। इस प्रकार यहाँ श्लेष विरोधरूपी व्यङ्ग्य अलङ्कार से सकीर्ण है। इसी प्रकार हर्षचरित में बाणभट्ट स्थाण्वीश्वर जनपद की सुन्दरियो का वर्णन करते और लिखते हैं—

---

१ यही व्यतिरेकालङ्कार के प्रकरण में पृष्ठ ३५० पर।

२ ध्व० पृ० २४६

[आ] यत्र मातङ्गगामिन्यः शीलवत्यश्च, गौर्यो विभवरताश्च,
श्यामाः पद्मरागिण्यश्च, धवलद्विजशुचिवदना मदिरामोदिश्वसनाश्च प्रमदाः॥[1]

जहाँ प्रमदाएँ मातङ्गगामिनी [मातङ्ग = हाथी के समान गति वाली तथा मातङ्ग = चाण्डाल का गमन करने वाली] हैं और शीलवती, गौरी [गौर वर्ण की तथा गौरी नाम से प्रसिद्ध भगवती पार्वती] हैं और विभवरत [विभव = धनधान्य में रत तथा वि-भव-रत यानी भव = शिव से विरत = विरक्त], श्यामा [षोडशवर्षीया, कृष्णपक्ष की रात्रि, सांवली] हैं और पद्मरागिणी [पद्म = कमल पर राग = स्नेह रखने वाली तथा पद्मरागनामक लालमणि के समान लाल-लाल], धवल द्विजों [दाँत तथा ब्राह्मण] से शुचि [उज्ज्वल] मुख वाली हैं और मदिरा से सुगन्धित मुख[2] वाली।

यहाँ मातङ्ग, गौरी, विभव, श्यामा, पद्मरागिणी और द्विज शब्दों में द्व्यर्थकता है, अतः श्लेष है। इनसे जो दूसरा अर्थ प्रकट होता है उसको लेकर प्रमदाओं की अन्य विशेषता के साथ विरोध की प्रतीति होती है। प्रतीत होता है कि जो शीलवती हैं वे इतनी दुश्चरित्र कैसे होंगी कि परपुरुष का गमन करें और ऐसे परपुरुष का जो चाण्डाल है आदि। किन्तु ये सब विरोध यहाँ व्यङ्ग्य ही हैं, क्योंकि उनका वाचक 'अपि = भी' शब्द यहाँ प्रयुक्त नहीं है।

इस प्रकार उक्त सभी स्थलों में श्लेष, व्यङ्ग्य, अलङ्कार से युक्त है।

कहीं श्लेष व्यङ्ग्य रसादि से संकीर्ण होता है। यथा

[ग] रसभावसंकीर्ण श्लेष :

इसका उदाहरण है पूर्वोक्त 'क्षिप्तो हस्तावलग्नः०'[3] पद्य। यहाँ शृङ्गाराभास[4] की व्यञ्जना अनुभूतिसिद्ध है। शृङ्गाराभास भी यहाँ भक्तिरूपी भाव के

---

१. ध्व० पृ० २४५. इस उद्धरण में जो 'च' शब्द है उसे आनन्दवर्धन विरोध वाचक नानते। मम्मट उसे वैसा मानते हैं।

२. 'ब्राह्मणो मदिरां पीत्वा ब्राह्मण्यादेव हीयते'—ब्राह्मण यदि मदिरा पी ले वह ब्राह्मणत्व से हीन हो जाता है।

३. पृ० २०४ पर उद्धृत।

४. यहाँ जो रति है वह केवल पुरुषनिष्ठ है स्त्री में नहीं, और वह पुरुष व्यवहार भी श्लेष द्वारा आक्षिप्त है उपमान के रूप में अतः अनुभवपथ में शृङ्गार उससे रसरूप में परिणत नहीं हो पाता। वह केवल शृङ्गार जैसा हो पाता है।

प्रति गुणीभूत है, अत उसे ऊर्जस्वी[1] अलङ्कार कहा जाएगा। इस प्रकार यहाँ जो श्लेष है उसे रसाभाससकीर्ण या ऊर्जस्व्यलङ्कारसकीर्ण कहा जा सकता है। प्रधान है यहाँ भक्तिभाव, अत यहाँ श्लेष को व्यङ्ग्य अलङ्कार तथा भाव से सकीर्ण माना जा सकता है।

कही स्वय श्लेष भी व्यङ्ग्य होता, और प्रधानरूप से व्यङ्ग्य होता है अर्थात् ध्वनिरूप से। उदाहरण—

[घ] श्लेषध्वनि

रम्या इति प्राप्तवती पताका राग विविक्ता इति वर्धयन्ती।
यस्यामसेवन्त नमद्वलीका सम वधूभिर्वलभीर्युवान ॥[2]

जिस द्वारका में युवक वधुओ के साथ वलभियो [चांदनी] का सेवन करते थे, जो [वलभिएँ और वधुएं] रम्यता के लिए प्रसिद्धि को प्राप्त थी [वल्भीपक्ष में झण्डियों से भी युक्त थी], विविक्त [साफ-सुथरी, छरहरे अङ्गो वाली तथा एकान्त में स्थित] इसलिए राग [आकर्षण और अनुराग] बढाती थी, इसके अतिरिक्त जिनकी वलियाँ [ढालिया तथा त्रिवली] झुकी हुई थी।

यहाँ पताका, राग और वली शब्दो में श्लेष है। वह तब प्रतीत होता है जब यह मन में आता है कि 'कवि यहाँ वधूजनो को भी सेवन क्रिया का कर्म बनाना चाहता है।' इसके पूर्व केवल यह प्रतीति होती है कि युवक लोग वधुओ को साथ लेकर वलभियो पर घूमते-फिरते और उनका सेवन करते हैं। है भी यहाँ यही अर्थ प्रधान, क्योंकि यहाँ वर्णन चल रहा है द्वारकापुरी का, जिसमें वलभी एक अङ्ग है। 'वे वधुओं के समान हैं और उसके साथ वधुओ का भी सेवन किया जाता है' यह तथ्य बाद में समझ में आता है। अत यहाँ वलभीपक्ष को ही प्राकरणिक और वाच्य कहना होगा, साथ ही वधूसेवनपक्ष को अप्राकरणिक तथा

---

१ जहाँ रसाभास अप्रधान बनता वहाँ उसे 'ऊर्जस्वि' नामक अलङ्कार माना जाता है।

२ माघ के शिशुपालवध में द्वारकावर्णन सर्ग ३।५३ पद्य। वस्तुत यहाँ वधू और वलभी के विशेषणो में विद्यमान श्लेष वाच्य ही है और वह सहोक्ति अलकार से सकीर्ण है। सहोक्ति पर ध्यान देने से वृत्तिकार ने यहाँ 'वधूयुक्त युवको द्वारा वलभी का सेवन' अर्थ लिया और तब श्लेष को व्यङ्ग्य माना है। ध्व० पृ० २७२

व्यङ्ग्य। जब वधूपक्ष व्यङ्ग्य होगा तब श्लेष भी वाच्य नहीं कहला सकेगा, वह भी व्यङ्ग्य ही कहलाएगा, कारण कि उसकी प्रतीति वधूपक्ष की प्रतीति के बाद होगी यानी व्यङ्ग्य की प्रतीति के बाद, फलतः वह भी व्यङ्ग्य ही होगी। चमत्कार इसी द्विमुखी योजना में अधिक रहेगा इसलिए वही प्रधान होगा और इसलिए श्लेष को ही प्रधान व्यङ्ग्य माना जाएगा, परिणामतः श्लेष ही यहाँ 'ध्वनित्व' को प्राप्त होगा। इस प्रकार यह स्थल श्लेषध्वनि का स्थल कहलाएगा।

[ङ] श्लेष का अन्यालंकारबाधकत्व :

उद्भट ने श्लेष के विवेचन मे तीन स्थापनाएँ की थीं—

१. सभङ्गश्लेष शब्दश्लेष है तथा अभङ्गश्लेष अर्थश्लेष, किन्तु,
२. दोनों श्लेष अलंकार अर्थ के हैं तथा
३. श्लेषस्थल में आया दूसरा अलंकार श्लेष से दब जाता है, तब वहाँ अलंकारत्व श्लेष में ही रहता है, दूसरे अलंकार का प्रतिभासमात्र होता है (प्रभात में तारों के समान[1])।

आनन्दवर्धन इनमें से प्रथम दो स्थापनाओं के विषय में कुछ नहीं कहते।

---

१. **एकप्रयत्नोच्चार्याणां तच्छायां चैव बिभ्रताम्।**
स्वरितादिगुणैर्भिन्नैर्बन्धः श्लिष्टमिहोच्यते॥
अलङ्कारान्तरगतां प्रतिभां जनयत् पदैः।
विविधैरर्थशब्दोक्तिविशिष्टं तत् प्रतीयताम्॥ काव्याल० सा० सं० ४।९,१०॥
काव्यप्रकाश के नवम उल्लास में मम्मट ने उद्भट की उक्त तीनों मान्यताओं का खण्डन किया है। उनके मुख्य तर्क ये हैं—

[क] अभङ्ग श्लेष भी शब्दश्लेष है, क्योंकि उसमें भी शब्द बदला नहीं जा सकता।

[ख] सभङ्ग और अभङ्ग दोनों प्रकार के श्लेष में शब्द बदला नहीं जा सकता इसलिए दोनों ही शब्दालङ्कार ही हैं। शब्दश्लेष कहकर उसे अर्थालङ्कार में गिनना एक अजीब सी बात है।

[ग] श्लेष स्वतन्त्र रूप में भी प्राप्त होता है, अतः उसे अन्य अलङ्कारों का बाधक नहीं कहा जा सकता। (मम्मट ने इसके उदाहरण के लिए 'देव त्वमेव' पद्य उद्धृत किया है। 'येन ध्व०' पद्य उससे अच्छा है।) विस्तार के लिए देखिए हमारे अलङ्कारसर्वस्व-हिन्दीभाष्य का श्लेषप्रकरण।

वे तृतीयमान को उद्धृत करते हैं और उद्भट का नाम लेकर उन्ही के शब्दों में उद्धृत करते है।[1]

प्रश्न उठता है कि उद्भट के अनुसार जब श्लेषस्थल में अलकारत्व केवल श्लेष में रहता है तब इस प्रकरण में जो श्लेष को अन्य व्यङ्ग्य या वाच्य अलकारो से सकीर्ण माना गया है इसका क्या अभिप्राय है। क्या आनन्दवर्धन उद्भट का उक्त सिद्धान्त स्वीकार नही करते ? उत्तर में यही कहा जा सकता है कि आनन्दवर्धन उद्भट के मत को उद्धृत भर करते है, वे उस पर कोई टिप्पणी नही करते। किन्तु वे उद्भट के 'अलङ्कारान्तरप्रतिभा' शब्द को उद्भट के मत के अनुवाद में उद्धृत करके भी आगे नही अपनाते। वे उसके लिए 'छायानुग्राही'[2] शब्द का प्रयोग करते है। छाया का अर्थ है शोभा, कान्ति, चमत्कार। 'प्रतीयमानच्छायैषा'[3] में यह छाया-शब्द उनने इसी अर्थ में दिया है। अनुग्राही का अर्थ अनुग्रह करने वाला होगा। दूसरे अलकार की छाया पर अनुग्रह करने का अर्थ क्या हो सकता है ? अवश्य ही इसका अर्थ साकर्य है जैसा कि 'अनुग्राह्यानुग्राहकभाव सकर' में माना जाता है। अभिनवगुप्त इस शब्द का यही अर्थ करते भी है। सकरालकार के विषय में स्वय आनन्दवर्धन ने लिखा है कि उसका एक भेद वह भी है जिसमें एक अलकार दूसरे अलकार की छाया का अनुग्रह करता है 'सकरालकारे ००० अलकारोऽलङ्कारान्तरच्छायामनुगृह्णाति'[4]। अन्य को बाधित करने की बात तब उठती है जब बाधक मानी जा रही वस्तु को विना अन्य को बाधित किए स्थान नही मिलता। उद्भट ने श्लेष को इसी अभिप्राय से बाधक माना था।

---

१ [क] अलङ्कारान्तरप्रतिभायामपि श्लेषव्यपदेशो भवतीति दर्शित भट्टोद्भटेन।' (ध्व० पृ० २३६)

[ख] यत्र शब्दशक्त्या साक्षादलङ्कारान्तर वाच्य सत् प्रतिभासते स सर्व श्लेषविषय'। (ध्व० पृ० २३६)

२ [क] 'तस्या विनापि हारेण०' विरोधच्छायानुग्राहिण श्लेषस्यायं विषय।' (ध्व० पृ० २३६)

[ख] 'श्लाघ्याशेष०' व्यतिरेकच्छायानुग्राही श्लेष (ध्व० पृ० २३७)

[ग] 'चमहिअ० (खण्डित)—रूपकच्छायानुग्राही श्लेष (ध्व० पृ० २३८)

[घ] 'यत्र मातङ्ग०'—विरोधस्तच्छायानुग्राही श्लेषो वा (ध्व० पृ० २४५)

३ उपमालङ्कार के प्रकरण में उद्धृत ध्वनिकारिका।

४ ध्व० पृ० १२०-१२३

कदाचित् वे समझते थे कि श्लेष जहाँ भी रहता है वहाँ दूसरा कोई अलंकार रहता ही है। आनन्दवर्धन ने इसके लिए एक ऐसा स्थल उपस्थित कर दिया जिसमे कोई वाच्य अलंकार नही है। वही स्थल है 'येन ध्वस्त०' पद्य। इससे भी स्पष्ट है कि आनन्दवर्धन का अन्तर्मन उद्भट के विरोध में जा रहा है।

जहाँ तक व्यङ्ग्य अलंकारों से संकीर्ण होने का सम्बन्ध है उसके विषय में स्वयं उद्भट ही चुप है, इस प्रश्न को आनन्दवर्धन ही उपस्थित करते है। आनन्दवर्धन की इस कल्पना से पुनः इसी पुराने प्रश्न को जन्म मिलता है कि 'यदि सर्वत्र अन्य वाच्य अलंकार या ध्वनि मान ली जाएगी तो श्लेष के लिए कौन सा स्थान रहेगा'। इसका उत्तर आनन्दवर्धन देते और कहते है जहाँ श्लेष शब्दतः कथित हो वहाँ श्लेष को ही अलंकार माना जाएगा, किन्तु जहाँ वह शब्दतः कथित नही होगा वहाँ वह नहीं माना जा सकेगा। वहाँ हम ध्वनित्व स्वीकार[1] करेंगे। इस प्रकार 'दत्तानन्दा.' आदि स्थलों मे श्लेष न मानकर ध्वनित्व ही माना जाएगा।

श्लेष के विषय मे आनन्दवर्धन की प्रवृत्ति का अध्ययन करने से यह प्रतीत होता है कि वे श्लेष में शब्दभङ्ग को अधिक पसन्द करते है। उनके स्वयं के श्लेष-पद्यों और अन्य उदाहरणों मे शब्दभङ्ग की यही प्रवृत्ति अधिक मात्रा में दिखाई देती है। कदाचित् वे भी परवर्ती अलंकारसर्वस्वकार के समान श्लेष को शब्द और अर्थ के दो भागो में विभक्त करना पसन्द नही करते, यद्यपि इन्ही के समय के रुद्रट ने वैसा किया है।

[२१] अर्थान्तरन्यास[2]

अर्थान्तरन्यास के विषय मे आनन्दवर्धन केवल अपनी अभिज्ञता प्रकट करते है। श्लेष के समान उनका विवेचन नही करते। पूर्वाचार्यो में इसका निरूपण दण्डी से उद्भट तक सभी आचार्यों में मिलता[3] है। इसमें जो कला रहती है

---

१. आक्षिप्त एवालंकारः शब्दशक्त्या प्रकाशते।
यस्मिन्ननुक्तः शब्देन शब्दशक्त्युद्भवो हि सः॥ ध्व० २।२१॥
इसी प्रकार २।३०.

२. ध्वन्यालोक पृ० २६६.

३. दण्डी—ज्ञेयः सोऽर्थान्तरन्यासो वस्तु प्रस्तुत्य किंचन।
तत्साधनसमर्थस्य न्यासो योऽन्यस्य वस्तुनः॥ (काव्या० २।२६९)→

वह इस अलकार के नाम से ही स्पष्ट है। अर्थान्तर का अर्थ है दूसरा अर्थ, अर्थात् दूसरा वाक्यार्थ। उसका न्यास है उपस्थापन, या प्रस्तुतीकरण। अभिप्राय यह कि इस अलकार में कही हुई एक बात के समर्थन के लिए एक बात और कह दी जाती है। ऐसा ही कुछ निदर्शना, पतिवस्तूपमा और दृष्टान्त नामक अलकारो में भी होता है, किन्तु अर्थान्तरन्यास में समर्थ्य तथा समर्थक के बीच सामान्यविशेष-भावसम्बन्ध रहता है, जब कि उक्त अन्य अलकारो में सादृश्य-सम्बन्ध। उदाहरण के लिए दण्डी का पद्य—

भगवन्तौ जगन्नेत्रे सूर्याचन्द्रमसावपि।
पश्य गच्छत एवास्त, नियति केन लङ्घ्यते ॥[1]

ससार के नेत्र भगवान् सूर्य और भगवान् चन्द्र भी, देखो तो, अस्त को प्राप्त हो ही जाते हैं। नियति को कौन लाँघ सकता है?

यहाँ सूर्य और चन्द्र के अस्त होने तक एक बात कहकर उसके समर्थन में 'नियति की दुर्लङ्घ्यता' की एक दूसरी बात और कह दी गई। यही हुआ अर्थान्तर का न्यास। ध्यान देने की बात यह है कि यहाँ नियति की 'सबके द्वारा दुर्लङ्घ्यता' सामान्य तथ्य है और 'सूर्यचन्द्र के द्वारा दुर्लङ्घ्यता' विशेष तथ्य। अत यहाँ सामान्य के द्वारा विशेष का समर्थन हो रहा है।

आनन्दवर्धन ने अर्थान्तरन्यास की ध्वनि के दो स्थल प्रस्तुत किए हैं। ये निम्नलिखित हैं—

→ भामह—उपन्यसनमन्यस्य यदर्थस्योदितादृते।
ज्ञेय सोऽर्थान्तरन्यास पूर्वार्थानुगत ०॥ (काव्याल० २।७१)

वामन—उक्तसिद्धयै वस्तुनोऽर्थान्तरस्यैव,
न्यसनमर्थान्तरन्यास ॥ (काव्याल० सू०)

उद्भट—समर्थकस्य पूर्वं यद् वचोऽन्यस्य च पृष्ठत।
विपर्ययेण वा तत् स्याद्धिशब्दोक्त्यान्यथापि वा॥
(का० सा० २।४५)

इस अलकार को अप्रस्तुतप्रशसा, काव्यलिङ्ग, दृष्टान्त, निदर्शना, उदाहरण तथा विकस्वर से भिन्न करने हेतु अनेक तर्क दिए जाते हैं। एतदर्थ देखिए हमारे 'अलकारसर्वस्व हिन्दीभाष्य' का पृ० ४०२

१ काव्यादर्श २।१७२।

[क] दैवायत्तेऽपि फले किं क्रियतामेतावत् पुनर्भणामः ।
कङ्केल्लिपल्लवाः पल्लवानामन्येषां न सदृशाः ॥[1]

फल तो दैवाधीन है, उसके विषय में क्या किया जाए [यदि अशोक में वह नहीं लगता] किन्तु इतना अवश्य कहना होगा कि अशोक के पल्लव, अन्य वृक्षों के पल्लवों जैसे नहीं होते ।

यहाँ जो 'फल' शब्द है उससे विदित होता है कि 'प्रत्येक व्यक्ति का संपत्ति-लाभ भाग्याधीन होता है'। इसकी प्रतीति से स्पष्ट होता है कि 'इस कारण अशोक मे यदि फल नही तो कोई दोष नही'। इस प्रकार यहाँ विशेष का सामान्य से समर्थन हो रहा[2] है ।

[ख] हृदयस्थापितमन्युमपरोषमुखीमपि मां प्रसादयन् ।
अपराद्धस्यापि न खलु ते बहुज्ञ रोषितुं शक्यम् ॥[3]

मैंने तो रोष प्रकट किया नही, उसे चित्त में ही दबाए रखा, मुखमुद्रा भी प्रसन्न रखी, तब भी तुम मुझे मना रहे हो, इसलिए हे बहुज्ञ ! अपराध करने पर भी तुम्हारे ऊपर रोष नही किया जा सकता ।

यहाँ यह सामान्य तथ्य प्रकाश मे आता है कि 'जो बहुज्ञ होता है, वह अपराध भी कर दे तो उस पर कोप करना संभव[4] नहीं होता'। इस सामान्य

---

१. देव्वाएत्तम्मि फले किं कीरइ एत्तिअं पुणो भणामो ।
कङ्किल्लपल्लवाः पल्लवाणं अण्णाण ण सरिच्छा ॥
(की छाया ध्व० पृ० २६६.)

२. यहाँ 'फल' शब्द बदला नहीं जा सकता इसलिए आनन्दवर्धन ने इसे शब्द-शक्तिमूलक पदप्रकाश्य ध्वनि कहा है। वाक्यप्रकाश्य ध्वनि के रूप में यहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा ही अनुभव में आती है।

३. हिअअट्ठाविअमण्णुं अवरुण्णमुहं हि अं पसाअन्त ।
अवरद्धस्स वि ण हु दे बहुजाणअ रोसिउं सक्कम् ॥
(की छाया, ध्व० पृ० २६७.)

यहाँ 'बहुज्ञ' शब्द की जगह 'निपुण' आदि भी कहा जा सकता है इसलिए आनन्दवर्धन ने इसे अर्थशक्तिमूलक पदप्रकाश्य ध्वनि कहा ।

४. अत्र हि वाच्यविशेषेण सापराधस्यापि बहुज्ञस्य कोपः कर्तुमशक्य इति समर्थकं सामान्यमन्वितम्, अन्यत्तात्पर्येण प्रकाशते । (ध्व० पृ० २६८.)

तथ्य से प्रकृत अपराधी नायक के प्रति यह उक्ति फलित होती है कि 'इस कारण हे *बहुज्ञ प्रिय तुम अपने आपको अनोखा न समझो*। [यह तो हर एक बहुज्ञ की स्थिति रहती है]। इस प्रकार यहाँ समर्थ्यसमर्थकभाव विद्यमान है और वह व्यङ्ग्य भी है।

[२२] पर्यायोक्त[1]

पर्यायोक्तालङ्कार में पर्याय का अर्थ है प्रकारान्तर। प्रकारान्तर से कथित हो अभीष्ट वक्तव्य जिसमें वह हुआ पर्यायोक्त। अभिप्राय यह कि वक्ता द्वारा अपनी मुख्य बात को दूसरे ही प्रकार से कहने का नाम है पर्यायोक्त। आनन्दवर्धन के पूर्ववर्ती आचार्यों में वामन को छोड शेष तीनों [दण्डी, भामह और उद्भट] में यह अलंकार इसी रूप में मान्य[2] है। आनन्दवर्धन ने इसके लिए निम्नलिखित उदाहरण दिया है—

> चक्राभिघातप्रसभाज्ञयैव चकार यो राहुवधूजनस्य।
> आलिङ्गनोद्दामविलासवन्ध्यं रतोत्सवं चुम्बनमात्रशेषम्॥[3]

> जिन भगवान् विष्णु ने चक्र को अभिघात की आज्ञा देकर राहुवधूजनों के रतोत्सव को आलिङ्गन के उद्दाम विलास से शून्य बनाकर केवल चुम्बन-मात्र तक सीमित कर दिया।

---
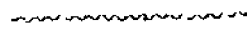
१ ध्व० पृ० १०८, ११८, ११९, १२४, २२५, ४७१

२ दण्डी—अर्थमिष्टमनाख्याय साक्षात् तस्यैव सिद्धये।
यत् प्रकारान्तराख्यानं पर्यायोक्तं तदिष्यते॥ (काव्यादर्श २।२९५)
उदाहरण—दशत्यसौ परभृत. सहकारस्य मञ्जरीम्।
तमहं वारयिष्यामि युवाभ्यां स्वैरमास्यताम्॥ २।२९६॥
भामह—पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते।
उद्भट—पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते।
वाच्यवाचकवृत्तिभ्यां शून्येनावगमात्मना॥ (काव्यालङ्कारसंग्रह)
वामन में पर्यायोक्त पर विचार नहीं मिलता।

३ ध्व० पृ० २२५, इस उदाहरण का एक ऐतिहासिक महत्व है। इसके पहले जो जो उदाहरण दण्डी, भामह और उद्भट ने दिए थे उनमें 'प्रकारान्तर से कथन' का इतना अच्छा स्वरूप सामने नहीं आता था। पर्यायोक्त के अन्त में यहीं दिए विवेचन से यह तथ्य स्पष्ट होगा।

कहना यह है कि भगवान् ने सुदर्शन चक्र द्वारा राहु का शिर काटकर अलग कर दिया, किन्तु कहा जा रहा है राहुस्त्रियों के रतोत्सव की कमी का वृत्तान्त। कुल मिलाकर बात एक ही है। इस प्रकार राहु-शिरश्छेद की बात को कवि 'राहुशिरश्छेद'-शब्द से न कहकर उपरिलिखित क्रम से कह रहा है। यही है दूसरे प्रकार से किया गया कथन, अतः यह पर्यायोक्त है। विशेषता यह है कि यहाँ अलंकार ही प्रधान बन रहा है, रस की अपेक्षा। विप्रलम्भ-शृङ्गार की स्थिति यहाँ उतनी चमत्कारकारक नहीं है जितनी इस पर्यायोक्त[1] की।

उक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि पर्यायोक्तालङ्कार का मुख्य अंश वही है जिसे बदलकर कहा जाता है और 'बदलकर कहना' ही है वह तथ्य जिसे 'पर्यायोक्त' कहा जाता है। 'बदलकर कहने' का अर्थ भी उद्भट की भाषा में बहुत स्पष्ट है। वह है 'अवगमन' अर्थात् वही जिसे आनन्दवर्धन 'व्यञ्जन' कहते हैं। अर्थ यह कि पर्यायोक्त में एक ही बात दो प्रकार से कही जाती है (१) वाच्य रूप से और (२) व्यङ्ग्य रूप से। अन्तर केवल विशेष्यविशेषणभाव का रहता है। वाच्य रूप में जो वाक्य बोला जाता है उसमें जो अर्थयोजना रहती है उसके एक एक घटक का परस्पर में जो सम्बन्ध रहता है वह व्यङ्ग्य रूप में प्रकट वाक्यार्थ के घटकों के सम्बन्ध से भिन्न रहता है। यानी दोनों कथनों में वक्तव्य एक ही रहता है, केवल कथन के प्रकार में अन्तर रहता[2] है। सोचना यह है इन दो प्रकारों में चमत्कार की मात्रा किसमें अधिक रहती है? आनन्दवर्धन का कहना है कि वह वाच्य में ही अधिक रहती है, यदि उनके द्वारा प्रस्तुत उदाहरण पर ध्यान दिया जाए। यदि भामह द्वारा प्रस्तुत उदाहरण पर ध्यान दिया जाता है तो उसमें भी व्यङ्ग्य अंश की अपेक्षा, वाच्य अंश में चमत्कार की मात्रा अधिक माननी होगी[3]। भामह द्वारा दिया उदाहरण यह है—

---

१. ध्व० पृ० २२५, अत्र हि पर्यायोक्तस्याङ्गित्वेन विवक्षा, रसादितात्पर्ये सत्यपि।

२. काव्यप्रकाशकार ने इस बारीकी को पकड़ा है और इसके लिए निर्विकल्पक तथा सविकल्पक ज्ञान का दार्शनिक उदाहरण भी प्रस्तुत किया है। घट और घटत्व निर्विकल्पक ज्ञान में पृथक् पृथक् प्रतीत होते हैं, जबकि सविकल्पक में धर्मधर्मिभाव-सम्बन्ध से युक्त। यही है दोनों का अन्तर, वैसे घट और घटत्व दोनों दोनों ही ज्ञानों में रहते हैं। द्र० पर्यायोक्तप्रकरण, काव्यप्रकाश उ० १०।

३. न पुनः पर्यायोक्ते भामहोदाहृतसदृशे व्यङ्ग्यस्यैव प्राधान्यम्, वाच्यस्य तत्रोपसर्जनीभावेनाविवक्षितत्वात्। ध्व० पृ० ११९॥

गृहेष्वध्वसु वा नान्नं भुञ्ज्महे, यदधीतिनः विप्रा न भुञ्जते[1]।

दुर्योधन द्वारा भोजन का हठ करने पर श्रीकृष्ण कहते हैं—'हम घर या बाहर कहीं भी उस अन्न को नहीं खाते जिसे वेदपाठी ब्राह्मणों ने न खाया हो।'

भामह स्वयं कहते हैं कि श्रीकृष्ण कहना यह चाहते हैं कि 'यह अन्न हम इसलिए नहीं खा रहे हैं कि इसमें विष मिला है'—'तत्तु रसदानिवृत्तये'। यहाँ विष की बात को छिपाया गया और उसे दूसरे बहाने से प्रस्तुत किया गया। इस स्थल में पर्यायोक्त तो है किन्तु वह अलङ्कार न होकर ध्वनि है। 'चक्राभिघात०' उदाहरण में जैसे एक 'राहुशिरश्छेद' की ही बात कही गई है दोनों रूपों में, वैसे यहाँ कोई एक बात नहीं कही गई। व्यङ्ग्य-रूप में कही गई बात है 'विषप्रयोग' की, जबकि वाच्यरूप में कथित है 'ब्राह्मणभोजन के अभाव' की। इन दोनों में एक ऐसी बात भी है जिसे दोनों में समान रूप से विद्यमान कह सकते हैं। वह है 'भोजननिषेध'। यह विषप्रयोग और ब्राह्मणभोजनाभाव दोनों के पक्षों में समान है, किन्तु यह तो यहाँ शब्दतः कथित है। 'चक्राभिघात०' पद्य में 'राहुशिरश्छेद' शब्दतः कथित नहीं है। परिणामतः पर्यायोक्त के भामह द्वारा प्रस्तुत उदाहरण में स्थिति वैसी ही है जैसी 'भ्रम धार्मिक०' में है। किन्तु उसमें वाच्य अर्थ को अप्रधान नहीं बनाया गया है, परिणामतः भामह के उदाहरण से तो पर्यायोक्त में वाच्य और व्यङ्ग्य अर्थ दोनों ही प्रधान सिद्ध होंगे। ऐसी स्थिति में भामह का पर्यायोक्त अलङ्कार अलङ्कार न रहकर, गुणीभूतव्यङ्ग्य सिद्ध होगा। इस पर्यायोक्त में ध्वनि का अन्तर्भाव मानना सम्भव नहीं, क्योंकि ध्वनि की व्याप्ति वहाँ तक है जहाँ पर्यायोक्त नहीं रहता। समुद्र का नदी में, जो उसमें मिल रही हो, अन्तर्भाव कैसे माना जा सकता। नदी का ही अन्तर्भाव समुद्र में माना जाना उचित होगा। आनन्दवर्धन उदारतापूर्वक अपनी अनुभूति को अलग रख, यह भी कहते हैं कि यदि 'चक्राभिघात०' पद्य में भी किसी को व्यङ्ग्य अंश की प्रधानता प्रतीत होती हो तो, बड़ी प्रसन्नता के साथ वह उसे भी ध्वनि-स्थल स्वीकार कर सकता है। हम इसे भी ध्वनि में ही अन्तर्भूत मान लेंगे।[2]

१ काव्यालङ्कार ३।९।

२ पर्यायोक्तेऽपि यदि व्यङ्ग्यस्यैव प्राधान्यं तद् भवतु नाम तस्य ध्वनावन्तर्भावः। ध्वन्या० पृ० ११८

[२३] व्याजस्तुति[1]

व्याजस्तुति को आज हम जिस रूप में जानते हैं उसके अनुसार उसमें दो विधाएँ रहती हैं—

१. व्याज से स्तुति अर्थात् निन्दा के बहाने स्तुति और
२. व्याजरूप स्तुति अर्थात् स्तुति के बहाने निन्दा।

आनन्दवर्धन के समक्ष इनमें से केवल प्रथम विधा ही थी, द्वितीय नहीं। दण्डी, भामह, वामन और उद्भट में भी प्रथम विधा ही मिलती[2] है, द्वितीय का आरम्भ रुद्रट[3] से होता है।

आनन्दवर्धन ने व्याजस्तुति का कोई उदाहरण प्रस्तुत नहीं किया। दण्डी ने एतदर्थ यह उदाहरण दिया है—

पुंसः पुराणादाच्छिद्य श्रीस्त्वया परिभुज्यते।
राजन्निक्ष्वाकुवंश्यस्य किमिदं तव युज्यते॥ काव्याद० २।३४५॥

१. ध्वन्यालोक पृष्ठ ४७१, ४८७.

२. दण्डी : यदि निन्दन्निव स्तौति व्याजस्तुतिरसौ मता।
दोषाभासा गुणा एव लभन्ते ह्यत्र संनिधिम्॥
(काव्यादर्श २।३४३)

भामह : दूराधिकगुण-स्तोत्रव्यपदेशेन तुल्यताम्।
किंचिद् विधित्सोर्या निन्दा व्याजस्तुतिरसौ०॥
(काव्यालंकार ३।३२)

वामन : संभाव्यविशिष्टकर्माकरणान्निन्दा स्तोत्रार्था व्याजस्तुतिः।

उद्भट : शब्दशक्तिस्वभावेन यत्र निन्देव गम्यते।
वस्तुतस्तु स्तुतिः श्रेष्ठा व्याजस्तुतिरसौ मता॥
(काव्या० सा० सं०)

रुद्रट : यस्मिन्निन्दा स्तुतितो निन्दाया वा स्तुतिः प्रतीयेत।
अन्या विवक्षितायाः व्याजश्लेषः स विज्ञेयः॥
(काव्या० १०।११)

३. मम्मट ने रुद्रट के व्याजश्लेष को ही व्याजस्तुति माना और इसमें स्तुति से निन्दा की द्वितीय विधा को भी इस प्रकार स्थान दिया—
व्याजस्तुतिर्मुखे निन्दा स्तुतिर्वा रूढिरन्यथा।

राजन् आप पुराण पुरुष से छिनाकर श्री का भोग कर रहे हैं, इक्ष्वाकु-
वंश में उत्पन्न आपको क्या यह शोभा देता है।

दण्डी का कहना है कि व्याजोक्ति के कितने प्रकार हो सकते हैं यह कहना अति कठिन है, उसके भेदो का पार नही पाया जा सकता।[1]

उक्त उदाहरण से एक तथ्य बहुत ही स्पष्टता के साथ सामने आ रहा है। वह यह कि इसमें स्तुति भी उसी व्यक्ति की हो रही है जिसकी निन्दा की जा रही थी। अर्थ यह कि व्याजस्तुति में निन्दा और स्तुति, दोनो होती है, किन्तु उनका पात्र एक ही व्यक्ति होता है। जहां निन्दा किसी और की हो और स्तुति किसी और की वहां यह अलंकार नही होता। आनन्दवर्धन इस तथ्य को स्पष्ट करते और पूर्वोद्धृत 'लावण्यद्रविणव्ययो०' पद्य में व्याजस्तुति न मानना ही उचित बतलाते[2] हैं। आनन्दवर्धन व्याजस्तुति[3] में प्रेयोऽलंकार का स्पर्श पाते हैं।

[२४] प्रेय

कुछ अधिक प्रिय बात कहना[4] है प्रेयोऽलंकार। व्याजस्तुति के ऊपर दिए स्थल में वह है।

[२५] आक्षेप[5]

आक्षेप आनन्दवर्धन तक निम्नलिखित चार रूपों में देखा जा चुका था—

१ प्रतिषेध की उक्ति[6]

---

१ व्याजस्तुतिप्रकाराणामपर्यन्तस्तु विस्तर। (काव्यादर्श २।३४७)

२ लावण्यद्रविण इत्यत्र व्याजस्तुतिरलंकार इति व्याख्यायि कैश्चित्, तन्न चतुरस्रम्। यतोऽभिधेयस्य एतदलंकारस्वरूपमात्रपर्यवसायित्वे न सुश्लिष्टता। (ध्व० पृ० ४८७)

३ तत्र च गुणीभूतव्यङ्ग्यतायामलंकाराणां केषाञ्चिदलंकारविशेषगर्भतायां नियम, यथा व्याजस्तुते प्रेयोऽलंकारगर्भत्वे। (ध्वन्यालोक पृष्ठ ४७१)

४ 'प्रेय प्रियतराख्यानम्' काव्यादर्श २।२७५। उदाहरण काव्यादर्श २।२७६ तथा भामहीय काव्याल० ३।५
विदुर का श्रीकृष्ण के प्रति यह वचन—
अद्य या मम गोविन्द जाता त्वयि गृहागते।
कालेनैषा भवेत् प्रीतिस्तवैवागमनात् पुन ॥

५ ध्व० पृ० १०८, १११, २६५, २६६, ४७१

६ 'प्रतिषेधोक्तिराक्षेप'— काव्यादर्श २।१२०

२. अभीष्ट वस्तु में विशिष्टता बतलाने के लिए उसका आभासात्मक निषेध[1]
३. उपमान की उपमेय के सामने निरर्थकता[2] तथा
४. उपमान को ऊपर से खींचकर लाना[3]।

आनन्दवर्धन इनमें से केवल द्वितीय आक्षेप का उल्लेख करते हैं[4]। ठीक भी है, क्योंकि प्रथम आक्षेप द्वितीय आक्षेप में अन्तर्भूत हो जाता है तथा तृतीय और चतुर्थ आक्षेप क्रमशः प्रतीप[5] और समासोक्ति[6] में। द्वितीय आक्षेप भामह की कल्पना है।

आनन्दवर्धन ने आक्षेप का कोई उदाहरण नहीं दिया। भामह ने इसके लिए निम्नलिखित उदाहरण दिया था—

---

१. 'प्रतिषेध इवेष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया आक्षेपः' भामह, उद्भट।

२-३. 'उपमानाक्षेपश्चाक्षेपः' उपमानस्याक्षेपः प्रतिषेध, तुल्यकार्यार्थस्य नैरर्थक्य-विवक्षायामाक्षेपः। उपमानस्याक्षेपः आक्षेपतः प्रतिपत्तिरित्यपि सूत्रार्थः।
(काव्या० सूत्रवृत्ति ४।३।२७।)

४. 'शब्दोपारूढो विशेषाभिधानेच्छया प्रतिषेध०० आक्षेपः' ध्व० पृ० १११-११४

५. वामन ने आक्षेप के जो दो भेद किए हैं उनमें से प्रथम के लिए उदाहरण दिया था 'तस्याश्चेन्मुखमस्ति सौम्यसुभगं किं पार्वणेनेन्दुना०'=यदि उस सुन्दरी का सौम्य और सुभग मुख है तो पूर्णिमा के चन्द्रमा की आवश्यकता ही क्या'। मम्मट ने काव्यप्रकाश में इसे प्रतीप के उदाहरण के रूप में ही स्वीकार किया है, क्योंकि इस उक्ति से उपमेय के समक्ष उपमान का तिरस्कार प्रतीत होता है। उपमान का तिरस्कार ही प्रतीपालंकार का चमत्कारी तत्त्व है।

६. वामन ने आक्षेप के अन्य भेद का उदाहरण दिया था—

ऐन्द्रं धनुः पाण्डुपयोधरेण शरद्दधानार्द्रनखक्षताभम्।
प्रसादयन्ती सकलङ्कमिन्दुं तापं रवेरभ्यधिकं चकार॥

शरद् ताजे नखक्षत जैसे इन्द्रधनुष को पाण्डुपयोधरों (मेघों और स्तनों) पर धारण कर, कलङ्की चन्द्रमा को प्रसन्न करने में लगी हुई थी। ऐसी उसने रवि में अत्यधिक ताप उत्पन्न कर दिया।' अभिनवगुप्त ने लोचन में इसे 'एषा समासोक्तिरेव' इस प्रकार समासोक्ति ही कहा है। द्रष्टव्य ध्वन्यालोक पृ० ११४। वैसे उसमें गम्य उत्प्रेक्षा, उपमा और श्लेष भी हैं।

अह त्वा यदि नेक्षेय क्षणमप्युत्सुका तत ।
इयदेवास्त्वतोऽन्येन किमुक्तेनाप्रियेण तु ॥[1]

उत्सुकताभरी मैं यदि तुम्हें एक क्षण भी न देखूँ तो, बस इतना ही काफी है, इससे आगे की अप्रिय बात कहने से क्या ?

यहाँ 'मैं तुम्हें नही देखूँगी तो रहूँगी ही नही' इस प्रकार की जो एक अन्तर्गभित विवक्षा है उसमें जिस मरण की बात निहित है उसे कहते कहते रुक जाने से उसमें अधिक गम्भीरता द्योतित होने लगती है।

आक्षेपध्वनि .

आनन्दवर्धन ने आक्षेप को ध्वनिरूप से प्रतीत होता हुआ भी पाया है। उसका उदाहरण वे स्वय प्रस्तुत करते हैं—

स वक्तुमखिलान् शक्तो हयग्रीवाश्रितान् गुणान् ।
योऽम्बुकुम्भे परिच्छेद कर्तुं शक्तो महोदधे ॥[2]

भगवान् हयग्रीव के सभी गुणों को वाणी से वह कह सकता है जो घडो में भर भर कर महान् उदधि की जलराशि नाप सके।

आनन्दवर्धन का कहना है कि यहाँ हयग्रीव के गुणों में अवर्णनीयता का जो प्रतिपादन किया जा रहा है इससे उनके गुणों में असाधारण वैशिष्ट्य का ध्वनन होता है।[3]

इस उदाहरण और इसमें बतलाई आक्षेपस्थिति से स्पष्ट होता है कि आनन्दवर्धन-आक्षेप में 'विशेषता की प्रतिपत्ति' को ही चमत्कारकारक तत्त्व मानते हैं।

आनन्दवर्धन के अनुसार—

१ आक्षेप में विशेषतारूपी तत्त्व व्यङ्ग्य हुआ करता है[4]।

२ विशेषतारूपी तत्त्व व्यङ्ग्य होकर भी प्रधान नही होता, क्योकि वह आक्षिप्त होता है, अत आक्षेपक वाच्य की ही शोभा बढाता रहता है।[5] इस कारण

---

१ काव्याल० २।६९

२ ध्व० पृ० २६५, देखिए इसी प्रकरण में अतिशयोक्ति पृष्ठ ३४१

३ ध्व० पृ० २६६

४ ध्व० पृ० १११, ४७१

५ ध्व० पृ० १११

३. आक्षेप गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य के अन्तर्गत माना जा सकता[1] है, ध्वनि नहीं। और इसलिए आक्षेप में ध्वनि के अन्तर्भाव का स्वप्न भी नही देखा जा सकता।

[२६] विरोध[2]

विरोध का दूसरा नाम विरोधाभास भी है, जहाँ विरोध बुद्धि को झकझोरता किन्तु झकझोरते ही इन्द्रजाल के समान आभासात्मक या प्रातिभासिक अर्थात् अवास्तविक भी ठहरा करता है। इस भूल-भुलैया से सामाजिक को अवश्य ही चमत्कार का अनुभव होता है। इसी कारण इसे अलंकार माना जाता है।[3]

आनन्दवर्धन ने इसके अनेक पद्य उद्धृत किए है। उनमे से प्रत्येक को हम श्लेषप्रकरण मे पढ़ आए है। इन्हे हम यहाँ सूत्र रूप मे पुनः स्मरण कर लें—

१. ध्व० पृ० ४७१

२. ध्व० पृ० २३६, २४५, २४६, ५१४.

३. दण्डी. विरुद्धानां पदार्थानां यत्र संसर्गदर्शनम्,
विशेषदर्शनायैव स विरोधः। (काव्यादर्श २।३३३)

भामह. गुणस्य वा क्रियाया वा विरुद्धान्यक्रियाभिधा,
या विशेषाभिधानाय विरोधं तं विदुः०० ।

उद्भट. गुणस्य वा क्रियाया वा विरुद्धान्यक्रियावचः,
यद् विशेषाभिधानाय विरोधं तं प्रचक्षते।

वामन. 'विरुद्धाभासत्वं विरोधः। उदाहरण—
[क] 'पीतं पानमिदं त्वयाद्य दयिते मत्तं ममेदं मनः'
'आसव पिया है तुमने और नशा आ रहा है मुझे प्रिये'।
[ख] 'सा वाला वयमप्रगल्भमनसः'
'वाला है वह और मन कातर है हमारा'। स्पष्ट ही वामन के उदाहरण असङ्गति के उदाहरण है। मम्मट ने इसे विरोधालंकार का वाधक माना है। उनका कहना है कि असंगति में कार्य और कारण का भिन्न भिन्न अधिकरणों में रहना चमत्कारकारक होता है जबकि विरोध में केवल विरोध।

रुद्रट. मम्मट में प्राप्त विरोध के दश भेद पहली वार रुद्रट में प्राप्त होते है। द्रष्टव्य हमारा अलंकारसर्वस्व विरोधप्रकरण पृष्ठ ४५७–६०.

[क] वाच्य विरोध

१ तस्या विनापि हारेण निसर्गादिव हारिणौ, पयोधरौ ।
२ सन्निहितबालान्धकारापि भास्वन्मूर्त्ति ।
३ दन्तक्षतानि००जातस्पृहैर्मुनिभिरप्यवलोकितानि ।
४ श्यामाकुल ०००हृतेक्षणश्री ।

[ख] व्यङ्ग्य विरोध

१ यत्र मातङ्गगामिन्य शीलवत्यश्च प्रमदा[1] ।
२ सर्वैकशरणमक्षयम्० ।

इन पद्यो में 'हार के बिना हारी' तथा 'बिना तीर ताने मृग डरा' ऐसे प्रयोग हैं जिन्हे विभावना का स्थल माना जा सकता है, क्योंकि वहाँ कारण के अभाव में भी कार्य की निष्पत्ति बतलाई जाती है और वह उक्त स्थलो में है। किन्तु आनन्दवर्धन उस सूक्ष्मता के प्रति जागरूक हैं जिससे विभावना विरोधमूलक होकर भी विरोधरूप नही बन पाती, यद्यपि वे विभावना का नाम कही नही लेते। यह सूक्ष्मता है 'वास्तविक कारण के शब्दत कथन और अकथन की।' विभावना में वास्तविक कारण का शब्दत कथन नही होता। वह एकमात्र व्यङ्ग्य होता है। विरोध में ऐसा नही भी होता। वहाँ वास्तविक कारण शब्दत कथित भी रहता है। उक्त स्थलो मे वास्तविक कारण शब्दत कथित है। 'हार के बिना हारी' में 'निसर्गादिव' इस प्रकार निसर्गरूपी वास्तविक कारण को शब्दत कह दिया गया है और 'मृग' वाले वाक्यार्थ में 'अङ्गनाओ के नेत्रो से होने वाला अपने नेत्रों का पराभव, वास्तविक कारण है जो यहाँ चतुर्थ चरण म कथित है।

[२७] विशेषोक्ति[2]

विशेषोक्ति अलकार में 'विशेषता की उक्ति' मे चमत्कार होता है। विशेषता के कारण अनेक हो सकते है। दण्डी और भामह के अनुसार वह कारण है 'न्यूनता होने पर भी किसी बडे कार्य की निष्पत्ति'[3]। उद्भट के अनुसार वह

१ आनन्दवर्धन कदाचित् 'च' को विरोध का वाचक नही मानते। परवर्त्ती मम्मट आदि वैसा मानते हैं।

२ ध्व० पृ० १०८, ११७

३ गुणजातिक्रियादीना यत्र वैकल्यदर्शनम् ।
विशेषदर्शनायैव सा विशेषोक्तिरिष्यते ॥ काव्यादर्श २।३२३ ॥

है 'कारण सामग्री में कमी न रहने पर भी कार्य की उत्पत्ति न होना[1]। रुद्रट[2] भी उद्भट का ही अनुगमन करते हैं। वामन विशेषोक्ति में साम्य का अस्तित्व मानते और विशेषता का कारण बतलाते हैं 'किसी एक गुण की कमी रहने पर भी किसी वस्तु के किसी समान वस्तु पर रूपक'[3] को। इस प्रकार आनन्दवर्धन के समक्ष विशेषोक्ति अपने तीन रूपों में आती है—

१. न्यून कारण से महान् कार्य की उत्पत्ति,[4]
२. कारण में न्यूनता न रहने पर भी कार्य की अनुत्पत्ति, तथा
३. उपमेय में किसी गुण की कमी रहने पर भी उस पर उपमान का आरोप।

उद्भट ने विशेषोक्ति को दो रूपों मे बाँटा था—

१. उक्तनिमित्ता विशेषोक्ति[5] तथा
२. अनुक्तनिमित्ता विशेषोक्ति[6]।

---

१. एकदेशस्य विगमे या गुणान्तरसंस्थितिः।
विशेषप्रथनायासौ विशेषोक्तिर्मता० ॥

२. यत् सामग्र्येऽपि शक्तीनां फलानुत्पत्तिबन्धनम्।
विशेषस्याभिधित्सातस्तद् विशेषोक्तिरुच्यते ॥ का० सा० सं० ५।४ ॥

३. एकगुणहानिकल्पनायां साम्यदार्ढ्यं विशेषोक्तिः। यथा
द्यूतं हि नाम पुरुषस्यासिंहासनं राज्यम् ॥

४. भामह ने दण्डी से आगे बढ़कर यह भी कहा था कि विशेषोक्ति में कारण में कमी दिखलाकर किसी अन्य गुण की स्थापना भी दिखलाई जाती है, और उन्होंने उदाहरण दिया था—'वह अकेला कुसुमायुध तीनों लोकों को जीत लेता है जिसकी शक्ति को भगवान् शम्भु शरीर जलाकर भी कम नहीं कर सके।' यहाँ 'जल जाने पर भी बलका कम न होना' एक अन्य गुण है, जिसे तीन लोकों के मुकाबिले अकेले होने और कुसुम के कमजोर आयुध की कमी के साथ समान्तर रूप से बतलाया जा रहा है।

५. दर्शितेन निमित्तेन निमित्तादर्शनेन च।
तस्या बन्धो द्विधा लक्ष्ये दृश्यते ललितात्मकः ॥ (का० सा० सं० ५।५)
ये दोनों भेद और स्वयं विशेषोक्ति भी रुद्रट के काव्यालंकार में नहीं मिलती। उन्होंने इसे व्याघात नाम दिया है।

६. मम्मट ने भी ये दोनों भेद माने है, किन्तु एक और भी भेद माना है— 'अचिन्त्यनिमित्ता विशेषोक्ति'। आनन्दवर्धन के सामने यह भेद नहीं है।

प्रथम में कार्य की अनुत्पत्ति का कारण कथित रहता है, दूसरे मे नही। आनन्द-वर्धन इन दोनो विशेषोक्तियो में से द्वितीय विशेषोक्ति[1] का नाम लेते है और उसका निम्नलिखित उदाहरण भी देते हैं—

> आहूतोऽपि सहायैरोमित्युक्त्वा विमुक्तनिद्रोऽपि।
> गन्तुमना अपि पथिक सङ्कोच नैव शिथिलयति ॥[2]

> पथिक [वियुक्त] घर लौटते समय मित्रो द्वारा पुकारा जाता है, हाँ भी कर लेता है, जग भी जाता है और जाना भी चाहता है, किन्तु सङ्कोच को शिथिल नही कर पाता।

यहाँ जाने के सभी कारण कथित है, किन्तु पथिक को जाना हुआ नही बतलाया जा रहा। प्रत्युत सङ्कोच में पडा बतलाया जा रहा है। सङ्कोच शिथिल न करने का कोई कारण भी कथित नही है। फलत यह विशेषोक्ति है और अनुक्तनिमित्ता विशेषोक्ति है। उद्भट सङ्कोच के कारण की कल्पना करते है और कहते है 'पथिक को ठड अधिक सता रही है, इसलिए वह सङ्कोच शिथिल नहीं कर रहा'[3]। आनन्दवर्धन का कहना है इस विशेषोक्ति में जिस कारण की कल्पना की जा रही है वह अनुक्त है, अकथित है, अतएव व्यङ्ग्य है। वे यह भी कहते है कि यहाँ जो व्यङ्ग्य अर्थ प्रतीत हो रहा है वह ऐसा नहीं है जिसे चमत्कारकारी कहा जा सके। इस कारण यह भी नही कहा जा सकता कि विशेषोक्ति की इस विधा में ध्वनि का अन्तर्भाव सम्भव है। ध्वनित्व तो वहाँ होता है जहाँ व्यङ्ग्यकृत चमत्कार में प्रधानता रहती है।

---

१ ध्व० पृ० १०८, ११७

२ ध्व० पृ० ११७

३ ध्व० लोचन पृ० ११७, लोचनकार ने सङ्कोच का एक और भी कारण बतलाया है। वह है पथिक का यह निश्चय कि यदि जाऊँगा तो प्रिया-मिलन में विलम्ब होगा। उसकी अपेक्षा सोए रहना अधिक अच्छा है, क्योकि उससे स्वप्न मे प्रियामिलन अविलम्ब सम्भव है। यह कल्पना आनन्दवर्धन की स्थापना के विरुद्ध है, क्योकि वे यहाँ के व्यङ्ग्य मे 'चमत्कार' नहीं मानते। वस्तुत वे उद्भट का ही अभिमत व्यक्त कर रहे है। उद्भट की यह मान्यता काव्यालङ्कारसारसग्रह मे नही मिलती। कदाचित् इसे 'भामहविवार' नामक टीका में अभिनव ने पाया हो।

[२८] यथासङ्ख्य[1]

'यथासङ्ख्य' अलंकार को दण्डी ने 'क्रम' और 'सङ्ख्यान' नाम भी दिए[2] है। इसमें 'दो वर्गों में अलग अलग कथित अनेक अर्थों का सङ्ख्याक्रम से सम्बन्ध चमत्कार-कारी होता है। उदाहरणार्थ—

> ध्रुवं ते चोरिता तन्वि स्मितेक्षण-मुखद्युतिः ।
> स्नातुमम्भःप्रविष्टायाः कुमुदोत्पल-पङ्कजैः ॥[3]

हे तन्वी ! तुम स्नान के लिए जल में प्रविष्ट हुई तो तुम्हारे स्मित, नेत्र और मुखकान्ति को कुमुद, नीलोत्पल और कमलों ने चुरा लिया।

यहाँ अर्थों के दो वर्ग हैं—

१. स्मित, ईक्षण और मुखकान्ति का तथा

२. कुमुद, नीलकमल और कमल का।

इनमें से प्रथम वर्ग मे जिस सङ्ख्या पर जिस अर्थ की गणना है उसका सम्बन्ध दूसरे वर्ग की उसी सङ्ख्या पर प्राप्त अर्थ से है अर्थात् स्मित का कुमुद से, नेत्र का नीलकमल से और मुखकान्ति का कमल[4] से। इस प्रकार यहाँ यथासङ्ख्यता है और उसमे चमत्कार भी है, अतः यहाँ अलंकार को यथासङ्ख्य कहा जा सकता

---
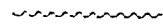
१. ध्व० पृ० २७४.

२. दण्डी. उद्दिष्टानां पदार्थानामनूद्देशो यथाक्रमम् ।
यथासङ्ख्यमिति प्रोक्तं संख्यानं क्रम इत्यपि ॥ काव्यादर्श २।२७३ ॥
उदाहरण—ऊपर दिया पद्य ही। आनन्दवर्धन ने दण्डी की ही पदावली में यथासङ्ख्य का स्वरूप उद्धृत किया है। 'यथोद्देशमनूद्देशः'। (ध्व० पृ० २७४)

३. काव्यादर्श २।२७४.

४. अन्य आचार्यो ने भी यथासंख्य पर वे ही विचार व्यक्त किए हैं जो दण्डी ने। यथा—

भामह—भूयसामुपदिष्टानामर्थानामसधर्मिणाम् ।
क्रमशो योऽनुनिर्देशो यथासङ्ख्यं तदुच्यते ॥ काव्यालंकार २।८९ ॥

उद्भट—ने भामह की उक्त कारिका को ज्यों का त्यों अपना लिया है।

वामन—उपमानोपमेयानां क्रमसंबन्धः क्रमः । का० सू० ४।३।१७ ॥

है। आनन्दवर्धन ने इसको प्रधानरूप से व्यङ्ग्य भी माना है। तदर्थ उनका उदाहरण है तुल्ययोगिता के लिए उद्धृत 'अङ्कुरित पल्लवित००'[1] पद्य।

इस वाक्यार्थ मे प्रतीत होता है कि मदन ने 'अङ्कुरण' आदि इसी क्रम से हुए जिस क्रम मे वे सहकार में हुए थे। सहकार अङ्कुरित हुआ तो मदन भी अङ्कुरित हो उठा, सहकार पल्लवित हुआ तो मदन भी, सहकार कोरकित हुआ तो मदन भी और सहकार पुष्पित हुआ तो मदन भी। ऐसा नही कि सहकार जब अङ्कुरित हुआ तब मदन पल्लवित या कोरकित आदि होता रहा हो। कवि को ऐसा अर्थ अभिप्रेत नही है। यहाँ सहकारपक्ष और मदनपक्ष के वाक्यो में पृथक् पृथक् तुल्ययोगिता है, अत सम्पूर्ण वाक्यार्थ में दो तुल्ययोगिताएँ है, यानी इस वाक्यार्थ में तुल्ययोगितासमुच्चय[2] है। यही यहा प्रधान अलकार है। यथासङ्ख्य इस अलकार से केवल आभासित हो रहा है। अर्थ यह कि यहाँ यथासङ्ख्य की प्रतीति व्यञ्जना के द्वारा ही हो रही है। व्यञ्जना द्वारा प्रतीत होने पर भी चमत्कार यथासङ्ख्य में ही अधिक प्रतीत हो रहा है, इसलिए यहाँ उसमें ध्वनित्व मानना[3] होगा।

स्मरणीय है कि परवर्ती आचार्य शोभाकर मित्र ने अपने अलकाररत्नाकर नामक उत्तम ग्रन्थ में यथासङ्ख्य पर पर्याप्त विश्लेषण[4] किया है और इसे दोषाभाव-स्वरूप मान अलकारत्व से दूर बतलाया है। पण्डितराज जगन्नाथ[5] और उनके

---

१ ध्व० पृ० २७४, यही पृष्ठ ३४२ पर।

२ 'तुल्ययोगितासमुच्चय' शब्द स्वय आनन्दवर्धन का है। ध्व० पृ० २७४। यहाँ 'समुच्चय'-शब्द का प्रयोग ऐसा प्रतीत होता है कि कदाचित् वह 'रुद्रट' द्वारा स्वीकृत 'समुच्चय' नामक अलकार के लिए हुआ है, किन्तु यहा इसका अर्थ केवल समुदाय है। क्योकि पूर्वार्ध और उत्तरार्ध में दो तुल्ययोगिताएँ है अत यहाँ वाच्य में उनका समुच्चय है।

३ ध्व० पृ० २७४

४ -अलकाररत्नाकर का पर्यायालकारप्रकरण अथवा हमारा 'अलकारसर्वस्व' पृ० ५५८-६०

५ पण्डितराज जगन्नाथ यथासङ्ख्य की लौकिक विशेषता कहते और इसे कविप्रतिभाप्रसून तथ्य न मान अपक्रमत्वरूप दोष का अभाव कहते है। उनने इसे कूटकार्षापण = 'खोटा सिक्का' कहा है। द्र० यथासङ्ख्यप्रकरणान्तरसगङ्गाधर।

पूर्ववर्त्ती जयरथ[1] में भी शोभाकर मित्र का स्वर पनपता दिखाई देता है। आनन्द-वर्धन इस अलंकार में भी चमत्कार देखते और उसे न केवल वाच्य ही मानते, उसमें ध्वनित्व भी देख लेते हैं।

[२९] स्वभावोक्ति[2]

'स्वभाव'—शब्द संस्कृत भाषा का अत्यन्त ही व्यापक शब्द है। अलंकार प्रकरण मे इसका अर्थ है किसी भी वस्तु का 'अपना स्वरूप'। 'अपना' शब्द यह बतलाता है कि 'सामान्यतः शब्द से हम उसका जो स्वरूप समझते हैं उसका ९९ प्रतिशत अंश हमारी बुद्धि से कल्पित होता है, किन्तु इस अलंकार में हम शब्द से भी उसे मानों उसके मौलिक रूप में ही देख लेते[3] है।' इसके प्रवर्त्तक हैं दण्डी[4]। भामह[5] ने इसे उदासीनता एवं बड़े ही रूखेपन के साथ उपस्थित

१. अलंकारविमर्शिनी का यथासङ्ख्यालंकार, द्र० हमारा अलंकारसर्वस्व पृ० ५५८

२. ध्व० पृष्ठ २२४.

३. व्यक्तिविवेककार महिमभट्ट को स्वभावोक्ति के मूर्च्छित और मृतप्राय शरीर में पुनः प्राणाधान करने वाला आचार्य कहना चाहिए। स्वभावोक्ति का यह स्वरूप उन्हीं की देन है। द्र० हमारे अनुवाद के साथ छपे व्यक्तिविवेक का पृष्ठ—४५२.

४. दण्डी— नानावस्थं पदार्थानां रूपं साक्षाद् विवृण्वती।
स्वभावोक्तिश्च जातिश्चेत्याद्या सालंकृतिः०।
(काव्यादर्श २।८)

दण्डी ने अलंकारों में प्रथम स्थान स्वभावोक्ति को ही दिया है। उपमा को वे दूसरा स्थान देते हैं, साथ ही वे स्वभावोक्ति को शास्त्रों का प्राण मान उसे काव्य में भी प्रतिष्ठित मानते और उसके अनेक उदाहरण प्रस्तुत कर हैं।

५. भामह— कहते हैं 'किसी आचार्य ने स्वभावोक्ति का उल्लेख अलंकारों के बीच कर दिया है इसलिए हम भी उसका उल्लेख कर रहे हैं, किन्तु हम उनका विस्तार फिजूल मानते हैं—

स्वभावोक्तिरलंकार इति केचित् प्रचक्षते।
अर्थस्य तदवस्थत्वं स्वभावोऽभिहितो यथा॥
आक्रोशन्नाह्वयन्नन्यानाधावन् मण्डलै रुदन्। →

किया था, वामन[1] इसके विषय में चुप्पी साधे हुए थे, और परवर्ती कुन्तक[2] ने तो इसे अलंकार सीमा से ही बाहर कर दिया था, किन्तु उद्भट ने इसमें रस लिया था। आनन्दवर्धन ने उक्त विवाद से ऊपर उठकर स्वभावोक्ति को पहचाना और शाकुन्तल के निम्नलिखित पद्य में उसके दर्शन किए

चलापाङ्गां दृष्टिं स्पृशसि बहुशो वेपथुमतीं
रहस्याख्यायीव स्वनसि मृदु कर्णान्तिकचरः।
करौ व्याधुन्वत्याः पिबसि रतिसर्वस्वमधरं
वयं तत्त्वान्वेषान्मधुकर! हतास्त्वं खलु कृती॥

लताकुञ्ज में छिपा दुष्यन्त भ्रमरबाधा से व्यग्र शकुन्तला की लावण्य-माधुरी का पान कर रहा है और सस्पृह भाव से कर रहा है। वह कहता है—[इसका अनुवाद करना बहुत कठिन है]

मधुकर! हम तत्त्वान्वेषण ही करते रहे और तू कृतकृत्यता तक जा पहुँचा। तू इसकी चञ्चल चितवनभरी काँपती आँखों का बार बार स्पर्श कर रहा है [नीलकमल समझकर], रहस्य की बात कहता हुआ सा इसके कान के पास घूम रहा है और बडी ही मीठी जुबान में गुनगुना रहा है, यहाँ तक कि हाथ फटकारती इसके अधर का भी पान कर रहा है, जो रति का सर्वस्व है।

आनन्दवर्धन की दृष्टि में यहाँ कवि ने भ्रमर के 'स्वभाव' को, उसकी स्थिति को आँखों के सामने मानो चित्र खींचकर उपस्थित कर दिया है, उसे

→ गा वारयति दण्डेन डिम्भः सस्यावतारिणीः।
समासेनोदितमिदं धीरेदायैव विस्तरः॥
(काव्यालंकार २।९३–९५)

१ वामन के अलंकारों में स्वभावोक्ति या जाति नाम का कोई अलंकार नहीं मिलता।

२ कुन्तक आनन्दवर्धन के बाद के हैं। संस्कृत में 'कुन्त' का अर्थ होता है भाला। आचार्य कुन्तक का दूसरा नाम कुन्तल भी है। कुन्तल का अर्थ होता है सुन्दर केश। कुन्तक जहाँ काव्यकामिनी के लिए सुन्दर केश सिद्ध हुए हैं वहीं स्वभावोक्ति के लिए भाला। उनका कहना है 'स्वभाव' अलंकार्य है, अलंकार नहीं। अलंकारत्व केवल वक्रोक्ति में रह सकता है। द्र० हमारे 'अलंकार-सर्वस्व' के स्वभावोक्तिप्रकरण में पृष्ठ ६६६–६७०।

आंखों से दिखा दिया है, उसका साक्षात्कार करा दिया है। इस कारण यहां स्वभावोक्ति अलंकार[1] है। वह इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है कि उससे यहां शृङ्गार रस का तनिक भी विघात नहीं हो रहा, बल्कि वह इसके लिए सबसे अधिक उपयुक्त सिद्ध हो रहा है।

[३०] संसृष्टि[2]

उक्त अलङ्कारों में कभी-कभी पारस्परिक मिश्रण भी हो जाया करता है। यह मिश्रण दो प्रकार का होता है—

१. जहां मिलकर भी अलंकार पृथक् पृथक् प्रतीत होते हैं, जैसे अपक्व खिचड़ी के दाल चावल,[3] तथा
२. जहां पृथक् प्रतीत नहीं होते, जैसे दूध और जल।[4]

इन दोनों में प्रथम मिश्रण को संसृष्टि कहा जाता है, क्योंकि उसमें संसर्ग की भी प्रतीति होती है। खिचड़ी में दाल और चावल की प्रतीति तो होती ही है, उनके मिश्रण की भी प्रतीति होती है, उनका सम्बन्ध भी दृष्टिगोचर होता है। संकर में सम्बन्ध रहता अवश्य है, किन्तु दृष्टिगोचर नहीं होता। दूध और जल न तो पृथक् प्रतीत होते और न उनका मिश्रण, या उनका संयोग ही लक्षित होता। जहां अलंकारों में इस प्रकार के मिश्रण रहते हैं वहां उन्हें दो पृथक् अलंकार मान लिया जाता[5] है—

१. संसृष्टि अलंकार, तथा
२. संकर अलंकार।

---

१. लोचनकार ने यहां शृङ्गाररस और स्वभावोक्ति अलंकार का संकर भी माना है। उसे उनने एकानुप्रवेश-संकर कहा है। द्रष्टव्य ध्वन्यालोकलोचन पृष्ठ ५०७.

२. ध्व० पृ० २२१.

३. इस प्रकार के मिश्रण को संस्कृत में तिलतण्डुल के मिश्रण की उपमा दी जाती और इसे 'तिलतण्डुलन्याय' कहा जाता है। न्याय यानी साम्य।

४. इस प्रकार के मिश्रण को संस्कृत में 'क्षीरनीर' के मिश्रण की ही उपमा दी जाती है और 'क्षीरनीरन्याय' कहा जाता है।

५. शोभाकर मित्र संसृष्टि को अलङ्कार मानने में अनेक आपत्ति प्रस्तुत करते हैं द्र० हमारा 'अलङ्कारसर्वस्व' पृ० ७२९।

इनमें से–

संसृष्टि में कभी केवल शब्दालङ्कारों का सम्मिश्रण रहता है, कभी केवल अर्थालङ्कारों का और कभी शब्दालङ्कारों से अर्थालङ्कारों या अर्थालङ्कारों से शब्दालङ्कारों का। इस प्रकार संसृष्टि तीन प्रकार की हो सकती[१] है। इसके उदाहरण काव्यप्रकाश और अलङ्कारसर्वस्व में देखे जा सकते हैं। आनन्दवर्धन ने इन तीनों संसृष्टियों में से केवल एक ही संसृष्टि का निर्देश किया है। वह है केवल अर्थालङ्कारों की संसृष्टि। अर्थालङ्कार के इसी प्रकरण में श्लेषव्यतिरेक में उद्धृत **'रक्तस्त्वं नवपल्लवै'** पद्य में वे 'श्लेष' और 'व्यतिरेक' की संसृष्टि मानते हैं। इसे वहीं से समझ लेना चाहिए।

[३१] संकर[२]

संकर नामक अलङ्कार को हम आज तीन रूपों में पा रहे हैं—

१ अङ्गाङ्गिभाव संकर,
२ एकवाचकानुप्रवेश संकर तथा
३ सन्देह संकर[३]।

---

१ संसृष्टि और संकर के विषय में साहित्यशास्त्र में दो सम्प्रदाय हैं—(१) भेदवादी और (२) अभेदवादी। प्रथम में दोनों को भिन्न माना जाता है। द्वितीय में दोनों को अभिन्न माना जाता है। अभिन्नतावादी सम्प्रदाय में दो शाखाएँ मिलती हैं—(१) जिनमें दोनों को संसृष्टि नाम दिया जाता है और (२) जिसमें दोनों को संकर नाम से पुकारा जाता है।

भिन्नतावादी आचार्य हैं—उद्भट, मम्मट तथा अलङ्कारसर्वस्वकार आदि, अभिन्नतावादियों में—
(१) संसृष्टिवादी हैं—दण्डी, भामह तथा वामन, इसी प्रकार
(२) संकरवादी हैं—रुद्रट।
विशेष विवरण के लिए देखिए हमारा 'अलंकारसर्वस्व' पृ० ७४५–७५१

२ ध्व० पृ० १०८, १२०–१२३

३ उद्भट (क) सन्देह संकर—

अनेकालङ्क्रियोल्लेखे समं तद्वृत्त्यसम्भवे।
एकस्य च ग्रहे न्यायदोषाभावे च संकरः ॥
(५।११ का० सा० सं०)→

इन तीनों मे से प्रथम का निरूपण दण्डी, भामह और वामन ने किया था, किन्तु संसृष्टि के अन्तर्गत। इसका दूसरा नाम है अनुग्राह्यनुग्राहकभाव संकर। उद्भट ने इन तीनों के अतिरिक्त एक और संकर की कल्पना की है। वह है—'शब्दार्थवर्त्यलंकार संकर' अर्थात् शब्दालंकार और अर्थालंकार का संकर। इन चारों संकरों मे से प्रथम संकर में एक अलंकार दूसरे अलंकार के आधार पर निष्पन्न होता है। दूसरे मे किसी एक ही पद मे शब्द और अर्थ के अलंकार या केवल शब्दालंकार तथा केवल अर्थालंकार चले आते हैं। तीसरे में किसी एक ही उक्ति में अनेक अलंकारों का समावेश दिखाई देता है, किन्तु निश्चय किसी का नहीं होता। चतुर्थ भेद में द्वितीय भेद जैसी ही स्थिति रहती है किन्तु अन्तर केवल आधार में होता है। द्वितीय का आधार पद होता है जबकि चतुर्थ का आधार वाक्य। मम्मट आदि ने इस चतुर्थ को संसृष्टि रूप मानकर छोड़ दिया है। आनन्दवर्धन इनमें से केवल दो ही भेदों का उल्लेख करते हैं—(१) अङ्गाङ्गिभाव संकर का तथा (२) सन्देह-संकर का। एकवाचकानुप्रवेश मे वे श्लेषव्यतिरेक जैसे भिन्न ही अलंकार की कल्पना करते हैं। हो सकता है वे इसे संकर ही मानते हों, किन्तु वे इसे संकर नाम से पुकारते हुए दिखाई नहीं देते। उनके द्वारा उल्लिखित संकर के उक्त दोनों भेदों के उदाहरण उद्भट से ही अपनाएँ और इनका स्वरूप समझें, क्योंकि आनन्दवर्धन ने इनके लिए कोई उदाहरण अपनी ओर से नहीं दिए हैं।

[१] अङ्गाङ्गिभावसंकर :

त्वत्कृते सोऽपि वैकुण्ठो शशीवोपसि चन्द्रिकाम्।
अम्बुधारां सुधावृष्टि मन्ये त्यजति तां श्रियम्[1] ॥

→ (ख) शब्दार्थवर्त्यलं० सं०—
शब्दार्थवर्त्यलंकारा वाक्य एकत्र भासिनः, संकरः।
(५।१२ का० सा० सं०)

(ग) एकवाचकानुप्रवेशसंकर—
संकरो वैकवाक्यांशप्रवेशाद् वाभिधीयते।
(५।१२ का० सा० सं०)

(घ) अनुग्राह्यानुग्राहक०—
परस्परोपकारेण यत्रालंकृतयः स्थिताः।
स्वातन्त्र्येणात्मलाभं नो लभन्ते सोऽपि संकरः॥
(का० सा० सं०)

१, उद्भट ने 'कुमारसंभव' नामक एक नवीन काव्य लिखा था। इसका एक →

शिव तपोनिरत पार्वती से कहते हैं—'मैं तो ऐसा मानता हूँ कि तेरे लिए तो विष्णु अधारा सुधावृष्टिरूप श्री को उषा के लिए चन्द्रिका को चन्द्र के समान तुरन्त छोड़ देगा' (चन्द्रिका भी अधारा सुधावृष्टिरूप है)।

यहाँ पार्वती और उषा, श्री और चन्द्रिका तथा विष्णु और चन्द्र की परस्पर मे उपमा है। अधारा सुधावृष्टि का चन्द्रिका और श्री पर आरोप होने से दृढारोप रूपक है जिसे वामन के शब्दो में हम विशेषोक्ति कह सकते है। यहाँ चन्द्रिका और श्री के बीच जो उपमा है वह सुधावृष्टि के रूपक पर निर्भर है। अत यहाँ रूपक को उपमा का अङ्ग या अनुग्राहक कहा जा सकता है। उपमा है अनुग्राह्य। परिणामत यहाँ अनुग्राह्यानुग्राहकभाव अथवा अङ्गाङ्गिभाव सकर है।

[२] सदेह सकर

अत्यन्तमुचितो वरेन्दुस्ते न लभ्यते[1]।

हे पार्वति, तेरे लिए सर्वथा उपयुक्त वरेन्दु प्राप्त नहीं हो रहा है।

यहाँ 'वरेन्दु'-शब्द में उपमा और रूपक दोनो ही माने जा सकते है। 'वर इन्दु के समान' इस प्रकार यहाँ उपमा मानी जा सकती है और 'वररूपी इन्दु' इस प्रकार रूपक। यहा ऐसा कोई तथ्य उपस्थित नही है जिससे उपमा या रूपक मे से किसी एक का विरोध हो रहा हो या किसी का समर्थन। इस कारण यह सभव नही है कि यहा किसी एक को अपनाकर दूसरे को छोडा जा सके। परिणामत अन्त तक यहा इन दोनो का सन्देह बना ही रहता है। इस कारण यह स्थल सदेह सकर का स्थल है।

आनन्दवर्धन का कहना है कि इन दोनो भेदो में से प्रथम में वाच्य किसी एक ही अलकार को मानना होगा, फलत दूसरे को व्यङ्ग्य माना जाएगा, किन्तु उस व्यङ्ग्य अलकार में प्रधानता नही रह सकेगी, कारण कि वह वाच्य अलकार की शोभा बढाने वाला साधन सिद्ध[2] होगा। द्वितीय में भी वाच्य कोई

→ पूरा सन्दर्भ उनने अपने 'काव्यालकारसारसग्रह' में उद्धृत कर दिया है। देखिए हमारा लेख 'कुमारसभवे कालिदासोद्भटाचार्ययो सवाद' विक्रम कालिदासाङ्क-१९६९।

१ काव्यालकारसारसग्रह

२ ध्व० पृ० १२०-२३। आनन्दवर्धन की यह मान्यता यहाँ धूमिल रूप में ही सामने आती है। उसकी वास्तविकता का निश्चय नही हो पाता। अभिनवगुप्त उनके ग्रन्थ को अपने ढग से लगाते हैं।

एक ही मानना होगा, फलतः दूसरा व्यङ्ग्य होगा। यदि वह व्यङ्ग्य अलंकार चमत्कार की दृष्टि से अधिक समृद्ध न हो तो हम संकर के इस भेद (सन्देह संकर) को ही पर्यायोक्तालंकार की भाँति ध्वनि में अन्तर्भूत कर लेंगे। ध्वनि का क्षेत्र अतिविस्तृत है, अतः इस (संकर) मे ध्वनि का अन्तर्भाव मानना उचित नही होगा। वस्तुतः संकर के इस भेद मे भी व्यङ्ग्य में प्रधानता रहेगी नहीं। वह यहां वाच्य के समकक्ष होगा, फलतः उसमें वाच्य से अधिक चमत्कार न होगा[1]।

अलङ्कारमिश्रण

अलंकारों के परस्पर मे मिश्रण भी होता है। यह दो प्रकार का होता है—

१. वाच्यअलंकार के साथ व्यङ्ग्य अलंकार का मिश्रण तथा
२. वाच्य अलंकार के सात वाच्य अलंकार का ही मिश्रण।

इनमे से प्रथम का निरूपण ध्वनिसम्मिश्रणशीर्षक के अन्तर्गत ध्वनिप्रभेद नामक अनुच्छेद के अन्त[2] में किया जा चुका है। द्वितीय के लिए श्लेपव्यतिरेक के प्रकरण मे उद्धृत[3] 'रक्तस्त्वं०' पद्य अपनाया जा सकता है, जहाँ श्लेप भी है और व्यतिरेक का प्रथम भेद भी। और दोनों ही वाच्य है। इस प्रकार अलंकार-संकर के चार भेद हो सकते हैं—

[क] वाच्यव्यङ्ग्यसंकर	१. अलङ्कारसामान्य संकर
	२. अलंकारविशेप संकर
	३. परस्परगर्भता संकर तथा
[ख] वाच्य-वाच्य-संकर	४. वाच्यवाच्यालंकार संकर।

इन्हीं मे संसृष्टि के भी दर्शन किए जा सकते हैं।

यह हुआ उन ३१ अलंकारों का संक्षिप्त किन्तु परम्परा की पृष्ठभूमि पर आवृत विवेचन, जिनकी चर्चा आनन्दवर्धन ने अपने ध्वन्यालोक में आनुषङ्गिक रूप से कर दी थी। इनमें से श्लेष को शब्दश्लेप तथा अर्थश्लेप के दो भागों में विभक्त करने पर २९ अलंकार परम्पराप्राप्त अलंकार है और श्लेपव्यतिरेक तथा उपमा-

१. ध्व० पृ० १२३-२४.
२. यहीं पृ० २०७ से २०९ तक।
३. यहीं पृ० ३११ पर।

श्लेष नामक प्रथम दो आनन्दवर्धन की अपनी देन। यदि दोनों श्लेषों को अभिन्न मान लिया जाए तो ये अलङ्कार ३० होंगे।

यहाँ तक हमने अलकारतत्त्व के उसकी विविध स्थितियों में दर्शन किए। आइए अब हम यह सोचें कि अलङ्कारतत्त्व अपने सामान्य रूप में क्या है? उसका लक्षण क्या है? आनन्दवर्धन उस पर क्या सोचते हैं?

अलङ्कारलक्षण

अलङ्कार क्या वस्तु है और उसको काव्य के अन्य धर्मों से भिन्न करने वाला तत्त्व क्या है—इन प्रश्नों पर आचार्यों के अनेक उत्तर आनन्दवर्धन के समक्ष उपस्थित थे। आनन्दवर्धन ने उन सभी पर विचार किया और एक नवीन मत स्वय भी उपस्थित किया। इन सबका सक्षिप्त विवरण यह है—

दण्डी	काव्य के वे धर्म अलङ्कार कहलाते हैं जो उसमें शोभा उत्पन्न करते[1] हैं।
भामह	शब्द और अर्थ की वक्र उक्ति का नाम है अलङ्कार।[2]
वामन	काव्य के [उपमा आदि] वे धर्म अलङ्कार कहलाते हैं जो उसमें गुणों द्वारा उत्पन्न शोभा को बढाते हैं।[3]
आनन्दवर्धन	काव्य के वे धर्म अलङ्कार कहलाते हैं जो काव्यशरीर के अङ्ग शब्द या अर्थ में रहते तथा उन अङ्गों और उनके द्वारा उनके अङ्गियों के चारुत्व के हेतु बनते हैं,[4] जैसे

---

१ काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते। काव्यादर्श २।१॥

२ वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलकृति। काव्यालङ्कार १।३६॥

३ काव्यशोभाया कर्त्तारो धर्मा गुणा, तदतिशयहेतवस्त्वलङ्कारा। का० सू० ३।१।१–२॥

कुछ विद्वानों ने इस वाक्य को भामह का काव्यलक्षणवाक्य माना है। हमने इसे परम्पराविरुद्ध और तर्कविरुद्ध प्रतिपादित किया है। द्रष्टव्य हमारा 'साहित्यतत्त्वविमर्श' नामक ग्रन्थ।

४ [क] अङ्गाश्रितास्त्वलङ्कारा मन्तव्या कटकादिवत्। ध्व० २।६॥

[ख] अलङ्कारो हि अङ्गिनश्चारुत्वहेतु। ध्व० २।१७ वृत्ति॥

[ग] अलङ्कारो हि चारुत्वहेतु। ध्व० पृ० १९७॥

[घ] शब्दगताश्चारुत्वहेतवोऽनुप्रासादय, अर्थगताश्चोपमादय। ध्व०पृ०१६॥

> अलङ्कार और कुछ नहीं, केवल 'वाग्विकल्प'[1] या 'उक्ति-वैचित्र्य'[2] है। मुख्य या अङ्गी होते हैं रस भाव आदि व्यङ्ग्य अर्थ।[3]

इस प्रकार आनन्दवर्धन अलङ्कारलक्षण के विषय में दण्डी और भामह पर अधिक निर्भर हैं। आनन्दवर्धन के 'चारुत्व' को हम दण्डी की 'शोभा' का प्रतिनिधि मान सकते हैं, यद्यपि है इनमें अन्तर, जैसा कि द्वितीय अध्याय के काव्यशरीर नामक प्रथम अनुच्छेद में बतलाया जा चुका है।[4]

इस अध्याय के इन दोनों अनुच्छेदों में हमने काव्य के दो धर्मों का अध्ययन किया [१] गुण तथा [२] अलंकार। देखना है कि इनका परस्पर में अन्तर किस सत्य को लेकर है।

गुणालङ्कार-भेद

अलंकारप्रकरण के अन्त में अलंकारलक्षण पर जो सूत्र हमने देखे हैं उनसे गुण और अलंकार के अन्तर की कुछ रेखाएँ हमारे समक्ष स्पष्ट हो चुकी हैं। उनके अनुसार गुण और अलंकार के साम्य तथा वैषम्य को हम इस प्रकार सूत्रित कर सकते हैं—

साम्य— १. दोनों शोभाजनक [चारुत्वहेतु]
२. दोनों अङ्गी की शोभा के परिपोषक तथा
३. दोनों शब्द और अर्थ के धर्म[5]।

---

१. [क] अनन्ता हि वाग्विकल्पाः, तत्प्रकारा एव चालङ्काराः। ध्व०पृ० ४७३ ॥
[ख] वाग्विकल्पानामानन्त्यात्। ध्व० पृ० २५ ॥

२. अभिधाव्यापारेण तदितरोऽलङ्कारवर्गः समग्र एव लक्ष्यते। ध्व० पृ० १६२ ॥

३. रसभावादितात्पर्यमाश्रित्य विनिवेशनम्।
अलंकृतीनां सर्वासामलङ्कारत्वसाधनम् ॥ ध्व० पृ० १९७ ॥

४. यहीं पृष्ठ ८७–९०.

५. यह साम्य परवर्ती ध्वनिवाद की दृष्टि से चौंका देने वाला साम्य है; क्योंकि उनके मत में प्रसिद्धि यही है कि गुण केवल रसधर्म हैं। हम यह साम्य आनन्दवर्धन की पंक्तियों के आधार पर प्रस्तुत कर रहे हैं। ये पंक्तियाँ हम गुणनिरूपण के प्रसङ्ग में उपस्थिति कर आए हैं। देखिए पृ० २९८–३००।

वैषम्य— १ गुण अङ्गो में रहते हुए भी ठीक उसी प्रकार अङ्गी पर निर्भर रहते है जिस प्रकार शौर्य आदि गुण शरीराश्रित होते हुए भी आत्मा पर। अलकार अङ्गी की अपेक्षा सदा नही रखते[1]।

२ अलकारो में अनुप्रास[2] आदि कुछ ऐसे भी अलकार है जो अर्थनिरपेक्ष होकर शब्द में रहते है, जबकि गुणो में अर्थ-निरपेक्षता कदापि नही रहती। वे सदा अर्थसापेक्ष ही होते है। इतने पर भी अलकारों से इनमें विलक्षणता रहती है, क्योंकि अलकार जिस अर्थ की अपेक्षा रखते है वह बहुत बडी मात्रा में वाच्य ही होता है, व्यङ्ग्य बहुत कम, जबकि गुण जिस अर्थ पर निर्भर रहते है, वह बडी मात्रा में व्यङ्ग्य भी हुआ करता है।

३ अलकार अतिशय या लोकातिक्रान्तता की मात्रा अधिक दूरी तक लिए रहता है, जबकि गुण नही। [वह स्वभाव-प्रधान तथ्य हुआ करता है।[3]]

४ अलकार भङ्गीभणिति अर्थात भणिति की भङ्गिमाए है, जबकि गुण या तो भङ्गिमाओ तक पहुँचने के पहले से भणिति में विद्यमान या भणिति की परिसमाप्ति के पश्चात् सवेदन में आने वाले धर्म है। [ध्व० पृ० ५४४]

५ अलकारो का बहुलाश अभिधा के आलोक में प्रकाशित रहने वाली अर्थ-लोक की श्री है, जबकि गुण का बहुलाश अभिधा की उत्पत्ति के पहले से विद्यमान, शब्द और उसकी सरचना का सौरभ[4] है।

---

१ ऐसा इसलिए कि गुण शब्दार्थ धर्म के साथ साथ रसधर्म भी माने गए है।

२ शृङ्गारस्याङ्गिनो यत्नादेकरूपानुबन्धवान्।
सर्वेष्वेव प्रभेदेषु नानुप्रास प्रकाशक ॥ (ध्व० २।१४)

३-४ अभिधाव्यापारेण तदितरोऽलङ्कारवर्ग समग्र एव लक्ष्यते। (ध्व० पृ० १६२)

आनन्दवर्धन ने अलकार तत्त्व को अतिशयगर्भित कहा है और उसे 'वक्र उक्ति' कहा है। देखिए यही पृ० २०७ तथा ३२९। गुण के विषय में वे ऐसा नही—>

इन भेदक तत्त्वों के आधार पर हम कुछ अन्य निष्कर्ष भी निकाल सकते हैं और कह सकते हैं—

१. गुणों का सम्बन्ध चित्त या मन के साथ अधिक है जबकि अलङ्कार के अधिकांश का बुद्धि के साथ[1]।

२. गुण चित्त की द्रुति, दीप्ति और विकास को अपने अन्तर में समेटे रहता है, जबकि अलङ्कार केवल विकास या विक्षेप को[2]।

३. गुण संवेदन, भावन या भुक्ति से अधिक सम्बद्ध है जबकि अलङ्कार बोध से[3]।

फलतः ४. अलङ्कार कविताकामिनी की काञ्चनी काययष्टि में हुआ कुङ्कुम-लेप है, जबकि गुण उसमें निहित मार्दव, सौकुमार्य या आभिजात्य।

५. अलङ्कार कविताकामिनी की चूड़ियाँ हैं, कटक है, कुण्डल है, जबकि गुण है उसमें अन्तर्हित कलाएँ।

६. अलङ्कार कवितावधू के कृष्णकुन्तलों की धवल मालतीमाला है, जबकि गुण उनकी कृष्णता[4]।

→ कहते। इसी कारण भोज ने सगुण काव्य को स्वभावोक्तिप्रधान काव्य कहा है। सालंकार काव्य को वे वक्रोक्ति-प्रधान काव्य कहते हैं। 'स्वभावोक्ती रसोक्तिश्च वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्'। (सरस्वतीकण्ठाभरण।)

१. क्योंकि आनन्दवर्धन ने मन से सम्बन्ध रखने वाले रसवद् आदि को अलङ्कार नहीं माना।

२. द्रष्टव्य दशरूपक का चतुर्थ प्रकाश तथा अभिनवभारती का षष्ठ अध्याय।

३. अभिनवगुप्त ने भुक्ति को विकास, विस्तार, क्षोभ, द्रुति और दीप्ति के रूप में स्वीकार किया है। इस कारण यह मत उपस्थित किया गया है।

४. [क] बाल यदि सफेद भी हो जाएँ तो उनमें अलङ्कार सुरक्षित रहा आएगा, मालती माला सफेद बालों में भी लगी रह सकेगी या उसे बदलना पड़ेगा, और उसके स्थान पर सवृन्त तथा सपत्र लाल गुलाब अपना लिया जाएगा, किन्तु सफेदी गुण का स्थान न ले सकेगी।

[ख] गुण तथा अलङ्कार के भेद पर मम्मट ने अपने काव्यप्रकाश में प्राचीन आचार्यों के कुछ मत उपस्थित किए हैं, किन्तु उनमें से वामन के मत को छोड़ शेष मतों के आधार ग्रन्थ नष्ट हो चुके हैं। →

उपसंहार

इस प्रकार हमने काव्य के इन दो धर्मों का अनुशीलन आनन्दवर्धन के परिवेष में किया जिनमें स्थूलता की अपेक्षा सूक्ष्मता की मात्रा अधिक थी। अब हम काव्य के उन धर्मों की ओर चलते हैं जो निपट स्थूल होते हैं। ये धर्म हैं

[१] संघटना
[२] रीति तथा
[३] वृत्ति।

→ मम्मट ने एक ऐसा भी मत उपस्थित किया है जिसमें गुण और काव्य का सम्बन्ध 'समवाय' माना गया है तथा अलङ्कार और काव्य का सम्बन्ध 'संयोग'। हो सकता है यह आनन्दवर्धन द्वारा अपने ग्रन्थ में अलङ्कारों को दी गई 'कटक' आदि की उपमा का परिणाम हो। स्वयं मम्मट का अभिप्राय यह नहीं है कि गुण और अलंकार को काव्य में क्रमशः समवाय और संयोग सम्बन्ध से अवस्थित माना जाए। उनका अभिप्राय केवल यह है कि समवाय और संयोग के मानदण्ड गुण और अलंकारों के भेदक मानदण्ड सिद्ध नहीं होते।

[३] संघटना

पुरावृत्त :

आनन्दवर्धन के पूर्व वामन और दण्डी ने काव्यसंरचना पर विचार किया था और उसमें निम्नलिखित तीनों पक्षों को स्थान दिया था—

[१] कविपक्ष

[२] काव्यपक्ष तथा

[३] सहृदयपक्ष,[1]

प्रथम मे उक्त दोनों आचार्यो ने कवि की मनःस्थिति पर विचार किया था और यह सोचा था कि काव्यनिर्माण के समय कवि की मनःस्थिति कैसी रहती है। द्वितीय में कविमनःस्थिति के काव्य पर प्रतिफलित प्रभाव और परिणाम पर ध्यान दिया था और तृतीय में उक्त काव्य से सहृदय को होने वाले 'अनुभव' पर। इन तीनों में प्रथम और तृतीय पक्ष प्रायः एक हैं, क्योंकि कवि और सहृदय का काव्य के माध्यम से अनुभवसंवाद रहता है। दूसरे शब्दों में सहृदय को प्रायः वही अनुभव होता है जिस अनुभव को धरातल बनाकर कवि काव्यरचना करता है।

उक्त तीनों पक्षों को प्राचीन आचार्यो में से वामन ने 'रीति'-नाम दिया था और दण्डी ने 'मार्ग'[2]। रीति और मार्ग उक्त तीनों पक्षों के लिए समुदायवाची, एक और अभिन्न अभिधान थे।

---

१. वामन और दण्डी ने जो दश गुण माने है उनमें ये तीनों पक्ष बीजरूप से इस प्रकार निहित है—

[१] कविपक्ष : मुख्यतः समाधि में, अमुख्यतः सब में।

[२] काव्यपक्ष : श्लेष, समता, सौकुमार्य, उदारता और अर्थव्यक्ति में।

[३] सहृदयपक्ष : माधुर्य, ओज, प्रसाद तथा कान्ति में।

(देखिए यही पृ० २९३)

२. दण्डी के मार्गशब्द को वामन जानते थे। समतागुण के लक्षण में वे 'मार्ग'-शब्द का उल्लेख करते है—'मार्गाभेदः समता'। परवर्ती कुन्तक ने मार्गशब्द →

दण्डी और वामन ने 'रीति' या 'मार्ग' को मुख्यत तीन भागों में विभक्त बतलाया था विदर्भीय, पाञ्चालीय और गौणीय। इन तीनो के भेदक तत्त्व के रूप में दोनो आचार्यों ने गुणनामक काव्यधर्म की कल्पना की थी। ये धर्म श्लेष प्रसाद आदि थे जिनका निरूपण किया जा चुका[1] है।

वामन ने इन गुणो में से विदर्भीय रीति में सभी गुणो का अस्तित्व स्वीकार किया था और उस रीति को 'वैदर्भी' नाम दिया था। गौडीय में उन्होंने केवल दो गुण माने थे ओज और कान्ति। उसे उन्होंने 'गौडी' रीति कहा था। इसी प्रकार पाञ्चालीय में भी उनने दो ही गुण माने थे 'माधुर्य' तथा 'सौकुमार्य'। इसे उनने पाञ्चाली रीति कहा था। ये नाम इसलिए दिए थे कि इन रीतियो का प्रचलन विदर्भ, पञ्चाल तथा गौड देशो में था। गुणो की कल्पना इन आचार्यों के यहाँ मृदुता आदि वर्णधर्म तथा समास पर निर्भर थी। वैदर्भी में ये समास का *सर्वथा अभाव मानते थे, पाञ्चाली में कमी तथा गौडी में बाहुल्य तथा बृहत्त्व।*

आनन्दवर्धन ने कवि, काव्य और सहृदय के पक्षो को समुदाय रूप में स्वीकार न कर पृथक् पृथक् स्वीकार किया। उनने सहृदय और कवि के पक्षो को ध्वनि और रस की स्थापना कर उसमें सीमित कर दिया। गुणो में केवल तीन ही गुणो को गुण माना—'माधुर्य', 'ओज' और 'प्रसाद' को। शेष गुणो का आनन्दवर्धन ने मौन द्वारा प्रत्याख्यान कर दिया, जिसकी व्याख्या बाद में मम्मट ने की।[2] इन तीनो गुणो को भी आनन्दवर्धन ने केवल काव्यधर्म न मानकर चित्त-

---

→ ही अपनाया और उसका हेतु देते हुए लिखा—इन पर कवि चलते हैं इसलिए इन्हें मार्ग कहा जाता है 'कविप्रस्थानहेतव'। 'रीति'-शब्द को भोज ने गमनार्थक 'री'-धातु से निष्पन्न बतलाया और उसे उसी अर्थ में प्रयुक्त माना जिस अर्थ में मार्ग शब्द का प्रयोग दण्डी ने किया था।

[द्र० सरस्वतीकण्ठाभरण]

१ यही पृष्ठ २९०–९२ तक।

२ मम्मट ने [१] श्लेष, समाधि, उदारता और प्रसाद को ओज में
[२] अर्थव्यक्ति को प्रसाद में
[३] सौकुमार्य को कष्टत्वनामक दोष के अभाव में तथा
[४] कान्ति को ग्राम्यत्वनामक दोष के अभाव में अन्तर्भूत मान माधुर्य को माधुर्यरूप, ओज को ओजोरूप तथा समता को दोष बतलाया है एव माधुर्य, ओज तथा प्रसाद इन तीन गुणो को ही गुण सिद्धान्तित किया है।

द्र० काव्यप्रकाश उल्लास–८।

धर्म भी स्वीकार किया और इन्हे केवल काव्य में रहता हुआ स्वीकार न कर उसी प्रकार काव्य की आत्मा रस में भी रहता हुआ स्वीकार किया जिस प्रकार शौर्य आदि गुणों को केवल शरीर में रहता स्वीकार न कर आत्मा में रहता हुआ भी स्वीकार किया जाता है। इस प्रकार

स्वरूप :

रीति तत्त्व का केवल एक ही पक्ष अवशिष्ट रहा काव्यपक्ष। आनन्दवर्धन ने उसे काव्यसंरचना पर विचारहेतु अपनाया, किन्तु यह आवश्यक समझते हुए कि उसका नाम बदला जाए। केवल काव्यपक्ष को कवि, काव्य तथा सहृदय के तीनों पक्षों के लिए प्रयुक्त रीति-शब्द से पुकारना अवश्य ही भ्रामक होता। आनन्दवर्धन ने नाम बदला और केवल काव्यपक्ष के आलोक में देखी जा रही काव्यसंरचना को 'संघटना'[1] कहा।

भेद :

अब प्रश्न उसके भेदों का था। आनन्दवर्धन ने उन्हें ज्यों का त्यों अपना लिया किन्तु वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाली नाम से नही। इस प्रकार आनन्दवर्धन के यहाँ वामन और दण्डी की वैदर्भी, गौडी तथा पञ्चाली रीतियाँ संघटना बन गयी, यानी प्रान्तों के प्रधानमन्त्री अब मुख्यमन्त्री बन गए।

भेदक :

यहाँ एक और प्रश्न खड़ा हुआ। वह था इन तीनों संघटनाओं के भेदक तत्त्वों का, क्योंकि इनके भेदक के रूप में वामन और दण्डी ने गुणनामक जिन धर्मो को स्वीकार किया था, उन्हें आनन्दवर्धन ने केवल भाषा तक सीमित नही रहने दिया। आनन्दवर्धन ने इस प्रश्न का उत्तर दिया और उक्त तीनों संघटनाओं का भेदक केवल 'समास' को माना। उनके अनुसार इनमें से—

[१] किसी संघटना में समास नहीं रहता,

[२] किसी में समास रहता है, किन्तु उसकी संख्या और उसके परिमाण बड़े नहीं होते, तथा

[३] किसी में समास की संख्या और परिमाण दोनों बड़े होते है अर्थात्

१. वामन ने भी गुणों के अन्तर्गत कवि, काव्य और सहृदय तीनों पक्षों को स्थान देने के बाद भी रीति को पदरचना ही कहा था 'विशिष्टा पदरचना रीतिः'।

उनमें समास का शरीर काफी बडा रहता है और उसकी प्रचुरता भी रहती है ।[1]

वृत्ति और सघटना

यहाँ यह ध्यान देने योग्य तथ्य है कि आनन्दवर्धन ने उपनागरिका आदि वृत्तियों को सघटना में स्पष्टरूप से स्थान नही दिया है। उनने आनुषङ्गिक चर्चा मे वृत्तियों का उल्लेखमात्र कर दिया है। 'सकल कथा' नामक काव्यभेद में वृत्तियो की यह चर्चा यहाँ उसीरूप में कर दी गई है जिस रूप में वह मूलग्रन्थ में है।

गुण और सघटना

एक तीसरा प्रश्न और उठा। वह यह कि इस सघटना का गुण नामक तत्त्वों से सम्बन्ध रहता है या नही। आनन्दवर्धन ने इस पर भी विचार किया और लिखा—

'सघटना का गुणो से सम्बन्ध रहता है, और वही सम्बन्ध जो वामन और दण्डी ने स्वीकार किया है अर्थात् आश्रयाश्रयिभाव, किन्तु वैसा नही जैसा वामन या दण्डी को स्वीकार है, अपितु उसमे ठीक उलटा। वामन और दण्डी सघटना को गुणो का आश्रय मानते है, वस्तुत आश्रय गुण ही है और सघटना ही है उन पर आश्रित[2]। यह आश्रयाश्रयिभाव प्रकृति से भी वैसा नहीं है, जैसा उक्त दोनो आचार्य मानते है। उन दोनो आचार्यों के अनुसार गुणो और रीतियो का आश्रयाश्रयिभाव वैसा ही आश्रयाश्रयिभाव है जैसा सूत और वस्त्र का होता है। वस्त्र सूत में रहता है और इस प्रकार रहता है कि उससे अलग नहीं हो सकता। गुण भी रीति मे रहते हैं, उससे अलग नही। किन्तु सघटना की स्थिति भिन्न है। एक तो वह गुणो का आश्रय न होकर उन पर आश्रित है, दूसरे इनका आश्रयाश्रयिभाव एक सापेक्षतामात्र है। सघटना अपने नियन्त्रण और नियमन के लिए गुणो की अपेक्षा रखती है। गुण यदि माधुर्य हो तो सघटना को मृदु और समासरहित या अल्पसमासा होना होगा। इसके विरुद्ध यदि गुण ओज हो तो परुष तथा दीर्घसमासा। प्रसाद

---

१ असमासा समासेन मध्यमेन च भूषिता ।
तथा दीर्घसमासेति त्रिधा सघटनोदिता ॥ ध्व० ३।५ ॥

२ गुणनाश्रित्य तिष्ठन्ती माधुर्यादीन्, व्यनक्ति सा रसान् ॥ ध्व० पृ० ३।६ ॥

में दोनों स्थितियाँ रह सकती हैं मृदु और परुष। कहने का अभिप्राय यह कि संघटना में वे सब विशेषताएँ रहेंगी जिन्हें देखकर वामन ने अन्य सात गुणों की प्रकल्पना की थी। केवल उन्हें गुण नहीं कहा जा सकेगा।

इस प्रकार आनन्दवर्धन ने काव्यसंरचना के विषय में प्राचीन मान्यता को एकदम उलट दिया। उनने इस उलटाव का कारण भी बतलाया।

यदि संघटना को गुणों का आश्रय माना जाए तो

[क] एक तो गुणों को रसधर्म न मानकर केवल शब्दार्थधर्म मानना होगा, जो अवैज्ञानिक होगा[1]।

[ख] दूसरे संघटना रसनिरपेक्ष हो जाएगी, क्योंकि गुणों के माध्यम से ही वह रससापेक्ष होती है, और उन गुणों को रस से पृथक् कर लिया गया है। इसका परिणाम यह होगा कि जहाँ शृङ्गार, करुण या शान्त रस होगा वहाँ भी ओजोगुण स्वीकार करना पड़ जाएगा, क्योंकि इन रसों में भी कभी-कभी लम्बे समास रहते हैं और वामन के अनुसार लम्बे समास ओजोगुण के व्यञ्जक होते हैं। उदाहरणार्थ—'नायिका मन्दाररेणुपिञ्जरितालका है'। इसी प्रकार रौद्र रस में भी माधुर्य मानना पड़ जाएगा, क्योंकि कभी-कभी रौद्र के काव्यवाक्य में भी समास नहीं रहता और वामन ने समासाभाव में माधुर्य स्वीकार किया है। उदाहरणार्थ—क्रुद्ध अश्वत्थामा की इस उक्ति में 'मेरे पिता को जिस-जिस शस्त्रधारी ने मारा है उन प्रत्येक के मांस और रक्त की मैं दिशाओं को बलि दूँगा'।[2]

[ग] तीसरे यदि गुणों को संघटना पर आश्रित माना जाएगा तो उन्हें संघटनास्वरूप ही माना जाएगा, क्योंकि वस्त्र वस्तुतः सूतस्वरूप ही होता है। वर्णों की मृदुता और परुषता ही क्या वस्तुतः माधुर्य और ओज हैं? इनका एक आश्रय रस भी है।[3]

नियामक :

समास संघटना के लिए यदि कुछ बन सकता है तो केवल भेदक तत्त्व ही बन सकता है। समास के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि किस संघटना का उपयोग कहाँ किया जाना चाहिए। अर्थात्, समास संघटना का नियामक नहीं

१-३. ध्व० तृतीय उद्योत पृ० ३११–१४.

बन सकता। नियामक होते हैं वक्ता, वाच्य और विषय। जैसा वक्ता होगा, जैसा वाच्य होगा तथा जैसा विषय, संघटना भी वैसी ही होगी[1]।

वक्ता

वक्ता दो हो सकते है (१) कवि और (२) पात्र। ये दोनों दो दो प्रकार के हो सकते हैं सरस और नीरस। इनमें से नीरस कवि या उसके द्वारा उपनिबद्ध पात्र की भाषा में संघटना कोई भी हो सकती है। जहाँ तक सरस की संघटना का सम्बन्ध है वह रसभेद पर निर्भर है। रस दो प्रकार के होते हैं नायकाश्रित तथा प्रतिनायकाश्रित। नायक और नायक का साथी अर्थात् पीठमर्द नामक उपनायक स्वभाव से धीरोदात्त[2] आदि [धीरललित और धीरप्रशान्त] हो सकता है। तदनुसार उनकी भाषा और वाक्यसंरचना भी भिन्न भिन्न प्रकार की हो सकती है[3]।

वाच्य

काव्यभाषा का वाच्य अर्थ भी अनेक प्रकार का होगा। कहीं वह रस से युक्त होगा और कहीं रसाभास से युक्त, कहीं वह अभिनेय होगा और कहीं अनभिनेय, कहीं वह ऐसे पात्रों द्वारा प्रतिपादित होगा जिनकी प्रकृति उत्तम होगी [जैसे नाटक में नायक, पुरोहित जो संस्कृतमात्र बोलते हैं] और कहीं तद्भिन्न [अर्थात् मध्यम जैसे मन्त्री, सेनापति, अधम=जैसे परिचारक, विदूषक और अन्य प्राकृतभाषी पात्र]। अभी अभी कहा जा चुका है कि जब वक्ता, भले ही वह कवि हो या उसके द्वारा प्रस्तुत पात्र, रस या भाव से रहित होता है, तब संघटना या

---

१ तन्नियमे हेतुरौचित्यं वक्तृवाच्ययोः।
विषयाश्रयमप्यन्यदौचित्यं तां नियच्छति॥ (ध्वन्या० ३।६-७)

२ आनन्दवर्धन ने धीरललित और धीरप्रशान्त नामों का उल्लेख नहीं किया है।

३ अभिनवगुप्त ने स्पष्ट करते हुए लिखा है—

धीरोदात्त में धार्मिकता तथा वीरता की प्रधानता रहेगी
धीरोद्धत में वीरता और रौद्रता की
धीरप्रशान्त में दानवीरता, धर्मवीरता तथा शान्तता की तथा
धीरललित में वीरता और शृङ्गार की। तदनुसार इनमें से प्रथम में—सात्त्वती वृत्ति की प्रधानता रहेगी, द्वितीय में आरभटी की, तृतीय में कैशिकी की तथा चतुर्थ में भारती की। (ध्व० लोचन पृष्ठ ३१८)

संरचना कैसी भी हो सकती है, किन्तु जब कवि का पात्र या स्वयं कवि रस या भाव से युक्त होगा और रस भी प्रधान होगा तब संघटना निश्चित ही दो ही प्रकार की होगी असमासा या मध्यम-समासा। रस भी यदि करुण या विप्रलम्भ शृङ्गार होंगे तो समास नहीं ही रहेगा, संघटना वहाँ केवल असमासा ही होगी। दीर्घ-समासा संघटना प्रधान रस में विघ्न बन सकती है, विशेषतः नाटक में। करुण और विप्रलम्भ शृङ्गार में तो दीर्घसमासा संघटना अवश्य ही विघ्न बनती है, क्योंकि ये दोनों रस अपेक्षाकृत अधिक सुकुमार होते हैं। दीर्घसमासा संघटना से अर्थ की प्रतीति में विलम्ब होता है और इन दोनों रसों को यह विलम्ब तनिक भी सह्य नही होता। हाँ, यदि रस रौद्र हो और नायक धीरोद्धत तो समास अपनाया जा सकता है, किन्तु वह भी मध्यम समास ही, दीर्घसमास नही। दीर्घसमासा संघटना केवल वहाँ अपनाई जा सकती है जहाँ रसोचित वक्तव्य वस्तु दीर्घसमासा संघटना के बिना व्यक्त न होती हो और इस प्रकार जो रसविरोधी न बनती[1] हो। एक महत्त्व की बात और है। यह कि इन सब संघटनाओं में 'प्रसाद' नामक गुण अवश्य रहना चाहिए। प्रसाद का अर्थ है 'अविलम्ब अर्थसमर्पकता'। यदि समास न रहने पर भी अर्थ तत्काल विदित न हो सके तो समझना चाहिए कि वहाँ संघटनातत्त्व निरर्थक है। वह अर्थसमर्पकता के अभाव में कम से कम करुण और विप्रलम्भशृङ्गार की व्यञ्जना तो नहीं कर सकती। इसके विपरीत यदि मध्यम समास भी हो, किन्तु अर्थसमर्पकता सबल रहे तो करुण तथा विप्रलम्भ में निर्वाह हो जाता है। इस प्रकार सभी संघटनाओं में प्रसादगुण पर ध्यान केन्द्रित रहना आवश्यक है। रौद्र रस आदि में जहाँ समास नहीं रहता अथवा कठोर वर्णों का अभाव रहता है, वहाँ प्रसाद गुण से रस की अभिव्यक्ति हो जाती है, इसलिए वहाँ ओजोगुण के न रहने से भी कोई हानि नहीं होती[2]।

विषय :

विषय का अर्थ है क्षेत्र। क्षेत्र शब्द से प्रकृत में लिया जाएगा काव्यभेद। काव्यभेद अनेक होते हैं—मुक्तक, सन्दानितक,[3] विशेषक, कलापक, कुलक, पर्याय-बन्ध, परिकथा, खण्डकथा, सकलकथा, सर्गबन्ध, अभिनेय, आख्यायिका, कथा—

१. ध्व० पृ० ३२१
२. ध्व० पृ० ३२२
३. मुक्तक = आदि सभी काव्य भेदों का निरूपण इसी ग्रन्थ के काव्यभेद नामक प्रकरण में किया जा चुका है। द्र० पृ० १२३–२५

आदि। इनके आधार पर भी सघटना का चयन किया जाता है। इनमें से मुक्तक दोनो ही प्रकार के होते है सरस भी और नीरस भी। सरस के उदाहरण है अमरुकशतक आदि। इनमें सघटना वही होगी जो इसके अनुरूप हो सकेगी जिसका निरूपण अभी-अभी किया जा चुका है। नीरस मुक्तको में सघटना कैसी भी हो सकती है। सन्दानितक आदि मे पदो की रचना मे विकटना अपेक्षित रहती है, अत उनमें मध्यमसमासा और दीर्घसमासा दोनो ही रचनाएँ[1] हो सकती है। जहाँ वे सन्दानितक आदि प्रबन्ध मे आते है वहाँ ये स्वय में प्रधान नही रहते, अत इनमें सघटना की योजना प्रबन्धस्थिति के अनुरूप ही होनी चाहिए। पर्यायबन्ध में भी मध्यमसमासा तथा दीर्घसमासा रचना ही चाहिए, किन्तु वही अर्थ के अनुसार दीर्घसमासा सघटना में भी परुषा और ग्राम्या वृत्ति को छोडना भी पड सकता है। परिकथा में स्वेच्छया किसी भी सघटना को अपनाया जा सकता है, क्योकि उसमें केवल 'इतिवृत्त' मात्र रहता है, रसानुरूप वस्तुयोजना का उसमे कोई महत्त्व नही रहता। खण्डकथा और सकलकथा प्राकृत भाषा मे होती है और इनमें सघटना यदि लम्बे लम्बे समासो वाली भी रहे तो कोई अन्तर नही पडता। इनमें यदि वर्णगत मृदुता या कठोरता का निवेश करना हो तो वह रस की प्रकृति को देखकर उसके अनुरूप करना चाहिए। सर्गबन्ध में यदि रस प्रमुख हो [जैसे रघुवश में—लोचन] तो सघटना की योजना रस के ही अनुरूप करनी चाहिए, नही तो कैसी भी सघटना अपनाई जा सकती है। यह तो हुई पद्यप्रधान काव्य की चर्चा।

जहाँ तक आख्यायिका और कथा का सम्बन्ध है ये दोनो गद्यप्रधान काव्य है और पद्य से इनका अन्तर केवल छन्द को लेकर है, अत इनमें भी सघटना के नियामक तत्त्व वे ही माने जाने चाहिए जो पद्यकाव्य के लिए ऊपर अभी अभी माने गए है अर्थात् [सरस तथा नीरस] वक्ता और वाच्य ही, साथ ही वक्ता यदि सरस हो तो सघटना को रस के अनुरूप होना चाहिए, अन्यथा चाहे जैसी सघटना प्रयोग में लायी जा सकती है, किन्तु इन दोनो काव्यों में सघटना के नियामक के रूप में सर्वाधिक महत्त्व 'विषय' को दिया जाना चाहिए, क्योकि आख्यायिका और कथा आपस में भिन्न हो होती है केवल 'विषय' को

---

१ आनन्दवर्धन ने वृत्ति और कारिका दोनो में सघटना के लिए 'रचना'-शब्द का प्रयोग भी किया है। द्रष्टव्य ध्वन्यालोक पृ० ३२५ पर पङ्क्ति-४ तथा कारिका ३।९। मम्मट ने भी सघटना के लिए रचनाशब्द का ही प्रयोग किया है 'पदैकदेश-रचना-वर्णेष्वपि रसादय' काव्यप्रकाश उल्लास-४।

लेकर। विपयगत भेद पर ध्यान न दिया जाए तो दोनों में कोई अन्तर नही रहता। इतने पर भी आख्यायिका में संघटना अधिक मात्रा में मध्यमसमासा और दीर्घसमासा ही रहती है, क्योंकि उसमें गद्य कसावट [वन्ध] लिए रहता है और कसावट मे चमत्कार विना समास के नही आता। आख्यायिका का प्राण यह विकट कसावट या विकट वन्ध ही है। कथा में वन्ध विकट अवश्य रहता है और प्रचुर मात्रा मे ही रहता है, किन्तु उसमें संघटना का चयन रस पर ही निर्भर रहना चाहिए। [इतना लिखकर आचार्य ने अपना पक्ष वदला और लिखा]

संघटना का नियामक केवल रस ही :

वस्तुतः पद्य हो या गद्य दोनों मे संघटना एकमात्र 'रस' के अनुरूप चुनी आती है, विषय का अन्तर इस चयन मे थोड़ा सा अन्तर लाता है, क्योंकि गद्य में भी यदि करुण रस या विप्रलम्भ रस हो तो आख्यायिका मे भी दीर्घसमासा संघटना उतनी दीर्घ नही हो सकेगी जितनी वह उसमे सामान्यतः हुआ करती है। इसी प्रकार नाटक में समान्यतः समास का प्रयोग नही होना चाहिए, किन्तु यदि रौद्र या वीर रस का अवसर हो तो उसमें भी समास अपनाया जा सकता है। वस्तुतः संघटना के चयन मे विपयदृष्टि संघटना की मात्रा को घटाने-बढ़ाने तक सीमित है। तदनुसार आख्यायिका मे समास को विलकुल छोड़ देना अच्छा नहीं लगता, और नाटक मे समास का घटाटोपत्व।

आनन्दवर्धन के उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वे रस को ही संघटना का प्रमुख नियामक मानते हैं। वाच्य, वक्ता और विपय को वे रस के अभाव में ही नियामक स्वीकार करते हैं। यानी यह एक वैकल्पिक व्यवस्था है। एकमात्र ध्वनि को आदर्श काव्य मानने वाले और ध्वनि में भी रसध्वनि को काव्य की आत्मा मानने वाले आचार्य की यह भूमिका उचित ही है।

[४] रीतितत्त्व

संघटना-प्रकरण में रीतितत्त्व का जो स्वरूप प्रस्तुत किया गया है उससे स्पष्ट है कि जिन आचार्यों ने इस तत्त्व पर बल दिया है उनके मन में मुख्य प्रतिपाद्य वही तत्त्व था जिसे आनन्दवर्धन ने ध्वनि कहा है। कवि और सहृदय की अनुभूतियों के पक्ष गुण और रस की सीमा से बाहर नही है, और ये ही थे मुख्य प्रतिपाद्य, रीतिवादी आचार्यों में भी। आनन्दवर्धन का कहना है कि इन आचार्यों के चिन्तन का केन्द्र ठीक था, किन्तु धारा और दिशा भिन्न हो गई, फलत ये मुख्य प्रतिपाद्य ध्वनितत्त्व को स्पष्ट न कर सके। अर्थ यह कि इन आचार्यों में ध्वनितत्त्व भ्रूणमात्र था, वह भी उल्बावृत। कारण स्पष्ट है। इन आचार्यों ने प्रतिपादक माध्यम को मुख्य मानकर समीक्षा की और सिद्धान्त बनाए। इसीलिए इनका ध्यान 'रचना' पर अधिक रहा। इतना होने पर भी ऐसा नही है कि इनके मन में रचना-द्वारा प्रतिपाद्य रहस्यभूत निगूढ तत्त्व की प्रतिच्छाया नही थी। यह निगूढ और रहस्यभूत तत्त्व और हो ही क्या सकता है 'प्रतीयमान' अर्थ के अतिरिक्त। वही ध्वनि में परिणत होता है। इस प्रकार निश्चित ही रीति की दिशा ध्वनि की ही दिशा थी।

आनन्दवर्धन का कहना है कि 'जब ध्वनिरूपी मुख्य तत्त्व का प्रतिपादन हो गया तब अब रीति की अलग से कोई महत्ता शेष नही रही[1]।'

---

१ अस्फुटस्फुरित काव्यतत्त्वमेतद् यथोदितम्।
अशक्नुवद्भिर्व्याकर्तुं रीतय सम्प्रवर्तिता ॥ ३।४६ ॥
एतद् ध्वनिप्रवर्तनेन निर्णीत काव्यतत्त्वम् अस्फुटितस्फुरित सद् अशक्नुवद्भि प्रतिपादयितु वैदर्भी, गौणी, पाञ्चाली चेति रीतय प्रवर्तिता। रीतिलक्षण-विधायिना हि काव्यतत्त्वमेतदस्फुटतया मनाक् स्फुरितमासीदिति लक्ष्यते। तदत्र स्फुटतया सम्प्रदर्शिते नान्येन रीतिलक्षणेन किञ्चित् ॥ ध्व० पृ० ५१७ ॥

[५] वृत्तितत्त्व

वृत्तियों को आनन्दवर्धन ने दो रूपों में स्मरण किया है शब्दवृत्ति के रूप में तथा अर्थवृत्ति के रूप में[1]। इनमें से

शब्दवृत्ति :

उद्भट आदि ने उपनागरिका[2] आदि शब्दवृत्तियों की स्थापना की थी और उनमें समासस्थिति तथा वर्ण-प्रकृति को चमत्कारकारी बतलाया था। वस्तुतः ये विशेषताएँ भी जिस मुख्य प्रतिपाद्य का मुँह देखती है और जिस पर निर्भर रहती हैं वह ध्वनि या प्रतीयमान तत्त्व ही है। [वर्णों की कठोरता या कोमलता अपने आप में अन्य कुछ नही, केवल रेडीमेड कपड़ों की दुकान पर रखी पोशाकों के सेट हैं। ये सेट पहनने वाले की मांसलता और वर्ण पर निर्भर रहते हैं—अपनी प्रियता के लिए। क्या यह संभव है कि श्यामल काया में नील परिधान खिले। क्या उज्ज्वल शरीर पर सफेद नेपथ्य उतना जमता है जितना तदितर। सांवले श्रीकृष्ण पीला अम्बर धारण करते है और गौर बलराम नीला। क्यों? पुराण का लेखक सौन्दर्यदर्शी था। कालिदास से पूछिए। वे गौर उर्वशी को कैसी साड़ी पहनाते हैं। उर्वशी की साड़ी शुक के उदर सी श्याम[3] है। अर्थ क्या हुआ? यही कि अलङ्करण-सामग्री या साधन अलङ्कार्य या साध्य पर निर्भर रहती है—अपनी

---

१. शब्दतत्त्वाश्रयाः काश्चिदर्थतत्त्वयुजोऽपराः ।
वृत्तयोऽपि प्रकाशन्ते ज्ञातेऽस्मिन् काव्यलक्षणे ॥ ध्व० ३।४७ ॥
अस्मिन् व्यङ्ग्य-व्यञ्जक-भाव विवेचनमये काव्यलक्षणे ज्ञाते सति याः काश्चित् प्रसिद्धाः उपनागरिकाद्याः शब्दतत्त्वाश्रया वृत्तयः याश्चार्थतत्त्वसंबद्धाः कैशिक्यादयः ताः सम्यक् रीतिपदवीमवतरन्ति । अन्यथा तु तासाम् अदृष्टार्थानामिव वृत्तीनामश्रद्धेयत्वमेव स्यान्नानुभवसिद्धत्वम् ॥ ध्व० पृ० ५१७ ॥

२. पहले पहल उद्भट ने ही परुषा, उपनागरिका तथा ग्राम्या इन तीन शब्दवृत्तियों की कल्पना की है। विशद विवेचन देखिए यहीं पृष्ठ ३१७ पर।

३. 'शुकोदरश्याममिदं स्तनांशुकम्'—विक्रमोर्वशीय—४।

उपयोगिता के लिए।] वृत्ति में आने वाली वर्ण-गत सुकुमारता या कठोरता भी अलङ्करण-सामग्री और साधन ही है। उसे भी साध्य या अलंकार्य की अपेक्षा है अपनी उपयोगिता के लिए। यह अलंकार्य और साध्य ध्वनितत्त्व ही है। वृत्तियाँ जब इस अलङ्कार्य तत्त्व की व्यञ्जना करने में सफल सिद्ध होती हैं तभी उनका 'वृत्ति'-नाम सार्थक होता है। यह हुई शब्दवृत्तियों की बात।

अर्थवृत्ति

भरतमुनि ने नायक के क्रियाकलाप से व्यक्त होने वाली उसकी मनोदशा को भी वृत्ति कहा है और उसके तीन भेद माने हैं (१) कैशिकी (२) सात्त्वती (३) आरभटी। नायक के बोलचाल को चतुर्थ वृत्ति माना गया है और उसे 'भारती' कहा गया है। इनमें से कैशिकी शृङ्गारी मनोदशा है, सात्वती वीरता-पूर्ण मनोदशा और आरभटी उग्रतापूर्ण रौद्र मनोदशा। स्पष्ट ही इन तीनों का सम्बन्ध रसों से है। निश्चित ही ये वृत्तियाँ भी प्रतीयमान अर्थ पर निर्भर हैं। फलतः

शब्द और अर्थ दोनों पर निर्भर वृत्तियों की भी वही स्थिति सिद्ध होती है जो अभी अभी प्रतिपादित रीति की सिद्ध हुई है[1]। ये भी रीति की ही भाँति रस-सापेक्ष हैं।

इस प्रकार हमने काव्यशरीर में ग्राह्यरूप से स्वीकृत १ गुण
२ अलङ्कार
३ संघटना
४ रीति तथा
५ वृत्ति

इन पाँच धर्मों पर परम्पराप्राप्त विचारों की पृष्ठभूमि पर आनन्दवर्धन के सिद्धान्तों का अनुशीलन किया। अब हम दोष नामक उन तत्त्वों का अनुशीलन करेंगे, भारतीय काव्यशास्त्र जिन्हें परिहार्य तत्त्व के रूप में प्रस्तुत किया करते हैं।

---

१ ध्व० पृ० ५१७

[६] दोष

अभीष्ट अर्थ के समग्र प्रकाशन के लिए काव्यभाषा में जिस पूर्णता की अपेक्षा रहती है उसकी कमी ही है दोष। पूर्णता का अर्थ हुआ 'अविकलाङ्गता' और उसकी कमी का अर्थ हुआ 'विकलाङ्गता'। इसका अर्थ यह हुआ कि कमी एक अभावरूप वस्तु है और पूर्णता 'अभावाभाव'—रूप। इस अभावाभाव को हम इस प्रकार समझें कि यदि हमारे हाथ में लेखनी है तो इसका अर्थ यह है कि 'वह नहीं है ऐसा नहीं', या हमारी दोनों आँखें हैं तो इसका अर्थ यह हुआ कि 'हम काने या अन्धे हैं ऐसा नहीं'। दोनों आँखों का होना शरीर की पूर्णता है, नैसर्गिकता है, उसे वैसा होना ही चाहिए। यदि हम इसे कहें तो केवल यही कह सकते हैं कि दोनों आँखों का होना अवगुण का अभाव है; यह नहीं कह सकते कि यह 'गुण' है। यह गुण है किसी काने या अन्धे व्यक्ति की तुलना में। अर्थात् काना अवगुणी है, विकलाङ्ग है, और चक्षुष्मान् व्यक्ति वैसा नहीं है। इस प्रकार 'पूर्णता दोष-विपर्यय या दोषाभाव' है, न कि गुण। इसका अर्थ यह हुआ कि सुमरनी में यदि सुमेरुसहित १०९ गुरिए हैं तो इससे यह सिद्ध हुआ कि वह पूरी है, उसके गुरियों में कमी नहीं है। कमी तब होती जब गुरिए १०४ होते या १०६ यानी १०८ से कम। परिणामतः सिद्ध हुआ कि पूर्णता दोषाभाव है, गुण नहीं।

व्यक्ति के शरीर में पूर्णता के आगे भी कुछ अपेक्षित रहता है। आँखें यदि हों, और दोनों ही हों; किन्तु बहुत छोटी हों; या बड़ी भी हों, किन्तु बिल्ली की आँख जैसी भूरी, तो उनमें भी कमी मानी जाती है। इसी प्रकार सभी अङ्ग हों, किन्तु उनमें या तो अपेक्षित मांस न हो, या इतना अधिक मांस हो कि शरीर की गतिमत्ता नष्ट हो रही हो तो यह भी एक कमी ही है।

इन सब अपेक्षाओं के परिवेष में 'पूर्णता' शरीर की सभी धातुओं की स्व-स्थता तक पहुँची दिखाई देती है। पूर्णता केवल अङ्ग-सत्ता का नाम नहीं है, वह अङ्गस्वस्थता की भी अपेक्षा रखती है, यानी 'स्वस्थ अङ्गों की अविकल समष्टि का नाम है पूर्ण शरीर और शरीर की पूर्णता है शरीर की स्वास्थ्ययुक्त अवि-

कलाङ्गता। स्मरणीय है 'स्वास्थ्ययुक्त अविकलाङ्गता' भी कोई गुण नही, अपेक्ष्य के अभाव का अभाव ही है, यानी इसके न होने से सभावित कमी से शरीर की रक्षा है। दर्शन की भाषा में इसे 'परिहृतपरिहार' कहेंगे, अर्थात् उस वस्तु का निराकरण जो थी ही नही। भरतमुनि ने इसी को 'गुण' भी कह दिया। ठीक ही कहा, क्योंकि व्यवहार में भी कहा जाता है 'अपदोषतैव विगुणस्य गुण '='गुण-रहित का अवगुणी न होना भी एक गुण है' अर्थात् गुणावगुणशून्य व्यक्ति एक शुद्ध और धवल वस्त्र है। उसकी शुद्धि भी, सफेदी भी गुण ही है, निर्मलता भी गुण ही है और सचमुच यह स्वभाव होते हुए भी मलिनता के परिप्रेक्ष्य में गुण ही है, और कदाचित् वस्त्र का यही प्रधान गुण है। भरतमुनि ने इसीलिए कहा—'गुण दोषविपर्यय है'। यहाँ विपर्यय का अर्थ आगत दोष का अभाव या अपाकरण नही, अपितु अनागत का परिहार है।

पितृत्व जैसे पुत्रत्वसापेक्ष है और पुत्रत्व पितृत्वसापेक्ष, उसी प्रकार पूर्णता न्यूनता-सापेक्ष है और न्यूनता पूर्णता-सापेक्ष, जहाँ तक इनके निर्वचन का सम्बन्ध है। भरतमुनि ने गुणो का निरूपण किया दोषों की चर्चा कर। जब दोषो के निरूपण का अवसर आया तो वामन ने उन्ही के पथ पर चलते हुए गुणो का स्मरण किया और लिखा—'दोष गुणविपर्यय है'। यहाँ भी विपर्यय का अर्थ वही है जो ऊपर भरतमुनि के मत में किया गया है।

प्रश्न उठता है इन दोनों आचार्यों में किसका मत वैज्ञानिक माना जाए। आँख का फूटना भी दोष है, अत उसे गुणविपर्यय क्यो न माना जाए।

हम यह सोचें कि हम जिन जिन भूमिकाओ में तुलना कर रहे हैं क्या वे सर्वथा एक सी है अथवा उनकी परिस्थितियाँ भिन्न हैं। इससे हमें उक्त प्रश्न का उत्तर मिल जाएगा।

हम तुलना कर रहे हैं काव्य और शरीर की। काव्य का अर्थ भाषाविशेष भी है। भाषा एक कृत्रिम और कल्पित वस्तु है, शरीर वास्तविक। दूसरे शब्दो में भाषा ध्वनियो का बौद्धिक समझौता है, जो अपने आप में जड है, उसमें अधिक महत्त्व वक्ता का है, 'वाक्' का नही। वाक् वस्तु है, वक्ता व्यक्ति। अर्थ यह कि भाषा ऐसी सृष्टि है जो वक्तृचैतन्य पर अधिक निर्भर है, भौतिक ध्वनियो पर कम। शरीर ऐसी कल्पित वस्तु नही है। वह वाक् के ही समान वास्तविक है, भाषा के समान कल्पित नही। फलत हमें भाषा की कल्पना कर ध्यान देना होगा। सोचना होगा कि क्या भाषा अपनी पूर्णता तक पहुँचकर ही उत्पन्न हुई होगी। उपलब्ध वाङ्मय इसका साक्षी है कि वस्तुत भाषा अपनी पूर्णता तक

बहुत ही बड़ी संक्रान्तियों के पश्चात् पहुँची है। अष्टविध[1] सम्बन्ध-तत्त्वों तक आने मे उसे सहस्राब्दियाँ लगी है, द्वादशविध[2] सम्बन्धों तक आने मे तो उसकी शालग्रामशिला को और भी घिसना पड़ा है। निश्चय ही भाषा का जो चित्र हमने बनाना शुरु किया उसमें आरम्भ मे उतनी सब रेखाएँ नही थी जितनी उसकी पूर्णता मे अपेक्षित थी। उनकी पूर्त्ति क्रमिक विकास की देन है। शरीर की स्थिति ऐसी नहीं है। वह जिस क्षण माता के गर्भ से निकलता है, सारे अवयव अपने स्वास्थ्य के साथ लेकर निकलता है। बाद में उसका उपचय-मात्र होता है। निश्चित ही काव्य के क्षेत्र मे दोष पहले उपस्थित हैं, क्योंकि काव्य भाषा के क्षेत्र की वस्तु है। अतः गुणों को ही दोषों का विपर्यय कहना वैज्ञानिक है, दोषों को गुणों का विपर्यय कहना एक विपरीत प्रक्रिया है यद्यपि उससे भी वस्तुज्ञान मे सहायता मिलती है, मिला करती है।

पुरावृत्त :

दोषों की काफी अच्छी सूची आनन्दवर्धन के पूर्व बन चुकी थी। भरत ने गुणों की संख्या १० मानी थी और गुणों को दोषों का विपर्यय माना था इसलिए वे दोषों की संख्या भी १० ही मानने को बाध्य थे। उन्होंने वैसा ही किया और निम्नलिखित दोषों का निरूपण किया—

१. अगूढार्थ
२. अर्थान्तर
३. अर्थहीन
४. भिन्नार्थ

१-२. साहित्यमीमांसाकार निम्नलिखित आठ प्रकार के तत्त्वों को साहित्य कहते है—
[१] वृत्ति, [२] विवक्षा, [३] तात्पर्य, [४] प्रविभाग,
[५] व्यपेक्षा, [६] सामर्थ्य, [७] अन्वय, [८] एकार्थीभाव।
निम्नलिखित चार तत्त्वों को वे साहित्य में काव्यत्व लाने वाला वर्ग मानते है—
[१] दोषपरिहार [२-३] अलंकार तथा गुणों का योग एवं [४] रसावियोग।
भोजराज—उक्त आठ तत्त्वों को वाक् में भाषात्व लाने वाला मानते है जबकि शेष चार तत्त्वों को भाषा में काव्यत्व लाने वाला।
(द्रष्टव्य हमारा ग्रन्थ 'साहित्यदर्शने तात्पर्यस्वरूपम्')

५ एकार्थ
६ अभिप्लुतार्थ
७ न्यायापेन
८ विषम
९ विसन्धि
१० शब्दच्युत ।[1]

दण्डी[2] और भामह[3] भी भरत के समक्ष सिर झुकाते और दोषो को १०, १० की सख्या में ही प्रस्तुत करते हैं, यद्यपि उनके दिए नाम भिन्न है और बहुत दूर तक स्वरूप भी। भामह ने तो दोषो का निरूपण दो बार किया, किन्तु उन्हें १०, १० की ही सख्या में रखा[4]। तीसरी बार उनने सात दोषो का उल्लेख किया, किन्तु पूर्वपक्ष के रूप में अपने पूर्ववर्ती 'मेधावी'-नामक आचार्य के नाम[5] से।

वामन ने भी १० की सख्या से स्वय को जोडे रखा। उनने पद और पदार्थ के तथा वाक्य और वाक्यार्थ के दो वर्ग बनाए और दोनो वर्गों में दोषो की सख्या १०, १० ही बतलायी। उक्त चारो आचार्यों के अनुसार दोषो की तालिका इस प्रकार है—

---

१ भरत—अगूढ-मर्था तर मर्थहीन भिन्नार्थ-मेकार्थ-मभिप्लुतार्थम्।
न्यायादपेन विषम विसन्धि शब्दच्युत वै दश काव्यदोषा ॥
(नाट्यशास्त्र १७।८८)

२ दण्डी—अपार्थ व्यर्थमेकार्थं ससशयमपक्रमम्।
शब्दहीन यतिभ्रष्ट भिन्नवृत्त विसन्धिकम् ॥
देश-काल-कला-लोक न्यायागम विरोधि च।
इति दोषा दशैवैते वर्ज्या काव्येषु सूरिभि ॥
प्रतिज्ञा-हेतु-दृष्टान्त-हानिर्दोषो न वेत्यसौ।
विचार कर्कश प्रायस्तेनालीढेन किं फलम् ॥ का० ३।१२५–२७।

३ भामह—अपार्थ व्यर्थमेकार्थं ससशयमपक्रमम्।
शब्दहीन यतिभ्रष्ट भिन्नवृत्त विसन्धि च ॥
देश-काल-कला लोक-न्यायागम-विरोधि च।
प्रतिज्ञा हेतु-दृष्टान्त हीन दुष्ट च नेष्यते ॥ काव्याल० ४।१–२।

४ काव्यालङ्कार ४।१-२ पादटि० ३

५ काव्याल० २।३८

भरत	दण्डी	भामह		वामन: पददोष	वामन: पदार्थदोष	वामन: वाक्यदोष	वामन: वाक्यार्थदोष
१. अगूढत्व	अपार्थत्व	नेयार्थत्व	हीनत्व	असाधुत्व[3]	अन्यार्थत्व[4]	वृत्तभेद[5]	व्यर्थत्व[6]
२. अर्थान्तरत्व	व्यर्थत्व	क्लिष्टत्व[1]	असम्भव[2]	कष्टत्व	नेयार्थत्व	यतिभ्रंश	एकार्थत्व
३. अर्थहीनत्व	एकार्थत्व	अन्यार्थत्व	लिङ्गभेद	ग्राम्यत्व	गूढार्थत्व	विसन्धित्व	सन्दिग्धत्व
४. भिन्नार्थत्व	ससंशयत्व	अवाचकत्व	वचनभेद	अप्रतीतत्व	अश्लीलत्व		अयुक्तत्व
५. एकार्थत्व	अपक्रमत्व	अयुक्तिमत्व	विपर्यय	अनर्थकत्व	क्लिष्टत्व		अपक्रमत्व
६. अभिप्लुतार्थत्व	शब्दहीनत्व	गूढशब्दाभिधा	उपमानाधिक्य				लोकविरोध
७. न्यायापेतत्व	यतिभ्रष्टत्व	श्रुतिदुष्टत्व	उपमानासादृश्य				विद्याविरोध
८. विषमत्व	भिन्नवृत्तत्व	अर्थदुष्टत्व					
९. विसन्धित्व	विसन्धित्व	कल्पनादुष्टत्व					
१०. शब्दच्युतत्व	विरोधित्व	श्रुतिकष्टत्व					

१. काव्यालं० १।३७, ४७
२. काव्यालं० २।३८
३. का० सू० २।१।४
४. का० सू० २।१।११
५. का० सू० २।२।१
६. का० सू० २।२।६

वामन ने दण्डी और भामह के देशकालकलालोकन्यायागमविरोध को दो भागों में विभक्त किया—देशकालविरुद्ध को लोकविरुद्ध भाग में तथा शेष को विद्याविरुद्ध भाग में। [वामन का० सू० २।२।२३, २४]

वामन ने और भी दोष माने हैं किन्तु उन्होंने प्रमुखता इन्हीं दश दोषों को दी है।

दण्डी और भामह ने इन दोषों को अपने दोष प्रकरण के अन्त में अनित्य माना है। माना है कि स्थिति विशेष में ये दोष दोष नहीं रहते।

आनन्दवर्धन ने दोष के इस महान् प्रपञ्च को उपस्थित न कर इसके उसी अंश का स्पर्श किया जिससे उनका अपना प्रयोजन पूरा होता था। उन्हें ध्वनिमार्ग की स्थापना करनी थी। उनने गुणों के ही समान दोषों के विषय में भी कहा कि जैसे गुणों की व्यवस्था रस पर निर्भर है वैसे ही दोषों की दोषता और अदोषता की व्यवस्था भी रस पर ही निर्भर है। उनका कहना है कि श्रुतिदुष्टत्व[1] दोष शृङ्गार में दोष होता है [वही बीभत्स में गुण बन जाया करता है]। श्रुतिदुष्टत्व का अर्थ है ऐसे पदों का उपयोग जिनके सुनने से असभ्य[2] अर्थ का स्मरण हो। ऐसे शब्दों की एक तालिका भामह ने दी है। उसमें निम्नलिखित शब्दों को भी गिनाया है—विट्, वर्चस्, उपस्थित[3]। विट् का एक अर्थ है वैश्य और दूसरा है विष्ठा। वर्चस् का एक अर्थ है तेज और दूसरे अर्थ हैं विष्ठा और वीर्य। उपस्थित का एक अर्थ है पहुँचा हुआ और दूसरा अर्थ है ऐसा व्यक्ति जिसका शिश्न खड़ा हो या ऐसी स्त्री जिसकी योनि कामोन्माद में पिलपिला रही[4] हो।

ये सभी शब्द जिस वाक्य में प्रयुक्त होंगे उसमें यदि बीभत्स रस की अभिव्यक्ति हो रही होगी तो इनमें इनके जुगुप्साजनक अर्थ उपयोगी और उपादेय ही सिद्ध होंगे। इसके विरुद्ध अन्य किसी रस की अभिव्यक्ति हो रही होगी तो ये उद्वेजक और विरोधी ठहरेंगे। इस प्रकार उक्त शब्द शृङ्गार आदि में जहाँ दोष होंगे वहाँ बीभत्स आदि में गुण। इस प्रकार दोषों की अनित्यता भी रसों पर ही निर्भर है। अन्य कोई भी ऐसा कारण नहीं है जो इनमें दोषत्व और गुणत्व को व्यवस्थित कर सके।

१ ध्व० २।११ तथा पृ० ३०२ ३११ वृत्ति के अन्त के परिकर पद्य।
२ आनन्दवर्धन ने इसे अनिष्टश्रुतिरूप माना है। ध्व० पृ० ३०२
३ काव्यालङ्कार १।४८–४९
४ संस्कृत में उपस्थ शब्द का अर्थ शिश्न और योनि दोनों होता है।

आनन्दवर्धन ने केवल एक ही दोप का नाम लिया है। वह है 'श्रुति-दुष्टत्व'[1]—दोप। उनने इसके अतिरिक्त ग्राम्यत्व[2] और 'असभ्यत्व'[3] का भी स्मरण किया है, किन्तु इनका अन्तर्भाव उक्त 'श्रुतिदुष्टत्व' में ही हो जाता है। आनन्दवर्धन ने अनौचित्य[4] को रसभङ्ग का सबसे बड़ा कारण बतलाया है। यदि चाहें तो उसे भी हम दोपों में गिन सकते हैं, किन्तु वह विशिष्ट दोप या दोपभेद न होकर सामान्य दोप या दोपमात्र होगा। आनन्दवर्धन के प्रमुख आलोचक महिम-भट्ट ने अनौचित्यशब्द को दोप शब्द का पर्याय माना भी है।[5]

आनन्दवर्धन दोपों के विपय में मितभापी अवश्य हैं, किन्तु वे यह मानते हैं कि—

> दोप रहते काव्य के शरीर में है, किन्तु उनसे हानि या लाभ जिसका होता है वह शरीर नहीं है, वह रस है।[6]

परवर्ती आचार्यों में महिमभट्ट[7] और मम्मट ने दोपों पर अतीव मार्मिक विचार किया है। मम्मट ने ७५ दोप[8] गिनाए हैं। दोपों के संकलन तथा उनकी व्यवस्था में मम्मट का परिश्रम अलंकारों पर किए परिश्रम की अपेक्षा अधिक उत्तम है।

उपसंहार :

इस प्रकार हमने काव्यधर्मों पर आनन्दवर्धन तक आई साहित्यशास्त्रीय परम्परा का अध्ययन किया। अब हम काव्य से सम्बन्धित अन्य प्रश्नों पर आनन्द-वर्धन की उस कामधेनु को दुहेंगे जो अपना अमृत परम्परा की गोचर भूमि में चर चर कर बरसा रही है।

●

ध्व० २।११
प० ३१७, ३२२
० ३३०
विवेक द्वितीय विमर्श का आरम्भ
२।११
वेक का द्वितीय विमर्श
ा का सप्तम उल्लास.

पञ्चम अध्याय

- उत्स
  - < काव्यकारण
  - < कविभूमिका
- उद्देश्य
- शिक्षा
  - < कविशिक्षा
  - < सहृदयशिक्षा

उत्स

[१] काव्यकारण

काव्य कवि से निष्पन्न होता है। प्रश्न उठता है कवि से ही काव्यनिष्पत्ति क्यो होती है, तद्भिन्न से क्यों नही ? उत्तर में कवि के व्यक्तित्व को तद्भिन्न के व्यक्तित्व से भिन्न मानना पडता है और कहना पडता है कि जिन विशेषताओं से काव्य को जन्म मिलता है वे कवि में ही रहती है, तद्भिन्न में नहीं, अत काव्य की निष्पत्ति कवि से ही मानी जाती है, अन्य किसी से नही। ऐसा कहकर हम कवि की विशेषताओ तक पहुँच जाते है। अब हमें इन विशेषताओं को पहचानना पडता है। आनन्दवर्धन ने भी इन्हें पहचाना है।

प्रतिभा

आनन्दवर्धन के अनुसार कवि की काव्य को जन्म देने वाली विशेषता एक ही है प्रतिभा। उनका कहना है—जिनकी 'प्रतिभा' विमल होती है उन्हें काव्योचित पदार्थों का दर्शन स्वत होता रहता[1] है। प्रतिभा के अभाव में कविकर्म और काव्यशिल्प के लिए अपेक्षित वस्तुगत विविधता और उनसे उत्पन्न नवीनता दिखाई नही देती, इस कारण काव्य में विस्तार नही आ पाता[2]। ऐसा कवि महाकाव्य का निर्माण नही कर पाता। वह अधिक से अधिक मुक्तक का कवि हो पाता है। प्रतिभावान् कवि जब अपनी भूमिका पर आरूढ हो जाता है, उसे काव्योचित वस्तु का दर्शन स्वय भगवती सरस्वती ही कराने लगती है और उस समय वही कवि महाकवि[3] हो जाता है, जिसे हम सारस्वत कवि भी कह सकते हैं। प्रतिभा को

---

१ सारस्वत्येवैषा घटयति यथेष्ट भगवती। ध्व० ४॥

२ न काव्यार्थविरामोऽस्ति यदि स्यात् प्रतिभागुण। ध्व० ४॥

३ एतदेव हि महाकवित्व महाकवीनाम्—ध्व० पृ० ५५१। राजशेखर ने सबसे बडे कवि को सारस्वत कवि कहा है। कदाचित् उन्हें यह प्रेरणा आनन्दवर्धन से ही मिली है। यद्यपि सारस्वत कवि को वे और दूर तक आगे बढाते दिखाई देते हैं।

'प्रतिभान'[१] भी कहा जाता है और 'प्राक्तन पुण्य'[२] तथा 'शक्ति'[३]–भी।

व्युत्पत्ति :

कवि का दूसरा धन व्युत्पत्ति[४] है। कवि को व्युत्पन्न अथवा 'विद्'–वान् होना चाहिए। ऐसा होने पर वह अधिक आदरणीय होता है।

अभ्यास :

कवि का तीसरा धन अभ्यास है। वह जब परिपाक को प्राप्त हो जाता है तो कवि को काव्यनिर्माण मे तनिक भी परिश्रम नही होता। वह मानों अनायास कविता बनाता चला जाता है। ऐसा लगता है कि कविता ही उसकी सहज भाषा है, अथवा वह कवि कविता-निर्झर का उत्तम उत्स है।[५]

कभी कभी व्युत्पत्ति या बोध की मात्रा अधिक हो जाती है और प्रतिभा या कवित्वशक्ति की कम। ऐसी स्थिति में काव्य का निर्माण सहृदय को 'लया'-वस्था तक पहुँचाने और आत्मविस्मृत कर देने मे क्षम नही हो पाता। यह तब विदित होता है, जब इस कवि की कविता में कोई दोष आ जाता है। उस समय पाठक सहृदय की उक्त स्थिति का परिचय मिल जाता है, क्योंकि वह उस दोष को तुरन्त पकड़ लेता है। यह इसीलिए कि उसकी बुद्धि की सक्रियता काव्यबोध के अन्तिम क्षण और चरम परिपाक तक बनी रहती है। इस प्रकार का काव्य अधिक आदरणीय नहीं होता।[६]

आदरणीय वह काव्य होता है जिसमें व्युत्पत्ति और प्रतिभा का सन्तुलन रहता है, अथवा आधिक्य रहता है तो प्रतिभा का ही। तब यदि कोई दोष आता

---

१. अलंकारान्तराणि हि रससमाहितचेतसः प्रतिभावतः कवेरहम्पूर्विकया परिपतन्ति। ध्व० ३२२। 'प्रतिभान' शब्द का प्रयोग दण्डी ने किया है—
न विद्यते यद्यपि पूर्ववासना गुणानुबन्धि प्रतिभानमद्भुतम्।
श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम् ॥काव्या० १।१०४॥

२. ध्व० पृ० ५५१ येषां कवीनां प्राक्तनपुण्याभ्यासपरिपाकवशेन प्रवृत्तिः

३-४ अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कवेः।
यस्त्वशक्तिकृतस्तस्य स झटित्यवभासते ॥ ध्व० पृ० ३१६-७ ॥

५. येषां प्राक्तन-पुण्या-भ्यासवशेन प्रवृत्तिस्तेषां परोपरचितार्थपरिग्रहनिस्पृहाणां स्वव्यापारो न क्वचिदुपयुज्यते। ध्व० पृ० ५५१ ॥

६. पूर्वोद्धृत 'अव्युत्पत्तिकृतो दोषः०' इत्यादि कारिका। ध्व० पृ० ३१६. ॥

हैं तो उसपर दृष्टि नही जाती, क्योंकि दृष्टि अवशिष्ट रहती ही नही। दृष्टि आखिर है क्या ? बुद्धिकला ही है। जब बुद्धि विलीन हो जाती है, तब किसी 'ज्ञान' को स्थान मिलना संभव ही कैसे। परिणामत यह भी कैसे संभव होगा कि उस भूमिका में विलीन काव्यास्वादयिता को दोष का ज्ञान हो।[1]

उक्त प्रतिभाप्रधान काव्य की एक पहचान प्रतीयमान अर्थ है। ऐसे काव्य में जिस प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति होती है उसको कविप्रतिभा का आलोक आवेष्टित किए रहता है। यह प्रतिभा असाधारण प्रतिभा होती है और इसलिए वह 'अलोकसामान्य' हुआ करती है।[2]

[२] कविभूमिका काव्यनिर्माणक्षण

काव्यनिर्माणक्षण में कवि यदि सरस काव्य का निर्माण करना होता है तो रससमाहित[3] रहता है। उसका चित्त इस काव्य के निर्माण के समय रस में एकतानता के साथ लीन रहता है। ऐसी स्थिति में अलंकार आदि अन्य काव्यधर्म उस काव्य में अपने आप आते रहते हैं। उनके विनियोग में उसे कोई अतिरिक्त परिश्रम नही करना पड़ता, अथवा जो परिश्रम करना पड़ता है वह रसनिष्पत्तिहेतु किए गए परिश्रम से भिन्न नही हुआ करता।

रस की भावना एक वासना हुआ करती है, और ऐसी वासना जिसमें कवि की समस्त अन्तःकरण-वृत्तियाँ भावित रहती हैं, मानों उस पर सोमरस का प्रभाव हो और उसकी बुद्धि अपनी क्षिप्त,[4] विक्षिप्त और मूढ स्थितियाँ पार कर

---

१ यहीं पृ० ३२४ पर पादटि० ३-६

२ सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निष्यन्दमाना महता कवीनाम्।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम्॥ १।६॥

यहाँ लोचनकार ने प्रतिभा का अर्थ किया है 'अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा प्रतिभा।' और विशेष शब्द का अर्थ किया है—'रसावेशवैशद्यसौन्दर्यकाव्यनिर्माणक्षमत्वम्'।

'अलोकसामान्य' शब्द ध्वनिकार ने कालिदास से लिया है—

अलोकसामान्यमचिन्त्यहेतुकं द्विषन्ति मन्दाश्चरितं महात्मनाम्॥
(कुमारसंभव ५।७५)

३ ध्व० पृ० २२१-२२

४ योगसूत्र १।१।१ वृत्ति

एकाग्रता की भूमिका मे लीन हो गई हो। [यहाँ समाहित होने का अर्थ एकाग्र होना ही है]।

कवि जब नीरस काव्य की सृष्टि करता है तब वह अपना चित्त अलंकारों गुणों, रीति और वृत्तियों की छटाओं पर केन्द्रित रखता है। उस समय[1] वह वैविध्य और अनेकल्पता में भटकता रहता है। उसकी बुद्धि जागरूक रहती है और एक इन्द्रजाल सा रचती रहती है। इस समय कविप्रतिभा उस चित्रकार[2] की प्रतिभा सी हुआ करती है जो वर्णयोजना में ही अपने शिल्प की परिसमाप्ति समझ लेता और चित्रणीय व्यक्ति के भाव, हाव तथा अन्य मनोभावों से विमुख रहा आता है।

जब कभी कवि सरस काव्य की निष्पत्ति का उद्देश्य लेकर प्रवृत्त होता है और उसमें भी अलंकार की बौद्धिक योजना को बल देने लगता है, उसकी बुद्धि भूमिकाच्युत हो जाती है और कभी तो वह रसभूमिका से अलंकारभूमिका की ओर भागता दिखाई देता है तथा कभी अलंकारभूमिका से रसभूमिका की ओर। यह निश्चित है कि इस द्विविधा की स्थिति में कवि की प्रतिभा रसवासना-मात्र में आरूढ नही हो पाती।

---

१. रसवन्ति हि वस्तूनि सालङ्काराणि कानिचित्।
एकेनैव प्रयत्नेन निर्वर्त्यन्ते महाकवेः॥
यमकादिनिबन्धे तु पृथग् यत्नोऽस्य जायते।
यो रसं बन्धुमध्यवसितस्य कवेरलङ्कारस्तां वासनामत्यूह्य यत्नान्तर-मास्थितस्य निष्पद्यते स न रसाङ्गम्। ध्व० पृ० २२१-२२।

२. रसभावादितात्पर्यविवक्षाविरहे सति।
अलङ्कारनिबन्धो यः स चित्रविषयो मतः॥ ध्व० पृ० ४९७॥

उद्देश्य

आनन्दवर्धन से पहले भरत, दण्डी, भामह और वामन ने काव्य तथा काव्यशास्त्र दोनों के प्रयोजन पर विचार किया था। आनन्दवर्धन ने भी इन दोनो पर विचार व्यक्त किये हैं।

प्रयोजन

[१] काव्यप्रयोजन

काव्यप्रयोजन के रूप में प्राचीन आचार्यों ने तीन तथ्यों का चयन किया था—बोध, कीर्ति तथा प्रयोजन[१]।

[१] बोध

आनन्दवर्धन ने इनमें से केवल प्रथम का स्पष्ट उल्लेख किया है। वे लिखते हैं 'शास्त्र' में जिसे मोक्ष कहा जाता है, काव्य में उसी की संज्ञा शान्त रस[२] है।

---

१ भरत — धर्म्यमर्थ्यं यशस्यं च सोपदेशं ससंग्रहम्।
भविष्यतश्च लोकस्य सर्वकर्मानुदर्शकम्॥
सर्वशास्त्रार्थसम्पन्नं सर्वशिल्पप्रदर्शकम्।
नाट्यसंज्ञमिमं वेदं सेतिहासं करोम्यहम्॥
(नाट्यशास्त्र प्रथम अध्याय)

दण्डी — सरस्वती श्रमादुपास्या खलु कीर्तिमीप्सुभिः। (काव्यादर्श १।१०५)

भामह — धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिषेवणम्॥
(काव्यालङ्कार १।२)

वामन — काव्यं सद् दृष्टादृष्टार्थम्, कीर्तिप्रीतिहेतुत्वात्॥
(का० सू० वृ० १।१।५)

२ ध्व० पृ० ५३३, मोक्षलक्षण एवैक: परः पुरुषार्थः शास्त्रनये, काव्यनये च तृष्णाक्षय-सुखपरिपोषलक्षणः शान्तो रसः॥
(चतुर्थ उद्योत कारिका ५ की वृत्ति)

इस प्रकार जो कार्य शास्त्र करते है वही काव्य भी। अन्तर यह है कि काव्य में आकर्षण अधिक रहता है, क्योंकि इसमें वैराग्य के लिए रागप्रधान शृङ्गार रस का भी समावेश रहता[1] है। शृङ्गार रस के समावेश से समाज अधिक आकृष्ट होता और उसके माध्यम से विनय [शिक्षा] का उपदेश उनके गले सरलतया उतर जाता[2] है। उस प्रकार काव्य का मुख्य प्रयोजन समाज को सदुपदेश[3] है।

उदाहरणार्थ—

यदि यह कहना हो कि 'जीवन क्षणिक है, क्षणभङ्गुर है, अतः इसमें मोक्ष-साधन के लिए तनिक भी प्रमाद नहीं किया जाना चाहिए' तो इसे इन शब्दों में कहने की अपेक्षा यदि—

सत्यं मनोरमा रामा. सत्यं रम्या विभूतयः।
किन्तु मत्ताङ्गनापाङ्गभङ्गलोलं हि जीवितम्॥

सचमुच रामाएँ बड़ी ही मनोरम होती है। सचमुच विभूतियाँ भी बड़ी रम्य होती है। किन्तु दुःख इतना ही है कि जीवन जो है वह मत्त अङ्गना के अपाङ्ग की भङ्गिमा-सा चञ्चल है।[4]

इन शब्दों में कहा जाए तो यह सुखग्राह्य हो जाता है। इस प्रकार ः वक्तव्य से एक तो यह तथ्य भी प्रकाशित किया गया कि 'भोग के लिए जीवन यदि अमर होता तो अच्छा होता, किन्तु विधाता बड़ा ही कुटिल है'। इससे समाजिक की भोगलालसा को जगाया गया और वह इस ओर आकृष्ट हो गया। पुनः यह तथ्य भी उपस्थित कर दिया कि 'भोग अमरता का साधन नहीं है, अतः उसे भोगा या न भोगा, सब बराबर है'। इससे वैराग्य भी उद्बुद्ध कर दिया गया। इस प्रकार वैराग्य का जो जागरण साधारण वाक्य से अभीष्ट था वही इस काव्यात्मक वाक्य से भी अभीष्ट है। इस कारण बोध, व्युत्पत्ति या सदुपदेश ही है काव्य का प्रयोजन।

१-३ ध्व० पृ० ३९८

शृङ्गाररसाङ्गैः उन्मुखीकृताः सन्तो हि विनेयाः सुखं विनयोपदेशान् गृह्णन्ति। सदाचारोपदेशरूपा हि नाटकादिगोष्ठी विनेयजनहितार्थमेव मुनिभिरवतारिता॥

(३।३० वृत्ति)

४. शृङ्गारस्य सकलजनमनोहराभिरामत्वात् तदङ्गसमावेशः काव्ये००० न विरोधी। ततश्च—'सत्यं मनोरमा'०० इत्यादिषु नास्ति रसविरोधदोषः।

(ध्व० पृ० ३९९)

[२] कीर्ति

कीर्ति के लिए आनन्दवर्धन में कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। वे इतना अवश्य लिखते हैं कि 'यदि कवि शृङ्गार अपनाता है तो उसका सब कुछ सरस हो जाएगा। इसके विरुद्ध यदि कवि स्वय रसहीन होता है तो उसका काव्य भी रसहीन और नीरस होता है। और इस प्रकार के नीरस काव्य से बढ़कर उसकी अपकीर्ति हो नही सकती[१]।' स्पष्ट ही वे सत् काव्य में कीर्ति का लाभ देखते हैं। कवि के लिए कीर्ति भी काव्य का एक प्रयोजन, आनन्दवर्धन की दृष्टि से हो सकता है।

[३] प्रीति

प्रीति का अर्थ है प्रीणन अर्थात् आप्यायन यानी तृप्तिसम्पादन या सन्तर्पण। काव्य से सन्तर्पण भी होता है। सन्तर्पण बिना आनन्द की उपलब्धि के सम्भव नही। आनन्द जो है वह पाठक, अनुशीलयिता या सामाजिक की सम्पत्ति है। आनन्दवर्धन इस प्रीति, सन्तर्पण या आनन्द की दिशा में अपने निश्चित विचार रखते हैं। वे इसे काव्य का प्रमुख लाभ मानते हैं। लाभ का अर्थ है प्रयोजन से बड़ा तत्त्व। प्रयोजन यदि मोक्ष है और वह नही मिला या उसकी दिशा में पाठक प्रवृत्त नही हुआ तो क्या काव्य निरर्थक या फिजूल सिद्ध हुआ ? नही। उससे आनन्द जो प्राप्त हुआ। आनन्द अपने आपमें एक प्रयोजन है, लाभ है। आनन्दवर्धन इस लाभ के लिए कवि को बारबार सावधान करते और सहृदयों को भी उसी के लिए सतृष्ण बतलाते हैं। वे लिखते हैं—

[क] व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावेऽस्मिन् विविधे सम्भवत्यपि।
रसादिमय एकस्मिन् कवि स्यादवधानवान् ॥ ध्व० ४।५ ॥

व्यञ्जना का वैभव अतिविशाल है, तथापि कवि को चाहिए कि वह एकमात्र रस-व्यञ्जना पर अधिक ध्यान दे।

[ख] कविना काव्यमुपनिबध्नता सर्वात्मना रसपरतन्त्रेण भाव्यम्[२]।

१ शृङ्गारी चेत् कवि. काव्ये जात रसमय जगत्।
स एव वीतरागश्चेन्नीरस सर्वमेव तत् ॥
नीरसस्तु प्रबन्धो य सोऽपशब्दो महान् कवे ॥ (ध्व० पृ० ४९९)

२ ध्व० पृ० ३३६, इसी प्रकार
वाच्याना वाचकाना च यदौचित्येन योजनम्।
रसादिविषयेणैतत् कर्म मुख्य महाकवे ॥ (३।३२ ध्व०) →

काव्य-निर्माण के समय कवि को चाहिए कि वह सर्वात्मना रस-परतन्त्र रहे ।

[ग] काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा ।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः[१] ॥ (ध्व० १।५)

[घ] सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निष्यन्दमाना महतां कवीनाम् ।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम्[२] ॥

[ङ] रसवन्ध एव कवेः प्राधान्येन प्रवृत्तिनिवन्धनं युक्तम्[३] ।

[च] रसादिरूपव्यङ्ग्यतात्पर्यमेवैषां युक्तम्[४] ।

कवि की प्रधान प्रवृत्ति रसयोजना में ही होनी चाहिए।

सहृदय के विषय में भी आनन्दवर्धन का कहना है कि वस्तुतः 'वही सहृदय है जो 'रसज्ञ'[५] है जिस प्रकार रत्न की परीक्षा जौहरी कर पाता है उसी प्रकार काव्यरस की परीक्षा सहृदय[६] । जिसे सहृदय होना हो उसे चाहिए भी ऐसा ही करना'[७] । इस प्रकार—

आनन्दवर्धन के अनुसार काव्य के प्रयोजन दो प्रकार के होते हैं—

१. व्यावहारिक तथा
२. पारमार्थिक ।

व्यावहारिक प्रयोजन है 'रस' या 'आनन्द' और पारमार्थिक प्रयोजन है विनयोपदेश । उसमें भी मोक्षनामक परम पुरुषार्थ की ओर प्रवृत्ति ।

[२] काव्यशास्त्रप्रयोजन :

काव्यशास्त्र का प्रयोजन वतलाते हुए वामन लिखते हैं—

→ अयमेव हि महाकवेर्मुख्यो व्यापारो यद् रसादीनेव मुख्यतया काव्यार्थीकृत्य, तद्व्यक्त्यनुगुणत्वेन शब्दानामर्थानां चोपनिवन्धनम् । (ध्व० पृ० ४०१)

१. पृ० १०२-४
२. ध्व० १।६
३-४ ध्व० पृ० ३६३
५. 'रसज्ञतैव सहृदयत्वम् ध्व० पृ० ३५९.
६. वैकटिका एव रत्नतत्त्वविदः, सहृदया एव हि काव्यानां रसज्ञाः ध्व० पृ० ५१९
७. ध्व० पृ० ३६४. रसादिरूपव्यङ्ग्यतात्पर्यमेवैषां युक्तमिति०' ।

'प्रतिष्ठा काव्यबन्धस्य यशस सरणिं विदु
अकीर्तिवर्त्तनीं त्वेव कुकवित्व-विडम्बनम् ॥
तस्मात् कीर्तिमुपादातुमकीर्ति च व्यपोहितुम् ।
काव्यालङ्कारशास्त्रार्थ सम्पाद्य कविपुङ्गवैं ॥

यदि काव्य अच्छा बन पड़े तो समझना चाहिए कि यश का मार्ग प्रशस्त हो गया। इसके विपरीत यदि काव्य कुकवित्व का दुर्भाग्य लेकर प्रकट हो तो समझना चाहिए कि अपयश का मार्ग खुल गया। इस कारण यश के अर्जन और अपयश के परिहार के लिए उत्तम कवियो को काव्य-शास्त्र की व्यवस्था का ज्ञान अवश्य ही अर्जित करना चाहिए।

स्पष्ट ही वामन के अनुसार काव्यशास्त्र का प्रयोजन कविशिक्षा है।

वामन के पूर्ववर्त्ती दण्डी ने भी अपना काव्यादर्श पूर्ण कर लिखा था—

शब्दार्थालङ्क्रियादिचित्रमार्गा सुकरदुष्करा ।
गुणा दोषाश्च काव्यानामिह संक्षिप्य दर्शिता ॥

व्युत्पन्नबुद्धिरमुना विधिदर्शितेन
मार्गेण दोषगुणयोर्वशवर्त्तिनीभि ।
वाग्भि कृताभिसरणो मदिरेक्षणाभि-
र्धन्यो युवेव रमते, लभते च कीर्तिम्[2] ॥

हमने संक्षिप्त रूप में काव्यगत शब्द और अर्थ के अलङ्कार, सुकर तथा दुष्कर चित्रमार्ग, गुण एवं दोषो का प्रतिपादन कर दिया।

जो कवि, इस दोष और गुण के विधिवत उपदिष्ट मार्ग से अपनी बुद्धि को व्युत्पन्न (परिमार्जित) कर लेता है, वाणी के विविध मार्ग उसके वश में हो जाते हैं। फिर वह वशवर्त्तिनी मदिरेक्षणाओ के साथ अभिसरण करते धन्य युवक के समान इन वाणियो के साथ रमण करता तथा कीर्त्ति को अर्जित करता है।

स्पष्ट ही दण्डी ने भी काव्यशास्त्र का प्रयोजन कविशिक्षा बतलाया था।

आनन्दवर्धन इन आचार्यों की मान्यताओं से सहमत हैं और वे भी लिखते हैं—

---

१ काव्यालङ्कारसूत्र १।१।५ की वृत्ति।

२ काव्यादर्श—३।१८६-७

> हमने जो यह ध्वन्यालोक बनाया है इसका उद्देश्य केवल ध्वनि की स्थापना नहीं है, अपितु सुकवियों को यह बतलाना है कि उनका मुख्य उद्देश्य रस होना चाहिए।[1]

आनन्दवर्धन इसके आगे बढ़ते और काव्यशास्त्र का प्रयोजन सहृदयशिक्षा भी बतलाते हैं। वे लिखते हैं—

> ध्वनिशास्त्र का यह प्रतिपादन इसलिए भी किया गया है कि इससे सहृदयों की दृष्टि खुल जाए।[2]

निष्कर्ष :

इस प्रकार आनन्दवर्धन—

[क] काव्य का प्रयोजन	१. बोध
	२. कीर्त्ति तथा
	३. प्रीति एवं
[ख] काव्यशास्त्र का प्रयोजन	१. कविशिक्षा तथा
	२. सहृदयशिक्षा

स्वीकार करते हैं।

अन्त में वे काव्य तथा काव्यशास्त्र का सम्बन्ध और दोनों की समष्टि का प्रयोजन भी बतलाते हैं। वे कहते हैं—

> काव्य नन्दन वन है और काव्यशास्त्रीय तत्त्व उसके वृक्ष। वृक्षों में भी कल्पवृक्ष है ध्वनि [ध्वनिशास्त्र है उस ध्वनि नामक कल्पवृक्ष का घेरा]। इस कल्पवृक्ष से युक्त यह नन्दनवन अखिल-सौख्य-धाम है, क्योंकि इसमें वह कल्पवृक्ष है जिससे कवि और सहृदय दोनों अपना सम्पूर्ण अभीष्ट प्राप्त करते हैं।[3]

सम्पूर्ण अभीष्ट की व्याख्या अभिनवगुप्त 'व्युत्पत्ति, कीर्ति[4] और प्रीति' करते हैं। व्युत्पत्ति में हम सहृदय-व्युत्पत्ति भी अपना सकते हैं।

•

---

१. रसादिरूपव्यङ्ग्यतात्पर्यमेवैषां युक्तमिति यत्नोऽस्माभिरारब्धो, न ध्वनिप्रतिपादनमात्राभिनिवेशेन। ध्व० पृ० ३६४.

२. ध्व० पृ० ४५७.

३. ध्व० पृ० ५५१—'इत्यक्लिष्ट' पद्य यहीं पृष्ठ ८५ पर उद्धृत।

४. ध्व० लोचन पृ० ५५१.

शिक्षा

आचार्य आनन्दवर्धन ने अपने ध्वनिसिद्धान्त के प्रतिपादन के साथ साथ उसमे मिलने वाले लाभों की भी चर्चा की है। ये लाभ दो प्रकार के है। एक वे जो कवि को मिलते हैं और दूसरे वे जो सहृदय को। दोनो प्रकार के लाभों को हम मार्गदर्शन कह सकते हैं और कह सकते हैं कि यह वह कार्य है जो प्रत्येक शास्त्रकार शिक्षानामक अध्याय द्वारा किया करता है। हम इस मार्गदर्शन को शिक्षा ही कहेंगे और इसे कवि तथा सहृदय के दो शीर्षको में विभक्त कर देखेंगे कि आनन्दवर्धन इस दिशा में क्या कहना चाहते है।

[क] कविशिक्षा .

काव्यससार अपार होता है, उसका पार नही पाया जा सकता। इस ससार का प्रजापति कवि ही हुआ करता है और एकमात्र कवि ही। वह जैसा चाहता है इस विश्व को वैसा ही बनना पडता है।[1] वह अपनी सृष्टि में ब्रह्मदेव की सृष्टि के जड पदार्थों को चेतनोपम और चेतन पदार्थों को जडोपम रूप में काम में लाता है। यह इसलिए कि वह स्वतन्त्र होता है।[2] लोक में शब्दो से वह अर्थ निकलता है जो शब्दानुशासन या अभिधानकोष से सुलभ होता है, किन्तु काव्य में शब्द से वह अर्थ निकालना पडता है जो कवि को विवक्षित रहता है।[3] सच यह है कि कवि की शब्द-सृष्टि ही अर्थसृष्टि है। यहां शब्द और अर्थ मिट्टी और घट के समान कभी पृथक् नही होते[4]। इस कारण हमें कवि को अभिप्रेत सारे अर्थ

१ अपारे काव्यससारे कविरेक प्रजापति।
यथास्मै रोचते विश्व तथेद परिवर्त्तते॥ (ध्व० पृ० ४९८)

२ भावानचेतनानपि चेतनवच्चेतनानचेतनवत्।
व्यवहारयति यथेष्ट सुकवि काव्ये स्वतन्त्रतया॥ (ध्व० पृ० ४९८)

३ विवक्षोपारूढ एव हि काव्ये शब्दानामर्थ ॥ (ध्व० पृ० ४९६)

४ वाच्यवाचकयोरविनाभाव । (ध्व० पृ० ५४२)

शब्द के गर्भ में देखने होते है। कुछ अर्थ तो ऐसे भी होते है जो केवल कविप्रतिभा से प्रसूत होते है, अतः जिनका अस्तित्व केवल प्रातिभ होता है।[१]

काव्यार्थ केवल शब्दानुशासनलभ्य अर्थ तक सीमित अर्थ नहीं होता। उसकी व्याप्ति और आगे तक रहती है, वैसे ही जैसे सुन्दरी का शरीर केवल अङ्ग-प्रत्यङ्ग तक सीमित नहीं रहकर, लावण्य तक भी पहुँचा हुआ हुआ करता है।[२] सच यह है कि यही लावण्य सुन्दरी की सुन्दरता का अवच्छेदक है। यही मुख्य है। इसी में अतिशयित चमत्कार है। कविता में भी अन्य अर्थ ही प्रमुख और चमत्कारी होता है। उसी से सहृदयों का हृदय आकृष्ट होता है, और एकमात्र उसी से। वास्तविकता यह है कि ऐसा कोई काव्य होता ही नही जिसमें इस प्रतीयमान अर्थ का स्पर्श न हो।[3] सच यह है कि महाकवियों की वाणी का यही है सच्चा अलंकार, भले ही वे उपमा आदि से मण्डित हों। लज्जा ही न नारीशरीर का मुख्य अलंकार है? क्या वह आँखों से दिखाई देती है?[४] यह जो प्रतीयमान अर्थ है 'यह काव्य का परम रहस्य है और यही है परम रहस्य काव्य का', ऐसा कवि और विद्वान्, दोनों को ठीक से समझ लेना और समझे रहना चाहिए। इस अर्थ को समझने के लिए अति सूक्ष्म विचार की आवश्यकता है।[५]

यह जो द्वितीय अर्थ है यह कभी तो प्रथम अर्थ की अपेक्षा कम चमत्कार देता है, कभी प्रथम अर्थ के बराबर और कभी अधिक। कमी और बराबरी में हम इसे 'गुणीभूत' कहेगे और अधिकता की स्थिति में 'ध्वनि'। इनमें से ध्वनिरूप प्रतीयमान तो परम रमणीय होता ही है, गुणीभूत प्रतीयमान भी अतिरमणीय हुआ

---

१. प्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरः०। (ध्व० २।२४ यहीं पृ० १८७)

२. (क) प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति००० लावण्यमिवाङ्गनासु। (ध्व० का० १।४)

(ख) शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते।
वेद्यते स तु काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव केवलम्॥ (१।७ ध्व०)

३. सर्वथा नास्त्येव सहृदयहृदयहारिणः काव्यस्य स प्रकारो यत्र न प्रतीयमानार्थसंस्पर्शेन सौभाग्यम्। (ध्वन्यालोक पृष्ठ ४७५)

४. मुख्या महाकविगिरामलंकृतिभृतामपि।
प्रतीयमानच्छायैषा भूषा लज्जेव योषिताम्॥ (ध्व० ३।३७)

५. तदिदं काव्यरहस्यं परममिति सूरिभिर्विभावनीयम्॥ (ध्व० पृ० ४७५)

करता है।[1] इन तीनों स्थितियों में यह अर्थ कविप्रतिभा के लिए कल्पवृक्ष है। वह जितना चाहे उतना विस्तार करती जा सकती है काव्य का, भले ही पहले से इतने काव्य बने हुए हों जिनकी गणना करना सम्भव न हो। नूतन, अभिनव, प्रनिनव, नवीन और नए नए काव्यभाव उसमें उठते रहेंगे यदि वह उक्त तीनों रूपों में रहस्यात्मक ढग से विद्यमान अन्य अर्थ की छाया लेएगी[2]।

इस अर्थ को व्यक्त करने की शक्ति रखने वाला शब्द ही वह अति आदरणीय शब्द है जिसे अपनाकर कोई भी कवि सुकवि बनता है और सुकवि, महाकवि।[3] इस प्रकार की शक्ति प्रत्येक शब्द में नहीं रहती, वह किसी विरले ही शब्द में रहा करती है। जिसे महाकवित्व अर्जित करना हो उसे चाहिए कि वह इन विशिष्ट शब्दों को बड़े ही यत्न के साथ पहचाने[4]। ऐसे शब्दों की ही रचना

---

१ ध्व० पृ० ४७५—'अय ध्वनिनिष्यन्दभूतो द्वितीयोऽपि महाकविविषय, अतिरमणीयो लक्षणीय सहृदयै।'

२ (क) ध्वनेरित्थ गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य च समाश्रयात्।
न काव्यार्थविरामोऽस्ति यदि स्यात् प्रतिभागुण ॥ (ध्व० ४।६)

(ख) ध्वनेर्य सगुणीभूतव्यङ्ग्यस्याध्वा प्रदर्शित।
अनेनानन्त्यमायाति कवीना प्रतिभागुण ॥ (४।१ ध्व०)

(ग) अतो ह्यन्यतमेनापि प्रकारेण विभूषिता।
वाणी नवत्वमायाति पूर्वार्थान्वयवत्यपि ॥ (४।२ ध्व०)

(घ) इत्यक्लिष्टरसाश्रयोचितगुणालकारशोभाभृतो
यस्माद् वस्तु समीहित सुकृतिभि सर्वं समासाद्यते।
काव्याख्येऽखिलसौख्यधाम्नि विबुधोद्याने ध्वनिर्दर्शित
सोऽय कल्पतरूपमानमहिमा भोग्योऽस्तु भव्यात्मनाम् ॥ ध्व० पृ० ५५१

३ मुख्या व्यापारविषया सुकवीनां रसादय, ध्व० पृ० ३६४
सुकवि समाहितचेता ध्व० पृ० २३४

४ सोऽर्थस्तद्व्यक्तिसामर्थ्ययोगी शब्दश्च कश्चन,
यत्नत प्रत्यभिज्ञेयौ तौ शब्दार्थौ महाकवे। ध्व० १।८ ॥
इसीलिए कुन्तक ने भी कहा—
वाच्योऽर्थो वाचक शब्द प्रसिद्धमिति यद्यपि,
तथापि काव्यमार्गेऽस्मिन् परमार्थोऽयमेतयो।
शब्दो विवक्षितार्थैकवाचकोऽन्येषु सत्स्वपि,
अर्थ सहृदयाह्लादकारिस्वस्पन्दसुन्दर ॥ वक्रोक्तिजीवित १।८-९ ॥

चतुर और मधुर रचना होती है[1]। अर्थनिरपेक्ष और विशेषतः व्यङ्ग्यार्थनिरपेक्ष शब्द की रचना कोई रचना नहीं, क्योंकि वह सहृदयों के हृदय को छू नहीं पाती। छूने की बात तो बहुत दूर है, उनके पास तक नहीं पहुँच पाती।[2]

इस प्रकार के शब्द और अर्थ की जो सुव्यवस्थित योजना हुआ करती है उसी को कहा जाता है महाकवि का मुख्य कविकर्म[3]। यही वह योजना है जिसमें औचित्य की रक्षा रहती है, और ऐसी रक्षा रहती है कि उससे रस आदि प्रतीयमान अर्थ पूर्ण परिपोष पाते रहते हैं[4]। शब्द और अर्थों की यह योजना बहुत ही सूक्ष्म प्रतिभा और गम्भीर व्युत्पत्ति से संभव होती है, इसीलिए वह अनेक शताब्दियों के बाद देखने को मिलती है और यही कारण है कि वाङ्मय की जो अनादि धारा बहती चली आ रही है उसमें विचित्र और अति विचित्र कवि देखने को मिल रहे हैं, किन्तु जिन्हें 'महाकवि' कहा जा सके, ऐसे प्रतिभासम्पन्न विद्वान्, महात्मा और सूक्ष्मदर्शी कवि बहुत ही विरले हैं। वे होंगे तो बड़ी कठिनाई से दो या तीन होंगे, कालिदास आदि, उन्हें अधिक से अधिक पाँच या छ माना जा सकता है, अधिक नहीं[5]।

प्रतीयमान अर्थ और उसके प्रत्यायक शब्द का परिज्ञान हो जाने पर जब कवि इनकी योजना काव्य में कर लेता है तब उसके शब्द व्युत्पन्न शब्द माने जाते हैं। व्युत्पन्न अर्थात् विवक्षित अर्थ का ज्ञान कराने में अत्यन्त सक्षम। इसी भूमिका पर कवि की भाषा 'वक्रा उक्ति = वक्रोक्ति' बन पाती है, तभी वह अलंकृत हो

१-२ ध्वन्यालोक पृ० ५३८

३-४ वाच्यानां वाचकानां च यदौचित्येन योजनम्,
रसादिविषयेणैतत् कर्म मुख्यं महाकवेः ॥ ३।३२ ध्व० ॥
हमने पृ० ११०–११३ तक बतलाया है कि इसकी बड़ी ही उत्तम व्याख्या कुन्तक के वक्रोक्तिजीवित में प्राप्त होती है।

५. [क] सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निष्यन्दमाना महतां कवीनाम्।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम् ॥ ध्व० १।६ ॥
तद् वस्तुतत्त्वं निष्यन्दमाना महतां कवीनां भारती अलोकसामान्यं प्रतिभाविशेषं परिस्फुरन्तमभिव्यनक्ति येनास्मिन्नतिविचित्रकविपरम्परावाहिनि संसारे कालिदासप्रभृतयो द्वित्राः पञ्चषा वा महाकवय इति गण्यन्ते।
(ध्व० पृ० ९३)

[ख] विद्वान्–ध्व० पृ० २३, महात्मा ध्व० पृ० २६.

पाती हैं और तभी उसमें आयी वस्तु मन प्रह्लादनक्षम होकर वैसी ही बनी रहती है[१]। इस प्रकार कविबन्धुओं को यह समझे रहना चाहिए कि काव्योत्कर्ष के मूल्याङ्कन का मुख्य बिन्दु तीन प्रकार का उक्त प्रतीयमान अर्थ ही है। किन्तु इन तीनों प्रकारों में भी—

ध्वनि

ध्वनिनामक प्रकार ही काव्य का चरम और परम श्रेय है। वही काव्य की आत्मा[२] है। वही अतिरमणीय हुआ करता[३] है। यह कोई कल्पित तथ्य नहीं है। यह अनुभवसिद्ध है। जो कवि परिपक्व हो जाते हैं, जिनका कविकर्म परम परिपाक को प्राप्त हो जाता है, उनमें 'ध्वनि' को छोड अन्य कोई काव्यप्रकार नहीं पाया जाता[४]। जिस रसिक और सत् कवि को सत् काव्य बनाना हो उसे ध्वनि का विवेकबोध गम्भीरतम निविष्टता के साथ पूरे प्रयत्न से किए रहना चाहिए[५]। यह निश्चित तथ्य है कि ध्वनि का विवेकबोध हो जाने पर कवि जब उसकी निपुण योजना करने लगते हैं तो वे काव्य के परम प्रकर्ष को प्राप्त कर ही लेते हैं।[६] ध्वनि से उन्हें लाभ भी होते हैं और उल्लेखनीय लाभ होते हैं। यह तो कहा ही जा चुका है कि ध्वनि की संख्या इतनी अधिक है कि उसकी गणना नहीं की जा सकती, फिर तब तो कहना ही क्या जब उसमें 'गुणीभूत' व्यङ्ग्य भी आ मिले।[७] इस कारण कवि में यदि प्रतिभा हो तो ध्वनि के आश्रय से वह भी अनन्त विस्तार

---

१ 'यस्मिन्नस्ति न वस्तु०' इत्यादि पूर्वपक्षपद्य का निर्गलितार्थ ध्व० पृ० २६

२ 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' ध्व० १।१, 'काव्यस्यात्मा स एवार्थः' ध्व० १।५

३ ध्वनेः स्वरूपं सकलसत्कविकाव्योपनिषद्भूतम् अतिरमणीयम्। ध्व० पृ० ३५

४ [क] 'प्राप्तपरिणतीनां तु (कवीनां) ध्वनिरेव काव्यम्' ध्व० पृ० ४९९-५००
[ख] न्याय्ये काव्यनयव्यवस्थापने क्रियमाणे नास्त्येव ध्वनिव्यतिरिक्तः काव्य-प्रकारः, यतः परिपाकवतां कवीनां रसादितात्पर्यविरहे व्यापार एव न शोभते। (ध्व० पृ० ४९७)

५ इत्युक्तलक्षणो यो ध्वनिर्विवेच्यः प्रयत्नतः सद्भिः।
सत्काव्यं कर्तुं वा, ज्ञातुं वा सम्यगभियुक्तैः॥ ध्व० पृ० ५१६-१७॥

६ उक्तस्वरूपध्वनिनिरूपणनिपुणा हि सत्कवयः, सहृदयाश्च नियतमेव काव्यविषये परां प्रकर्षपदवीमासादयन्ति। ध्व० पृ० ५१६-१७

७ ध्वनेर्यः सगुणीभूतव्यङ्ग्यस्याध्वा प्रदर्शितः,
अनेनानन्त्यमायाति कवीनां प्रतिभागुणः। ४।१ ध्व० इसी प्रकार ४।६।

पा लेती है, क्योंकि ध्वनि और 'गुणीभूत' व्यङ्ग्य के असंख्य और अनन्त प्रकारों में से किसी एक भी प्रकार का स्पर्श, वह कर लेती है तो उसकी वाणी में नवीनता चली आती है, भले ही बात पुरानी हो[1]। यहाँ तक कि हम जिस विधा को अत्यन्त नगण्य मानते और अङ्गाश्रित, बाह्य या ऊपरी वस्तु मान उसे 'अलंकार' कहकर ठुकराते है, वह भी यदि 'ध्वनित्व' की कक्ष्या में आ पड़ती है तो परा छाया को प्राप्त हो जाती है, यानी पहले जहाँ वह काव्यशरीर भी नही बन पाती है, वहाँ ध्वनित्व का लाभ होते ही वह सीधे-सीधे काव्य की आत्मा बन बैठती है, शरीर की तो बात बहुत छोटी है।[2]

रस :

कविना काव्यमुपनिबध्नता सर्वात्मना रसपरतन्त्रेण भाव्यम्।

[ध्व० पृ० ३३६]

ध्वनि के भी तीन भेद हैं—वस्तु, अलंकार और रस। इनमे से जो 'रस' नामक ध्वनिभेद है उस पर और अधिक ध्यान देना चाहिए[3]। सभी ध्वनियों मे यही वह ध्वनि है जिसे वस्तुत काव्यात्मा कहा जा सकता है।[4] जो कवि सुकवि होते है उनके आकर्षण का मुख्य विषय रस ही रहना है।[5] कवि को चाहिए कि वह एकमात्र रसव्यञ्जना पर अपना ध्यान केन्द्रित रखे, यद्यपि व्यञ्जना का क्षेत्र बहुत व्यापक है और उसके और भी अनेक भेद है[6]। कवि का जो प्रबन्ध रसहीन और नीरस होता है वह उसका काव्य नही, अपितु मूर्तिमान् और महान् अपशब्द

---

१. अतो ह्यन्यतमेनापि प्रकारेण विभूषिता,
वाणी नवत्वमायाति पूर्वार्थान्वियवत्यपि। ४।२ ध्व०।

२. शरीरीकरणं येषां वाच्यत्वे न व्यवस्थितम्।
तेऽलङ्काराः परां छायां यान्ति ध्वन्यङ्गतां गताः॥ (ध्व० का० २।२८)

३. मुख्या व्यापारविषयाः सुकवीनां रसादयः। (ध्व० पृ० ३६४)

४. काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः॥ (ध्व० पृ० ११५)

५. मुख्या व्यापारविषयाः सुकवीनां रसादयः। (ध्व० पृ० ३६४)

६. व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावेऽस्मिन् विविधे संभवत्यपि।
रसादिमय एकस्मिन् कविः स्याद्वधानवान्॥ (ध्व० पृ० ४१५)
अपूर्वार्थलाभार्थी कविः रसादिमय एवैकस्मिन्—
व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावे यत्नतः अवदधीत। (ध्व० पृ० ५२९–३०)

[अकीर्ति, गाली] होता है। उसके निर्माण की अपेक्षा तो अधिक उत्तम यह है कि वह कविता करे ही नही। ऐसा करने से कम से कम वह अपनी नामरखाई से तो बच सकता है।[1]

रस को अपनाने से कवि को अपने कविकर्म में सहायता भी मिलती है, और पर्याप्त सहायता मिलती है। उससे अवस्था, देश और काल के भेद से भिन्नता लेकर उपस्थित होने वाली वस्तुसामग्री अभिन्न सी प्रतीत होती है। रस के बिना वही सामग्री बिखरी हुई-सी प्रतीत होती है और रस आ जाने पर वही सम्बद्ध तथा एकात्मा[2]। रस आदि का विस्तार भी बहुत अधिक रहता है, इस कारण यदि उसका युक्तिपूर्वक अनुसरण किया जाए तो काव्यमार्ग अनन्तता को प्राप्त हो जाता है, उसका भी विस्तार पर्याप्त विपुल हो जाया करता है[3]। विभाव, अनुभाव और सञ्चारी भावों की एक-एक कडी अपने आपमें अनेकानेक विशेषताएँ छिपाए रहती है। एक-एक रस में इसकी विविधता और भी बढ जाती है। इनमें से किसी एक को भी लेकर कविता बनाई जाने लगे तो उसकी परिव्याप्ति अतिविशाल हो जाती है। इन रसविच्छित्तियों की भूमिका पर आरूढ कवि के समक्ष जगत् का, अणु अणु और कण कण की असख्य इकाईयो में प्रविभक्त, यह महान् प्रपञ्च, प्रतिक्षण नवनवायमान सा होकर उपस्थित होता है। इसीलिए कविवाणी की प्रशसा करते हुए किसी महाकवि ने ही कहा है—

१ नीरसस्तु प्रबन्धो य सोऽपशब्दो महान् कवे।
स तेनाकविरेव स्यादन्येनास्मृत - लक्षण ॥ (ध्व० पृ० ३६४)

२ रसभावादिसम्बद्धा यद्यौचित्यानुसारिणी।
अन्वीयते वस्तुगतिर्देशकालादिभेदिनी ॥ (ध्व० पृ० ४१९)

३ युक्त्यानयाऽनुसर्तव्यो रसादिर्बहुविस्तर।
मितोऽप्यनन्तता प्राप्त काव्यमार्गो यदाश्रयात् ॥ (ध्व० ४।३)

बहुविस्तरोऽय रस-भाव-तदाभास-तत्प्रशम-लक्षणो मार्ग यथास्व विभावानुभावव्यभिचारिप्रभेदकल्पनया। यस्य रसादेराश्रयादय काव्यमार्ग पुरातनै कविभि सहस्रसख्यैरसख्यैर्वा बहुप्रकार क्षुण्णत्वान्मितोऽप्यनन्तता प्राप्त। रसभावादीना हि प्रत्येक विभावानुभावव्यभिचारिसमाश्रयात् अपरिमितत्वम्। तेषा चैकैकप्रभेदापेक्षयापि तावद् जगद्वृत्तमुपनिबध्यमान सुकविभिस्तदिच्छावशादन्यथास्थितमप्यन्यथैव विवर्तते। (ध्व० पृ० ५२६–२७)

अतथास्थितानपि तथास्थितानिव हृदये या निवेशयति ।
अर्थविशेषान् सा जयति विकटकविगोचरा वाणी ॥[1]

विकट कवि की वह वाणी सर्वातिशायी है, जो कवि के हृदय में जो जैसे नही होते उन पदार्थों को उन रूपों में उपस्थित करती रहती है ।

यह विकट कवि और कोई नही, रससिद्ध कवि है । निम्नलिखित उदाहरणों से यह नवीनता स्पष्ट है—

स्विद्यति रोमाञ्चते वेपते रथ्यातुलाग्रप्रतिलग्नः ।
स पार्श्वोऽद्यापि सुभग येनास्यतिक्रान्तः ॥[2]

हे सुभग ! रास्ते में काकतालीय न्याय से जिसके सामने आकर तुम निकल गए उस बाजू में आज भी पसीना आ रहा है, रोमाञ्च और कम्पन हो रहे है ।

इस वाक्य की नवीनता तब समझ मे आती है जब हम निम्नलिखित वाक्य पर ध्यान देते है—

सा त्वां दृष्ट्वा स्विद्यति रोमाञ्चते वेपते ।

वह तुम्हे देखती है तो उसे पसीना हो जाता है, उसके रोम खड़े हो जाते है और उसके शरीर में कम्पन होने लगता है ।

दोनों वाक्यों में जो कही जा रही है वह बात एक ही है, किन्तु दोनों की भिन्नता स्पष्ट है । भिन्नता का कारण है शृङ्गार रस के अङ्गों की न्यूनाधिकता । प्रथम उक्ति में वह जितनी मांसलता और जितना घनत्व लिए है, द्वितीय में नही ।

रसारूढ कवि की पुरानी सामग्री भी नवीन ही लगती है, ठीक वैसे ही जैसे मधुमास में द्रुम ।[3] वसन्त में वृक्ष नए सिरे से पैदा नहीं हुआ करते । उनमें केवल कोंपले और कलिएँ नई आती हैं । किन्तु आकर्षण उनमें अन्य ऋतुओं की अपेक्षा सहस्रगुण अधिक आ जाता है । रस के परिग्रह से काव्यवस्तु की भी स्थिति ऐसी ही हो जाती है । उदाहरण—

---

१. ध्व० पृ० ५२७
२. ध्व० पृ० ५३५
३. पृ० ३३२ पर उद्धृत 'दृष्टपूर्वा अपि०' ध्व० ४।४ कारिका तथा उसकी वृत्ति ध्व० ५२८ ।

शेषो हिमगिरिस्त्वं च महान्तो गुरव स्थिरा ।
यदलङ्घितमर्यादाश्चलन्तीं बिभृथ क्षितिम् ॥

शेषनाग, हिमगिरि और आप अति महान् और अति स्थिर गुरु [बड़े, वजनी] हैं, जो चञ्चल पृथिवी को धारण किए रहते हैं, बिना मर्यादा तोड़े ।

इस उक्ति के रहते हुए भी बाणभट्ट की पूर्वोद्धृत निम्नलिखित उक्ति नवीन प्रतीत हो रही है—

धरणीधारणायाधुना त्वं शेष ।

धरणीधारण के लिए इस समय आप शेष हैं[1] ।

क्यों ? इसलिए कि इसमें शेषशब्द और धरणीधारण शब्द से शेषनाग तथा उनके फणामण्डल पर पृथिवी के रखे रहने की बात भी निकलती है, अर्थात् यहाँ शब्दशक्तिमूलक अनुरणनरूप विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि की योजना है। इसी प्रकार—

कृते वरकथालापे कुमार्य पुलकोद्गमैं ।
सूचयन्ति स्पृहामन्तर्लज्जयावनताननाः ॥

वर की बात चलने पर कुवाँरी लड़कियाँ अन्तर्लज्जा से मुँह झुकाकर अपनी स्पृहा सूचित करती हैं ।

इस कथन के रहते हुए भी कालिदास के—

एववादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी ।
लीलाकमलपत्राणि गणयामास पर्वती ॥

देवर्षि आङ्गिरस [बृहस्पति] ने जब विवाह का प्रस्ताव किया तो पिता के पास बैठी पार्वती का मुखमण्डल झुक गया और वे हाथ में रखे लीला-कमल की पंखुड़ियाँ गिनने लगी ।

इस पूर्वोक्त[2] कथन में नवीनता है, कारण कि यहाँ जो अर्थयोजना है उससे पार्वती के चित्त में विद्यमान शिवविषयक रति की व्यञ्जना क्रम से होती है। अर्थात् पहले तो लज्जा या अवहित्था नामक सञ्चारी भाव की प्रतीति होती है, फिर पार्वती की तपश्चर्या तथा उससे प्रसन्न शिव के द्वारा उनके मानस परिग्रह

---

१ यही पृ० १८६
२ पृष्ठ ९८ पादटिप्पणी

की घटना सामने आती है। पूर्वोक्त कथन मे लज्जा का नाम भी दे दिया गया है, कालिदास की इस उक्ति मे ऐसा नही किया गया। साहित्यशास्त्रीय भाषा में इसे हम स्वतःसम्भवी-अर्थ-शक्तिमूलक अनुरणनरूप व्यङ्ग्य की व्यञ्जना कहेंगे। यही है यहाँ नवीनता का स्रोत। इसी प्रकार—

> सुरभिसमये प्रवृत्ते सहसा प्रादुर्भवन्ति रमणीयाः।
> रागवतामुत्कलिकाः सहैव सहकारलतिकाभिः॥[1]

> जब वसन्त ऋतु आती है तो सहकारलता के ही साथ रागी जनों में एका-एक उत्कलिकाएँ प्रकट हो जाती हैं।

इस पद्य की जो अर्थयोजना है उसके रहते हुए भी—पूर्वोक्त[2] 'सज्जयति सुरभि-मासः' पद्यार्थ मे नवीनता है, क्योंकि उस पद्य के अर्थ मे वाच्य अर्थ के भीतर कविकल्पितता है जिसे हमने 'कविप्रौढोक्तिसिद्धता' कहा है। इसी प्रकार—'वाणिजक हस्तिदन्ताः०'[3] इस पूर्वोक्त पद्यार्थ में नवीनता है निम्नलिखित पद्य और उसके अर्थ के रहते हुए भी—

> करिणीवैधव्यकरो मम पुत्र एककाण्डविनिपाती।
> हतस्नुषया तथा कृतो यथा काण्डकरण्डकं वहति॥

> एक ही बाण की चोट मे हथिनी को विधवा बना देने वाले मेरे पुत्र को दुष्ट वहू ने ऐसा बना दिया कि वह तरकस ही लिए घूमा करता है।[5]

इसमे कारण है 'वाणिजक हस्तिदन्ताः' उक्ति मे व्यञ्जना की अव-तारणा। इस अवतारणा में भी उसके वक्ता वृद्ध व्याध का दर्द छिपा हुआ है, जिसकी सृष्टि स्वयं कवि की कल्पना से हुई है अर्थात् इसमें नवीनता का कारण है 'कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धअर्थशक्तिमूलक अनुरणनरूप व्यङ्ग्य' की छाया।

उक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि व्यङ्ग्य का स्पर्श होते ही वक्तव्य मे, उक्ति मे, सामग्री पुरानी रहते हुए भी चमत्कार चला आता है और वह सामग्री मधुमास की वनस्पतिसृष्टि के समान नवजात सी प्रतीत होती है।

------

१. ध्व० पृष्ठ ५२८
२. पृष्ठ १९० पादटिप्पणी–१
३. पृष्ठ १९१ पादटिप्पणी–२
४. ध्वन्यालो० पृष्ठ ५२९.
५. ध्व० पृ० ५२९

व्यङ्ग्य ही नही, वर्ण, पद, वाक्य, रचना और प्रबन्ध रूप व्यञ्जकों के भेद से भी इस प्रकार की नवीनता आया करती है[१]। रामायण[२] और महाभारत इसके आकर है। इनमें संग्राम आदि के प्रसङ्ग बार-बार प्रस्तुत किये गए हैं तथापि नितनए प्रतीत होते हैं। उसमें व्यङ्ग्य और व्यञ्जकों की नूतनता ही मुख्य कारण है। व्यङ्ग्यो मे भी रस, भाव, इन दोनो के आभास ही इन महाप्रबन्धो की नित-नूतनता के स्रोत हैं।[3]

प्रबन्ध[५] काव्य के लिए यह रससामग्री ही मुख्य होती है। रामायण और महाभारत इसके भी उदाहरण हैं। रामायण में करुण रस अङ्गी अर्थात प्रधान रस है[६]। स्वय कवि ने ही यह स्पष्ट कर दिया हैं पूर्वोक्त 'शोक श्लोकमागत' की उक्ति के द्वारा। आगे भी कवि ने उसका निर्वाह किया[७]। उसने अपना काव्य सीता के अत्यन्त वियोग की कथा से पूरा किया[८]। [पुन मिलने की आशा न रहने पर अत्यन्त वियोग करुण ही हुआ करता हैं]।

महाभारत में महामुनि व्यास ने शान्त रस को मुख्य रस के रूप में स्वीकार किया हैं और मोक्ष को प्रमुख पुरुषार्थ के रूप में। यह तथ्य स्वय भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने

यथा यथा विपर्येति लोकतन्त्रमसारवत्।
तथा तथा विरागोऽत्र जायते नात्र संशय ॥[४]

लोकतन्त्र ज्यो ज्यों विपर्यय को प्राप्त होता हैं, त्यो त्यों इससे वैराग्य होने लगता है, इसमें तनिक भी सन्देह नही।

इस वचन के द्वारा स्पष्ट कर दिया है। यद्यपि महाभारत में सारे विषय पहले ही अनुक्रमणी में बतला दिए गए है और उसमें शान्त रस की चर्चा नही की गई है, तथापि यह नही कहा जा सकता कि शान्त रस महाभारत का मुख्य रस नही है, क्योंकि अनुक्रमणी में इसका कथन केवल अभिधा वृत्ति द्वारा ही नही किया—'इसमें मुख्य रस शान्त हैं'—इस प्रकार, जहाँ तक व्यञ्जना का सम्बन्ध है उससे तो यह तथ्य महामुनि व्यास ने स्पष्ट कर ही दिया है। अनुक्रमणी में ही उनने जो यह कहा हैं—

---

१ ध्व० पृ० ४१५ वृत्ति
२-३ ध्व० पृ० ५२९-३०
४ ध्व० पृ० ५३०

भगवान् वासुदेवश्च कीर्त्यतेऽत्र सनातनः।[1]

और इसमें सनातन भगवान् वासुदेव का कीर्त्तन किया जा रहा है।

इससे यह तथ्य बहुत स्पष्ट है। इसकी यही न व्यञ्जना है कि—'इस ग्रन्थ में पाण्डव आदि का जो भी वृत्तान्त उपस्थित किया जा रहा है यह सबका सब परिणाम में अत्यन्त नीरस या थोथा है, क्योंकि यह अविद्या का प्रपञ्च है जो असत् है। परमार्थ सत् तो भगवान् वासुदेव ही है। पाठक को चाहिए कि वह महाभारत की सब घटनाएँ पढ़कर इन्हीं भगवान् में भावितचित्त हो। विभूतियाँ निस्सार हैं। नय, विनय, पराक्रम आदि गुण भी गुणी के विना निस्सार और थोथे हैं। केवल इन्हीं पर अपनी बुद्धि को सर्वात्मना प्रतिनिविष्ट करना अविवेक है। यह तथ्य अनुक्रमणी के उक्त वाक्य में आए 'च = और' शब्द से भी स्पष्ट है। 'और' यानी पहले जो गिनाया गया वह वह नहीं था जो अब गिनाया जाने वाला है। अब गिनाया जा रहा है 'सनातन' यानी शाश्वत, नित्य, सत्य, पारमार्थिक, मृत्यूत्तीर्ण, सर्वाधार, परात्पर प्रभु। अभिप्राय यह कि पहले जो कहा गया वह था—'असनातन' यानी अनित्य, असत्य, मृत्युग्रस्त और प्रातिभासिक[2]। महाभारत-कार ने इसी सत्य को स्पष्ट करने के लिए उक्त पद्य के आगे लिखा—[3]

भगवान् वासुदेवश्च कीर्त्यतेऽत्र सनातनः।
स हि सत्यमृतं चैव पवित्रं पुण्यमेव च॥
शाश्वतं ब्रह्म परमं ध्रुवं ज्योतिः सनातनम्।
यस्य दिव्यानि कर्माणि कथयन्ति मनीषिणः॥
असच्च सदसच्चैव यस्माद् विश्वं प्रवर्त्तते।
सन्ततिश्च प्रवृत्तिश्च जन्ममृत्युपुनर्भवाः॥
अध्यात्मं श्रूयते यच्च पञ्चभूतगुणात्मकम्।
अव्यक्तादि परं यच्च स एव परिगीयते॥
यत् तद् यतिवरा मुक्ता ध्यानयोगबलान्विताः।
प्रतिबिम्बमिवादर्शे पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्॥[4]

वे भगवान् वासुदेव सत्य और ऋत हैं, पवित्र और पुण्य हैं, शाश्वत और

---

१. महाभारत अनुक्रमणी १।२५६.
२. ध्व० पृ० ५३१–२
३. ध्व० पृ० ५३२ पं० २.
४. महाभारत आदिपर्व अनुक्रमणी अध्याय अर्थात् अध्याय १ श्लोक २५६–६०

परम ब्रह्म वे ही हैं। सनातन और ध्रुव ज्योति वे ही हैं। मनीषी जन उनके कर्मों की दिव्यता की कथा कहा करते हैं, असत् और सदसत् विश्व उन्हीं से फूटता है, सन्तति, प्रवृत्ति जन्म, मृत्यु और पुनर्भव उन्हीं से होते हैं, पञ्चभूतगुणात्मक जो यह अध्यात्म है और जो उसी प्रकार के अव्यक्त आदि पर तत्त्व हैं उन सब में वास्तविक तत्त्व ये ही भगवान् हैं। मुक्तात्मा यतिजन ध्यानयोग के बल से इन्हीं भगवान् को अपनी आत्मा में आदर्श में प्रतिबिम्ब की नाईं देखा करते हैं।

यह निगूढ और रमणीय अर्थ महाभारतसंहिता के अन्त से भी प्रमाणित हो जाता है। अन्त में कृष्णद्वैपायन मुनि ने हरिवंश का ही न वर्णन किया है? यह भी भगवान् वासुदेव का ही स्मरण है, जो ग्रन्थ का ऐदम्पर्य उन्हीं के कीर्तन में बतलाता है।[1] इसका अर्थ यही हुआ कि भगवदतिरिक्त वस्तुजात का वर्णन पूर्वपक्ष के रूप में ही महाभारतसंहिता[2] में अपनाया गया है। सिद्धान्तपक्ष के रूप में भगवान् वासुदेव का ही वर्णन किया गया है, यह भी इसलिए कि उनके प्रति अध्येता के चित्त में परा भक्ति उत्पन्न हो सके। देवता, देवतीर्थ, तपोवन आदि पुण्यस्थलों के अतिशय प्रभाव का वर्णन उन्होंने इसीलिए किया। उसका और कोई उद्देश्य हो सकता ही नहीं। वे उसी परब्रह्म की प्राप्ति के उपाय हैं, क्योंकि देवता तो उसी परात्पर प्रभु के अंश हैं, उसी की विभूति हैं, अन्य सब भी उसी का वैभव है। पाण्डव आदि का वर्णन भी उसी प्रभु की प्राप्ति का उपाय है, क्योंकि उनसे वैराग्य उत्पन्न होता है और वैराग्य से मोक्ष। मोक्ष भी उसी प्रभु की प्राप्ति का उपाय है। गीता के पद्यों और प्रकरणों में मुख्यरूप से यही तथ्य स्पष्ट किया गया है[3]।

'वासुदेव'[4] शब्द से भ्रान्ति हो सकती है कि भगवान् को वासुदेव का पुत्र और मनुष्य माना जा रहा है, परन्तु ऐसी कोई बात नहीं है, क्योंकि वासुदेव शब्द परमतत्त्व और परब्रह्म का भी वाचक है। गीता में वासुदेवशब्द का प्रयोग इसी अर्थ में मिलता है। रामायण में तो भगवान् राम के लिए भी वासुदेव[5] का प्रयोग

---

१ ध्व० पृ० ५३२

२-४ ध्व० पृ० ५३२-३

५ ध्वन्यालोककार कुछ ऐसा ही कहना चाहते हैं, किन्तु रामायण में भगवान् राम के लिए कृष्ण तथा सनातन शब्द ही मिलते हैं वासुदेव शब्द नहीं। द्र० यही पृ० १६६-६७ भी।

है। इस कारण वासुदेवशब्द से केवल इतना ही नहीं समझना चाहिए कि यह मथुरा मे वसुदेव के यहाँ उत्पन्न होने मात्र की बात तक सीमित है। यह शब्द मथुरा में हुए प्रादुर्भाव से लेकर अन्त तक किए सभी कार्यों से युक्त श्रीकृष्ण का वाचक है। उन कार्यों मे विश्वरूप दर्शन भी है। उससे क्या सिद्ध होता है ? यही न, कि श्रीकृष्ण परमात्मा है। और इस पद्य 'भगवान् वासु०' में भी तो वासुदेव के साथ भगवान् तथा सनातन शब्द का प्रयोग है। वस्तुतः शब्द तो नित्य हैं। बाद में किसी एक घटना के साथ उन्हे जोड़ दिया जाता है।

इस कारण अनुक्रमणी[1] में भगवान् को ही जो प्रमुखता दी गई है उससे स्पष्ट है कि पूरी महाभारतसंहिता से उसी एक तत्त्व का प्रतिपादन किया गया है। शास्त्रीय भाषा में उसे हम मोक्ष कह सकते है और काव्यभाषा में वही तृष्णाक्षय से उत्पन्न परम आनन्द से अभिन्न शान्तरस कहा जा सकता है।

इस तथ्य को महाभारत के निर्माता ने उस प्रकार वाच्यरूप में नहीं कहा जिस प्रकार अनुक्रमणी अध्याय में ही उन्होंने अन्य तथ्यों को कहा है। कारण यह है कि जो अर्थ अत्यन्त सारभूत होता है उसे इसी प्रकार, संकेतात्मना ही कहा जाता है। और उसे इसी प्रकार से कहने मे शोभा रहती है। फिर विदग्धपरिषदों में यह बात प्रसिद्ध ही है कि जो वस्तु अत्यन्त सारभूत होती है उसे साक्षात् शब्द द्वारा न कहकर व्यङ्ग्यरूप से ही कहा जाता है। इस प्रकार महाभारत का अङ्गी रस शान्त ही है। व्यास जी ने उसी को अन्य रसों, अन्य भावों और अन्य विच्छित्तियों से सजा-धजाकर उपस्थित किया है। और इसीलिए उनकी यह संहिता नवनवायमान प्रतीत होती है।[2]

रस[3] के अनुरूप अर्थ का निवेश करने पर यदि अलङ्कार न भी रहे तो वाक्य अतिशय छायाशाली प्रतीत होता है। उदाहरणार्थ—

> मुनिर्जयति योगीन्द्रो महात्मा कुम्भसम्भवः।
> येनैकचुलुके दृष्टौ तौ दिव्यौ मत्स्यकच्छपौ॥

कुम्भ से उत्पन्न महात्मा और योगीन्द्र मुनि (अगस्त्य) की महिमा की होड़ नहीं, जिनने अपनी एक चुल्लू में उन दोनों दिव्य मत्स्य और कच्छप को देखा।

---

१. ध्व० पृ० ५३३.
२. ध्व० पृ० ५३३.
३. ध्व० पृ० ५३४.

यहाँ अद्भुत रस है। एक ही चुल्लू में दिव्य मत्स्य (मत्स्यावतार) और दिव्य कच्छप (कच्छपावतार) का दर्शन इस रस के अनुरूप घटना है। फिर एक ही चुल्लू में सारे समुद्र को उठा लेने की बात भी इससे ध्वनित होती है जो अपने आप में आश्चर्य की बात है। समुद्रसम्बन्धी यह घटना अद्भुतरस के लिए और भी अधिक पोषक है। इस पद्य में कोई अलंकार नही है, तथापि पद्य आकर्षक और चित्तावर्जक है। यह रस का ही प्रभाव है। यही बात बिना रस के लोकप्रसिद्धि के रूप में उपस्थित की जाय तो इसमें कोई चमत्कार न होगा। अन्य रसो में भी यह स्थिति देखी जाती है। जैसा कि पूर्वोक्त 'स्विद्यति०' पद्य से स्पष्ट है।[1]

निम्नलिखित स्थलो से भी स्पष्ट है कि एक ही वस्तु अवस्था, देश और काल आदि के अन्तर से भिन्न प्रतीत होती है और उसमे नवीनता आ जाती[2] है—

[१] अवस्थाभेद से नवीनता[3]—

[क] इसका एक उत्तम उदाहरण है कुमारसभव मे भगवती पार्वती का वर्णन। कालिदास ने पहले तो प्रथम सर्ग में उनका वर्णन किया, फिर तृतीय सर्ग में, पुन पञ्चम सर्ग में, सप्तम सर्ग में और अष्टम सर्ग में। जब हम प्रथम सर्ग में उनका वर्णन पढते है तो ऐसा लगने लगता है कि अब ऐसी कोई बात रह नही गई जिसके लिए पार्वती का वर्णन पुन किया जा सके, किन्तु तृतीय सर्ग में उन्हें कवि जब पुन प्रस्तुत करता है और वसन्त-पुष्पो से अलङ्कृत वेष में उन्हें सामाजिक के दृष्टिपथ में लाता है तो उसका वर्णनशिल्प पुन प्रत्यग्र ही प्रतीत होता है, उसे पढने से चित्त अघाता नही। तपस्विनी के रूप में कवि उन्हे पुन पञ्चम सर्ग में चित्रित करता तो वहाँ भी कुछ ऐसी ही मन स्थिति सामाजिक के अनुभव मे आती है। सप्तम सर्ग में विवाहनेपथ्य के समय वह उन्हें पुन सामाजिक के समक्ष चित्रित करता और आकर्षण का ही विषय बना रहता है। ऐसी ही स्थिति अष्टम सर्ग में भी आती है जब कवि सौभाग्यवती पार्वती को अपने सौभाग्यदेवता शिव के साथ

१ ध्व० पृ० ५३५

२ अवस्थादेशकालादिविशेषैरपि जायते।
आनन्त्यमेव वाच्यस्य शुद्धस्यापि स्वभावत ॥ ४।७ ॥

३ ध्व० पृ० ५३८-३९

परिणीता पत्नी के रूप में उपस्थित दिखलाता और उनकी परिवर्तित स्थिति का चित्रण करता[1] है। ये सब चित्र आए हुए हैं एक ही जगह, एक ही काव्य में और (केवल[2] आठ सर्ग के) अति लघुकाय महाकाव्य में, किन्तु ऐसा नहीं कि ये 'अपुनरुक्त' और 'नवनवार्थनिर्भर' नहीं लगते।

चेतन वस्तु भिन्न अवस्था में भिन्न प्रतीत होती ही है। जैसे एक ही नारी जब 'कुमारी' रहती है उस समय उसकी जो स्थिति रहती है वह उसमें कामभाव का आविर्भाव होते ही बदल जाती है। उस समय उसको कितने ही रूपों में चित्रित किया जा सकता है। ऐसी कुमारियों में कुछ विनीत होती हैं, कुछ अविनीत। उनकी स्थिति को लेकर काव्यनिर्माण किया जाए तो उसमें पर्युषितता कदापि नही आती।

इसीलिए हमने विषमबाणलीला में कहा है—

न च तेषां घटतेऽवधिर्न च ते दृश्यन्ते कथमपि पुनरुक्ताः।
ये विभ्रमाः प्रियाणामर्था वा सुकविवाणीनाम्॥[3]

न तो उनकी सीमा ही ठहरती, न वे पुनरुक्त ही दिखाई देते। क्या? प्रिया के विभ्रम और सुकवि-वाणी के अर्थ।

[ख] अवस्थाभेद एक दूसरी तरह से भी होता है, जब कभी अचेतन वस्तु का वर्णन चेतनरूप में किया जाता है, उसको आत्मस्वरूप मानने वाले देवता या अधिष्ठातृ चैतन्य की कल्पना कर। जैसे हिमालय या गङ्गा का वर्णन। इनका वर्णन चेतनरूप में उपस्थित होने पर लगता है, ये कुछ और ही हैं। प्रमाण है कुमारसम्भव में ही हिमालय का वर्णन। कवि ने पहले तो हिमालय के वर्णन से ही काव्य का आरम्भ किया, किन्तु वहाँ उसके स्थावर रूप का

---

१. आनन्दवर्धन ने पञ्चमसर्ग और अष्टमसर्ग के पार्वतीवर्णन का उल्लेख सांकेतिक रूप से किया है।—ध्व० पृ० ५४०॥

२. हमारी और हमारी शोधछात्रा डॉ० कृष्णा विश्वास की स्थापना है कि कुमारसंभव के ९-१७ सर्ग कालिदास के नहीं हैं। द्र० डॉ० विश्वास का शोधग्रन्थ 'कुमारसंभव (१–८) का शास्त्रीय अध्ययन' रायपुर वि० वि०।

३. ण अ ताण घडइ ओही, ण अ ते दीसन्ति कह वि पुनरुत्ता।
जे विब्भमा पिआणं अत्था वा सुकइ-वाणीणम्॥ की छाया (ध्व० पृ० ५३०)

वर्णन किया। पुन छठे सर्ग में सप्तर्षिमण्डल की ओषधिप्रस्थ-यात्रा के प्रसङ्ग में उसका वर्णन किया, वहाँ उसका वर्णन एक अधिराज या कुटुम्बी श्रीमान् के रूप में किया। दिखलाया कि वह सप्तर्षियो का स्वागत कर रहा है, उनके समक्ष प्रिय और मीठी विनयपूर्ण बातें कह रहा है। लगता है प्रथम सर्ग मे हिमालय सोया हुआ था, छठे सर्ग में जाग उठा है। एकदम नवीन ही प्रतीत होता है वह वहा।[1]

इस प्रकार की नवीनता कितना सौन्दय बिखेरती है यह प्रसिद्ध ही है।

[माघ[2] का वचन इसी बात को कहने के लिए अमर ही है—

क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूप रमणीयताया ।]

हमने भी विषमबाणलीला में यह तथ्य कविजनो के मार्गदर्शन के लिए विस्तारपूर्वक प्रतिपादित कर दिया है।[3]

जिस प्रकार अचेतन को चेतनरूप में प्रस्तुत करने से नवीनता आती है उसी प्रकार उनकी आरम्भ आदि अवस्थाओ के भेद से भी उनमें नवीनता आती है। इन अवस्थाओ का एक एक करके वर्णन किया जाये तो काव्यार्थ की कमी नही पडती।[4] उदाहरणार्थ—

हंसाना निनदेषु[5] यै कवलितैरासज्यते कूजता-
मन्य कोऽपि कषायकण्ठलुठनादाघर्घरो विभ्रम ।
ते सम्प्रत्यकठोरवारणवधूदन्ताङ्कुरस्पर्धिनो
निर्याता कमलाकरेषु बिसिनीकन्दाग्रिमग्रन्थय ॥

कमलिनी के मृणालकन्द की वारणवधू के अकठोर दन्ताङ्कुर से स्पर्धा रखने वाली वे अगली गाँठे अब कमलाकरो में निकल आई है जिनके

---

१ ध्व० पृ० ५३९–४०

२ प्रमाणार्थ माघ का यह उल्लेख लोचनकार ने किया है और उनने ही माघ के 'क्षणे क्षणे' पद्य को उपस्थित किया है।

३ ध्व० पृ० ५४० आनन्दवर्धन की 'विषमबाणलीला' मिलती नही है।

४ ध्व० पृ० ५४०

५ 'निनदेषु' के स्थान पर 'रसितेषु' शब्द उपयुक्ततर होता। अथवा निनद का अर्थ बहुत ऊँचा शोर कर लें।

कवलन से, कूज रहे हंसों के कूजन में आघर्घरता का कोई विभ्रम चला आता है, उनके कषायकण्ठ से फिसल कर जो वे बाहर आते हैं।[1]

क्या यहाँ कमलिनीकन्द का वर्णन बासीपन लिए हुए है, यद्यपि संस्कृत-काव्यों में कमलिनी या उसकी मृणाल का वर्णन भरा पड़ा है। इसी प्रकार अन्य वस्तुओं के अन्य उदाहरण खोजे जा सकते हैं। कवियों को नवीनता के लिए इस दिशा का भी अनुवर्त्तन करना चाहिए।[2]

[२] देशभेद से नवीनता[3] :

यह एक प्रसिद्ध तथ्य है। अचेतनों में एक ही वायु का वर्णन एक एक दिशा और एक एक देश को लेकर किया जाए तो कितनी ही नवीनतम उक्तियाँ प्रस्तुत हो सकती हैं। जलाशय, पुष्पोद्यान आदि की भी स्थिति यही है। संस्कृत में इनकी एक एक विशेषता पर कितना नहीं लिखा गया है? किन्तु उससे कभी भी मन नहीं ऊबता। वह नवनवायमान ही रहता है। चेतन पदार्थ भी देशभेद से नवीन और नानाप्रकार के प्रतीत होते हैं। एक ही मनुष्य ग्रामवासी के रूप में जैसा रहता है, नगरवासी के रूप में वैसा नहीं। एक ही पशु ग्राम्य पशु के रूप में जैसा प्रतीत होता है, आरण्य पशु के रूप में उससे भिन्न। एक ही पक्षी नभश्चर के रूप में जैसा लगता है, जलचर के रूप में उससे भिन्न। मनुष्य को लीजिए। देश-देश के विचित्र मनुष्य दिखाई देते हैं, स्त्रियाँ विशेषरूप से। उनके कार्य, बोलियाँ[4] और बोलने के ढंग विचित्र विचित्र होते हैं। उन सब विचित्रताओं की गणना की जाने लगे तो उनका अन्त कौन पा सकता है। फिर भी सुकवि-जन उन सबका वर्णन अपनी प्रतिभा के अनुसार करते ही हैं।[5]

[३] कालभेद से नवीनता[6] :

अचेतन पदार्थ कालभेद से नवीन प्रतीत होते हैं। इसके लिए दूर जाने की आवश्यकता नहीं है। हमारे आस-पास की दिशाएँ, हमारे सिर पर छाया आकाश और हमारे दैनन्दिन सम्पर्की जलाशय ही इसके लिए पुष्कल प्रमाण हैं। ऋतुओं

१-२ ध्व० पृ० ५४०

३. ध्व० पृ० ५४१

४. मूल में 'व्यवहार' पाठ है अतः उसका अर्थ होगा रीतिरिवाज। अच्छा होता यहाँ 'व्याहार'-पाठ होता। व्याहार का अर्थ है बात करने का ढंग।

५-६ ध्व० पृ० ५४१

के परिवर्त्तन के साथ इसमें जो अन्तर, परिवर्त्तन और अभिनवता आती है वह किससे छिपी है[1] ?

चेतन पदार्थ भी ऋतुओ के परिवर्त्तन के साथ उसी आकाश, उन्ही दिशाओ और उन्ही पडोसी जलाशयो से अपनी छिपी चेतना में नई गुदगुदी का अनुभव करते है।[2] मेघदूत[3] का यक्ष मेघालोक से औत्सुक्य मे कितना नही डूबा ? वही कवि ने कहा—

मेघालोके भवति सुखिनोऽप्यन्यथावृत्ति चेत ।

मेघ का चहुँओर घेरा देख सुखी का चित्त भी बदल जाता है।

[४] स्वालक्षण्य से नवीनता[४]

अवस्था, देश और काल के भेद से चेतन या अचेतन वस्तु की भिन्नता या नवीनता की बात बाद की है, पहले तो वस्तु का जो अपना स्वरूप है वह स्वय ही प्रतिपिण्ड भिन्नता लिए रहता है। स्वभावोक्ति पर आरूढ कवि यदि इन पिण्डीय विशेषताओं का ही आलेखन अपनी उक्ति मे कर दे तो यही एक अक्षय, गणनातीत और असीम काव्यवस्तु या कथ्य, वर्ण्य, काव्यार्थ सिद्ध होगा। यह तथ्य तो अतिप्रसिद्ध है। इसी को दार्शनिक 'स्वालक्षण्य'[५] नाम से पुकारते है।

'स्वालक्षण्य' ही वह कारण है जिससे उक्ति में वैचित्र्य आता है। यदि अर्थ में वैचित्र्य न हो तो उक्ति में वैचित्र्य नही आ सकता, क्योकि वाचक का वाच्य के साथ या भाषा का वक्तव्य अर्थ के साथ अभेद रहता है।

यद्यपि कवि व्यवहित [ओझल], अतीत और अनागत वस्तुओ का दर्शन भी करता है, और वह योगी नही होता, अत उसे वस्तुओं का एकमात्र सामान्य स्वरूप ही दिखाई देता है, विशिष्ट या स्वलक्षण स्वरूप नही, फलत यह कथन एक तर्कविरुद्ध कथन सा प्रतीत होता कि 'कवि अपनी प्रत्येक उक्ति मे अर्थ के

१-२ ध्व० पृ० ५४१

३ मेघदूत की यह चर्चा आनन्दवर्धन ने इस रूप में नही की है। उन्होने 'औत्सुक्य'-शब्द का प्रयोग किया है। औत्सुक्यशब्द मेघदूत का ही है— 'इत्यौत्सुक्यादपरिगणयन्'। औत्सुक्य ही मेघदूत का मेरुदण्ड है, मूल है। आनन्दवर्धन कालिदास को मुख्य लक्ष्य बनाकर यहाँ यह सब लिख रहे है।

४ ध्व० पृ० ५४१

५ 'स्वालक्षण्य वृत्तिस्त्रयस्य०'=[साख्यकारिका २९]।

वैचित्र्य का, उसके स्वालक्षण्य का दर्शन करता है', तथापि इसे स्वीकार करना पड़ता है; कारण कि कवि सामान्य का दर्शन भी प्रतिभा के बल पर करता है, जिसमें कल्पना[1] का स्पर्श भी रहता ही है। और, जहाँ तक कल्पनाक्षेत्र का सम्बन्ध है उसे प्रतिव्यक्ति, कल्पना कर रहे प्रत्येक व्यक्ति के साथ भिन्न और नवीन मानना होगा। यह नवीनता अर्थ के रूपाङ्कन की नवीनता ही होगी और माना कि कवि को वस्तु के स्वलक्षण का दर्शन योगी के समान उसकी सूक्ष्मतम विशेषताओं, सूक्ष्मतम स्वालक्षण्यों के साथ नही होता, तथापि उसके दर्शन में आए पदार्थ की स्थूलता या सामान्यता में कुछ सूक्ष्मता, कुछ भेदकता, कुछ अपनापन, कुछ अन्तर और कोई न कोई स्वालक्षण्य रहता ही है। इसीलिए प्रत्येक कवि महत्त्व पाता है। ऐसा न होता तो वाल्मीकि यानी आदि कवि के बाद हुए किसी का दर्शन नवीन होता ही नही। इस कारण उक्तिवैचित्र्यवादी को वाच्य में भी वैचित्र्य विवश होकर स्वीकार करना ही पड़ता है।[2]

[५] उक्तिवैचित्र्य से नवीनता[3]

एक ही वक्तव्य यदि भिन्न भिन्न प्रकार से कहा जाए तो वह भी कई गुना हो जाता है। उपमा के माध्यम से कही गई बात जब रूपक के माध्यम से कही जाती है तो उसमें अवश्य ही वैचित्र्य आ जाता है। वही बात यदि श्लेष या उपमा-श्लेष के द्वारा कही जाए तो उसका चारुत्व कुछ और ही होता है। समासोक्ति-विषया यदि उसी तथ्य का कथन सामने आता है तो उसमें भी भिन्नता रहती है। ये सब 'भणिति' या 'उक्ति' के वैचित्र्य को पहचानने के स्थल है। यदि इन

---

१. वाल्मीकिव्यतिरिक्तस्य यद्येकस्यापि वस्तुनः।
इष्यते प्रतिभार्थेषु तत् तदानन्त्यमक्षयम् ॥
(ध्व० पृ० ५४३. यहाँ प्रतिभा को कल्पनायुक्त मानना होगा)

२. ध्व० पृ० ५४१–३. कदाचित् इसी शास्त्रार्थ की पृष्ठभूमि पर महिमभट्ट ने प्रतिभा को तृतीय नेत्र कहा और कहा कि कवि भी वस्तु का प्रत्यक्ष योगी के ही समान कर लिया करता है—

क्षणं स्वरूपस्पर्शोत्था प्रज्ञैव प्रतिभा कवेः।
सा हि चक्षुर्भगवतस्तृतीयमिति गीयते।
येन साक्षात्करोत्येष भावांस्त्रैकाल्यवर्तिनः ॥
(व्यक्तिविवेक—हमारे अनुवाद का पृष्ठ ४५३)

३. ध्व० पृ० ५४३

पर ध्यान रखा जाए और काव्य बनाया जाए तो काव्यप्रतिभा का एक बीज सैकडो शाखाओ का एक अति महान् रूप लेकर विभूतिमय आकार में सामने उपस्थित होता[1] है।

[६] भाषावैचित्र्य से नवीनता[2]

भणितिवैचित्र्य केवल अलकार पर ही निर्भर नही रहता। उसका एक आधार भाषा भी है। जो बात सस्कृत में कही गई है वही भाषान्तर में कही जाती है तो उसका जायका कुछ और ही होता[3] है। उदाहरण—

महमह इत्ति भणन्तउ वज्जदि कालो जणस्स।
तोइ ण देउ जणद्दण गोअरो भोदि मणसो॥

इसमें आए 'मह मह'—शब्द की एक सस्कृत छाया होगी 'मम मम' अर्थात् 'मेरा मेरा', और दूसरी होगी 'मधुमथ' अर्थात् 'श्रीकृष्ण'। अब इस गाथा का अर्थ होगा—

'मह मह' यह कहते कहते लोगो का समय निकलता जाता है तब भी जनार्दनदेव मन में भी नही आते।

यहाँ एक अर्थ तो यह होगा कि 'मेरा मेरा करते आदमी मरण तक पहुँच जाता है तब भी उसे सीख नही मिलती और वह एक बार भी भगवान् का ध्यान नहीं करता', दूसरा अर्थ यह भी निकलेगा कि 'अहर्निश 'मधुमथ' यानी 'श्रीकृष्ण' ही कहते रहते है, किन्तु भगवान् मानस दर्शन भी नही देते'। जो व्यक्ति 'मधुमथ' कहता रहेगा उसके मन में श्रीकृष्ण क्यों नही आएँगे? अवश्य ही यह अर्थ विरोधाभास लिए हुए है। किन्तु यह विरोध 'सस्कृत' से प्रतीत नही होता। यह 'महमह' इस सिन्धुदेशी अपभ्रश से ही प्रतीत होता[4] है।

इस प्रकार जितनी गहराई में जाते है काव्य के लिए अपेक्षित अर्थों का पार नही मिलता। किन्तु,

नवीनता का मुख्य हेतु रस

यह जो काव्यार्थ की अनन्तता है, अर्थात् भाति भाति के काव्यार्थ है,

---

१ ध्व० पृ० ५४८ पङ्क्ति २।
२-३ ध्व० पृ० ५४४ हिंदी का रामचरितमानस इसका उत्तम प्रमाण है।
४ ध्व० पृ० ५४४ लोचनकार ने 'महमह'-शब्द को सैन्धव भाषा का शब्द कहा है।

उन्हें हम अपने आप में सुन्दर नहीं पाते जब तक ये रस के आश्रय नहीं बनते। महाकाव्य आदि में जहाँ हम इन अर्थों को सहस्र सहस्र भङ्गिमाओं में बिखरा देखते हैं, वहाँ सर्वत्र रसस्पर्श[1] रहता है, और इसी कारण इनमें चारुता आती[2] है। रसपरिग्रह से एक यह भी लाभ होता है कि उक्त सामग्री में बिखरापन नहीं आ पाता। अवस्थादिभेद से एक ही वस्तु के यत्र तत्र कितने ही वर्णन क्यों न किया जाए, यदि 'रस' की अन्विति रहती है तो उन सब वर्णनों में सम्बद्धता प्रतीत होती रहती[3] है। और—

इस प्रकार से कवि जब काव्यार्थसामग्री के विराट् क्षेत्र में पहुँच जाता है तब उसे वक्तव्य का टोटा नहीं पड़ता। उक्त क्रम से काव्यार्थ-सामग्री इतनी विशाल हो जाती है कि एक कवि नहीं, सहस्रों सहस्र वाचस्पति भी अपनी पूरी शक्ति लगाकर उसके 'कृत्स्न' को अभिव्यक्ति देना चाहें और उसके सम्पूर्ण कोश को परिसमाप्त कर देना चाहें तो नहीं कर सकते, ठीक वैसे ही जैसे सहस्र सहस्र ब्रह्माण्डपिण्ड मिलकर (सांख्य-) प्रकृति के विराट् कोश की संपूर्णता को[4]। किन्तु यह आवश्यक है कि,

रसविरोध

कवि रसपरिग्रह के पूर्व रसविरोध से सावधान रहा आए और यह प्रयत्न करता रहे कि उसके काव्यशिल्प में ऐसी कोई स्थिति न आ सके, जिससे प्रधान रस का विरोध होना सम्भव हो। यह अवधान केवल प्रबन्ध काव्य में ही नहीं, मुक्तक काव्य में भी अति अपेक्षित है। नहीं तो वह एक श्लोक भी ठीक नहीं बना सकेगा[5]।

---

१. 'रसस्पर्श' का यही सिद्धान्त कदाचित् 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' का मूल है।

२. अवस्थादिविभिन्नानां वाच्यानां विनिबन्धनम्।
भूम्नैव दृश्यते लक्ष्ये तत् तु भाति रसाश्रयात्॥ ध्व० ४।८॥

३. पूर्वोद्धृत 'रसभावादिसम्बद्धा यद्यौ०' कारिका, यहीं पृ० ४३९॥

४. वाचस्पतिसहस्राणां सहस्रैरपि यत्नतः।
निबद्धा सा क्षयं नैति प्रकृतिर्जगतामिव॥ ध्व० ४।१०॥

५. [क] रसो यदा प्राधान्येन प्रतिपाद्यस्तदा तत्प्रतीतौ व्यवधायका विरोधिनश्च सर्वात्मनैव परिहार्याः। (ध्व० पृ० ३२०)

[ख] प्रबन्धे मुक्तके वापि रसादीन् बन्धुमिच्छता।
यत्नः कार्यः सुमतिना परिहारे विरोधिनाम्॥ (ध्व० ३।१७)

विरोधी परिस्थिति

रसविरोध जिन स्थितियों में सम्भावित रहता है उनमें कुछ निम्न-लिखित है—

[१] विरोधी रस की सामग्री का उपादान [1]

यदि प्रस्तुत रस से विरुद्ध रस के विभाव अनुभाव या संचारी भाव को स्थान दिया जाता है तो उसमें प्रस्तुत रस अपनी विश्रान्ति तक नहीं पहुँच पाता। उदाहरणार्थ यदि शान्त रस का प्रसङ्ग चल रहा हो तो उस समय शृङ्गार के विभाव को उपस्थित कर दिया जाए यानी नायकनायिका का वर्णन आरम्भ कर दिया जाए, चित्त को शान्त करने वाली भगवत्कथा चल रही हो उस समय मेघ-दूत के यक्ष को उपस्थित कर उसके मुख से उसकी प्रियतमा का जो चित्रण कालिदास ने अनेक पद्यों में कराया है उसको उसकी बारीकियों के साथ बिखेर दिया जाए तो कहाँ रहेगी चित्त की शान्ति। इसी प्रकार,

भाव पर भी ध्यान रखना चाहिए। विरुद्ध संचारी भावों से भी रस-विरोध सम्भव होता है। उदाहरणार्थ नायिका रूठी हुई है। मान ही नहीं रही है। उस समय उसे जीवन की क्षणभङ्गुरता का उपदेश कर काल-यापन से विमुख हो निविड परिभोग के लिए उद्यत किया जाए।[2]

अनुभाव भी कभी विरुद्ध स्थिति पैदा कर देते हैं। उदाहरणार्थ यदि कोई नायिका रूठी हो और जरा भी मान ही न रही हो तो नायक कोपावेश में आ जाए। कोपावेश रौद्ररस का अनुभाव है जो शृङ्गारविरोधी प्रकृति का रस है।[3]

---

१ विरोधिरससम्बन्धिविभावादिपरिग्रहः ।
विस्तरेणान्वितस्यापि वस्तुनोऽन्यस्य वर्णनम् ॥
अकाण्ड एव विच्छित्तिरकाण्डे च प्रकाशनम् ।
परिपोषं गतस्यापि पौनःपुन्येन दीपनम् ॥
रसस्य स्याद् विरोधाय वृत्त्यनौचित्यमेव च ॥
(ध्व० ३।१८–१९, तथा वृत्ति पृष्ठ ३६१)

२ उदाहरणार्थ—अभिनवगुप्त और मम्मट द्वारा प्रस्तुत—'प्रसादे वर्तस्व प्रकटय मुद सत्यज रुष' पद्य का चतुर्थ चरण—'न मुग्धे प्रत्येतु प्रभवति गत काल-हरिण'=हे सुन्दरी शीघ्र मान जा, बीता समय लौटता नहीं।
(ध्व० पृ० ३६२ काव्यप्रकाश उ० ३२७)

३ ध्व० पृ० ३६१

[२] रस से सम्बद्ध नीरस वस्तु का अतिविस्तृत वर्णन[1]

जब कभी नीरस वस्तुओं को कवि रस के प्रसङ्ग मे अधिक स्थान दे देता है तब भी प्रकृत रस की अनुभूति में विघ्न पड़ता है। उदाहरणार्थ कोई कवि किसी नायक का विप्रलम्भ शृङ्गार प्रस्तुत कर रहा हो, उस समय, लगे वह यमक आदि की छटा प्रस्तुत करने और उससे पर्वत आदि का वर्णन करने। यद्यपि ऐसे वर्णनों का भी प्रकृत रस से कुछ तो सम्बन्ध रहता ही है, तथापि उतनी सम्बद्धता रसविघ्न से रक्षा कर नही पाती[2]।

[३] रस का असमय में विच्छेद[3]

जब कभी रस को कवि वहाँ छोड़ देता है जहाँ उसे उपनिबद्ध किया जाना चाहिए तब भी रसानुभूति में विघ्न आता है और वैसा करना रसविरुद्ध ठहरता है। उदाहरणार्थ शृङ्गार रस चल रहा हो और नायक को नायिका के अत्यधिक स्पृहणीय समागम का अवसर मिल रहा हो, दोनों को दोनों का अनुराग भी विदित हो गया हो, तब समागम के उपाय का संविधान प्रस्तुत न कर और ही कुछ लिखने लगना[4]।

[४] रस का असमय में प्रकाशन[5]

रस को असमय में छोड़ने के समान ही असमय में प्रकाशित करना भी विरुद्ध ठहरता है उसकी अनुभूति में। उदाहरणार्थ—एक ओर प्रलयङ्कर संग्राम छिड़ा हो और महान् महान् भट कटते जा रहे हों, वहीं दूसरी ओर नायक को विप्रलम्भ शृङ्गार की विह्वल स्थिति में प्रस्तुत किया जाए[6]। यहाँ केवल इतना

---

१. विस्तरेणान्वितस्यापि वस्तुनोऽन्यस्य वर्णनम्=‘अन्यस्य अन्वितस्यापि वस्तुनो विस्तरेण वर्णनम्’ है इसका विवक्षित अन्वय। (ध्व० पृ० ३६१)
२. अकाण्ड एव विच्छित्तिः—ध्व० ३।१८=१९ तथा वृत्ति पृ० ३६२
३. वही
४. ध्व० ३।१८–१९ वृत्ति पृ० ३६३
५. अकाण्डे च प्रकाशनम् (ध्व० ३।१८ वृत्ति पृ० ३६३.)
६. ध्वन्यालोक ने यहाँ किसी अन्य ग्रन्थ का नाम नही लिया है, इसलिए हमने भी किसी ग्रन्थ का उल्लेख नहीं किया। लोचनकार ने इसका लक्ष्य वेणी-संहार का द्वितीय अंक बतलाया है और मम्मट ने उनका अनुसरण किया है, किन्तु यह अन्तिम रूप से माना नहीं जा सकता। कारण कि आनन्दवर्धन→

कहने से समाधान नही हो सकता कि नायक दैवी व्यामोह से ऐसा कर रहा है, कारण कि नाटक लिखते समय कवि का लक्ष्य नायक की अवस्था का चित्रण नही होता, अपितु उसके द्वारा रस की निष्पत्ति कराना होता है। जिससे रस निष्पन्न न हो रहा हो उस किसी भी चित्रण का औचित्य किसी भी तर्क से साबित नही हो सकता[1]। कवि यदि इतिवृत्त लिखने के लिए काव्य या नाटक लिखता है तो उसका यह लिखना निरर्थक है, उद्देश्यविरुद्ध है, अनुपादेय है, कम से कम रस-लालसी सहृदयों, सामाजिको, विदग्धो के लिए[2]। इसीलिए यह कहा गया है कि 'कवि काव्य में वाच्य और वाचक की जो भी सामग्री प्रस्तुत करता है वह केवल उस प्रतीयमान अर्थ और तत्रापि रस के लिए, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कोई भी व्यक्ति दीपक उजालता है आलोक के लिए'[3]। आलोक ही नही तो दीपक व्यर्थ है, बोझ है, और प्रतीयमान अर्थ या रस नही तो जो भी कुछ लिखा जाता है वह सब कूडा है।

कविजन अपनी अमूल्य कृतियो में ऐसी गलती जाने अनजाने कर दिया करते हैं, या उनसे ऐसी गलतियाँ हो जाया करती हैं इसलिए उन्हें सावधान करने के लिए भी हम यह ग्रन्थ (ध्वन्यालोक) लिख रहे हैं। केवल ध्वनि की स्थापना की हवस से ही हम इस ओर प्रवृत्त न माने जाएँ। हमारा मुख्य प्रतिपाद्य यही है कि सुकविजन अपने काव्यो में रस आदि व्यङ्ग्य अर्थों को ही प्रमुखता देने का ध्यान रखें।[4] यदि वे केवल इतिवृत्तवर्णन तक सीमित नही रहेंगे और रस में भी अङ्गाङ्गिभाव का ध्यान रखेंगे तो उनसे ऐसी गलतियाँ नही होगी[5]।

→ ने इस प्रसङ्ग मे नायक को 'रामदेवप्राय' कहा है और उसे वियोगविह्वल चित्रित बतलाया है। वेणीसहार के द्वितीय अक मे नायक दुर्योधन है, और वह विप्रलम्भविह्वल नही है। दुर्योधन को 'रामदेवप्राय' कहने का स्वारस्य भी क्या हो सकता है ? अवश्य ही यह किसी अन्य नाटक की ओर सकेत है। (ध्व० पृ० ३६३)

१ ध्व० पृ० ३६३

२ रसबन्ध एव कवे प्राधान्येन प्रवृत्तिनिबन्धन युक्तम्, इतिवृत्तवर्णन तु तदुपाय एव। ध्व० पृ० ३६३ ॥

३ आलोकार्थी यथा दीपशिखायां यत्नवाञ्जन ।
तदुपायतया तद्वदर्थे वाच्ये तदादृत ॥ ध्व० १।९ ॥

४-५ अत एव चेतिवृत्तमात्रवर्णनप्राधान्ये, अङ्गाङ्गिभावरहितरसभावनिबन्धे च →

[५] पूर्णतः पुष्ट रस का पुनः पुनः दीपन[1]

रसभङ्ग का एक कारण यह भी है कि जिस रस का अनुभव पूर्णतः हो चुका हो उसे पुनः पुनः उसी प्रसङ्ग में उदीप्त करते चलना। ऐसा करने से सामाजिक का चित्त विरक्त हो जाता है और उसका आकर्षण उसमें नही रहता। पुष्प जब पूरी तरह फूल चुकता है और उसका आस्वाद ले लिया जाता है तब उसकी ओर मन नही जाता, तब भी यदि मन को ले जाया जाता है तो वह पुष्प कुम्हलाए पुष्प सा प्रतीत होने लगता है, जिससे वैरस्य ही हाथ लगता है।[2]

[६] वृत्तिगत अनौचित्य[3]

वृत्ति का अर्थ है—

१. नायकनायिका का व्यवहार

२. कैशिकी आदि नाटचवृत्तियाँ तथा

३. उपनागरिका आदि वर्णमैत्रीगत स्थितियाँ।

इन्हे यदि वहाँ उपस्थित किया जाए जहाँ इनको उपस्थित करना अनुचित हुआ करता है तो 'रस' बिगड़ जाता है। इनमें से कैशिकी और उपनागरिका आदि का निरूपण पहले उनके अपने प्रकरण में किया जा चुका है। और उपनागरिका आदि तो (उद्भट आदि के) काव्यालंकारों में प्रसिद्ध ही है। नायकनायिका की वृत्ति के औचित्य के लिए ऐसा समझना चाहिए कि जैसे कोई नायिका अपनी संभोगेच्छा हावभाव से व्यक्त न कर यह कहती हुई व्यक्त करे कि 'मैं आपसे संभोग कराना चाहती हूँ'।

ये है रसभङ्ग के कुछ हेतु। रसभङ्ग के ऐसे ही अन्य हेतुओं की कल्पना सुकविजन स्वयं करें और उनके परिहार में जागरूक रहे[4]।

कविजन कभी कभी पुराने लब्धप्रतिष्ठ कवियों का अनुसरण करते है और

→ कवीनामेवंविधानि स्खलितानि भवन्ति, इति रसादिरूपव्यङ्ग्यतात्पर्यमेवैषां युक्तमिति यत्नोऽस्माभिरारब्ध', न तु ध्वनिप्रतिपादनमात्राभिनिवेशेन।
(ध्व० पृ० ३६४)

१. परिपोषं गतस्यापि पौनःपुन्येन दीपनम्। ध्व० ३।१९ पृ० ३६१ ॥

२. उपभुक्तो हि रसः परिम्लानकुसुमकल्पः कल्पते। ध्व० पृ० ३६४ ॥

३. 'वृत्त्यनौचित्यमेव वा' ध्व० ३।१९ पृ० ३६१ ॥

४. ध्व० वृत्ति पृ० ३६४.

उनके लिए दोष भी अपना लेते हैं। कवियों को चाहिए कि वे ऐसा न करें, क्योंकि यह जो पथ हमने उपस्थित किया है यह ऐसा नीतिपथ है जिसे हमने वाल्मीकि और व्यास जैसे प्रख्यात कवियों के काव्यपथ का अध्ययन कर समझा है। ये महर्षि, कवियों के भी कवि हैं, कवीश्वर हैं। यदि कवियों का अनुकरण किया जा सकता है तो कवीश्वरों का अनुकरण तो और भी अधिक मात्रा में किया जा सकता है। ऐसा करने पर नवीन कवि अवश्य रसविरोध से होने वाली हानियों से बच जाएँगे, क्योंकि तब विरोध उपस्थित करने वाली पूर्वप्रतिपादित विपरीतताएँ उनके काव्य में नहीं आएँगी[1]। मुख्य बात यह है कि 'कवि को सतत ध्यान रखे रहना चाहिए कि उसका प्रमुख लक्ष्य रस है'। रसनिष्पत्ति में ही कवि का यश है और नीरसता में ही अयश।[2]

विरुद्ध रस और उनकी योजना

अभी अभी रसविरोधी तत्वों के प्रतिपादन में पहले तत्व के रूप में 'विरुद्ध रस की सामग्री' का उल्लेख किया गया है। जानना है कि ऐसे रस कौन कौन हैं जिनमें विरोध रहता है और यह भी जानना है कि इनका उपयोग किस प्रकार किया जा सकता है।

विरुद्ध रस

कवियों को ध्यान रखना चाहिए कि निम्नलिखित रस परस्पर में विरुद्ध रहते हैं—

१ शृङ्गार और बीभत्स
२ वीर और भयानक
३ शान्त और रौद्र
४ शान्त और शृङ्गार,[3]

---

१ पूर्वे विशृङ्खलगिरः कवयः प्राप्तकीर्तयः।
तान् समाश्रित्य न त्याज्या नीतिरेषा मनीषिणा।
वाल्मीकिव्यासमुख्याश्च ये प्रख्याता कवीश्वराः।
तदभिप्रायबाह्योऽयं नास्माभिर्दर्शितो नयः॥ (ध्व० पृ० ३६५)

२ मुख्या व्यापारविषयाः सुकवीनां रसादयः।
तेषां निबन्धने भाव्यं तैः सदैवाप्रमादिभिः।
नीरसस्तु प्रबन्धो यः सोऽपशब्दो महान् कवेः॥ (ध्व० पृ० ३६४)

३ ध्व० पृ० ३८१

अविरुद्ध रस :

निम्नलिखित रस परस्पर में विरुद्ध नहीं होते—

१. वीर और शृङ्गार
२. शृङ्गार और हास्य
३. रौद्र और शृङ्गार
४. वीर और अद्भुत
५. वीर और रौद्र
६. रौद्र और करुण
७. शृङ्गार और अद्भुत[1]।

रसयोजना

कभी कभी ऐसा होता है कि अविरुद्ध रस भी विरुद्ध हो जाते हैं और विरुद्ध भी अविरुद्ध। वे परिस्थितियाँ निम्नलिखित हैं—

विरुद्धरस की अविरुद्ध योजना :

विरुद्ध रस भी अविरुद्ध प्रतीत होता है यदि उसे निम्नलिखित दो रूपों में उपस्थित किया जाता है—

१. बाध्यरूप[2] में और
२. अङ्ग रूप में,

[क] बाध्यरूप मे विरुद्ध रस की योजना :

प्रथम की जो बाध्यता है उसका अर्थ है उसका दब जाना। अर्थात् मुख्य रस जब प्रतिष्ठित हो जाए तब यदि विरुद्ध रस का अनुभव इस मुख्य रस के अनुभव मे वैसे ही दबा हुआ प्रतीत हो जैसे चन्द्र के प्रकाश में तारों का प्रकाश, तो वह विरुद्ध रस मुख्य रस का विरोधी नहीं रह जाता। उदाहरणार्थ—

१. ध्व० पृ० ३८०
२. विवक्षिते रसे लब्धप्रतिष्ठे तु विरोधिनाम्।
बाध्यानामङ्गभावं वा प्राप्तानामुक्तिरच्छला॥ (ध्व० ३।२० कारिका)
३. अभिभवशब्द का अर्थ सांख्यकारिका में उसके टीकाकार आचार्य वाचस्पति-मिश्र ने सूर्य के प्रकाश में तारों का दृष्टान्त देकर किया है। हमने स्थिति के अनुसार सूर्य के स्थान पर चन्द्र को अपनाया है। द्र० सांख्यकारिका—'प्रीत्यप्रीतिविषादात्मका०' की सांख्यतत्त्वकौमुदी।

[अ] क्वाकार्यं शशलक्ष्मण क्व च कुलं, भूयोऽपि दृश्येत सा
दोषाणां प्रशमाय मे श्रुतमहो कोपेऽपि कान्तं मुखम्।
किं वक्ष्यन्त्यपकल्मषा कृतधियः स्वप्नेऽपि सा दुर्लभा
चेतः स्वास्थ्यमुपेहि कः खलु युवा धन्योऽधरं पास्यति ॥

चन्द्रवंश का कोई वियुक्त [कदाचित् पुरूरवा] यह कह रहा है। इसमें,

१ वितर्क[1]
२ औत्सुक्य
३ मति
४ स्मरण
५ शङ्का
६ दैन्य
७ धृति तथा
८ चिन्ता

ये आठ सञ्चारी भाव इस प्रकार व्यक्त हो रहे हैं—

वितर्क कहाँ तो ऐसा अकार्य और कहाँ चन्द्रवंश।
औत्सुक्य यदि वह एक बार और दिखाई दे जाती।
मति मैंने शास्त्राध्ययन इसीलिए किया है कि अपने विकारों को शान्त करूँ।
स्मरण अहो, उसका मुखमण्डल कोप में भी कान्तिमान् रहता था।
शङ्का क्या कहेंगे निर्मल बुद्धि के विद्वान् ?
दैन्य अब तो वह स्वप्न में भी दुर्लभ हो गई।
धृति चित्त ? अब तू स्वास्थ्य प्राप्त कर ले।
चिन्ता कौन सा ऐसा धन्य युवक होगा जो उसके अधर का पान करेगा।

इनमें वितर्क औत्सुक्य से, मति स्मरण से, शङ्का दैन्य से और धृति चिन्ता से दबी हुई, उसमें लुप्त प्रतीत हो रही है। औत्सुक्य, स्मरण और दैन्य भी चिन्ता में

१ इन सब भावों का और इनमें विद्यमान बाध्यबाधकभाव का निरूपण लोचन में हुआ है। ध्व० पृ० १७७ तथा पृ० ३६७–८, मूल में केवल पद्य ही उद्धृत कर दिया गया है और उसपर कोई वृत्ति नहीं दी गयी है।

विलुप्त प्रतीत हो रहे हैं, और वह चिन्ता भी अपने गर्भ में उक्त समस्त भावों को समेटे हुए कान्ताविषयक विप्रलम्भ रति में प्रलीन हो रही है। यह रति शृङ्गार रस है, अतः वही यहाँ प्रधान है। ध्यान देने की बात है कि अपने वंश का बोध, अपने ज्ञान और वैदुष्य की स्मृति और अपनी लोकप्रतिष्ठा का स्मरण ऐसे भाव हैं जो चाञ्चल्य-विरोधी हैं। वियोगविह्वलता एक चाञ्चल्य ही है। उसके साथ कवि ने इन विरोधी भावों को भी प्रस्तुत किया है, किन्तु ये विरुद्ध प्रतीत नहीं हो रहे, क्योंकि कवि इन विरोधी भावों के आते ही इनके तुरन्त आगे उन भावों का निरूपण करता गया है जो विप्रलम्भरति के अङ्ग हैं, और उसको पुष्ट करते हैं। फलतः विप्रलम्भरति पद्य के आरम्भ से अन्त तक उद्दीप्त होती परिलक्षित हो रही है। इस पद्य में भावों की स्थिति ठीक वैसी ही है जैसे घनी चन्द्रिका के बीच टिमटिमाते तारों की होती है।

[आ] दूसरा उदाहरण है कादम्बरी कथा का वह स्थल जहाँ मुनिकुमार होते हुए भी पुण्डरीक महाश्वेता के प्रति नितान्त सानुराग हो जाता है और तब उसे उसका साथी कपिञ्जल उद्बोधित करते हुए कहता है 'क्या अपने पिता से पढ़े शास्त्रों से तुमने यही सीखा[1] है' आदि। इस प्रकार का आत्मबोधपरक उद्बोधन शृङ्गारविरुद्ध है, तथापि उसको कवि ने रतिविह्वलता की उस पराकाष्ठा के पश्चात् प्रस्तुत किया है जिसमें सामाजिक का चित्त विलीन हो चुका है और वह भी पुण्डरीक के ही समान उद्बोधन को अपने मुद्रित चित्त में स्थान देने की स्थिति में नहीं है। यह उद्बोधन रतिपराकाष्ठा की परीक्षा है जिसमें गोपियों के समक्ष उद्धव के समान वह विफल होता है और विफल होकर रति की सान्द्रता का द्योतन करता हुआ उसी का अङ्ग बन जाता है।[2]

इन दो उद्धरणों से प्रमुख रस में विरुद्ध रस के प्रलीन होने की स्थिति स्पष्ट है और स्पष्ट है कि ऐसी स्थिति में वह प्रमुख रस के प्रति विरोधी नहीं रह जाता। अब आइए 'अङ्गरूप' में होने वाले अविरोध पर।

[ख] अङ्गरूप में विरुद्ध रस की योजना.

अङ्गभाव का अर्थ है अप्रधानभाव। जब एक रस का अनुभव प्रमुख रूप से प्रतिष्ठा पा लेता है तब यदि विरुद्ध रस उपस्थित किया जाए और इसे

---

१. कादम्बरी वैद्य संस्करण—अनुच्छेद १५२ पृ० १४६.

२. ध्व० पृ० ३६८

उस मुख्य रस की अपेक्षा थोडी मात्रा में सहायक रूप से उपस्थित किया जाए तो विरोध उपस्थित नहीं होता।

यह अङ्गभाव अनेक प्रकार से होता है। इनमें से कुछ प्रकार निम्न-लिखित हैं—

१ स्वाभाविक अङ्गभाव[1]

कभी कभी विरुद्ध रस दूसरे रस के प्रति अङ्ग बनता है स्वाभाविक रूप से। पूर्वोक्त 'भ्रमिमरतिमलसहृदयता०' पद्य में यह बहुत स्पष्ट है। [यहाँ[2] जिन चक्कर, आलस्य, मूर्च्छा, अन्धकार, शरीर की शिथिलता और मरणतुल्य स्थिति का वर्णन है ये सब स्थितियाँ करुण रस में भी होती है। यहाँ का मुख्य रस विप्रलम्भ है। उक्त स्थितियाँ विप्रलम्भ में भी सम्भव बतलाई जा रही है। इस प्रकार यहाँ करुण रस की स्थिति विप्रलम्भ रस में स्वभावत अङ्ग बन रही है, परिणामत करुण रस यहाँ इतना उभर कर ऊपर नहीं आ रहा कि उससे विप्रलम्भ का विरोध हो सके]।

२ आरोपित अङ्गभाव[3]

कभी कभी कल्पित या आरोपित रूप में विरुद्ध रस दूसरे रस का अङ्ग बनता है। यथा—

> पाण्डु क्षाम वदन हृदय सरस तवालस च वपु ।
> आवेदयति नितान्त क्षेत्रियरोग सखि हृदन्त[4] ॥

सखि तुम्हारा पाण्डु और क्षाम मुखमण्डल, सरस हृदय और अलसाया शरीर, भलीभाँति बतलाता है कि तुम्हारे हृदय के भीतर क्षेत्रियरोग है।

यहाँ वर्णन है वियोगिनी की व्याधि का, किन्तु वह इस प्रकार किया गया है कि उसके विशेषणों से करुण रस की भी प्रतीति होती है। इस प्रतीति में कारण है विशेषणो की उभयान्वयिता। पूर्वार्द्ध में चेहरे आदि की जिन पाण्डुता

---

१ ध्व० पृ० ३६८

२ यह अर्थ लोचन की टीका बालप्रिया में किया गया है। स्वय लोचनकार इस पर चुप है। आनन्दवर्धन ने करुण रस को विप्रलम्भ का विरोधी या अविरोधी दोनो ही नहीं लिखा।

३-४ ध्व० पृ० ३६८

और क्षामता आदि का उल्लेख है ये सन्दर्भ के अनुसार वियोगजनित प्रतीत होती है, किन्तु उत्तरार्ध में जब क्षेत्रियरोग का उल्लेख मिल जाता है तो उपमाश्लेष[1] में बतलाए क्रम से करुणरस मे लागू होने लगती है, जैसे पूर्वोद्धृत 'उद्दामो०' पद्य के लताविशेषण उपमाद्वारा नारी का उल्लेख होने पर उसके पक्ष में लागू होने लगते है। यह क्रम कविकल्पित क्रम है। इससे विप्रलम्भ के अनुभावों पर करुण के अनुभावों का आरोप होता है, और मुख्य विप्रलम्भ ही रहता है। फलतः करुण उसका अङ्ग बन जाता है[2]। दूसरा उदाहरण—

> कोपात् कोमललोलबाहुलतिकापाशेन बद्ध्वा दृढं
> नीत्वा वासनिकेतनं दयितया सायं सखीनां पुरः।
> भूयो नैवमिति स्खलत्कलगिरा संसूच्य दुश्चेष्टितं
> धन्यो हन्यत एव निह्नुतिपरः प्रेयान् रुदत्या हसन्[3]॥

अपने अपराधी प्रिय को कोपाविष्ट नायिका कोमल और लोल बाहुलतिका के पाश से जकड़कर अपने वासगृह ले जाती है और सायंकाल सखियो के समक्ष 'फिर से तो ऐसा नही' ऐसी लड़खड़ाती हुई मीठी वाणी से कहकर उसकी दुश्चेष्टा की सूचना देती है और अपने विकारों को छिपाने में लगे प्रिय को पीटती है। पीटती हुई वह रो रही है और पिटता हुआ वह हँस रहा है।

यहाँ कोप रौद्ररस का स्थायी भाव है। बाँधना, वासगृहरूपी बन्दीगृह में ले जाना, फिर सखियों के समक्ष उसका अपराध उस अपराधी प्रिय को बतलाना, सीख की बात बोलते हुए उसे पीटना और रोना ये सब रौद्र के ही अनुभाव है। किन्तु प्रसङ्ग है विप्रलम्भ रस का, रौद्ररस जिसके विरुद्ध है। कवि ने यहाँ अपराधी और दण्डाधिकारी के बीच संभावित रौद्ररसीय वृत्तान्त को नायक और नायिका के विप्रलम्भशृङ्गारीय वृत्तान्त पर आरोपित कर दिया। इस आरोप के कारण रौद्ररस विप्रलम्भशृङ्गार का अङ्ग बन गया और उससे संभावित विरोध यहाँ हट गया[4]।

---

१. उपमाश्लेष के लिए देखिए इसी ग्रन्थ के पृ० ३१४–१६।

२. यह संगति स्वयं ध्वन्यालोक में नहीं मिलती।

३. ध्व० पृ० २३२, ३६८.

४. यह संगति संक्षेप में लोचन में मिलती है।

३ परस्परविरुद्धो का किसी अन्य के प्रति अङ्गभाव[1]

इस प्रकार के अङ्गभाव की निष्पत्ति के दो क्रम हैं। एक तो परस्पर में विरुद्ध दो रसों में से दोनो को किसी तीसरे के प्रति अङ्ग बना दिया, ऐसे तीसरे के प्रति जो दोनों के प्रति अविरुद्ध हो, दूसरे जहाँ तीन रस हो वहाँ एक को दूसरे का और दूसरे को तीसरे का अङ्ग बनाया जाए। उदाहरणार्थ—पूर्वोक्त 'क्षिप्तो हस्तावलग्न'—पद्यार्थ। इसमें करुण रस भी है और शृङ्गाररस भी। दोनो परस्पर में विरुद्ध है, किन्तु स्तुति से गम्य शिव के प्रभावातिशय के प्रति दोना ही स्वतन्त्र और परस्पर निरपेक्ष होकर अङ्ग हैं। इस प्रकार अमुख्य रूप से विद्यमान दोनो का विरोध यहाँ शान्त है। इसी प्रकार किसी आश्रयदाता राजा की प्रशसा में उनका सभाकवि कहता है—

> क्रामन्त्यः क्षतकोमलाङ्गुलिगलद्रक्तैः सदर्भाः स्थली.
> पादैः पातितयावकैरिव पतद्बाष्पाम्बुधौतानना ।
> भीता भर्तृकरावलम्बितकरास्त्वद्वैरिनार्योऽधुना
> दावाग्निं परितो भ्रमन्ति पुनरप्युद्यद्विवाहा इव ।

आपके शत्रुओ की नारियाँ जगलो में घूम रही हैं, वहाँ वे ऐसी लगती हैं कि उनका विवाह फिर से हो रहा है, क्योंकि कोमल चरणतल नुकीले दर्भाङ्कुरो वाली भूमि पर पड जाते हैं और जब उनमें खून चुचुआने लगता है तो लगता है कि उनमें अलता लग गया है, गिरते आंसुओं से उनका चेहरा धुलता रहता है, भय उनके मन में जमा रहता है और वे अपने पति के हाथ पकडकर दावाग्नि के चारो ओर घूमती रहती[2] हैं।

यहाँ विवाहवृत्तान्त शृङ्गार रस का वृत्तान्त है। वह दुर्दशा से प्रतीत हो रहे करुण रस का अङ्ग बन जाता है और करुणरस अङ्ग बन जाता है राजा की स्तुति अथवा राजा के पराक्रम की प्रशसा में। इस प्रकार यहाँ शृङ्गार करुण के प्रति और करुण राजप्रभाव या राजप्रेम के प्रति अङ्ग बन रहे हैं। करुण और शृङ्गार का परस्पर विरोध है, तथापि यहाँ शृङ्गार करुण का अङ्ग बन रहा है, अत वह अविरोधी है और इसलिए भी अविरोधी है कि स्वय करुण भी आगे चलकर दूसरे का अङ्ग बन रहा है। इस प्रकार 'क्षिप्त' पद्यार्थ में शृङ्गार और करुण परस्पर

---

१ ध्व० पृ० ३६८-९
२ ध्व० पृ० ३७७

में निरपेक्ष रहते हुए शिवप्रभावरूपी तृतीय वस्तु के प्रति अङ्ग हैं तथा इस पद्य में, सम्बद्ध होकर। इन स्थलों से स्पष्ट है कि—

> विरोध प्रधान रस के साथ ही रहता और गिना जाता है, अप्रधान रस के साथ नहीं[1]।
>
> एहि गच्छ, पतोत्तिष्ठ, वद मौनं समाचर।
> एवमाशाग्रहग्रस्तैः क्रीडन्ति धनिनोऽर्थिभिः ॥[2]
>
> 'आ जा, पड़ उठ, बोल चुप रह'—इस प्रकार धनिक लोग आशारूपी ग्रह से ग्रस्त याचकों के साथ खेल करते हैं।

यहां 'आगमन और गमन, पतन और उत्थान, भाषण और मौन परस्पर विरोधी धर्म हैं, किन्तु वे सब अमुख्य हैं। मुख्य है धनिकों की क्रीडा। इसलिए अमुख्यों का आपसी विरोध नगण्य रहा आता है और उनके ज्ञान से मुख्य की श्रीवृद्धि ही होती है। ऊपर दिए 'क्षिप्त०' पद्य के अर्थ में भी ईर्ष्या-विप्रलम्भ और करुण की घटनाएँ अप्रधान हैं, अतः उनका आपसी विरोध नगण्य ही है। वे मुख्यरूप से प्रकट हो रहे, शिव के माहात्म्य की शोभा बढ़ा रहे हैं।

इसी तथ्य को इस रूप में भी समझा जा सकता कि जैसे वाक्यार्थ में कुछ अर्थ विधिखण्ड होते हैं और कुछ उद्देश्यखण्ड, इनमें उद्देश्यखण्ड अप्रधान होता है और विधिखण्ड प्रधान, वैसे ही उन खण्डों से व्यक्त होने वाले भावों में भी कोई प्रधान होता है और कोई अप्रधान[3]। जो भाव उद्देश्यखण्ड से प्रकाशित होते हैं वे अप्रधान रहते हैं, और जो विधिखण्ड से प्रकाशित होते हैं वे प्रधान। भावों का यह प्रकाशन किसी वाक्य से साक्षात् होता है और किसी से असाक्षात्, किन्तु प्रधानता और अप्रधानता की स्थिति ज्यों की त्यों बनी रहती[4] है। साक्षात् या असाक्षात् प्रकाशन से उसमें कोई अन्तर नहीं आता। यह तो देखा ही जाता है कि विरुद्ध वस्तुएँ भी सहायक वस्तु के रूप में मिलकर किसी एक कार्य की निष्पत्ति

---

१. [क] विधौ विरुद्धसमावेशस्य दुष्टत्वम्, नानुवादे। ध्व० पृ० ३६९-७०
   [ख] वाक्यार्थीभूतस्य रसस्य भावस्य वा विरोधी रसविरोधीति वक्तुं न्याय्यः न तु अङ्गभूतस्य कस्यचित्। ध्व० पृ० ३७५.
२. ध्व० पृ० ३७१
३. रसेषु विध्यनुवादभावो नास्तीति न शक्यं वक्तुम्। (ध्व० पृ० ३७२–७३)
४. ध्व० पृ० ३७३

कराती हैं, जैसे अग्नि और जल पाकरूपी[1] कार्य को। विरोध दो विरुद्ध फलों की उत्पत्ति में देखा जाता है, न कि किसी एक फल के उत्पादक दो विरुद्ध सहायकों[2] में। एक तथ्य यह भी ध्यान देने योग्य है कि पूर्वोक्त 'क्षिप्त०' आदि पद्यों के अर्थों में करुण रस शत्रुपक्ष में दिखलाया गया है, अतः उसमे वर्णनीय नायक के पक्ष का समर्थन ही सम्भव है। बल्कि ऐसा कहना चाहिए कि इस प्रकार की योजना से अधिक मात्रा में रसपरिपोष होता है।

उक्त विश्लेषण का निष्कर्ष एक बार दुहरा लिया जाए कि—

विरोधी को, अङ्गी या प्रधान रस का विरोधी होने पर विरोधी माना जाना है, और उसी के विरोध के परिहार पर कवि को सावधान रहना होता है।[3]

विशेष परिस्थिति[4]

विशेष परिस्थिति में विरोधी रस समान परिपोष पाकर भी सहायक सिद्ध होता है। उदाहरणार्थ सङ्ग्रामभूमि में कटकर गिरे भूरिश्रवा के हाथ को लेकर विलाप कर रही उसकी स्त्री के इस वाक्यार्थ को लीजिए—

अयं स रसनोत्कर्षी पीनस्तनविमर्दनः ।
नाभ्यूरुजघनस्पर्शी नीवीविस्रंसनः करः ॥

यह वही हाथ है जो मेरी करधनी खींचा करता था, पीन उरोजों को मसला करता था, नाभि, जांघ और जघन को छुआ करता था, और नीवी खिसकाया करता था।[5]

यहाँ बात केवल शृङ्गार की कही जा रही है, किन्तु प्रकरण और वातावरण करुण का है। इसलिए शृङ्गार अपनी पूरी शक्ति से व्यक्त होकर भी पुष्टि करुण की ही कर रहा है। यह तो प्रायः प्राणिमात्र का अनुभव है कि अपने जीवन के मधुर प्रसङ्ग जब विपरीत स्थिति में याद आते हैं तो शोकावेश रोके नहीं रुकता।[6]

---

१ यह दृष्टान्त अभिनवगुप्त ने दिया है। ध्व० पृ० ३७३ लोचन

२ विरुद्धफलोत्पादनहेतुत्वं हि युगपदेकस्य कारणस्य विरुद्धम्, न तु विरुद्धोभयसहकारित्वम्। (ध्व० पृ० ३७३)

३ ध्व० पृ० ३६९, ३७५

४-६ वाक्यार्थीभूतस्यापि कस्यचित् करुणरसविषयस्य तादृशेन शृङ्गारवस्तुना भङ्गिविशेषाश्रयेण संयोजनं रसपरिपोषायैव जायते, यतः प्रकृतिमधुराः पदार्थाः शोचनीयतां प्राप्ताः प्रागवस्थाभाविभिः संस्मर्यमाणैर्विलासैरधिकतरं शोकावेशमुपजनयन्ति। (ध्व० पृ० ३७६)

यहाँ भी यह एक ध्यान देने योग्य तथ्य है कि करुणविरोधी शृङ्गार करुण की अपेक्षा अधिक परिपुष्ट नही है। यह समझे रहना चाहिए कि

रस स्वभावतः विरोधी हो या अविरोधी, वह तभी विरोधी सिद्ध होता है जब वह प्रकृत और मुख्य रूप से विवक्षित रस की अपेक्षा अधिक मात्रा मे अनुभव में आता है।[1]

एतदर्थ विरोधी रस के उदाहरण अभी अभी दिए जा चुके है। अविरोधी रस के उदाहरण निम्नलिखित है—

एकतो रोदिति प्रिया अन्यतः समरतूर्यनिर्घोषः।
स्नेहेन रणरसेन च भटस्य दोलायितं हृदयम्॥

एक ओर प्रिया डबडबाई आँखें लिए है और दूसरी ओर समरतूर्य का निर्घोष हो रहा है। ऐसी स्थिति मे स्नेह और रणरस ने भट के चित्त को दोलायित कर दिया[2]।

यहाँ एक ओर 'प्रिया के आँसू' उसके 'रत्यतिशय' का द्योतन कर रहे है, दूसरी ओर 'समरतूर्यनिर्घोष' और 'भट'—शब्द 'उत्साहोत्कर्ष' का। तीसरी ओर चित्त की दोलायमानता यह बतला रही है कि दोनों भावों में न तो कोई किसी से कम है और न कोई किसी से अधिक[3]। इस प्रकार यहाँ शृङ्गार और वीर दोनों का परिपोष समान मात्रा में हो रहा है और यह तो कहा ही जा चुका है कि ये दोनों परस्पर में भिन्न रस है यानी अविरोधी है। यहाँ 'भट' शब्द यह बतलाता है कि उसमें मुख्यता वीरता[4] की ही है और प्रसङ्ग भी युद्ध का ही है। इस कारण यहाँ वस्तुतः मुख्य रस वीर रस ही है। शृङ्गार उसके बराबर परिपोष पाकर भी उसका अङ्ग ही बन कर रह पाता है। दूसरा उदाहरण—

कण्ठाच्छित्वाक्षमालावलयमिव करे हारमावर्त्तयन्ती
कृत्वा पर्यङ्कबन्धं विषधरपतिना मेखलाया गुणेन।

---

१. अविरोधी विरोधी वा रसोऽङ्गिनि रसान्तरे।
परिपोषं न नेतव्यस्तथा स्यादविरोधिता॥ ३।२४ ध्व०॥

२. एक्को रुअइ पिआ अण्णत्तो समरतूरणिग्घोसो।
णेहेण रणरसेण अ भडस्स दोलाइअं हिअअम्॥ (की छाया ध्व० पृ० ३८३)

३. लोचन ध्व० पृ० ३८३

४. दशरूपक के टीकाकार धनिक ने 'भट' शब्द के आधार पर यहाँ वीर रस की प्रधानता बतलाई है द्र० दशरूपक चतुर्थ प्रकाश।

मिथ्यामन्त्राभिजापस्फुरदधरपुटव्यञ्जिताव्यक्तहासा
देवी सन्ध्याभ्यसूयाहसितपशुपतिस्तत्र दृष्टा तु वोऽव्यात्[1] ॥

शिवजी ने सन्ध्या [की नारीमूर्ति] को प्रणाम किया तो पार्वती जी के मन में अभ्यसूया जाग उठी और उनने उसके आवेश म शिवजी की हँसी उड़ानी चाही । एतदर्थ उनने शिव की नकल उतारी । शिव हाथ में अक्षमाला लेकर जप कर रहे थे, पार्वती ने भी अपने कण्ठ का हार उतार लिया और उसे घुमाने लगी । शिवजी सर्पराज से अपनी पलथी बाँधे हुए थे, पार्वती ने अपनी करधनी से वैसा ही किया । अभी तक उनकी हँसी छिपी हुई थी । किन्तु ज्योंही मन्त्रजप की नकल करने हेतु पार्वती ने अपने अधरपुट को हिलाया, वह छिपी हँसी फूट पड़ी और प्रकट हो गई । इस प्रकार उनका मान हट गया और वे प्रसन्न हो गई । ऐसी पार्वती जी आपकी रक्षा करें ।

यहाँ शृङ्गार और हास्य परस्पर में मित्र रस हैं । उन्हें कवि ने बराबरी की पोषक सामग्री से प्रकट किया है, तथापि रति प्रधान हो जाती है, क्योंकि शिव और पार्वती का दाम्पत्य प्रसिद्ध है । ये दोनों भगवती पार्वती जी के प्रति इस पद्य के निर्माता कवि के चित्त में स्थित भक्तिरूपी भाव के प्रति गुणीभूत हैं । ये दोनों उसी को प्रधानता दे रहे हैं । इस प्रकार यहाँ भी अविरोधी रसों की योजना में कवि ने सन्तुलन रखा है । हास्य को इतना अधिक परिपुष्ट नहीं होने दिया जिससे वह शृङ्गार की अपेक्षा अधिक चमत्कारी प्रतीत हो ।[2]

यह जो चर्चा हुई यह किसी एक वाक्य से निकलते या किसी एक पद्य से निकलते अर्थ को आधार बना कर की गई । उक्त सभी पद्य मुक्तक पद्य थे । उनसे निकलते वाक्यार्थ प्रकरणनिरपेक्ष भले ही न हों, किन्तु प्रबन्धनिरपेक्ष[3] अवश्य

---

१ ध्व० पृ० ३८३

२ इस पद्य को अभिनवगुप्त ने छुआ भी नहीं । इस कारण लोचन की टीका बालप्रिया में इसे प्रक्षिप्त कहा गया है । ध्व० पृ० ३८२ । मूल में दृष्टा के स्थान पर दृष्टा पाठ छपा हुआ है, किन्तु बालप्रिया में 'हृष्टा' प्रतीक ही मिलता है ।

३ एकतो० पद्य को अभिनवगुप्त ने मुक्तक माना है, किन्तु ऐसा कुछ लगता है कि आनन्दवर्धन इसे प्रबन्धगत मानना चाहते हैं । द्र० ध्व० पृ० ३८२-वृत्ति । दशरूपककार ने इसे मुक्तक ही माना है ।

थे। अब हम प्रवन्धकाव्य को आधार बना कर इसी रसयोजना पर विचार करेंगे।

प्रवन्धकाव्य में रसयोजना[१]

कवि को चाहिए कि वह प्रवन्ध काव्य में अनेक रसों को स्थान दे, किन्तु प्रधानता किसी एक ही रहने दे[२]। प्रवन्धकाव्य के अन्तर्गत केवल सर्गवन्ध या महाकाव्य ही नही, नाटक[3] भी लिए जाने चाहिए। इन सबमें उक्त तथ्य का ध्यान रखा जाना चाहिए। ऐसा करने से काव्यश्री में अतिशय आता है, क्योंकि उसमें वैविध्य चला आता[४] है। कवि जब किसी एक रस को स्थायी या प्रमुख बना, उसमें अन्य रसों का समावेश करता है तो वे रस मुख्य रस को दबा नहीं पाते। इनके रहने पर भी वह प्रधान और अङ्गी[५] रहा आता है। यहाँ 'स्थायी' का अर्थ है पुनः पुनः प्रतीत होता रहने वाला[६], यानी प्रवन्ध के आरम्भ से अन्त तक बीच-बीच में उसी प्रकार से प्रकट होता रहने वाला जिस प्रकार माला के मनिकों के बीच धागा और स्वयं प्रवन्धकाव्य मे आरम्भ से अन्त तक व्याप्त होकर विद्यमान रहने वाला कार्य = प्रयोजन। बीच-बीच में अन्य कार्य भी उपस्थित होते हैं, किन्तु उनकी ओर बढ़ा कथानक मुख्य कार्य के विरुद्ध नही ठहरता, जैसे प्रत्येक अवान्तर कार्य अन्त में मुख्य कार्य से जा मिलता है और मुख्यता मुख्य कार्य में ही रही आती

---

१. ध्व० पृ० ३७७

२. प्रसिद्धेऽपि प्रवन्धानां नानारसनिवन्धने।
एको रसोऽङ्गीकर्त्तव्यस्तेषामुत्कर्षमिच्छता॥ ३।२१ वृत्ति भी॥

३. प्रवन्धेषु महाकाव्यादिषु नाटकादिषु वा। (ध्व० पृ० ३७८)

४. यः प्रवन्धानां छायातिशययोगमिच्छति तेन तेषां रसानामन्यतमोऽङ्गित्वेन निवेशयितव्यः। (ध्व० पृ० ३७८)

५. रसान्तरसमावेशः प्रस्तुतस्य रसस्य यः।
नोपहन्त्यङ्गितां सोऽस्य स्थायित्वेनावभासिनः॥ ध्व० ३।२२॥

६. प्रवन्धेषु प्रथमतरं प्रस्तुतः सन् पुनः पुनरनुसन्धीयमानत्वेन स्थायी यो रसस्तस्य सकलनिवन्धव्यापिनो रसान्तरैरन्तरालवर्त्तिभिः समावेशो नाङ्गितामुपहन्ति।
(ध्व० पृ० ३७८-९)

'स्थायी' की यही व्याख्या पण्डितराज जगन्नाथ ने अपने रसगङ्गाधर में की है। द्र० प्रथमानन।

हैं।[1] इस प्रकार की योजना से सहृदय सामाजिकों को कुछ अधिक ही आनन्द मिला करता है।[2]

ध्यान इतना रखना चाहिए, जैसा कि अभी-अभी कहा जा चुका है कि विरोधी या अविरोधी रस का परिपोष न हो[3]। इसके लिए निम्नलिखित सतर्कताएँ बरती जानी चाहिए—

१ रस यदि अविरोधी हो तो उसका परिपोष अधिक से अधिक समान मात्रा तक ही किया जाए, उससे अधिक नहीं[4]। उदाहरण 'एकतो रोदिति प्रिया०' अभी अभी दिया जा चुका है। उसमें शृङ्गार को कवि ने वीर की ही मात्रा में परिपुष्ट किया है। इसी प्रकार 'कण्ठाच्छि' में हास्य को शृङ्गार की मात्रा में।

२ रस यदि विरोधी हो तो यह ध्यान रखना चाहिए कि उसके सञ्चारी भावों की मात्रा उतनी न हो जितनी मुख्य रस के सञ्चारी भावों की हो सकती है। यदि ऐसा हो भी जाए तो समय का ध्यान रखना चाहिए कि ऐसा अधिक देर तक न हो। तदर्थ बहुत ही शीघ्र प्रधान रस के सञ्चारी भाव को उपस्थित करते रहना चाहिए[5]।

३ इसी प्रकार यदि अङ्गभूत रस परिपोष को प्राप्त हो भी जाएँ तो यह ध्यान रखे कि उनमें अङ्गता रक्षित है अथवा नहीं। ऐसा तो नहीं कि वह अङ्गी ही बन गया हो[6]। वस्तुत —

४ अङ्गभूत रस की मात्रा अङ्गी रस की अपेक्षा कम ही रहनी चाहिए। जैसे यदि शान्त रस अङ्गी हो तो उसके साथ शृङ्गार की मात्रा उतनी ही रहनी चाहिए जितनी निर्वेद को राग में परिणत या राग से अभिभूत न कर दे[7]। कुछ ऐसी भी परिस्थितियाँ रहती हैं

---

१ कार्यमेक यथा व्यापि प्रबन्धस्य विधीयते।
तथा रसस्यापि विधौ विरोधो नैव विद्यते ॥ ध्व० ३।२३ ॥

२ ध्व० पृ० ३८०

३ 'अविरोधी विरोधी वा०' यह पूर्वोद्धृत ध्व० ३।२४ कारिका

४ उक्त कारिका की वृत्ति पृ० ३८३

५-७ वही पृ० ३८४

जिनमें रसान्तर अपने आप समान परिपोष पा लेते हैं[१]। उनमें यही ध्यान रहना आवश्यक है कि रसान्तरों की मात्रा अधिक न हो और वे अङ्ग ही बने रहें।

५. रसान्तरों की अङ्गता के कुछ और भी उपाय हो सकते हैं, जिन्हें कविजन अपने मन से सोच सकते[२] हैं।

स्पष्टीकरण :

उक्त चर्चा मे रसों के अङ्गाङ्गिभाव की जो चर्चा है उसमें 'रस की अङ्गता' वैसी ही उक्ति प्रतीत होती है जैसी 'राजा की भृत्यता'। जो राजा होगा वह स्वामी ही होगा, भृत्य नही और जो भृत्य होगा वह राजा नहीं ही होगा। रस भी रसता को प्राप्त तभी होता है जब वह 'अङ्गी' रहता है। प्रमुखता रस का अनिवार्य धर्म है। अङ्ग बनते ही रस, रस नही रह जाता। ऐसी स्थिति में 'रस की अङ्गता' का अर्थ करना चाहिए—

१. रस के स्थायी भाव की अङ्गता, यानी जिसे अङ्गभूत रस कहा जा रहा है वह रस नही, अपितु रस जैसी स्थिति तक पहुँचा हुआ स्थायी भाव है। [अर्थ यह कि यह स्थायी भाव ५९% प्रतिशत की द्वितीय श्रेणी है, जिसमें केवल एक प्रतिशत की वृद्धि अपेक्षित है रसभावरूपी प्रथमश्रेणीत्व की प्राप्ति के लिए।] उदाहरणार्थ पूर्वोद्धृत 'एकतो रोदिति प्रिया०' पद्य में शृङ्गार का अर्थ शृङ्गार रस नही अपितु शृङ्गार का स्थायी भाव 'रति' है। वीर रस का स्थायी भाव 'उत्साह' यहाँ रसभाव तक पहुँचा हुआ है और शृङ्गार का स्थायी भाव रति स्थायित्व तक ही सीमित है, किन्तु वह स्थायी अवश्य है। अथवा अर्थ करना चाहिए—

२. रस के स्थायी भाव की सञ्चारिता अर्थात् शृङ्गार का स्थायी भाव रति उपर्युक्त वीर रस में स्थायी भी नही रह जाता, वह सञ्चारी भाव बन जाता है। उसका परिपोष इतनी अधिक मात्रा में हुआ रहता है कि कुछ क्षणों तक वह रस जैसा ही प्रतीत होता है। वस्तुतः उसकी प्रतीति क्षणिक ही हुआ करती है, जिसकी

१-२. ध्व० पृ० ३८५

व्याप्ति पूरे प्रबन्ध तक नही रहती, फलत उसमें स्थायित्व नहीं आ पाता[१]।

प्रबन्ध में विरोधी रस की योजना के उपाय निम्नलिखित हैं—

[१] आश्रयभेद[२]

यदि प्रमुख रस के साथ उसी प्रबन्ध में उसका विरोधी रस भी प्रस्तुत करना हो तो यह देखना चाहिए कि विरोध किस बात को लेकर है। यदि दोनो रसो का किसी एक ही नायक या एक ही पात्र में रहना विरोधजनक हो तो उन रसो को भिन्न भिन्न पात्रों में दिखला देना चाहिए। जैसे वीर और भयानक ऐसे रस हैं जो एक ही व्यक्ति में नही दिखलाए जा सकते। इन्हें अलग अलग व्यक्तियो

---

१ ध्व० पृ० ३८५

रस की अङ्गता में ये जो दो विकल्प हैं ये ऐतिहासिक महत्व के विकल्प हैं। महिमभट्ट ने व्यक्तिविवेक के प्रथम विमर्श में सभी भावों को सञ्चारी ही माना है। उसमें आए स्थायित्व को वे परिस्थितिजन्य विशेषता बतलाते हैं। भोजराज भी—

अप्रातिकूल्किकतया मनसो मुदादे-
र्यः संविदोऽनुभवहेतुरिहाभिमानः।
ज्ञेयो रसः स रसनीयतयात्मशक्ते
रत्यादिभूमनि पुनर्वितथा रसोक्तिः ॥
रत्यादयो यदि रसाः स्युरतिप्रकर्षे,
हर्षादिभिः किमपराद्धमतद्विभिन्नैः।
अस्थायिनस्त इति चेद् भय-
हास-शोक-क्रोधादयो वद कियच्चिरमुल्लसन्ति ॥
स्थायित्वमत्र विषयातिशयात् मतं चे
च्चिन्तादिभिः पुनः उत प्रकृतेर्वशेन।
तुल्यैव सात्मनि भवेदथ वासनाया
सन्दीपनात् तदुभयत्र समानमेव ॥ शृङ्गारप्रकाशमङ्गल ॥

अभिनवगुप्त स्थायित्वपक्ष मानते हैं। मम्मट सञ्चारित्व पक्ष।

२ विरुद्धैकाश्रयो यस्तु विरोधी स्थायिनो भवेत्।
स विभिन्नाश्रयः कार्यस्तस्य पोषेऽप्यदोषता ॥ ध्व० ३।२५ ॥

तथा वृत्ति पृ० ३८७-८८ ॥

में दिखलाया जा सकता है। वीर को नायक में और भयानक को प्रतिनायक में। ऐसी स्थिति में इनका विरोध समाप्त हो जाता है। ऐसा करने से प्रमुख रस और उनके आश्रय कथानायक के चरित्र में उत्कर्ष की प्रतीति होने लगती है। यह तथ्य हमने हमारे अर्जुनचरित में विशदतापूर्वक स्पष्ट किया है, जहाँ पातालविजय का प्रसंग आया है।

[२] नैरन्तर्यपरिहार[1]

कभी कभी विरुद्ध रसों का आश्रय एक ही व्यक्ति होता है, किन्तु विरोध निरन्तरता के कारण होता हुआ दिखाई देता है। ऐसी स्थिति में कुशल कवि को चाहिए कि वह इन दोनों के बीच मे कोई तीसरा रस ला दे, जो दोनों रसों का मित्र हो। नागानन्द में कवि ने शान्तरस के पश्चात् जब शृङ्गार रस को उपस्थित करना चाहा तो बीच मे अद्भुत रस को उपस्थित कर दिया। अद्भुत के स्थायी भाव 'विस्मय' के आते ही जीमूतवाहन की निर्विण्णता दब गई और तब, जब मलयवती का साक्षात्कार हुआ तो रति को पनपने का अवसर मिल गया।

नैरन्तर्य के निराकरण के कारण विरोध का परिहार केवल एकपात्र में ही नही, एक वाक्य में भी हो जाया करता[2] है। उदाहरणार्थ—

संग्रामाङ्गण में सामने लड़कर कटे हुए वीर सीधे स्वर्ग पहुँचे। स्वर्बालाएँ उनका वरण कर उन्हे दिव्य विमानों में बिठलाती और नीचे पड़े हुए उनके शव उन्हे दिखलाती है—

भूरेणुदिग्धान् नवपारिजातमाला-रजोवासित-बाहु-मध्याः।
गाढं शिवाभिः परिरभ्यमाणान् सुराङ्गनाश्लिष्टभुजान्तरालाः॥
सशोणितैः क्रव्यभुजां स्फुरद्भिः पक्षैः खगानामुपवीज्यमानान्।
संवीजिताश्चन्दनवारिसेकैः सुगन्धिभिः कल्पलतादुकूलैः॥
विमानपर्यङ्कतले निषण्णाः कुतूहलाविष्टतया तदानीम्।
निर्दिश्यमानांल्ललनाङ्गुलीभिर्वीराः स्वदेहान् पतितानपश्यन्[3]॥

---

१. एकाश्रयत्वे निर्दोषो नैरन्तर्ये विरोधवान्।
रसान्तरव्यवधिना रसो व्यङ्ग्यः सुमेधसा॥ ध्व० ३।२६॥
तथा वृत्ति पृ० ३८८-८९॥

२. रसान्तरान्तरितयोरेकवाक्यस्थयोरपि।
निवर्त्तते हि रसयोः समावेशे विरोधिता॥ ३।२७॥

३. ध्व० पृ० ३९५.

शव धूलि से लथपथ हैं और वीरों के वक्षस्थल सर्वोत्तम कल्पवृक्ष पारिजात की ताजी माला के पराग से धूसर हैं। शवों का आलिङ्गन सरकाट्टियाँ कर रही हैं और वीरों को सुरबालाएँ आलिङ्गन दे रही हैं। शवों पर मासभक्षी अपने पखों की हवा कर रहे हैं और वीरों पर चन्दनवारि से सिक्त कल्पलतादुकूलों[1] से हवा की जा रही है।

यहाँ परस्पर विरोधी शृङ्गार और बीभत्स रस वीररस को बीच मे लाकर एक साथ एक ही वाक्य में उपस्थित किए गए हैं। वीररस ऐसा रस है जो उक्त दोनो रसो का मित्र है[2]। (यहा जो अनुवाद किया गया है उसमे वाक्य अनेक है, किन्तु मूल सस्कृत पद्यो में एक ही वाक्य है)।

इस प्रकार कवि को चाहिए कि वह रसो का विरोध और अविरोध अपने पूरे प्रबन्ध में और प्रत्येक वाक्य में ध्यानपूर्वक बारीकी के साथ समझता रहे[3]। किन्तु,

शृङ्गाररस की सुकुमारतमता

शृङ्गार रस मे इसका ध्यान और भी अधिक रखा जाना चाहिए, क्योंकि यह एक ऐसा रस है जो सर्वाधिक मधुर और सुकुमारतम है[4]। इसका कारण यह है कि इसका स्थायी भाव है रति और यह एक ऐसा भाव है जिसका तृणमात्र विरोध

---

१ कल्पलता और कल्पवृक्ष के ऊपर अनिवार्यरूप से एक झण्डा लगा रहता है। उसका उल्लेख प्राय सभी कवि करते हैं। कालिदास शाकुन्तल में मातलि-द्वारा दुष्यन्त की प्रशसा में कहलाते हैं—

विच्छित्तिशेषैः सुरसुन्दरीणा वर्णैरमी कल्पलतांशुकेषु।
विचिन्त्य गीतिक्षममर्थबन्ध दिवौकसस्त्वच्चरित लिखन्ति। अङ्क ७।

आयुष्मन् दुष्यन्त! देखो तुम्हारा चरित कल्पलताओ के अशुकों पर लिखा जा रहा है। एतदर्थ विशेष विवरण के लिए द्रष्टव्य हमारा लेख 'कालिदास-साहित्ये देववृक्षा' तथा यही ७६, ७७, ८६, ८७ पृ०।

२ ध्व० पृ० ३९६

३ विरोधमविरोध च सर्वत्रेत्थ निरूपयेत्॥ ध्व० ३।२८ पृ० ३९६॥

४ [क] शृङ्गार एव मधुर २।७ ध्व०

[ख] विरोधमविरोध वा सर्वत्रेत्थ निरूपयेत्।

विशेषतस्तु शृङ्गारे सुकुमारतरो ह्यसौ॥ ३।२८ तथा वृत्ति, पृ० ३९६-७

से भी भग्न होना संभव रहता है। इस कारण शृङ्गार भी अन्य सभी रसों की अपेक्षा अधिक सुकुमार है और वह भी थोड़ा सा भी विरोध सह नहीं पाता। कुशल कवि को चाहिए कि इस रस की योजना में बहुत अधिक जागरूक रहे, क्योंकि यह ऐसा रस है जिसमे हुई त्रुटि (स्फटिकतिरोहित वस्तु के समान) चुटकी बजाते ही सामने आ जाती है[1], उसमे तनिक भी विलम्ब होता ही नहीं। शृङ्गाररस ही ऐसा रस है जो संसार के सभी लोगों के अनुभव का विषय है, अतः अतीव कमनीय और सबसे प्रधान है। इसमें प्रमाद होते ही कवि की अवज्ञा पराकाष्ठा को पहुँच जाती है और उसमें देरी नही लगती।

यह भी एक विशेषता है कि यदि अन्य रसों को भी अधिक उपादेय बनाना हो तो उनमे भी शृङ्गाररस के अङ्गों का स्पर्श रखना चाहिए। ऐसा करना दोषावह नही होता, यदि पूर्वोक्त विधि से उसके साथ संभावित विरोध का परिहार कर दिया जाए[2]। ऐसा करने से एक ओर तो काव्य मे भी आकर्षण चला आता है, दूसरी ओर पाठक को सदुपदेश भी बड़ी ही विदग्धता और बड़ी ही सरसता के साथ मिल जाता है। भरतमुनि आदि ने नाटक आदि का जो प्रवर्त्तन किया है, उसका उद्देश्य सत् आचार का उपदेश ही है[3]। और यह एक वैज्ञानिक तथ्य है, क्योकि पाठक, जिसे उपदेश देना है, बड़ी सरलता और प्रसन्नता के साथ उपदेश ग्रहण कर लेता है यदि उपदेश मे शृङ्गाररस का स्पर्श रहे, क्योंकि इस रस से वह अविलम्ब उन्मुख हो जाया करता है[4]। यदि शान्त रस का उपदेश करना हो तथा जीवन की अनित्यता प्रकट करनी हो और कहा जाए—

---

१. अवधानातिशयवान् रसे तत्रैव सत्कविः।
भवेत् तस्मिन् प्रमादो हि झटित्येवोपलक्ष्यते ॥ ३।२९ तथा वृत्ति, पृ० ३९७.

२. विनेयानुन्मुखीकर्त्तुं काव्यशोभार्थमेव वा।
तद्विरुद्धरसस्पर्शस्तदङ्गानां न दुष्यति ॥ ३।३० तथा वृत्ति ३९७-८.

३. धर्म्यमर्थ्यं यशस्यं च सोपदेशं ससंग्रहम्।
भविष्यतश्च लोकस्य सर्वकर्मानुदर्शकम् ॥
सर्वशास्त्रार्थसम्पन्नं सर्वशिल्पप्रवर्त्तकम्।
नाट्याख्यं पञ्चमं वेदं सेतिहासं करोम्यहम् ॥
श्रुतिस्मृतिसदाचारपरिशेषार्थकल्पनम्।
विनोदजननं लोके नाट्यमेतद् भविष्यति ॥
नाट्यशास्त्र प्रथमाध्याय १४, १५, १२० ॥

४. ध्व० पृ० ३९८.

सत्य मनोरमा रामा सत्य रम्या विभूतय ।
किन्तु मत्ताङ्गनापाङ्गभङ्गिलोल हि जीवितम् ।।[1]

माना कि रामाएँ बडी मनोरमा होती हैं, माना कि विभूतियाँ बडी रम्य होती हैं, किन्तु जीवन जो है वह तो मत्त (नशे में चूर) अङ्गना के अपाङ्ग की भङ्गिमा के समान चञ्चल है।

तो तदुपदेश को हृदयगम करने में ससारी पाठक को बडी सहूलियत होती है। साथ ही काव्य में भी सौन्दर्यातिशय चला आता है[2]। सच यह है कि

कवि यदि काव्य में शृङ्गारी हो तो उसका पूरा काव्य और पूरा का पूरा सहृदयजगत् रसमय हो जाता है। इसके विपरीत यदि कवि वीतराग हो तो उसका सर्वस्व और पूरा पाठकजगत् नीरस और फीका पडा रह जाता है।[3]

इसे यदि कोई सुकवि रस आदि के विरोध और अविरोध का क्षेत्रविभाजन कर ठीक से समझ लेता है तो काव्यनिर्माण में उसे कहीं भी कोई व्यामोह नहीं होता[4]।

रस के अनुरूप अन्य कविकर्म

रसों के पारस्परिक विरोध और मैत्री पर ध्यान रख कर काव्यनिर्माण करना जितना हितकर है उतना ही अलकारयोजना और व्यवहारयोजना पर ध्यान रख कर भी। इन पर भी कवि को अतिमात्र सावधान रहना चाहिए।

[क] अलकार-योजना

अलकारो को प्राचीन आचार्यों ने काव्यशोभा का जनक माना है और माना है कि इनसे काव्यशोभा की अभिवृद्धि भी होती है। इससे यह प्रतीत होता

१-२ ध्व० पृ० ३९८–३९९

३ शृङ्गारी चेत् कवि काव्ये जात रसमय जगत्।
स एव वीतरागश्चेन्नीरस सर्वमेव तत् ।। ध्व० पृ० ४९८ ।। भोजराज के शृङ्गारप्रकाश और उसके 'शृङ्गारैकरसवाद' का मूल आनन्दवर्धन का यही सब कथन है।

४ विज्ञायेत्थ रसादीनामविरोधविरोधयो ।
विषय सुकवि काव्य कुर्वन् मुह्यति न क्वचित् ।। ३।३१, ध्व० पृ० ४०० ।।

है कि अलंकार तत्त्व एक ऐसा तत्त्व है जिससे काव्य का केवल उपकार ही होता है। वस्तुत. उन आचार्यों का ध्यान रस पर नहीं था। रसदृष्टि से विचार करने पर प्रतीत होगा कि कुछ अलंकार ऐसे भी है जो विपरीत भी सिद्ध होते है। उदाहरणार्थ—अनुप्रास, दुष्कर यमक, दुष्कर चित्रबन्ध तथा भङ्गश्लेप को लीजिए। शृङ्गार और उसमें भी विप्रलम्भ शृङ्गार यदि प्रधान रस हो और उसमें यदि अनुप्रास-योजना की जाए तो उसके बहुत से भेद शृङ्गार के बहुत से भेदों में विरुद्ध सिद्ध होंगे, क्योंकि अनुप्रास का लक्षण है—'एक से वर्णो का बन्ध'। वह किसी भी प्रकार के वर्णो का हो सकता है। यदि कठोर वर्णो का बन्ध होगा तो शृङ्गार की अभिव्यक्ति मे सहायता मिलने के स्थान पर गतिरोध पैदा होगा। हां यदि शृङ्गार अङ्गी न होकर अङ्ग हो तो उसमें कोई भी अनुप्रास अपनाया जा सकेगा[1]। यमक के पूर्वोक्त अनेक भेद, दुष्कर चित्र, शब्दभङ्गश्लेप की योजना तो शृङ्गार से, यदि वह अङ्गी हो तो तनिक भी नही सही जाती। कोई समर्थ कवि इनकी योजना कर भी दे तो समझना चाहिए कि यह उसका प्रमाद है। विप्रलम्भ शृङ्गार मे तो और भी अधिक। उसमे तो यमक आदि का विनिवेश हरगिज नही किया जाना चाहिए[2]। बात यह है कि ध्वनिमार्ग में और उसमें भी अलक्ष्य-क्रमव्यङ्ग्य ध्वनि के मार्ग में वही अलंकार अलंकार माना जा सकता है जिसकी योजना करते समय कवि को रसभूमिका से हटना न पड़े, उसके लिए अतिरिक्त प्रयत्न न करना पड़े।[3] उदाहरणार्थ—

> कपोले पत्राली करतलनिरोधेन मृदिता
> निपीतो निश्श्वासैरयममृतहृद्योऽधररसः।
> मुहुः कण्ठे लग्नस्तरलयति बाष्पः स्तनतटीं
> प्रियो मन्युर्जातस्तव निरनुरोधे! न तु वयम्॥[4]

करतलनिरोध ने कपोल की पत्रावली मसल डाली, निश्वासों ने यह

---

१. शृङ्गारस्याङ्गिनो यत्नादेकरूपानुबन्धवान्।
सर्वेष्वेव प्रभेदेषु नानुप्रासः प्रकाशकः॥ २।१४ वृत्ति भी॥

२. ध्वन्यात्मभूते शृङ्गारे यमकादिनिबन्धनम्।
शक्तावपि प्रमादित्वं विप्रलम्भे विशेषतः॥ २।१५ वृत्ति भी॥

३. रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत्।
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलंकारो ध्वनौ मतः॥ २।१६ वृत्ति भी॥

४. ध्व० पृ० २२१

अमृतहृद्य अधर रस पी डाला। कण्ठ में आसक्त यह बाष्प [अश्रु] भी स्तनतटी को बार बार तरल बना रहा है। इस प्रकार अयि निरनुरोधे! मन्यु [कोप] ही तेरा प्रिय बन बैठा है, हम नही।

[यहाँ मन्यु पर प्रिय का आरोप है इस कारण पहले के तीनों चरणो का अर्थ प्रियपरक भी करना होता है तथा मन्युपरक भी, फलत यहाँ अर्थश्लेष है। अधर-रस मे रसपद रूपक लिए है, 'अमृतहृद्य' पद में उपमा है। बाष्प पर पुरुषव्यवहार का आरोप समासोक्ति द्वारा हो रहा है। वक्ता अपनी अपेक्षा मन्यु को बडा बतला रहा है, इसलिए इस अश में व्यतिरेक है। किन्तु इनकी योजना में कवि को अपनी रस-भूमिका से लेशमात्र भी हटना नही पड रहा, अत ये अलकार अलकार[1] हैं।]

यमक आदि[2] मे ऐसा नही रहता। तदर्थ कवि को रसभूमिका से पृथक् होना ही पडता है, क्योकि उसे इनके लिए वैसे शब्दो की खोज करनी पड जाती है। अन्य अलङ्कारो की स्थिति ऐसी नही रहती। वे आश्चर्यकारी और दुर्घट तब प्रतीत होते है जब सामाजिक उस पर ध्यान देता है। कवि के लिए वे उतने ही स्वाभाविक और सरल होते हैं। जब कवि का चित्त रससमाहित होता है तब ये अलङ्कार स्वय ही होडाहिस्की के साथ आ टूटते हैं। कादम्बरी का वह स्थल इसके लिए प्रमाण है जहाँ चन्द्रापीड कादम्बरी को देखता है। सेतुबन्ध में राम का मायानिर्मित कटा सिर देखकर सीता जब विह्वल होती है तब वहाँ भी यह चमत्कार देखते ही बनता है। ठीक भी है। आखिर रस वाच्यविशेष से ही व्यक्त होते हैं और रूपक आदि अलङ्कार वाच्य के ही धर्म होते हैं। यमक आदि अलकार शब्दगत होते हैं, रस के लिए शब्द बाह्य वस्तु है और अर्थ भीतरी यानी अन्तरङ्ग। रूपक आदि अर्थ के अलङ्कार है, अत वे भी अर्थ के साथ रस के अन्तरङ्ग धर्म बन सकते हैं तथा रस में अर्थ के ही समान अनिवार्य रूप से ही उपस्थित हो सकते हैं। उनका रस में उपस्थित न होना ही अस्वाभाविक है। यमक आदि की स्थिति शब्द के ही समान बाह्य है, क्योकि वे शब्दधर्म हैं। जहाँ कही ये रस में दिखाई भी देते हैं वहाँ सहृदय को उनकी प्रतीति से ही अधिक चमत्कार प्रतीत होता है, अत वे ही प्रधान हो जाते है और रस को दबा देते हैं। ये तो केवल

१ इस निरूपण का आधार लोचन है। मूल ध्वन्यालोक में इस पर कुछ नही लिखा गया।

२ ध्व० पृ० २२१-२२२

रसाभास के अङ्ग बन सकते हैं, क्योंकि ये कवि के अतिरिक्त यत्न से निष्पन्न होते हैं, उसी यत्न से नही जिससे रस निष्पन्न हुआ करता[1] है।

रूपक आदि अलङ्कार भी रस के अङ्ग तभी बनते हैं जब उन्हें बहुत कुछ सोच समझकर और समीक्षा कर प्रस्तुत किया जाता है[2]। यह समीक्षा निम्नलिखित है—

१. रूपक आदि अलङ्कार सदा रसादि के प्रति अङ्गरूप में ही उपस्थित किए जाएँ,
२. ऐसा न हो कि वे स्वयं ही प्रधान बन जाएँ,
३. अङ्गरूप से उपस्थित करते समय भी उपस्थिति के अवसर का विवेक हो,
४. ऐसा नहीं कि उन्हें बेमौके उपस्थित कर दिया जाए,
५. उचित अवसर पर अपनाने पर भी अलङ्कार को वही तक अपनाया जाए जहाँ तक उसकी आवश्यकता हो। आवश्यकता न रहने पर उसे छोड़ दिया जाए,
६. ऐसा नही कि आरम्भ से अन्त तक उसके निर्वाह के लिए आग्रह कर लिया जाए, और
७. जिसका निर्वाह हो गया हो उसमें भी यह देखा जाए कि वह अङ्ग बन रहा है अथवा नही।[3]

---

१. रसवन्ति हि वस्तूनि सालङ्काराणि कानिचित्।
एकेनैव प्रयत्नेन निर्वर्त्यन्ते महाकवेः॥
यमकादिनिबन्धे तु पृथग् यत्नोऽस्य जायते।
शक्तस्यापि रसेऽङ्गत्वं तस्मादेषां न जायते॥
रसाभासाङ्गभावस्तु यमकादेर्न वार्यते।
ध्वन्यात्मभूते शृङ्गारे त्वङ्गता नोपपद्यते॥ ध्व० पृ० २२२॥

२. ध्वन्यात्मभूते शृङ्गारे समीक्ष्य विनिवेशितः।
रूपकादिरलङ्कारवर्ग एति यथार्थताम्॥ ध्व० २।१७॥

३. विवक्षा तत्परत्वेन नाङ्गित्वेन कदाचन।
काले च ग्रहणत्यागौ नातिनिर्वहणैषिता॥
निर्व्यूढावपि चाङ्गत्वे यत्नेन प्रत्यवेक्षणम्।
रूपकादेरलङ्कारवर्गस्याङ्गत्वसाधनम्॥ ध्व० २।१८–१९॥

उदाहरण—

१ अङ्गता अलङ्कारप्रकरण में स्वभावोक्ति के लिए उदाहृत 'चलापाङ्गा' पद्य में कवि ने स्वभावोक्ति को ही चुना, क्योंकि वही प्रस्तुत अभिलापशृङ्गार में अङ्ग बन सकती थी[१]।

२ अङ्गिता 'पर्यायोक्त' के लिए उदाहृत 'चक्राभिघात॰' पद्य में पर्यायोक्त ही प्रधान बन बैठा है, विप्रलम्भ रस या हरिभक्ति पिछडी रह गई है[२]।

३ अवसर पर ही ग्रहण उपमाश्लेष के लिए उदाहृत 'उद्दामोत्कलिका' पद्य में उपमाश्लेष को कवि ने तृतीय चरण में उपस्थित किया, जो भावी ईर्ष्याविप्रलम्भ के लिए मार्गशोधक बन गया और पताका-स्थानक के समान भावी घटना का सूचक भी[३]।

४ अवसर पर त्याग श्लेषव्यतिरेक के लिए उदाहृत 'रक्तस्त्व॰' पद्य ने पूरे पद्य में विद्यमान श्लेष को चतुर्थ चरण में व्यतिरेक के लिए छोड दिया है[४]।

५ अत्यन्तनिर्वाहानिच्छा · अविरोधी रस की अङ्गता के लिए इसी प्रकरण में उद्धृत 'कोपात् कोमल॰' पद्य में कवि ने प्रथम चरण में जिस रूपक को 'बाहुलतिका॰' इस प्रकार उपस्थित किया है, उसे शेष तीन चरणों में भी रखने का प्रयत्न किया हो ऐसा नहीं[५]।

६ निर्वाह होने पर भी अङ्गता यथा

श्यामास्वङ्गं चकितहरिणीप्रेक्षणे दृष्टिपात
गण्डच्छाया शशिनि शिखिनां बर्हभारेषु केशान् ।
उत्पश्यामि प्रतनुषु नदीवीचिषु भ्रूविलासान्
हन्तैकस्मिन् क्वचिदपि न ते चण्डि सादृश्यमस्ति ।।[६]

मेघदूत का विरही यक्ष प्रिया को संदेश भेज रहा है और कह रहा है—'मैं श्यामा लता में तो अङ्गों की कल्पना करता फिरता हूँ, हरिणी के चकित प्रेक्षण में दृष्टिपात की, चन्द्रमा में मुखश्री की, मयूरों के कलापो में केशपाशो की तथा प्रतनु नदीवीचियों में तेरे

१–४ ध्व० पृ० २२४–२३१
५–६ ध्व० पृ० २३२–२३३

भ्रूविलासों की। हाय, हे चण्डि, तेरा संपूर्ण सादृश्य किसी एक वस्तु में नही मिलता।'

यहाँ उपमालङ्कार को कवि ने आरम्भ से तृतीय चरण तक निवाहा और अन्त में व्यतिरेक का भी पुट दे दिया, किन्तु इतने पर भी प्रधानता विप्रलम्भ में ही बनी हुई है।

कवि का जो अलङ्कार इस रीति से उपनिबद्ध होता है उससे अवश्य ही रस की अभिव्यक्ति होती है। यदि इसका अतिक्रमण होता है तो उससे उसका बना बनाया रस बिगड़ जाता है। इस प्रकार के गलत अलङ्कारप्रयोग महा-कवियों की कृतियों मे पर्याप्त मात्रा में प्राप्त होते हैं, उन्हें उपस्थित करना और उन महापुरुषों में दोष दिखलाना अपने ही भीतर दोष दिखलाना है, अतः इस दिशा में हम अधिक विस्तार में जाना उचित नहीं समझते[1]। केवल इतना ही कहना आवश्यक मानते है कि ऐसे बहुत[2] से कवि है जो प्रबन्धागत रसधारा से अलग होकर केवल अलङ्कारयोजना में निरत दिखाई देते है। उनकी ओर न देखकर रूपक आदि अलङ्कारों की रसव्यञ्जकता का जो पथ हमने अभी बताया है उसको और स्वचिन्तन से प्राप्त पथ को लेकर यदि कोई सुकवि समाहितचित्त होकर ध्वनि तथा उसमें भी प्रधान अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य और उसकी भी आत्मा रस का अपने काव्य में निवेश करता है तो उससे उसको महीयान् आत्मलाभ होता है[3]।

यह हुआ अलङ्कारों की रसानुरूप योजना का विश्लेषण। अब हम अन्य वस्तुओं की योजना पर ध्यान दें और देखें कि उसमें रसानुरूपता कैसे आती है।

[ख] संघटना :

संघटना भी कभी कभी रसप्रतीति में विघ्न बन जाती है, क्योंकि उसका प्राण है समास, और वह अनेक प्रकार का होता है। यदि समास बहुत बड़ा हो या उसकी संख्या बहुत हो अथवा दोनों स्थितियां हैं तो रसप्रतीति में विलम्ब होना सम्भावित रहता है, विशेषतः करुण और विप्रलम्भ शृङ्गार आदि मधुर रसों की प्रतीति में, क्योंकि ये अतीव सुकुमार होते है, अतः थोड़ी सी भी चोट इन्हें असह्य हो जाती है और ये तनिक सी अस्वच्छता में भी तिरोहित हो जाते है। कवि को चाहिए कि इस प्रकार संघटना का अभिनिवेश सर्वथा छोड़ दे।

१. ध्व० पृ० २३३–३४.
२. ध्व० पृ० ३४२.
३. ध्व० पृ० २३३–३४.

नाटक आदि अभिनेय काव्यो में तो इस बात का ध्यान और भी रखे। दीर्घसमासा सघटना रौद्र आदि रसो मे अनुरूप सिद्ध होती हैं यदि नायक धीरोद्धत हो, यदि उसके विना रसोचित वाच्य अर्थ की प्रतीति सम्भव न हो। वैसे चाहिए तो यह कि कवि रौद्र आदि रसों में भी मध्यम समास वाली ही सघटना का प्रयोग करे।

कवि सघटना को विषय के अनुसार अपवादरूप से भी प्रयुक्त कर सकता है। यदि काव्य सन्दानितक हो तो वह उसमें मध्यमसमासा और दीर्घसमासा सघटना अपना सकता है। सर्गबन्ध आदि प्रबन्धकाव्यो में प्रबन्ध की प्रकृति के ही अनुरूप सघटना अपनाई जानी चाहिए। पर्यायबन्ध में असमासा और मध्यम-समासा सघटना ही अनुरूप होती है। परिकथा में इतिवृत्तमात्र रहता है अत उसमें किसी भी प्रकार की सघटना अपनाई जा सकती है। खण्डकथा और सकलकथा प्राकृतभाषा में लिखी जाती है और उनमें कुलक आदि की बहुलता रहती है, इसलिए उनमें लम्बे समास भी लिए जा सकते हैं। आख्यायिका में अधिक मात्रा मध्यमसमासा तथा दीर्घसमासा सघटना की ही रहनी चाहिए, क्योंकि इनमें गद्य रहता है और गद्य तभी अच्छा लगता है जब उसमें शब्दबन्ध विकट हो, तभी उसमें प्रकृष्टता आती है। किन्तु कथा में रसानुरूप ही योजना चाहिए। आख्या-यिका में भी यदि गद्य को अधिक कठिन न बनाया जाए और उसे रसानुरूप ही रखा जाए तो अधिक अच्छा हो, क्योंकि उसमें भी करुण और विप्रलम्भ रस आते ही हैं, जिनके लिये दीर्घसमास की चट्टान से टक्कर लेना सम्भव नहीं रहता।

नाटक में कवि को रस पर ही दृष्टि रखनी चाहिए। ऐसा न हो कि नाटक रसहीन और इतिवृत्तमात्र तक सीमित रह जाए। इसीलिए उसमें कवि को दीर्घसमास कभी भी करना ही नहीं चाहिए। यदि रौद्र आदि रस आ जाएँ तो उनमें समासाभाव भी रह सकता है और समास भी, किन्तु उसका अर्थ यह नहीं कि वहाँ लम्बे समास या बहुत से समास रहें।

जहाँ समास हो वहाँ भी कवि को वर्णों की प्रकृति पर ध्यान देना चाहिए। ऐसा न हो कि कोमल रसो में कठोर वर्णों के समास चले आएँ और कठोर रसो में कोमल वर्णों के। कही यदि परुषा और ग्राम्या वृत्ति को छोडना पडे तो उन्हें अवश्य ही छोड देना चाहिए, भले ही वहाँ समास दोष हो। वहाँ अर्थ के औचित्य पर ही सघटना की योजना की जानी चाहिए।[1]

---

१ ध्व० ३।५ की वृत्ति पृष्ठ ३०९ से ३२८ तक

[ग] गुणयोजना

सभी गुणों में कवि को प्रसाद गुण का ध्यान सर्वत्र और सर्वाधिक रखना चाहिए। जहाँ कहीं अन्य गुण नहीं भी होते वहाँ भी कोई हानि नहीं होती यदि प्रसादगुण रक्षित रहे। (यानी प्रसादगुण लङ्कायुद्ध का हनूमान् है।)[१]

[घ] वस्तुयोजना

कवि को चाहिए कि वह प्रबन्ध-काव्यों में वस्तु की योजना रस के अनुरूप रखे। भले ही वह कथाशरीर प्रसिद्ध हो या कल्पित। इसके लिए यदि कवि को पुरानी कथावस्तु में कोई परिवर्त्तन भी करना हो तो कर लेना चाहिए। पुरानी कथावस्तु में जो अंश रसानुरूप न हो उसे छोड़ देना चाहिए और चाहिए कि वह अपने रस के अनुरूप घटना की कल्पना स्वयं कर ले और उसे यथास्थान जोड़ दे। यह कार्य कैसे करना चाहिए इसकी शिक्षा कवि भरतमुनि के नाटयशास्त्र और प्राचीन कालिदास, सर्वसेन आदि आदर्श महाकवियों की कृतियों से ले सकता है। एतदर्थ वह हमारा अर्जुनचरित भी देख सकता है। सच तो यह है कि वह सब उसकी अपनी प्रतिभा पर निर्भर है। जब कवि को किसी इतिवृत्त की कल्पना स्वयं ही करनी हो, उसे किसी इतिहास से नहीं लेना हो तब तो वह स्वतन्त्र है। उस स्थिति मे कवि को एकमात्र सरस कथानक की ही कल्पना करनी चाहिए और केवल सामर्थ्यप्रदर्शन के लिए नीरस प्रसङ्गों मे नहीं बहना चाहिए। कभी कभी ऐसा देखा जाता है कि कविजन प्रासङ्गिक चर्चाओं में, पर्वत आदि के वर्णनों में उलझ जाते हैं और प्रकृत रस को छोड़ देते है। कविभाइयों को हमारी यह बात सदा याद रखनी चाहिए—

> कथाशरीरमुत्पाद्यवस्तु कार्यं तथा तथा।
> यथा रसमयं सर्वमेव तत् प्रतिभासते ॥

कल्पित कथानक की योजना कवि को इस प्रकार करनी चाहिए कि उसमें सब कुछ रसमय ही प्रतीत हो। ध्व० पृ० ३३४

कवि को इतना ध्यान रहे कि वह रस के लिए काव्य लिख रहा है। केवल इतिवृत्त का निर्वाह तो इतिहास ग्रन्थों से ही सिद्ध है। उसी के लिए काव्य-निर्माण चर्वितचर्वण होगा।

कवि जब विविध घटनाओं को जोड़ने लगे और किसी एक प्रबन्धव्यापी

---

१. सर्वत्र प्रसादो गुणोऽनुसर्त्तव्यः ध्व० पृ० ३२२.

कथानक का निर्माण करने लगे तो यह भी ध्यान रखे कि कथावस्तु को निष्पन्न करने वाली मुख, प्रतिमुख आदि सन्धियाँ और उपक्षेप, विलास आदि उनके अङ्ग रसानुरूप योजना से युक्त है या नहीं[1]। ऐसा तो नहीं कि उन्हें केवल इसलिए रखा जा रहा है कि भरतमुनि ने उन्हें सन्धि या सन्ध्यङ्ग के रूप में स्वीकार किया है। केवल इसीलिए कि नाट्यशास्त्र में लिखा है, प्रबन्ध में सभी सन्धियों और सभी सन्ध्यङ्गों का निवेश करना आवश्यक नहीं है। उनका निवेश उतनी दूरतक करना आवश्यक है जितनी दूर तक रस की रक्षा रहे, जैसे रत्नावली में। जहाँ रसविरोध दिखाई दे वहाँ उन्हें छोड़ा भी जा सकता है। वेणीसंहार में द्वितीय अङ्क का आरम्भिक अंश केवल इसीलिए जोड़ा गया है कि उसके बिना प्रतिमुख सन्धि का प्रथम अङ्ग 'विलास' नाटक में न आ पाता, और भरतमुनि के सिद्धान्त का अनुसरण न हो पाता। उससे नाटक के मुख्य रस की अनुभूति में बाधा पड़[2] रही है।

कवि को यह भी चाहिए कि रस का उद्दीपन तथा प्रशमन अवसर पर ही करे। रत्नावली इसका उत्तम उदाहरण है। जहाँ कहीं ऐसा प्रतीत हो कि मुख्य रस की धारा टूटी जा रही है वहाँ किसी भी प्रकार उसे अवश्य ही उद्दीप्त कर देना चाहिए। तापसवत्सराज इसके लिए आदर्श है[3]।

इसके लिए सबसे अधिक ध्यान जिन तत्त्वों पर दिया जाना चाहिए वे हैं विभाव, स्थायी भाव, अनुभाव तथा सञ्चारी भाव। इनकी योजना अत्यन्त ही सूक्ष्म सृष्टि है। इनमें आया तनिक-सा भी अनौचित्य आंख की किरकिरी बन जाता है। इनमें औचित्य का ध्यान बहुत ही अधिक सावधानी के साथ रखना चाहिए। विभाव के औचित्य का प्रश्न बहुत गम्भीर नहीं है, क्योंकि वह प्रसिद्ध है। शृङ्गार में स्त्री पुरुष, उद्यानचन्द्रिका आदि विभाव होते हैं। इसी प्रकार करुण आदि में मृत सम्बन्धी आदि। गम्भीर है प्रश्न स्थायी भाव के औचित्य का। यह निर्भर करता है नायक की प्रकृति पर। प्रकृति होती है अनेक प्रकार की। किसी नायक की प्रकृति उत्तम होती है, किसी की मध्यम और किसी की अधम। नायकों की प्रकृति उनकी योनियों पर भी निर्भर है। किसी की योनि देव होती है किसी की

---

१ ध्व० पृ० ३३९–३४०
हमने अपने 'सीताचरित' में भी ऐसा ही किया है। उसमें विषयवस्तु का परिवर्तन कर दिया है।

२ ध्व० पृ० ३३६–३४०

३ ध्व० पृ० ३४१–४२

मानुष किसी की अन्य प्रकार की [पाशविक आदि]। स्थायी भाव का निवेश करते समय कवि को चाहिए कि प्रकृतियों में सांकर्य की स्थिति[1] उत्पन्न न हो अर्थात् अन्य किसी योनि का स्थायी भाव अन्य किसी योनि के नायक में न दिखला दिया जाए। मनुष्यनायक में देवानुरूप स्थायी भाव और दिव्य नायक में मनुष्यानुरूप स्थायी भाव दिखलाना अनुचित ठहरता है। उदाहरणार्थ उत्साहरूपी स्थायी भाव को मनुष्य में उतना अधिक नही बतलाया जा सकता जितना देव में। यदि यह बतला दिया जाए कि कोई मनुष्य राजा सातों समुद्रों को लाँघे जा रहा है तो माना कि इससे नायक का महत्त्व बढा हुआ ही प्रतीत होता है, तथापि होता है यह नीरस ही, क्योंकि यह वर्णन सर्वथा अस्वाभाविक हुआ करता है और इसीलिए अनुचित भी। कवियों ने सातवाहन आदि के वर्णन में ऐसा ही कुछ किया है। वह वस्तुतः अनुचित ही है। उनमे उतना ही वर्णन शोभा देता है जितना मनुष्योचित है। जहाँ कही दोनों प्रकार के नायक होते है दिव्य भी और मनुष्य भी, जैसे पाण्डव आदि की कथा में, वहाँ दोनों प्रकार के वर्णन फबते रहते हैं जैसे महाभारत मे [या रामायण में]। कवि को हमारा यह वाक्य कभी भी नहीं भूलना चाहिए—

> अनौचित्याद् ऋते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम्।
> औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा॥

> अनौचित्य को छोड़कर कोई भी दूसरा तत्त्व रसभङ्ग का कारण नहीं है। इसी प्रकार औचित्य को छोड़कर रस का रहस्य [आत्मतत्त्व] भी कोई और नहीं है।

भरत ने जो यह लिखा कि 'नाटक में आई कथावस्तु प्रसिद्ध होनी चाहिए और उनमें नायक भी प्रसिद्ध होना चाहिए,' इसका उद्देश्य यही है कि ऐसा करने से कवि को औचित्य और अनौचित्य का झगड़ा निबटाने की विपत्ति से मुक्ति मिल जाती है, और उसका पथ प्रशस्त तथा व्यामोहशून्य रहा आता है। नाटक में कल्पित कथावस्तु को अपनाने में कभी-कभी प्रमाद की भी सम्भावना रहती है, क्योंकि उसका नायक अप्रसिद्ध रहता है, अतः उसके स्वभाव में किसी अनुचित बात का रहना भी सम्भावित होता है[2]।

यह प्रमाद उत्साह आदि स्थायी भावों में तो बहुत ही स्पष्ट रूप से दिखाई दे जाता है, किन्तु रति आदि में स्थिति विपरीत रहती है। इनमें प्रमाद का निर्णय

१. ध्व० पृ० ३२९–३२.
२. ध्व० पृ० ३३०–३३१

बहुत उलझा रहता है। कारण यह है कि रति आदि भाव देव आदि में भी रहते हैं और ये केवल मनुष्यलोक के रहने वाले नहीं होते। इनका निवास स्वर्ग आदि में भी होता है और यह आवश्यक नहीं कि देवलोक में भी रति का प्रकार वही हो जो हमारे इस मनुष्यलोक में दिखाई देता है। सभव है स्वर्ग में उसका कोई दूसरा रूप हो। पाताल में कोई तीसरा भी रूप सभव है। (आज भी देखा जाता है कि अमरीका आदि में स्त्री पुरुषों का मिलन उतना सयत नहीं रहता जितना भारत में)। ऐसी स्थिति में दिव्य नायकों में अथवा मानवेतर नायकों में रति-व्यवहार का वही रूप दिखलाना तर्क-सिद्ध प्रतीत होता है जो मानवेतर योनि की रति का हो सकता है, किन्तु वह अनुचित ठहरता है, क्योंकि नाटक मनुष्यलोक में बनाया गया होता है और उसका दर्शक मानव ही होता है। उसकी अपनी प्रकृति के और अपनी प्रवृत्ति के विपरीत जो भी प्रकृति और प्रवृत्ति होगी, उसमें उसे कोई रुचि न रहेगी। इसलिए नायक किसी भी लोक का हो, उसमें रति का चित्रण मर्त्यलोक के अनुसार करना चाहिए। मर्त्यलोक में दोषों पर ध्यान रखना चाहिए। (हम भारतीयों के लिए) भारतवर्षोचित रतिव्यवहार ही श्लील और शोभाजनक हो सकता है, अत भारतवर्षोचित रतिव्यवहार ही (भारतीय) कवियों द्वारा अपनाया जाना चाहिए।

भारतोचित व्यवहार में भी कवि का ध्यान नायक की प्रकृति पर रहना चाहिए। ऐसा न हो कि उत्तम नायक मे अधम नायक के ग्राम्य रतिव्यवहार का चित्रण हो जाए। ऐसा विपर्यय अत्यन्त उपहसनीय होगा और हँसी कवि की ही होगी, क्योंकि (नायक का नाटकीय व्यक्तित्व कवि का ही व्यक्तित्व माना जाता है, नायक कवि की ही प्रातिभ आत्मा है।) उससे ऐसा कुछ प्रतीत होगा कि कवि स्वय अपने माता पिता के सभोग का वर्णन कर रहा है और वह अत्यन्त ही अनुचित होगा। फिर ऐसा तो है नहीं कि सभोग केवल सुरत तक सीमित हो। उसके और भी प्रकार है परस्पर मे प्रेमपूर्ण दृष्टिपात आदि। उत्तम प्रकृति के नायक में इनका वर्णन ही पर्याप्त होगा। (कालिदास आदि) महाकवियो ने इस दिशा में जो असावधानी बरती है वह उनकी असमीक्ष्यकारिता ही है, वह उनका दोष ही है। यह अलग बात है कि वह दोष उनकी प्रतिभाशक्ति के प्रकाश में दबा रहता है, यथा कुमारसभव में शिवपार्वतीसभोग। किन्तु जहाँ प्रतिभाशक्ति की कमी रहती है वहाँ यह दोष तुरन्त ही बुद्धिपटल पर अङ्कित हो जाता[1] है। फिर

१ अव्युत्पत्तिकृतो दोष. शक्त्या सव्रियते कवे ।
यस्त्वशक्तिकृतस्तस्य स झटित्यवभासते ॥ ध्व० पृ० ३१६ ॥

काव्य में यह दोष कदाचित् कम ही खले, किन्तु यदि यही दोष नाटक आदि अभिनेय काव्य में आ जाए तो सोचिए कि सभ्यता और शिष्टता का तब क्या होगा, जब चरित की आदर्शता के लिए प्रसिद्ध कोई उत्तम नायक और उत्तम नायिका मञ्च पर मैथुन करते चित्रित किए जाएँगे। इसलिए रति का चित्रण प्रकृति और समाज के अनुरूप ही होना चाहिए। अद्भुत रस आदि के स्थायी भाव विस्मय आदि के विषय में भी यह चिन्तन जागरूक रखा जाना चाहिए।[1]

अनुभाव (और सञ्चारी भावों का औचित्य स्थायी भाव के औचित्य पर निर्भर है, अतः उसका निरूपण आवश्यक नही। उन) के औचित्य पर तो स्वयं भरतमुनि बहुत कुछ लिख चुके है।[2]

अनुरोध :

उक्त समस्त व्यवस्थाओं के लिए, बहुत अच्छा हो यदि आधुनिक कवि रामायण आदि को आदर्श के रूप मे सामने रखकर चलें। कथाओं के ये ऐसे आश्रय है जो सिद्धरस जैसे है, जिनमे कोई सोचविचार और विमर्श की आवश्यकता नहीं रहती और जिनका अनुकरण आँख बन्दकर किया जा सकता है।[3]

संवाद

कवियो पर एक बहुत ही बड़ा प्रहार किया जाता है। यह कि उनने जो लिखा है वह और भी किसी ने लिख रखा है। अर्थ यह कि कवि के महान् परिश्रम को भी यह कहकर नगण्य ठहरा दिया जाता है कि उसमें कोई अपूर्वता या नवीनता नहीं है। कवि को इसकी चिन्ता नही करनी चाहिए। उसे हमने जो ध्वनि और रस के विविध भेद बतलाए है, उनके प्रकाश से प्रकाशित कविता को सर्वथा नवीन ही समझना चाहिए, क्योंकि अपूर्वता और नवीनता वस्तु में नही, अभिव्यक्ति और उक्ति में ही रहती है। कारण कि कवि जिन वस्तुओं को अपने शिल्प का उपादान बनाता है वे प्रायः लौकिक होती है और लोक की सृष्टि का कोई भार कवि पर नही रहता। उसकी सृष्टि प्रातिभ सृष्टि होती है और प्रतिभा में जो नवीनता हुआ करती है उसका आधार 'योजना' और 'सूक्ष्मता' ही हुआ

१. ध्व० पृ० ३२६.

२-३ ध्व० पृ० ३३२-३३.

४. सन्ति सिद्धरसप्रख्या: ये च रामायणादयः।
कथाश्रया न तैर्योज्या स्वेच्छा रसविरोधिनी ॥ ध्व० पृ० ३३५ ॥

करती है। कवि लौकिक पदार्थों की ही योजना में कोई नवीनता लाता है या उन पदार्थों के निरीक्षण में कोई सूक्ष्मता प्रकट करता है। अलंकार और उक्तिवैचित्र्य इन्हीं दो विशेषताओं के माध्यम है। फलत,

यह तो सर्वथा निश्चित तथ्य है कि जो कवि लोकदर्शी और वस्तुबिम्ब का चितेरा होगा उसकी कविता का स्थूलांश अन्य कवियों की कृतियों से मिलता-जुलता ही होगा। यही है कविप्रतिभासंवाद[1]। केवल

संवाद के कारण किन्हीं दो कृतियों को कोई भी प्रज्ञावान् विद्वान् एक नहीं कहेगा और न उसे ऐसा कहना चाहिए।

संवाद निम्नलिखित तीन प्रकार के होते हैं—

१ प्रतिबिम्बतुल्य

२ चित्रतुल्य और

३ तुल्यदेहितुल्य[2]।

इनमें से—

[क] प्रतिबिम्बतुल्य[3]

प्रतिबिम्बतुल्य संवाद में प्राय एकरूपता ही रहती है, नवीनता नहीं, अत जिसके पास प्रतिभा हो ऐसे कवि को चाहिए कि वह इस प्रकार के संवाद को यथासम्भव छोड़ता चले। इस संवाद में कोई तात्त्विकता या विषयवस्तु की मौलिकता नहीं रहा करती। [राजशेखर ने इस संवाद का स्वरूप यह माना है—

अर्थः स एव सर्वो वाक्यान्तरविरचना परं यत्र।
तदपरमार्थविभेदं काव्यं प्रतिबिम्बकल्पं स्यात् ॥

जिसमें वक्तव्य वही का वही हो, केवल वाक्यमात्र बदल दिए गए हो

१-२ संवादास्तु भवन्त्येव बाहुल्येन सुमेधसाम्।
नैकरूपतया सर्वे ते मन्तव्या विपश्चिता।
संवादो ह्यन्यसादृश्यम्,
तत् पुनः प्रतिबिम्बवत्, आलेख्याकारवत् तुल्यदेहिवच्च शरीरिणाम् ॥
ध्व० ४।११-१२ ॥

३ तत्र पूर्वमनन्यात्म तुच्छात्म तदनन्तरम्।
तृतीयं तु प्रसिद्धात्म नान्यसाम्यं त्यजेत् कविः ॥ ध्व० ४।१३ ॥

वह संवाद परमार्थतः अभिन्न होने के कारण प्रतिबिम्बतुल्य संवाद कहलाता है[1] ।]

[ख] चित्रतुल्य[2]

चित्रतुल्य संवाद में भी मौलिकता की मात्रा बहुत ही क्षीण रहती है। अतः यह संवाद भी त्याज्य ही है। [राजशेखर के अनुसार इसका स्वरूप यह है—

कियतापि यत्र संस्कारकर्मणा वस्तु भिन्नवद् भाति ।
तत् कथितमर्थचतुरैरालेख्यप्रख्यमिति काव्यम् ॥[3]

जिस कविता में पुरानी वस्तु केवल इसलिए थोड़ी दूर तक भिन्न प्रतीत हुआ करती है कि उसमें कवि तनिक सा संस्कार कर देता है उसे चित्र के समान कहा जाता है]

[ग] तुल्यदेहितुल्य[4]

तुल्यदेहितुल्य संवाद अपरिहार्य है। इसमें काव्य की केवल आत्मा ही समान या अभिन्न रहती है, शेष समस्त सामग्री सर्वथा अभिनव रहा करती है। शब्द और अर्थ से बना काव्यशरीर इस संवाद में स्थूल और सूक्ष्म दोनों रूपों में भिन्न ही रहता है। ऐसी स्थिति में यह अव्यावहारिक और इसीलिए असम्भव है कि इस प्रकार के संवाद से बचा जा सके। यह कैसे सम्भव है कि शरीर, मन और प्राणों के भिन्न रहते हुए केवल आत्मतत्त्व का अभेद या सादृश्य देखकर किन्हीं दो शरीरधारी व्यक्तियों को एक ही कह दिया जाए। [राजशेखर ने इस संवाद का स्वरूप यह बतलाया है—

विषयस्य यत्र भेदेऽप्यभेदबुद्धिर्नितान्तसादृश्यात्[5] ।
तत् तुल्यदेहितुल्यं काव्यं बध्नन्ति सुधियोऽपि ॥

जहाँ विषय भिन्न हो, किन्तु सादृश्यातिशय के कारण अभिन्नता ही

१,३ काव्यमीमांसा १२ अध्याय.
२,४ ध्व० ४।१३.
५. काव्यमीमांसा–१२,
वस्तुतः राजशेखर के तीनों लक्षण परिष्कार की अपेक्षा रखते हैं। राजशेखर ने एक चौथा संवाद भी माना है 'परपुरप्रवेशतुल्य'। इन सबका बहुत अच्छा विवेचन पं० बल्देव जी ने अपने भारतीय साहित्यशास्त्र में कर दिया है।

प्रतीत हो रही हो वह काव्य तुल्यदेहितुल्य काव्य होता है। ऐसा काव्य वे कवि भी बनाते हैं जो सुधी होते हैं।]

सर्वथा, यदि कवि की सामग्री अपनी सारभूत गुणसंपत्ति से भिन्न हो तब यदि शेष अंश में उसका किसी अन्य कवि की सामग्री के साथ साम्य भी हो तो वह आदरणीय ही होती है।[1] उदाहरणार्थ सुन्दरी का चन्द्रतुल्य मुख। क्या एक स्त्री का मुख दूसरी स्त्री के मुख से अवयवयोजना में भिन्न हो सकता है? क्या एक स्त्री के मुख में नासिका जहाँ लगी हुई होती है, दूसरी स्त्री के मुख में वह वहाँ लगी नहीं रहती। आँखें क्या प्रत्येक नारीमुख में एक ही स्थान पर नहीं रहतीं? क्या किसी का मुखरन्ध्र कपाल पर भी होता है? सर्वथा मुख के अवयव और उनके संस्थान की दृष्टि से एक योनि के सभी प्राणियों की स्थिति अभिन्न हुआ करती है। इतने पर भी किसी सुन्दरी की मुखकान्ति में लावण्य-ज्योत्स्ना रहती हो तो उसे अन्य स्त्री की अपेक्षा अधिक आदर दिया जाता है। उसमें अधिक और अतिरिक्त, अपूर्व और नवीन, क्या है? केवल लावण्यश्री। काव्य में लावण्यस्थानीय है प्रतीयमान-सम्पत्ति। यदि उसमें अन्तर हो तो शेष सामग्री का संवाद दोषावह नहीं माना जा सकता।[2]

काव्य जिस लिपि में लिखा जाता है और जिन अक्षरों में या जिन पदों में वे जिस प्रकार उस लिपि के सभी काव्यों में अभिन्न ही होते हैं, उसी प्रकार जिन पदार्थों का काव्य में उपादान किया जाता है वे भी अभिन्न ही होते हैं। अक्षरों और पदों की सृष्टि में तो वाचस्पति भी नवीनता नहीं ला सकते। वे तो सभी काव्यों और सम्पूर्ण वाङ्मय में, सम्पूर्ण सारस्वत विश्व में एक ही रहते हैं।[3] तब अक्षरों और लिपि में अभेद देखकर यदि किसी ग्रन्थ को अन्य ग्रन्थों से अभिन्न नहीं कहा जा सकता तो पदार्थों के अभिन्न होने मात्र से भिन्न काव्यों को अभिन्न कैसे माना जा सकता है। यह निर्णय तो अनुभव पर निर्भर है कि किसी काव्य में नवीनता है या नहीं। अनुभव यदि कहता हो कि किसी काव्य में कहीं कोई रम्यता है तो कवि को चाहिए कि वह अपना परिश्रम सफल समझे। रम्यता रहने

१-३ आत्मनोऽन्यस्य सद्भावे पूर्वस्थित्यनुयाय्यपि।
वस्तु भातितरां तन्व्याः शशिच्छायमिवाननम्॥ ध्व० ४।१४॥
अक्षरादिरचनेव योज्यते यत्र वस्तुरचना पुरातनी।
नूतने स्फुरति काव्यवस्तुनि व्यक्तमेव खलु सा न दुष्यति॥ ध्व० ४।१५॥
प्रतीयमानं पुनरन्यदेव विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु॥ ध्व० १।४॥

पर प्राचीन काव्यों की छाया कविकर्म को पर्युषित और वासी सिद्ध नहीं होने दे सकती। रम्यता का आधान करने वाला कवि प्राचीन विषयवस्तु पर भी काव्य-निर्माण करने पर यशोभागी ही होता है, उससे निन्दा का भय नहीं होता[1]। इस प्रकार,

> सुकवि को चाहिए कि वह स्वतः किसी अन्य कवि की काव्यसम्पत्ति जान-बूझकर न ले। वह प्रतीयमान अर्थ की अमृतमयी रसधारा तथा अन्य विशेषताओं से आई विविध वन्धच्छटा के साथ अपनी सरस्वती को प्रस्तुत करता चले। जो कवि इस भूमिका पर आरूढ़ रहता और इस प्रवृत्ति से काव्यसृजन करता है उसका ध्यान स्वयं भगवती सरस्वती को रहता है और वह भगवती उस सुकवि को अपेक्षित काव्योचित सामग्री की परिपूर्ति स्वयं करती रहती है। यही है सारस्वत प्रसाद और इसी की प्राप्ति है किसी भी सुकवि का महाकवित्व[2]।

[ख] सहृदयशिक्षा[3]

[काव्य-संवाद की जो चर्चा अभी हुई है उसका एक लक्ष्य सहृदय भी है] सहृदय उसे कहा जाता है जो 'रसज्ञ' होता है, केवल शिल्प और अलङ्कृति-

---

१. यदपि तदपि रम्यं वस्तु लोकस्य किञ्चित्
स्फुरितमिदमितीयं बुद्धिरभ्युज्जिहीते।
अनुगतमपि पूर्वच्छायया वस्तु तादृक्
सुकविरुपनिबध्नन् निन्द्यतां नोपयाति ॥ ध्व० ४।१६ ॥

२. प्रतायन्तां वाचो निमितविविधार्थामृतरसा
न सादः कर्त्तव्यः कविभिरनवद्ये स्वविषये।
परस्वाऽऽदानेच्छा-विरतमनसो वस्तु सुकवेः
सरस्वत्येवैषा घटयति यथेष्टं भगवती ॥ ध्व० ४।१७ ॥
यहाँ ग्रन्थकार ने 'ओम्'-शब्द का प्रयोग किया है। इसके प्रयोग के साथ ही अपने ग्रन्थ की वृत्ति भी आनन्दवर्धन ने समाप्त की है।

३. सहृदयपद का प्रयोग आनन्दवर्धन ने पर्याप्त मात्रा में किया है, कुछ प्रयोगों के लिए—द्रष्टव्य पृष्ठ ९, १२, २२, २३, २६, ३३, ३३, ३८, ४९, १०६, १०७, ३५१।

प्रयोजन का पारखी नहो[1]। सहृदय को चाहिए कि वह रस पर दृष्टि रखे। एतदर्थ यह अपेक्षित है कि वह ध्वनि को पहचाने और उन शब्दो का अध्ययन ध्यानपूर्वक करे जिनसे अतिरिक्त अर्थ का सकेत मिलता है। उसे चाहिए कि वह रत्नपारखी के समान उस अलोक-सामान्य वस्तु तक भी पहुँचे जो रत्न की काया मे जात्यता के समान काव्य में तिरोहित रहती है, इसलिए जिसे सब नही समझ पाते, किन्तु महत्त्व में जो श्रेष्ठतम हुआ करती है और इस कारण जिसे काव्यात्मा भी कह दिया जाता है। यह अलोकसामान्य वस्तु प्रतीयमान अर्थ ही है जो नारी की शरीरयष्टि मे उभरते लावण्य के समान या उससे भी अधिक निगूढ सौभाग्य के समान सर्वाधिक रमणीय होते हुए भी गूढ, गहन और रहस्यरूप में विद्यमान रहता है। उसे किसी सुहागिन की लाज भी कहा जा सकता है जो [लाज] अपनी मनोज्ञ, किन्तु अगोचर तिरस्करणी मे बहुत कुछ छिपाए रहती है। सहृदय सामाजिक होता है, अत इन समस्त सकेतों को वह मूक भाषा मे समझता रहता है। जिस काव्यपाठक में यह क्षमता रहती है वही 'सहृदय'[2] और 'सचेता' माना जाता है।

सहृदय का सबसे बडा धन होता है उसका हृदय, किन्तु उसे मतिमान् भी होना पडता है। काव्यानुशीलन के समय उससे यह अपेक्षा की जाती है कि उसकी मति भी सजग हो और केवल सजग ही न हो, उचित पथ से सजग हो। ऐसा होने पर काव्यपाठक केवल सहृदय ही नही 'सुमति'[3] भी होगा।

काव्यपाठक का हृदय और उसकी शोभन मति तब तक काव्यतात्पर्य तक पहुँचने में समर्थ न होगे जब तक उसमें बोध की सम्पत्ति न होगी। बोध का अर्थ ऐसा बोध है जो अपनी सम्पूर्णता तक पहुँचा हो। कला, शास्त्र, समाज, भाषा, इतिहास, आदि की जितनी शाखाओ में मानवमस्तिष्क लेखबद्ध किया जा सकता है उस सम्पूर्ण वाङ्मयात्मक विराट् ब्रह्म का बोध इस बोध में आ सकता है। इस बोध को व्युत्पत्ति कहा जाता है। इससे युक्त मतिमान् व्युत्पन्न प्राज्ञ

---

१ किमिद सहृदयत्व नाम। किं रसभावानपेक्षकाव्याश्रितसमयविशेषाभिज्ञत्वम्, उत रसभावादिमयकाव्यस्वरूपपरिज्ञाननैपुण्यम्। ०००द्वितीयस्मिस्तु पक्षे रसज्ञतैव सहृदयत्वम्। (ध्व० पृ० ३५९)

२ लावण्य, लज्जा, रत्नजात्यत्व के उपमानो के सन्दर्भ पिछले प्रकरणो में दिए जा चुके है। द्र० यही पृ० १०७

३ सुमति शब्द—ध्व० पृ० २७

होता हैं अतः उसे विद्वान् कहा जाता है। सहृदय को भी 'सूरि'[1], 'बुध'[2] और 'विद्वान्'[3] होना चाहिए।

हृदय, मति और वैदुष्य से मण्डित व्यक्ति भी तब तक काव्य के लिए पूर्ण अधिकारी नहीं होता। जब तक उसकी आत्मा में महत्ता की प्रतिष्ठा नही होती। यह महत्ता क्या है? यह एक ऐसा धर्म है जिसमे बन्ध और निर्बन्ध का क्षीण स्पर्श भी नही रहता। इसीसे व्यक्तिचेतना समष्टिचेतना से ऐकात्म्य स्थापित कर पाती है। वह अपने वासित हृदय से तटस्थ रह वस्तु-परीक्षण मे भी निपुणता रखती है और अरुचि या स्थूलग्रह से भी दूर रही आती है। इस प्रकार का भावक न तो अरस को रस मानने की स्थूलता दिखलाता और न रस को अरस प्रतिपादित करने की अज्ञता। ऐसे स्वच्छ और गम्भीर चेतना के धनी सहृदय को 'महात्मा'[4] आलोचक कहा जाता है।

कभी कभी यह देखा जाता है कि सहृदय की उक्त उदारता नगण्य को भी श्लाघ्य मानने लगती है और जहां प्रतीयमान अर्थ की सम्पत्ति में अधिक चमत्कार नही होता, वहां भी वह 'ध्वनित्व' खोजने लगती है। अपेक्षित यह है कि ऐसे स्थलों में सहृदय सन्तुलन रखे और यथार्थ को ही महत्त्व दे। सर्वत्र 'ध्वनिरागी' बनना स्वस्थ चिन्तन से दूर होना है।[5]

कभी कभी यह भी देखा जाता है कि सहृदय कवि के प्रति अनुदार हो जाते है और तनिक से साम्य के आधार पर कह बैठते हैं 'यह उक्ति अमुक प्राचीन उक्ति से गतार्थ है, इसमें कोई नवीनता नही'। सहृदय को चाहिए कि वह कवि-कर्म को गहराई में जाकर पहचाने और उसमे प्राप्त नवीनता को श्रेय दे। [अन्ततोगत्वा बूढ़ी माँ ही नई कन्या बनती है। अनुहार और रक्त से दोनों अभिन्न होती हैं, क्या इतने से कन्या त्याज्य हो सकती है] सहृदय एक 'सामाजिक'[6] होता है। समाज में नये पुराने के विनिमय का रस कहाँ प्रचलित नहीं होता? सामाजिक की चेतना समाज के सहअस्तित्व, सहकार और संस्कारों से

१. सूरि ध्व० १।१३
२. बुध ध्व० १।१
३. विद्वान् ध्व० पृ० १०, १३, ५३३
४. महात्मा ध्व० पृ० २६ तथा अन्यत्र अनेक बार
५. ध्व० पृ० ४८१
६. मम्मट आदि में प्रसिद्ध

कैसे तटस्थ रह सकती है ? इन सब थपेड़ो से आहत चेतना का धनी यह सामाजिक 'विदग्ध'[1] भी कहलाता है । [यानी कोई लडका नाना बन गया है] ।

सचेता, सुमति, विद्वान्, महामना, सामाजिक, विदग्ध और हृदयवान्, सहृदय का कोई दल नही होता, कोई वर्ग नही होता[2] । इसलिए उनके यहाँ व्यक्तिवाद के विष का कोई प्रभाव नही रहता । उनके यहाँ आम आम ही होता है और नीम नीम ही । यह नही कि शत्रु का आम भी नीम हो और मित्र का नीम भी आम । झूठे सहृदयत्व से उसकी आँखें बन्द नही रहती और वह अकाण्डताण्डव[3] नही करता । वह 'सप्रज्ञक'[4] होता है, [जिसे कालिदास के शब्दो में 'सदृशप्रज्ञ' कहा जा सकता है] क्योकि उसकी प्रज्ञा में कवि की प्रज्ञा प्रतिबिम्बित होती है । इसी प्रकार का काव्यपाठक 'काव्यार्थतत्त्वज्ञ'[5] का दुर्लभ पद पाता है और उसी को रहस्य रूप में प्रस्तुत प्रतीयमान अर्थ का साक्षात्कार होता है । तब वह काव्यशिल्प या काव्यशरीर में अर्थ को ही महत्त्व देता तथा उसी की श्लाघा करता है । ऐसे सहृदय को ही महाकवित्व की पहचान रहती है, क्योकि उसकी दृष्टि प्रतीयमान अर्थ पर रहती है, और वह कवि के संकेतो, सांकेतिक शब्दो तथा सम्प्रेषणीयता की सूक्ष्मतम भूमिका तक पहुँची उसकी योजनाओं को परखता रहता है । इसीलिए सच्चा 'आलङ्कारिक' भी वही होता है । उसी को सूक्ष्मदर्शी 'काव्यलक्षणविधायी'[6] कहा जाता है । ऐसे 'तत्त्वार्थदर्शी' की बुद्धि में प्रतीयमान अर्थरूपी उपनिषत्तत्त्व भासित होने में विलम्ब नही करता, क्योकि उसकी यह 'तत्वार्थदर्शनैकपरायण'[7] शोभन मति वाच्यार्थ [के लोदे] से चिपकी नही रहती[8] ।

---

१ ध्व० पृ० ५३३

२ तत्समयान्तःपातिनः सहृदयान् कांश्चित् परिकल्प्य । (ध्व० पृ० २२–२३)

३ अलोकसहृदयत्वभावनामुकुलितलोचनैर्नृत्यते । (ध्व० पृ० २५–२६)

४ ध्व० ४९९

५ शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते ।
वेद्यते स तु काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव केवलम् ॥ (१।७ ध्व०)

६ अयं सहृदयश्लाघ्यः । ध्व० १।२ ॥

७ 'काव्यलक्षणविधायी' शब्द का प्रयोग ध्वन्यालोककार ने पर्याप्त मात्रा में
६ किया है । पृ० ३१

८ यथा पदार्थद्वारेण००—तद्वत् सचेतसां सोऽर्थो वाच्यार्थविमुखात्मनाम् ।
बुद्धौ तत्त्वार्थदर्शिन्यां झटित्यवभासते ॥
(१।१२ ध्व०)

सत्य यह है कि सहृदय भी कवि ही है। कवि रस का पान कराता है और सहृदय पान करता है। रस की इस धारा और इसके पान की भूमिका के दो छोर हैं एक कवि और दूसरा सहृदय। महत्त्व, दोनों ही, एक ही वस्तु को दे रहे हैं, रस को। माली हो या मालाधारी। दोनों के बीच माला का महत्त्व अक्षुण्ण है। जीमने वाला जिमाने वाले को पुण्य लाभ कराता है और जिमाने वाला जीमने वाले को। होते हैं दोनों 'पुण्यात्मा',[१] 'पुण्यकर्मा'[२] और 'पुण्यदर्शी'। कविता एक बार कवि से सहृदय के पास पहुँचती है और एक बार सहृदय के साधुवाद स्वरों के तीव्रगति अश्वों से युक्त सहृदय-हृदय के सुकुमार रथ पर बैठ कवि के पास, गौने से लौटी दुलहिन की नाँई। संवाद की इस भूमि में ही दिखाई देता है कवि का यशःशरीर, उसकी अजर और अमर, रससिद्ध और मृत्युञ्जय सारस्वत काया। तब सहृदय की विमल मति ही उज्ज्वल आदर्श, निर्मल दर्पण और ज्योतिष्मान् मुकुर सिद्ध होती है कवि के आत्मदर्शन हेतु।

सहृदय बुद्धितत्त्व का धनी अतः रत्नपारखी 'वैकटिक'[३] तो होता ही है, वह मनस्तत्त्व से समृद्ध, भावना के ललित लोक में विचरने वाला तरलचित्त ग्राहक भी होता है। हमारा ध्वनिसम्प्रदाय ऐसे 'मनस्वी बुद्धिमान् सहृदय'[४] के ही लिए काव्य के गहन पथ में सहायक सिद्ध होने वाला 'आलोक' है। हमारे इस प्रयास से, इस ग्रन्थ से 'व्युत्पन्न सचेता की बुद्धि को सभी क्षेत्रों में आलोक का लाभ होगा।' ओम्।

•

---

१. या व्यापारवती रसान् रसयितुं काचित् कवीनां नवा दृष्टिः।
(ध्व० पृ० ५०८)

२. वैकटिका एव हि रत्नतत्त्वविदः सहृदया एव हि काव्यरसज्ञाः।
(ध्व० पृ० ५१९)

३. सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपम्, सहृदयानामानन्दो मनसि लभतां प्रतिष्ठाम्। १।१

४. दिङ्मात्रं तूच्यते येन, व्युत्पन्नानां सचेतसाम्।
बुद्धिरासादितालोका सर्वत्रैव भविष्यति॥ (२।१३ ध्व०)

षष्ठ अध्याय

- सिद्धान्तसग्रह
- सिद्धान्तसमीक्षा
- ध्वनिसार

सिद्धान्तसंग्रह

गत पाँच अध्यायों में हमने आनन्दवर्धन के ध्वन्यालोक में आए विविध विषयों का अनुशीलन किया। अब हम इन विषयों का सिंहावलोकन कर इनकी समीक्षा का दिग्दर्शन करेंगे और ध्वन्यालोक ग्रन्थ की मूल सामग्री का संक्षिप्तरूप अपने साथ रखेंगे।

पिछले ५ अध्यायों में बिखरी सामग्री का आकलन संक्षेप में हम इस प्रकार कर सकते हैं—

[१] काव्यभाषा[1] विश्ववाङ्मय का प्रथम रूप है, क्योंकि विश्व का प्रथम ग्रन्थ ऋग्वेद है और वह काव्यात्मक है। और इसलिए

[२] १४ या १८ विद्यास्थानों[2] में प्रथम विद्यास्थान काव्य ही है। यही कारण है कि उक्त विद्यास्थानों की गणना में उसका पृथक् उल्लेख नहीं है।

[३] वाङ्मय की चरम परिणति न्यायभाषा है।

[४] 'काव्यभाषा' और 'न्यायभाषा' इन दोनों का विश्वमात्र में प्रथम उत्स संस्कृत-भाषा और प्रमुख क्षेत्र भारत देश है।

[५] संस्कृत में काव्यभाषा की विशेषताओं का आकलन आनुषङ्गिक रूप से तो ऋग्वेदकाल से ही होने लगा था, किन्तु इस पर स्वतन्त्र ग्रन्थों के निर्माण की प्रवृत्ति का आरम्भ ईसापूर्व २०० से हुआ, क्योंकि भरत का नाट्यशास्त्र उसके बाद का नहीं माना जाता।

[६] संस्कृत के उपलब्ध काव्यशास्त्र का प्रथम ग्रन्थ है दण्डी का 'काव्यादर्श' तथा आनन्दवर्धन के पूर्व और दण्डी के पश्चात् हुए, संस्कृत के काव्य-शास्त्रियों के नाम हैं—

१ विषयप्रवेश

२ प्रथम अध्याय

१. भामह
२. उद्भट तथा
३. वामन ।

[७] आनन्दवर्धन का स्थितिकाल है ई० सन् ८५० । अतः

[८] ई० स० ८५० तक हुए संस्कृत के काव्यशास्त्र के वे आचार्य जो ध्वनिप्रस्थान की स्थापना के पहले हुए हैं और जिनकी स्थापनाएँ ध्वनिप्रस्थान में पूर्वपक्ष या उपजीव्य के रूप में अपनायी जाती है ये है—

१. भरत
२. दण्डी
३. भामह
४. उद्भट तथा
५. वामन ।

[९] इस समय तक बने संस्कृत काव्यशास्त्र के प्रस्थान थे—

१. रसप्रस्थान
२. अलंकारप्रस्थान
३. रीतिप्रस्थान या गुणप्रस्थान तथा
४. ध्वनिप्रस्थान ।

इनमें जिनके संप्रदाय चले ऐसे प्रस्थान थे—

१. अलंकारप्रस्थान तथा
२. ध्वनिप्रस्थान ।

किन्तु इन दोनों प्रस्थानों का अन्तर्भाव जिस एक प्रस्थान में होता है वह है [वामन का] 'सौन्दर्यप्रस्थान' ।

[१०] उक्त दोनों प्रस्थानों का सूत्रपात्र आनन्दवर्धन के पहले ही हो चुका था। दण्डी, उद्भट और वामन के काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में ध्वनिप्रस्थान के सभी प्रमुख तत्त्व निहित थे। केवल उन्हें प्रधानता नहीं दी गई थी। यह कार्य आनन्दवर्धन ने किया।

[११] आनन्दवर्धन का काव्यशास्त्रीय गन्य है 'ध्वन्यालोक' जिसे अभिनवगुप्त ने 'काव्यालोक' और 'सहृदयालोक' भी कहा है। इस ग्रन्थ की कारिका तथा वृत्ति दोनों का निर्माण एक ही व्यक्ति ने किया है। ये है आनन्दवर्धन जिनको परवर्त्ती आचार्यों ने 'सहृदय' भी कहा।

[१२] आनन्दवधन का प्रमुख प्रस्थान है—ध्वनिप्रस्थान। इसके मुख्य सिद्धान्त निम्नलिखित हैं—

काव्यलक्षण 'सहृदयाह्लादकारी' शब्दार्थ-समिश्र है काव्य'।

अर्थतत्त्व शब्द और अर्थ के बीच 'अर्थ' दो प्रकार का होता है वाच्य और प्रतीयमान।

वाच्य अर्थ इनमें वाच्य अर्थ होता है उपमादिरूप जैव कि

प्रतीयमान अथ प्रतीयमान अर्थ ललना के अलकृत अङ्गो में लावण्य की नाई रहता है काव्य के अङ्गा में ही किन्तु हुआ करता है उनसे भिन्न।

व्यञ्जना यह जो प्रतीयमान अर्थ है इसकी प्रतीति व्यञ्जना नामक एक ऐसे व्यापार से होती है जो शब्द में भी रहता है और अर्थ में भी, किन्तु जो न अभिधारूप होता और न लक्षणारूप। प्रतीयमान तात्पर्यरूप है, पर इसका ज्ञान अनुमान से नही होता और न अर्थापत्ति से। इसका कारण है व्यञ्जना, और वह शब्द और अर्थ का एक स्वतन्त्र व्यापार है। इससे युक्त वैखरी शब्द को व्याकरणशास्त्र ने ध्वनि कहा है, अत काव्यशास्त्र भी 'ध्वनि'-शब्द का प्रयोग करता है, किन्तु अपने विशिष्ट परिवेषो में। परिणामत

काव्य में शब्द के तीन व्यापार होते हैं—

१ अभिधा या वाचकत्व
२ लक्षणा या गुणवृत्ति तथा
३ व्यञ्जना या व्यञ्जकत्व

ध्वनि

१ प्रतीयमान अर्थ, उसका ज्ञान कराने वाला
२ शब्द,
३ व्यञ्जनाव्यापार तथा
४ वाच्य अर्थ एव
५ इन सबसे युक्त काव्य

ये पाँच हैं काव्यशास्त्र में 'ध्वनि'–शब्द के अर्थ। अर्थ यह है कि व्याकरणशास्त्र का ध्वनि शब्द जिस अर्थ में प्रयुक्त होता है उससे सर्वथा भिन्न है काव्यशास्त्र के ध्वनिशब्द का अर्थ।

---

१ द्वितीय अध्याय

उक्त पाँचों वस्तु ध्वनि तब कहलाती हैं जब चमत्कार की मात्रा प्रतीयमान अर्थ मे अधिक हो। अर्थात् ध्वनि का लक्षण है—

ध्वनिलक्षण : जहाँ शब्द या अर्थ अप्रधान होकर प्रतीयमान अर्थ को ही प्रधान रूप में व्यक्त करें वह काव्य होगा 'ध्वनिकाव्य'।

गुणीभूतव्यङ्ग्य : जहाँ कहीं प्रतीयमान अर्थ का चमत्कार प्रधान न होगा वहाँ उसे ध्वनि न कहकर व्यङ्ग्य कहा जाएगा। और इस प्रकार के व्यङ्ग्य से युक्त काव्य को 'गुणीभूतव्यङ्ग्य'।

काव्यभेद : आकृति के आधार पर काव्य भले ही अनेक प्रकार का हो, किन्तु आस्वाद के आधार पर वह मुख्यतः एक ही प्रकार का होता है 'ध्वनि'-रूप। जिस किसी प्रकार 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' को भी काव्य कहा जा सकता है। केवल अलंकारों से युक्त सभी काव्य गुणीभूत व्यङ्ग्य काव्य ही होते हैं, गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य से अलंकार युक्त काव्य का भेद नही किया जा सकता।

चित्र : जो वाक्य दोनों ही विधाओं से रहित और केवल शब्द तथा वाच्य अर्थ के चमत्कार से युक्त होगा वह काव्य न होकर काव्याभास होगा, जिसे काव्य न कहकर 'काव्यचित्र' कहना उचित होगा। जैसे किसी भी व्यक्ति का चित्र उससे वस्तुतः अभिन्न नहीं कहा जाता उसी प्रकार यह जो काव्यचित्र होगा उसे भी सच्चे काव्य से अभिन्न नही कहा जा सकता।

ध्वनिभेद : ध्वनि के मुख्य भेद तीन होते हैं—

१. वस्तु
२. अलंकार और
३. रसादि

ये सब भेद लक्षणामूलक भी होते है, फलतः इन्हे दो वर्गों में बाँटा जा सकता है—

१. अविवक्षितवाच्य तथा
२. विवक्षितान्यपरवाच्य।

प्रथम में लक्षणा होती है, द्वितीय में नहीं। इन दोनों के अपने अवान्तर भेद निम्नलिखित हैं—

२ विवक्षितान्य-
परवाच्य
१०

अलक्ष्यक्रम-
रसादि
१

शब्दशक्तिमूलक
वर्णप्रकाश्य
सघटनाप्रकाश्य
पदांशप्रकाश्य
पदावयवप्रकाश्य
वाक्यप्रकाश्य
प्रबन्धप्रकाश्य
निपातप्रकाश्य

अर्थशक्तिमूलक
सबन्धप्रकाश्य
कालप्रकाश्य
पौनरुक्त्यप्रकाश्य
अन्य कुछ से प्र०

अनुरणनोपम-
व्यङ्ग्य
९

शब्दशक्तिमूलक अलकार
अर्थशक्तिमूलक

वस्तुध्वनि
अलङ्कारध्वनि

प्रौढोक्तिसिद्धार्थशक्तिमूलक
वस्तुध्वनि
स्वत सभव्यर्थशक्तिमूलक-
वस्तु

पदप्रकाश्य
१–३
वाक्यप्रकाश्य
४–६
प्रबन्धप्र०
७
वस्तुप्र०
८
अलकारप्र०
९
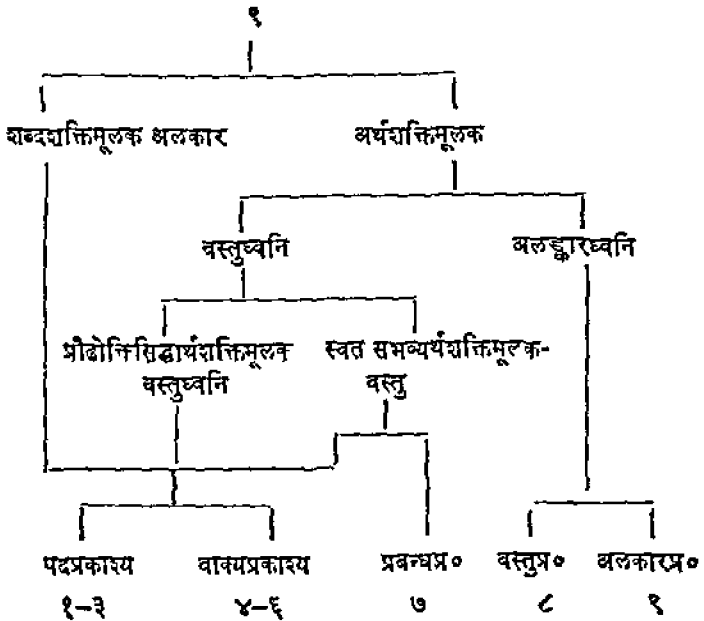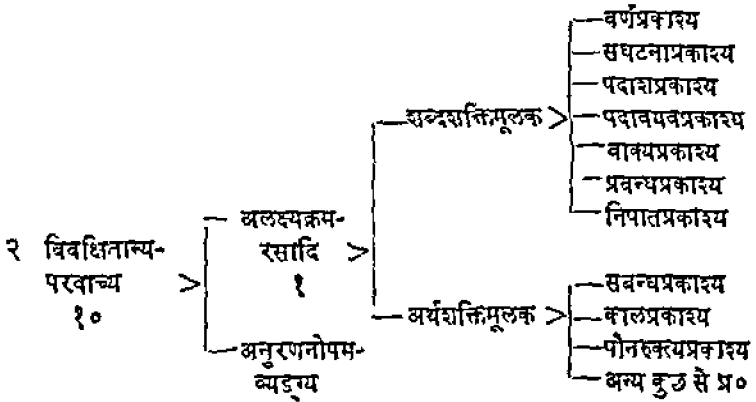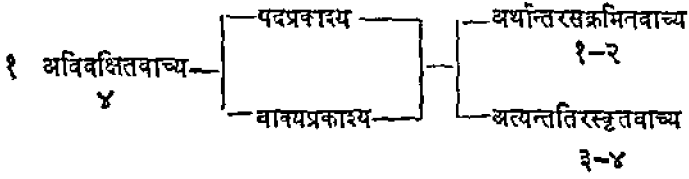
श्लेप और शब्दशक्तिमूलक ध्वनि :

यहाँ जो शब्दशक्तिमूलक ध्वनि स्वीकार की गई है उससे मिलती जुलती कल्पना उद्भट ने भी की थी 'श्लेप' के रूप में। किन्तु श्लेप एक स्वतन्त्र तत्त्व है। वह ध्वनि से सर्वथा भिन्न है। कारण कि

१. श्लेप वहाँ होता है जहाँ एक से अधिक अर्थ प्रतीत हों, किन्तु वे सब, शब्द की अभिधा शक्ति से प्रतीत हो रहे हों। शब्दशक्तिमूलक ध्वनि में भी एकाधिक अर्थ प्रतीत होते हैं, किन्तु वे सब शब्द की अभिधा-शक्ति से प्रतीत नही होते। उनमे से कुछ व्यञ्जना से भी प्रतीत होते है।[1]

२. जहाँ कही दूसरा अर्थ व्यञ्जना से भी प्रतीत होता है परन्तु बाद में उसे अभिधा से भी कह दिया जाता है वहाँ भी ध्वनित्व नहीं रहता, वहाँ श्लेप ही माना जाता है। परन्तु,

३. जहाँ कहीं दूसरे अर्थ की प्रतीति व्यञ्जना द्वारा ही होती है, किन्तु किसी भी प्रकार उसको बहुत अधिक स्पष्ट कर दिया जाता है वहाँ उसमें न तो ध्वनित्व माना जाता और न श्लेपत्व। उसमें माना जाता है गुणीभूतव्यङ्ग्यत्व। सर्वथा—

ध्वनित्व के लिए अपेक्षित है व्यञ्जना, और व्यञ्जना भी केवल व्यञ्जना नहीं, अपितु अधिक चमत्कारी व्यञ्जना, जबकि श्लेप के लिए अपेक्षित रहती है एक-मात्र अभिधा। इस प्रकार श्लेप है शब्द या अर्थ का एक धर्म अलंकार, जबकि शब्दशक्तिमूलक ध्वनि है काव्य का धर्मी आत्मा। इन दोनों में जो अन्तर है वह वैसा ही है जैसा शरीर और शरीरी का हुआ करता है। इन्हें एक और अभिन्न नही कहा जा सकता। इस प्रकार,

काव्य की आत्मा :

उक्त ध्वनि ही है काव्य की आत्मा। इसके जो अनेक भेद है उनमें भी 'रस' नामक भेद प्रमुख है, उसीसे काव्य में अधिक आकर्षण आया करता है।

गुणीभूतव्यङ्ग्य भेद :

गुणीभूतव्यङ्ग्य के भी भेद प्रायः वे ही है जो ध्वनि के, क्योंकि गुणीभूत-व्यङ्ग्य और कुछ नहीं, ध्वनिनिष्यन्द ही है।[2]

---

१. यहीं पृष्ठ २११–१२.

२. यहीं पृ० २१४

गुणीभूतव्यङ्ग्य और अलकार

वस्तुत अलकारो के सभी भेद गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य में अन्तर्भूत है अत [चित्र नामक कोई काव्यभेद सम्भव ही नही है] ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य से रहित वाक्य काव्य होगा ही नहीं, तथाकथित काव्यचित्र या काव्याभास काव्य की नकल होगा।[1]

गुणीभूतव्यङ्ग्य और ध्वनि

गुणीभूत-व्यङ्ग्य और ध्वनि का परस्पर में मिश्रण भी होता है। ये कभी एक ही वाक्य में या एक ही पद्य में चले आते है। वहा इनकी परख में पर्याप्त सावधानी बरतनी पडती है।[2] उदाहरणार्थ—

गुणीभूत रस

जहाँ एक पद्य मे अनेक रस आ जाते है वहा यह देखना होता है कि प्रधान रस कौन है। जो रस प्रधान होता है उसी का रस कहा जाता है[3]। इसके विपरीत—

रसवत् अलकार :

जो रस प्रधान नही बन पाता उसे रसतुल्य कहा जाता है, अत उसको 'रसवद् नामक अलकार कहना उचित है। रसवदलकार वह नही है जिसमें शृङ्गार आदि शब्दो का प्रयोग रहता है, क्योकि रस अपने शब्द से कभी भी कहा नहीं जा सकता। इस अप्रधान रस को कुछ सहृदय सञ्चारी भाव मानते है और कुछ स्थायी भाव। सर्वथा यह रस रस नही होता। इसके लिए रसशब्द का प्रयोग लाक्षणिक प्रयोग है।

रसवदलकार का अन्य कोई मानदण्ड नही हो सकता। चेतन को अचेतन से तथा अचेतन को चेतन से अभिन्न बतलाना रसवदलकार का विषय नहीं होता, क्योंकि चेतन और अचेतन का सम्बन्ध कहीं नही रहता ?[4]

ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य के विविध भेदों का परस्पर में जो सम्मिश्रण होता है उससे प्रतीयमान अर्थ की शाखाएँ गणनातीत हो जाती है।[5]

---

१ वही पृ० १२३, २०९
२ वही पृ० २१६, २१८–२२०
३ वही २०३
४ वही २०३
५ वही पृ० २२६

इस प्रकार 'ध्वनि' की लक्षणनामक असाधारण विशेषता भी बतला दी गई और इसके भेद-प्रभेद भी उपस्थित कर दिए गए। यह भी निरूपित कर दिया गया कि ध्वनि अन्य काव्यतत्त्वों का उपजीव्य है। यानी अन्य काव्य-तत्त्व ध्वनि के बिना श्रीहीन रहते है, चाहे वे गुण ही क्यों न हों। अलंकार, रीति और वृत्ति की तो बात ही क्या कहनी है। इस प्रकार ध्वनि एक अतीव परिपुष्ट और सब प्रकार से मान्य तत्त्व है। मान्य भी यथाकथञ्चित् नही, अपितु प्रधान रूप से। इतने पर भी—

अभाववाद[1] :

कुछ समालोचक ध्वनि को नही मानते। वे कहते है कि 'ध्वनि नाम की कोई वस्तु होती ही नही।'

[१] भरत से वामन तक के पाँचों आचार्य ऐसे ही है। उनने ध्वनि का नामोल्लेख नही किया। उनके काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में ध्वनि का उल्लेख न देख आधुनिकों में भी कुछ विद्वान् ध्वनि के प्रति शङ्का करते है, और इसके स्वरूप पर सन्देह करते है। ये विद्वान् वे है जिनका क्षेत्र काव्य नहीं है, इसलिए जो काव्य-शास्त्र पर कोई मौलिक चिन्तन नही कर पाते और प्राचीन चिन्तन तक ही सीमित रहते है।

ध्वनि न मानने मे इनका मुख्य तर्क यही है कि 'भरत से वामन तक के पाँचों आचार्यो के किसी भी काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ में ध्वनिनाम के काव्यतत्त्व का उल्लेख नही[2] है, अतः ध्वनि अमान्य है। इस अभाववाद में अभाव का स्वरूप है—'ध्वनि नही है अर्थात् प्राचीन काव्यशास्त्र में'।

कुछ समालोचक इसका कारण खोजते है कि भरत से वामन तक अर्थात् [आनन्दवर्धन के] ध्वनिप्रस्थान की स्थापना के पूर्व किसी भी काव्यशास्त्री ने ध्वनि का उल्लेख क्यों नहीं किया, और उनमें से—

[२] कुछ सोचते है कि इन आचार्यो ने ध्वनि को पँहचाना नही होगा ऐसी बात नही है, क्योंकि ये सभी आचार्य महान् आचार्य है। इनने कदाचित् 'ध्वनि में कोई चमत्कार नहीं पाया,' जिससे कोई भी काव्यधर्म काव्यधर्मत्व तक पहुँचता है। ठीक भी है। अचमत्कारी या चमत्कारशून्य किसी भी तत्त्व को काव्य में

---

१. वही पृ० १००
२. कोऽयं ध्वनिर्नाम। व्य० पृ० २०

जोड़ा जाने लगे तो काव्य का काव्यत्व ही उच्छिन्न होने लगेगा। ऐसा करने पर वह अकाव्य से भिन्न नहीं किया जा सकेगा। फलत

'ध्वनि नामक कोई तत्त्व हो भी तो उसे काव्यतत्त्व नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसमें काव्यतत्त्व बनने के लिए अतीव आवश्यक चमत्कारजनकता का अभाव[1] है। यदि गुण आदि प्राचीन तत्त्वों में से ही किसी को ध्वनि नाम से पुकारा जा रहा हो तो यह नवीनता केवल नामकरण तक सीमित है, इसमें नवीन तत्त्व की स्थापना का श्रेय ध्वनिप्रस्थान को नहीं मिल सकता। नवीन नामकरण तत्त्वचिन्तन की दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं रखता। इस अभाववाद में अभाव का स्वरूप यह होगा—'ध्वनि नहीं है अर्थात् चमत्कारी तत्त्व या काव्यधर्म।'

[३] अन्य कुछ सोचते हैं कि जितने महान् पूर्ववर्ती आचार्य हैं उतने ही महान् ध्वनिप्रस्थान के भी आचार्य हैं। इनकी प्रतीति को भी झुठलाया नहीं जा सकता। ये विद्वान बीच का रास्ता निकालते और 'ध्वनिप्रस्थान' तथा 'प्राचीन अलंकारशास्त्र' दोनों में दो अतिरेक दिखलाते हैं। प्राचीन अलंकारशास्त्र में अतिरेक यह है कि उसमें ध्वनि का उल्लेख तक नहीं किया गया और ध्वनिप्रस्थान में अतिरेक यह है कि इसमें ध्वनि को सर्वेसर्वा बना दिया गया, यहाँ तक कि उसी को आत्मा तक कह दिया गया। ये विद्वान् उक्त दोनों अतिरेकों का निराकरण करते और समन्वय का मध्यम मार्ग खोजते हैं। इनका कहना है कि 'प्राचीन आचार्यों' ने काव्य के विषय में सब कुछ नहीं कह दिया, कुछ छोड़ भी दिया है। जो छोड़ा है उसी में से कोई एक तत्त्व 'ध्वनि'-नाम से भी पुकारा जा सकता है, किन्तु उसे काव्य की आत्मा नहीं कहा जा सकता।[2] इस वाद में अभाव का स्वरूप होगा—

'ध्वनि नहीं है अर्थात् नई वस्तु और है भी तो वह नहीं है काव्यात्मा।'

उक्त अभाववादी स्थापनाओं को हम निम्नलिखित सूत्रों में प्रस्तुत कर सकते हैं—

१ ध्वनि का प्राचीन काव्यशास्त्र में अभाव,
२ ध्वनि में चमत्कार या काव्यधर्मता का अभाव, तथा
३ ध्वनि में काव्यात्मता का अभाव।

---

१ द्वितीय अभाववाद नास्ति ध्वनिः। (ध्व० पृ० २१)

२ तृतीय अभाववाद न सम्भवत्येव ध्वनिर्नामापूर्वः कश्चित्, सम्भवत्यपि कस्मिंश्चित् प्रकारलेशे प्रवादमात्रं ध्वनिः। (ध्व० पृ० २४–२६)

इन तीनों प्रस्थापनाओं में परस्पर सम्बन्ध है। इन्हें हम एकसूत्रता के साथ इस प्रकार उपस्थित कर सकते हैं—

ध्वनि नहीं है क्योंकि—

उसका उल्लेख प्राचीन काव्यशास्त्र में नहीं है, क्योंकि उसमे कोई चमत्कार नही होता। चमत्कार होता भी है तो इतना अधिक नही होता कि उसे काव्य की आत्मा कहा जा सके।

इन सभी तर्कों का उत्तर दिया जा चुका है और कहा जा चुका है[1] कि—

१. काव्यतत्त्वों की गवेषणा काव्य में की जानी चाहिए, न कि काव्यशास्त्र मे। काव्यशास्त्र काव्य नही है, अतः उसमें किसी का उल्लेख न होने से उसका अभाव काव्य में नही माना जा सकता। फलत. यह सत्य है कि प्राचीन काव्यशास्त्र मे ध्वनि का उल्लेख नहीं है, तथापि काव्य में वह है और निस्संदेह है।

२. ध्वनि मे चमत्कार के अभाव की कल्पना ध्वनि के साथ सम्पर्क न होने के कारण की गई है। सम्पर्क हो भी कैसे ? वह तब सम्भव था जब काव्य का अनुशीलन किया जाता, काव्यशास्त्र के अनुशीलन से वह संभव नहीं है। प्रसिद्ध काव्य है रामायण तथा महाभारत। इनको छूते ही ध्वनि तत्त्व सामने आ जाता है। रामायण के आरम्भ में ही क्रौञ्चवध का आख्यान मिलता है। इस आख्यान को पढ़ने से करुण रस का अनुभव होता है, जबकि उस पूरे आख्यान में करुणशब्द का प्रयोग नहीं है। न वहाँ कोई अलंकार है और न गुण। न रीति है और न वृत्ति, अथापि वह काव्य माना जाता है। केवल करुण रस के आधार पर। यह रस क्या है ? ध्वनि ही है।

३. इस आख्यान के अनुभव से स्पष्ट है कि काव्य की आत्मा क्या है ? यदि यहाँ करुण रस ही काव्य की आत्मा है तो कोई कारण नहीं कि ध्वनि में काव्यात्मता न मानी जाए। फिर, गुण, अलंकार, रीति तथा वृत्ति नामक तत्त्व भी तो रस के अनुरूप रहकर ही चमत्कारकारी बन पाते हैं। जिस चमत्कार की बात ध्वनिविरोधी

---

१. वही पृ० १०१–१०६

करते हैं वह भी अपने आपमें रस ही है, और इसीलिए ध्वनि भी है।

इस प्रकार ध्वनि का अभाव और अभाव के समर्थक तर्क अमान्य हैं।

अन्तर्भाववाद

वामन ने लक्षणा[1] नामक एक अतिरिक्त शब्दवृत्ति को काव्य में स्वीकार किया। इस वृत्ति से वह अर्थ निकलता है जो अभिधाद्वारा नहीं निकल पाता है। यह वृत्ति उन स्थलों में भी देखी जाती है जिनमें ध्वनि स्वीकार की गई है। फलत ध्वनि को लक्षणा से अभिन्न मानने का तर्क भी उठाया जाता है। कुछ विद्वान् कहना चाहते हैं कि 'लक्षणा ही ध्वनि है'[2]। वस्तुत

लक्षणा ध्वनि की दिशा का आरम्भ है। इस कारण लक्षणा ध्वनि का उपलक्षण है। ध्वनि वहाँ भी देखी जाती है जहाँ लक्षणा नहीं रहती। इस कारण लक्षणा को ध्वनि से अभिन्न नहीं कहा जा सकता।

यह भी नहीं कहा जा सकता कि लक्षणा ध्वनि का लक्षण है। ध्वनित्व के लिए अनिवार्यरूप से अपेक्षित रहती है अतिरिक्त अर्थ के चमत्कार की प्रधानता। लक्षणा से आए अर्थ में या तो अतिरिक्तत्व ही नहीं हुआ करता, यदि होता भी है तो उसमें प्रधानता नहीं रहा करती और यदि प्रधानता भी रहती है तो वह ध्वनि में ही अन्तर्भूत हो जाया करता है। उदाहरणार्थ—

१ [क] 'तीक्ष्ण होने से बालक अग्नि है' इस प्रयोग में जिस तीक्ष्णता का ज्ञान कराने के लिए वटु को लक्षणा द्वारा अग्नि कहा जा रहा है वह शब्द से ही कथित है। अत वह अतिरिक्त अर्थ नहीं है।[3]

[ख] 'मचानें चिल्ला रही हैं'—इस प्रयोग में अचेतन मचान में चेतन-सुलभ चिल्लाना सभव न होने से मचान का अर्थ 'मचान पर बैठे पुरुष' करना होता है। यह हुई लक्षणा। इससे भी किसी अतिरिक्त अर्थ का बोध नहीं हो रहा।[4]

---

१ सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्ति ४।३।८ का० सू०

२ वही पृ० २७५

३ वही पृ० २४५

४ वही पृ० २४९

२. 'बालक अग्नि है' प्रयोग में 'तीक्ष्णत्व' की प्रतीति एक अतिरिक्त अर्थ के रूप में हो रही है, किन्तु उसमें कोई चमत्कार नहीं है।[1]

३. ऐसा प्रयोग बहुत ही दुर्लभ है जिसमे लक्षणा से प्रतीत होने वाला अर्थ वाच्य अर्थ के चमत्कार से अधिक चमत्कारी हो।

सबसे अधिक महत्त्व की बात है इस तथ्य पर ध्यान देना कि लक्षणा के स्थल में जहाँ चमत्कार का अनुभव होता है वहाँ जो प्रयोजन रूप अर्थ है उसकी प्रतीति किस व्यापार से होती है। 'वटु अग्नि है' वाक्य मे लक्षणा से प्रतीति होती है 'वटु अग्निसदृश है'। सादृश्य का कारण जो तीक्ष्णतारूपी धर्म है उसकी प्रतीति पर ध्यान देना है कि वह किस व्यापार से हो रही है। लक्षणा से उसकी प्रतीति मानी नहीं जा सकती, क्योंकि अग्निशब्द अग्निसदृश का ज्ञान कराने में जिस असमर्थता का अनुभव करता है उस असमर्थता का अनुभव 'तीक्ष्णता' की प्रतीति कराने में नही करता। फलतः अग्निशब्द से हो रही 'तीक्ष्णता की प्रतीति' लक्षणा व्यापार का विषय नहीं है। अवश्य ही यह तीसरे व्यापार का विषय है और वह है व्यञ्जना। इस प्रकार लक्षणास्थलों में भी चमत्कार का कारण वही अर्थ होता है जो व्यञ्जना से प्रतीति होता है। व्यञ्जना की दिशा ध्वनि की ही दिशा है। यदि वटु को अग्नि कहने से प्रतीत होते चमत्कार की अपेक्षा व्यञ्जना से हो रहे तीक्ष्णत्व के ज्ञान में चमत्कार की मात्रा अधिक होती तो इसी स्थल को ध्वनि बड़ी ही सफलता के साथ कह दिया जाता।[2]

निष्कर्ष यह कि ध्वनि का न तो अभाव है और न ध्वनि का गुणवृत्ति में अन्तर्भाव ही संभव है। ध्वनि एक स्वतन्त्र तत्त्व है और वही सबमे अधिक चमत्कारी अतएव वही काव्यात्मा है।

अनिर्वचनीयतावाद[3] :

१. कुछ विचारक आवश्यकता से अधिक भावुक हैं। वे उक्त सभी बातें स्वीकार करते हुए भी यह कहते है कि 'ध्वनि का निर्वचन नहीं किया जा सकता।' इनमें[4] से कुछ कदाचिद् ब्रह्म के समान ध्वनि को सभी शब्दों का अविषय मानने और मानते है कि ध्वनि को जाना जा सकता है पर कहा नहीं जा सकता सकता,

---

१. यहीं पृ० २४५ पङ्क्ति ११.
२. यही पृष्ठ २५२
३. यही पृष्ठ २२६.
४. प्रथम तथा द्वितीय अनिवर्चनीयतावाद यहीं पृ० २२८.

वह अनिर्वचनीय है। किन्तु वे भी आखिर 'अनिर्वचनीय' शब्द से तो उसका निर्वचन कर ही रहे है।

२ कुछ[1] कहते हैं कि 'वस्तु' की विशेषताओ का ज्ञान केवल प्रत्यक्ष से ही सभव हुआ करता है, अनुमान और शब्द अर्थात प्रत्यक्षेतर सभी प्रमाण वस्तु के सामान्य स्वरूप का ही ज्ञान करा पाते हैं। ध्वनि काव्य की विशेषता है, अत शब्द उसका ज्ञान नही करा सकता, ठीक वैसे ही जैसे शब्द रत्न का ज्ञान करा सकता है, रत्न की क्वालिटी का नही।' ये समीक्षक अवश्य ही शब्द की शक्ति के विषय में वाञ्छित विवेक से रहित हैं। रत्नो की विशेषता के ज्ञान के लिए भी ग्रथों का निर्माण हुआ है, और यदि रत्नो की क्वालिटी शब्द से नही पकडी जा सकती तो प्रत्यक्ष भी उसे पकडने मे समर्थ नही हुआ करता, इसीलिए उसे पारखी ही समझ पाते है, सब नही। तो क्या प्रत्यक्ष को भी विशेषता के आकलन में पङ्गु मान लिया जाए ? वस्तुत विशेषता के आकलन की शक्ति न तो प्रत्यक्ष की है, न शब्द की, वह ज्ञाता और समीक्षक की है। ध्वनि का लक्षण रत्नों के लक्षण के समान कठिन अवश्य है, किन्तु अशक्य नही। हमने उसे स्थिर कर ही दिया है।

३ कुछ[2] क्षणभङ्गवादी बौद्धों के स्वर में स्वर मिलाकर ध्वनि को भी घट पट आदि सभी पदार्थों के समान अनिर्देश्य मानते और कहते है कि निर्वचन उसका सभव होता है जो कुछ देर तक ठहरने वाला हो। क्योंकि कोई भी पदार्थ एक क्षण के आगे नही ठहरता, अत उसका निर्वचन नही किया जा सकता। ध्वनि भी ऐसा ही है। फलत उसका भी निर्वचन सभव नही है। किन्तु आश्चर्य की बात है कि ये क्षणभङ्गवाद मानते हुए भी स्वय लक्षण बनाते और वस्तुओं के बोध के लिए ग्रन्थ बनाते हैं। क्षणभङ्गवादी बौद्धो के परम श्रेष्ठ आचार्य स्वय धर्मकीर्त्ति ने न्यायबिन्दु[3] में प्रत्यक्षादि प्रमाणो के लक्षण बनाए है। यदि उनकी कोई उपयोगिता है तो कोई कारण नही कि ध्वनि-लक्षण की उपयोगिता न हो।

ये अनिर्वचनीयतावादी भी ध्वनि को अनिर्वचनीय कहते हुए भी ध्वनि के स्वरूप के विषय में कुछ वाक्य बोला करते है। ये वाक्य हैं—

---

१ वही पृ० २२७,

२ तृतीय अनिवर्चनीयतावाद पृ० २३० ध्व० पृ० ५४१

३ प्रकाशक—जायसवालसस्थान, पटना, धर्मकीर्ति के न्यायबिन्दु पर आचार्य धर्मोत्तर ने धर्मोत्तरविवेकनामक टीका लिखी थी जिसे 'धर्मोत्तरी' और 'धर्मोत्तमा' इन दो नामो से पुकारा जाता था। अभिनवगुप्त के लोचन →

१. कतिपय विशिष्ट ज्ञाताओं द्वारा संवेद्य अनाख्येय चारुत्व ही है ध्वनि,[1]
२. सामान्य बोधक शब्द से ज्ञेय न होकर भी ज्ञानपथ में आने वाला विशिष्ट तत्त्व है ध्वनि[2] तथा
३. अनिर्देश्य मौलिकता वाला सबसे अलग एक भिन्न ही तत्त्व है ध्वनि[3]।

इन्हे ध्वनि के लक्षण के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। ध्वनि का शुद्ध लक्षण 'यत्रार्थः[4] शब्दो वा' ही है।

व्यञ्जना विशिष्ट शब्दशक्ति :

वाचकत्व वाच्य अर्थ तक सीमित रहता है और गुणवृत्ति वाच्य अर्थ से सम्बद्ध अर्थ तक। इनसे 'भ्रम धार्मिक' आदि में प्रतीत होने वाले निषेध आदि प्रतीयमान अर्थ का ज्ञापन नही माना जा सकता, फलतः इस अर्थ का ज्ञान कराने वाली शक्ति एक भिन्न ही शक्ति है और उसी का नाम है व्यञ्जना।[5]

अनुमान और व्यञ्जकत्व[6] :

व्यञ्जकत्व या व्यञ्जना का कार्य अनुमान से भी निष्पन्न नहीं हो सकता, क्योंकि अनुमान से वक्ता की विवक्षा ही प्रकट हो सकती है, अभिप्राय नहीं।

तात्पर्य और व्यञ्जकत्व[7] :

व्यञ्जकत्व तात्पर्यशक्ति रूप भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि व्यञ्जकत्व से प्रतीत होने वाले व्यङ्ग्य अर्थ में कभी कभी वक्ता का तात्पर्य नही भी रहता, वह गुणीभूत भी रहता है।

→ के निर्णयसागरीय संस्करण में इसके लिए धर्मोत्तमा शब्द छपा है, और चौखम्भासंस्करण में धर्मोत्तरीशब्द। हमने किसी भी कारण धर्मोत्तमा को धर्मोत्तरी की टीका समझ लिया था। यहीं पृष्ठ १५।

१. यहीं पृष्ठ २२८, ध्व० पृ० ५१७-१८
२. यही पृष्ठ २२८
३. यही पृष्ठ २३० अपोहवादलक्षण
४. ध्व० १।१३, यहीं पृष्ठ १४० पर उद्धृत।
५. यहीं अध्याय-३
६. यहीं पृष्ठ २८१
७. यही पृष्ठ २६७

गुण और रस[1]

गुणों को शब्द और अर्थ का धर्म भी माना जा सकता है, किन्तु उनकी संख्या २० न मानकर केवल ३ मानी जानी चाहिए। ये तीन गुण होंगे माधुर्य, ओज तथा प्रसाद। ये ही तीन गुण रसों में भी रहते हैं। वस्तुतः रसनिष्ठ माधुर्य आदि ही अधिक स्वादु होते हैं और उनके रहने पर ही शब्दार्थ के माधुर्य आदि भी स्वाद में आते हैं। *स्पष्टीकरणार्थ यह कहा जा सकता है कि रसगत माधुर्य गुण के रहने पर ही शब्दार्थनिष्ठ माधुर्य गुण का आस्वाद होता है,* रसनिष्ठ ओजो-गुण के रहने पर शब्दार्थनिष्ठ ओजोगुण का तथा रसनिष्ठ प्रसादगुण के रहने पर ही शब्दार्थगत प्रसादगुण का। परिणामतः शब्दार्थगत गुण भी वस्तुतः गुणरूप में प्रतीति के लिए रसों का ही अवलम्ब लेते हैं और इसीलिए वे भी रसमुखापेक्षी तत्त्व हैं।

अलङ्कार[1]

अलङ्कार और कुछ नहीं, कथन का प्रकार है। यह एक विकल्पधर्म है। इसे शब्द और अर्थ का विविध कल्प या विन्यास कह सकते हैं। इस कारण यह एक बाह्य धर्म है, काव्य की आत्मा का धर्म नहीं। काव्य की आत्मा है ध्वनि और ध्वनि में प्रधान है रस। अलङ्कारों का निवेश रस की दृष्टि से ही किया जाता है। अलङ्कार अलङ्कार तभी तक रहता है जब तक वह रसरूपी अलङ्कार्य का अलङ्करण करता है। जब वह ऐसा नहीं करता, तब उसे अलङ्कार नहीं कहा जाता। इसीलिए अलङ्कार का निवेश करते समय ध्यान रखना होता है कि कहीं वह रस की अनुभूति से पृथक् होकर बौद्धिक प्रयत्न से तो समझ में आने की स्थिति में नहीं है। उसे सर्वदा कवि के रससमाहित चित्त से अनायास निष्पन्न होना चाहिए। जो अलङ्कार रससमाधि को तोड़कर निष्पन्न होता है वह अलङ्कार ही नहीं रह जाता।

निष्पन्न अलङ्कार भी तभी तक अलङ्कार माना जाता है जब तक वह रस को अङ्गी मानकर स्वयं अङ्ग रहता है। इसलिए उसे उतनी ही दूरी तक अपनाया जाता है जितनी दूरी तक अपनाने से वह रसघातक नहीं बनता। जब वह रसघातकता की स्थिति में पहुँचने को होता है उसे छोड़ दिया जाता है। कुशल कवि इस आग्रह से मुक्त रहता है कि जो अलङ्कार सरस वाक्य के आरम्भ में आया है उसे वह वाक्य के अन्त तक साङ्गोपाङ्ग ही चित्रित करे।

---

१ चतुर्थ अध्याय

इस प्रकार अलङ्कार भी वस्तुतः रस की दृष्टि से ही अलङ्कारत्व तक पहुँचता है।

अलङ्कार की पहचान :

अलङ्कारों के जो लक्षण भरत, दण्डी, भामह, उद्भट और वामन ने दिए हैं, पाठक को चाहिए कि उन पर दृष्टि रखकर, वह काव्यों के वाक्यविन्यास पर विचार करे। किन्तु ऐसा करते समय वह स्वतन्त्र दृष्टि से भी काम ले, जिससे वह किसी भी नवीन अलंकार को उदारतापूर्वक वाञ्छित गौरव दे सके। अलंकार उतने ही नहीं हैं जितने उक्त पाँच आचार्यों ने बतलाए हैं। उनकी गणना, वस्तुतः अशक्य है। आचार्यों ने श्लेष नामक एक अलंकार का प्रतिपादन किया और उससे भिन्न व्यतिरेक नामक अलंकार का भी। किन्तु कहीं श्लेषव्यतिरेक नाम का भी अलङ्कार अनुभव में आता है जो उक्त दोनों अलङ्कारों का संकरमात्र नहीं है, अपितु एक स्वतन्त्र अलङ्कार है; ठीक वैसे जैसे नृसिंह का शरीर। वह नर और सिंह का सांकर्य नहीं, अपितु एक स्वतन्त्र सृष्टि है। उपमाश्लेष भी एक ऐसा ही अलंकार है। उपमा एक अलग गिना जाने वाला अलंकार है और श्लेष भी एक अलग ही गिना जाने वाला अलंकार है। कहीं कहीं विशेषणों की स्थिति कुछ ऐसी होती है कि जब वाक्य के अन्त में कोई उपमा आती है तो विदित होता है कि इन विशेषणों में द्व्यर्थकता है, अतः श्लेष है। यहाँ उपमा से उठा वाक्यार्थबोध श्लेष में समाप्ति पाता है और चमत्कार भी उसी में होता है, अतः इसे न तो केवल उपमा कहा जा सकता और न केवल श्लेष। फलतः इसे उपमाश्लेष नाम से पृथक् अलङ्कार स्वीकार करना होता है।

अलंकारों का मिश्रण :

अलङ्कारों का काव्य के अन्य तत्वों तथा स्वयं अङ्ककारों के साथ मिश्रण—

१. रसादि संकर

२. अलंकारविशेष संकर

३. अलंकारसामान्य संकर

४. अलंकारमात्र संकर तथा

५. अलंकारों का परस्पर में संकर

इन पाँच प्रकार के संकरों के नाम से पुकारा जा सकता है।

संघटना :

संघटना समास की विविध स्थिति में देखी जाने वाली शब्दसंरचना का

नाम है। वह गुणो पर निर्भर रहती है। वक्ता, वक्तव्य, क्षेत्र और रस उसके नियामक है। इनमें रस ही मुख्य है। संघटना रीति का एक तृतीयांश है, क्योंकि रीति, कवि और सहृदयपक्ष तक भी व्यापक रहती है जबकि संघटना केवल काव्यपक्ष तक।

रीति और रस

वामन ने रीति को काव्य की आत्मा कहा है, परन्तु रीतितत्त्व गुणों पर निर्भर है और गुण हैं निर्भर रस पर, अत रीति भी रस पर ही निर्भर है।

वृत्ति और रस

वृत्ति नाम से जिन अनुप्रासभेदो की कल्पना उद्भट ने की है वे भी रस पर निर्भर हैं, क्योंकि सभी वृत्तियो का उपयोग सभी स्थानो पर नही जँचता। इसका कारण केवल एक ही है। वह है वृत्तियों की रसमुखापेक्षिता। जिस रस के साथ जिस वृत्ति का सम्बन्ध है वह उसी के साथ रहकर चमत्कारक बन पाती है। इस प्रकार वृत्ति भी रसाश्रित तत्त्व है। कैशिकी आदि अर्थवृत्तियाँ तो रसो पर निर्भर हैं ही।

दोष और रस

अश्लीलता आदि दोष भी तभी दोष मालूम पड़ते है जब वे किसी मधुर रस में आते है। शृङ्गार में यदि ग्राम्यता चली आए तो शृङ्गार का रसत्व ही उच्छिन्न हो जाता है। फलत: त्याज्य रूप में प्रतिपादित दोष भी रससापेक्ष हैं। वस्तुत औचित्य ही रस का रहस्य है। दोष अनौचित्यरूप है और अनौचित्य से बढ़कर रसभङ्ग किसी से नही होता।

काव्यकारण[1] :

काव्य का कारण केवल कविप्रतिभा है। व्युत्पत्ति और अभ्यास उसके सहयोगी धर्म हैं। प्रतिभा ही शक्ति है, प्राक्तन पुण्य है, प्रतिभा है।

कविभूमिका[2] :

काव्यनिर्माण के समय कवि की मन स्थिति जैसी रहती है काव्य वैसा ही बना करता है। कवि की मन स्थिति उस समय यदि रसपूर्ण या ललित रहती है

---

१ पञ्चम अध्याय पृ० ४२३

२ पृष्ठ ४२५

तो काव्य सरस बना करता है, और यदि उसकी मनःस्थिति रसशून्य रहती है तो काव्य भी नीरस।

काव्यप्रयोजन[1] :

काव्य का प्रयोजन है—१. बोध,
२. कीर्ति तथा
३. प्रीति।

इनके भी दो रूप होते हैं, व्यावहारिक और पारमार्थिक। व्यावहारिक वह जिससे आनन्द या रस का लाभ होता है, और परिमार्थिक वह जिससे लाभ होता है परम अर्थ, मोक्ष आदि के उपदेश का। उसी प्रकार

काव्यशास्त्रप्रयोजन[2] :

काव्यशास्त्र का प्रयोजन है—१. कविशिक्षा तथा
२. सहृदयशिक्षा।

कवि को चाहिए कि वह रस पर दृष्टि केन्द्रित रखे और सहृदय को चाहिए कि वह काव्यरूपी सुवर्ण को खोटा खरा चमत्कारकी मात्रा पर ध्यान रखकर कहे। कवि को चाहिए कि वह अन्य कवि के भाव का आहरण करने का प्रयत्न न करे और सहृदय को चाहिए कि वह भावसंवाद देखकर नवीन कवियों की अवहेलना न करे।

ध्वनि से लाभ[3] :

कवि को यह विदित रहना काहिए कि—

[क] ध्वनिकाव्य ही वह काव्य है जिसे विदग्धजन सबसे अधिक पसन्द करते हैं। सभ्य समाज में यह प्रसिद्ध है कि 'अपना अभिमत अर्थ गोपनीय रूप में प्रकाशित किया जाता है'। यह क्रम प्रतीयमानता का ही क्रम है। इस प्रकार ध्वनिकाव्य ही वह काव्य है जिसे परम परिपक्व काव्य कहा जाता है। इसका निर्माण कवि के कविकर्म का सबसे बड़ा परिपाक है और उसकी सबसे बड़ी प्रतिष्ठा है।

---

१. पृष्ठ ४२७
२. पृष्ठ ४३०
३. पृष्ठ ४३२ से आगे अध्याय के अन्त तक

[ख] ध्वनि के भेदो और प्रभेदो की सख्या इतनी बडी होती है कि उस भूमिका मे काव्यनिर्माण करने पर कवि काव्यक्षेत्र का अभाव अनुभव नही करता। ध्वनि के किसी भी एक भेद या प्रभेद को अपनाकर कविता में नवीनता लाई जा सकती है, भले ही वक्तव्य वस्तु नवीन न हो।

[ग] कवि को चाहिए कि वह अलङ्कार, गुण, रीति और वृत्ति की अपेक्षा ध्वनि पर ही केन्द्रित रहे। ध्वनि में भी वह 'रसादि'-मय वस्तु पर अधिक ध्यान रखे। यदि कवि की दृष्टि रस पर रहती है तो उसका सम्पूर्ण काव्य सरस हो जाता है, नही तो उपहास के अतिरिक्त उसके हाथ कुछ नही लगता।

[घ] रसयोजना में कवि को विरोधपरिहार का ध्यान रखना चाहिए। चाहिए कि वह विरोधी और अविरोधी रसो के उपस्थापन की कला को कुशलता के साथ, दोनों ही प्रकार के काव्य में अपनाए, मुक्तक मे भी और प्रबन्ध में भी।

[ङ] इन सब तथ्यो पर कवि की दृष्टि यदि एकाग्र रहे और वह अन्य किसी कवि का कुछ भी ग्रहण करने की इच्छा न रखे तो स्वय भगवती, सरस्वती ही उसे पदार्थदर्शन कराती तथा वक्तव्य विषय और तदनुरूप कविकर्म से समृद्ध करती रहती हैं। ऐसी स्थिति में कवि की रचना यदि किसी अन्य कवि की रचना से मेल खाती हो तो उसे लिपिसाम्य के समान दोप नही मानना चाहिए। लिपि के 'अ, ब, ह' आदि चिह्न प्रत्येक लेखक समान रूप से अपनाता रहता है, किन्तु उनमें से किसी को किसी की नकल करता हुआ नही माना जाता। सच यह है कि जो कवि मेधावी होते हैं अर्थात् जिनकी बुद्धि में जगत् का प्रतिबिम्ब रहता है और जो अनुभवो को जगाकर उनकी क्रीडा करते हुए अपने कविकर्म की बानगी प्रस्तुत करते हैं उनकी रचनाओ में समानता या सवाद रहता ही है। ऐसा सवाद उसी प्रकार निर्दोप होता है जिस प्रकार घट घट मे चैतन्य का सवाद। आत्मतत्त्व मनुष्य, पशु, पक्षी और कीटपतङ्ग तक में एक सा ही रहता है, तथापि यह नही माना जाता कि अमुक की आत्मा, अमुक की आत्मा की नकल है। हाँ, जो सवाद प्रतिबिम्ब और चित्र के समान मिलते जुलते हो उन्हें अवश्य सदोप मानना चाहिए।

सहृदय को भी चाहिए कि उसका व्यक्तित्व महान् हो, वह अपने चित्त को शोभनता की शिवभूमिका पर अधिष्ठित रखे। वह सामाजिक हो, विदग्ध हो और हृदयवान् हो। उसकी दृष्टि काव्यार्थ के तत्त्व पर रहनी चाहिए और उसे 'काव्यतत्त्वार्थदर्शी' की भूमिका से काव्य का अनुशीलन करना चाहिए। ऐसा करने से—

कवि और सहृदय दोनों ही महान् ठहरते है। आलोचक भी न केवल

वस्तुपरायणता से काम लेता और न केवल आत्मपरायणता से। उसे दोनों का सन्तुलन प्रिय होता है। फलतः वह कवि के शब्दानुशासन तक सीमित नहीं रहता, उससे उन्मेष पाती अनेक बौद्धिक वीथियों में वह दूर तक यात्रा करता और उनके रहस्यों तक पहुँचता रहता है। मीमांसा का यान्त्रिक वाक्यविचार और तर्कशास्त्र की मिति की कठपुतली से उसका जी नही भरता। वह व्यञ्जना की अभिसारवीथी तक पहुँचता और शब्द, अर्थ, उनके अलंकार, उनके गुण, उनकी रीति, उनकी वृत्ति और ऐसी ही अन्य विशेषताओं का आकलन करते-करते वहां तक जा पहुँचता है जहां उसे रस की विश्रान्तिभूमि मिलती और उसका आकर्षण तृप्ति में परिणत होता है। इतनी दूरी तक सहृदय का साथ देने वाला काव्य ही 'सत् काव्य' होता और उसी काव्य का कुशल शिल्पी 'महाकवि' पद से विभूपित होता है।

उपसंहार :

यह हुआ आनन्दवर्धन की स्थापनाओं, उनके सिद्धान्तों का संक्षिप्त स्वरूप। अब हम उस प्रक्रिया की ओर भी चलें जिसमें ध्वनिप्रस्थान को तटस्थ चिन्तन की अग्नि मे तपाया गया है और जिसका कुछ अंश भारतीय समीक्षाशास्त्र के अतीत ने सुरक्षित रखा है।

●

सिद्धान्तसमीक्षा

ध्वनिप्रस्थान की मुख्य स्थापनाएँ दो हैं—

१ प्रतीयमान अर्थ तथा
२ व्यञ्जनानामक अतिरिक्त शब्दव्यापार ।

पिछले अध्यायो में हुए विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि आनन्दवर्धन ने प्रतीयमान अर्थ को वाच्य तथा लक्ष्य अर्थ से भिन्न माना और माना कि उसकी प्रतीति अभिधा तथा गुणवृत्ति नामक शब्दव्यापारो से भिन्न एक तृतीय शब्द-व्यापार से होती है। यह तृतीय व्यापार है 'व्यञ्जना'।

विरामवाद :

इस स्थापना से यह स्पष्ट है कि आनन्दवर्धन 'शब्दवृत्ति' को तीन टुकड़ों में विभक्त मानते है और मानते है कि यह ऐसी शक्ति है जो अपनी सीमाओ के भीतर ही अर्थों का बोध कराती है। अभिधा ऐसी शक्ति है जो लक्षणा से प्रतीत होने वाले अर्थ का ज्ञान नही करा सकती और स्वय लक्षणा व्यञ्जना से प्रतीत होने वाले अर्थ का। व्यञ्जना तथा लक्षणा मे अभिधा के अर्थ का तथा अभिधा से व्यञ्जना के अर्थ का बोध भी सभव नही।

इस सिद्धान्त का आधार है एक दूसरा सिद्धान्त। वह है 'शब्द, ज्ञान तथा क्रिया का केवल दो क्षणो तक ही अस्तित्व स्वीकार करना'। इसके अनुसार शब्द, ज्ञान और क्रिया प्रथम क्षण में उत्पन्न होते द्वितीय क्षण में अनुभूत होते और तृतीय क्षण में विनष्ट हो जाया करते है। तृतीय क्षण सन्धि का क्षण होता है। उसमें 'प्रथम ज्ञान, क्रिया और शब्द का नाश' तथा 'उत्तरवर्ती द्वितीय ज्ञान, क्रिया और शब्द का जन्म' ये दोनो कार्य होते है। इसी सिद्धान्त के आधार पर कहा जाता है—

शब्द-बुद्धि-कर्म्मणां विरम्य व्यापाराभावः ।

जो शब्द, जो ज्ञान तथा जो क्रिया एक वार विरत हो जाते हैं वे पुनः कोई कार्य नहीं करते ।

अभिधा एक क्रिया है क्योंकि वह व्यापारात्मक है । लक्षणा और व्यञ्जना भी ऐसी ही क्रियाएँ हैं । इस कारण ये अपना एक अर्थ वतलाने के वाद दूसरा अर्थ वतलाने मे समर्थ नहीं मानी जा सकतीं । फलतः 'मुख कमल है' इत्यादि वाक्यों में अभिधा 'मुख' तथा 'कमल' का ही ज्ञान करा पाती है । जब यह आपत्ति उपस्थित होती है कि 'मुख, मुख ही है और और कमल, कमल ही, अतः दोनों अभिन्न नही कहे जा सकते' तो अभिधा इसका उत्तर नहीं दे पाती, क्योंकि वह इस आपत्ति के पहले ही विरत हो चुकती है । फलतः एक दूसरी शक्ति माननी होती है । वह है गुणवृत्ति, भक्ति या लक्षण । यह शक्ति भी 'चन्द्रसदृश' अर्थ का ज्ञान कराती और समाप्त हो जाती है । मुख में चन्द्रसदृश होने से प्रतीत होने वाले सातिशय शोभा आदि गुणों का वोध अभी शेष ही रहता है । इसके लिए एक तीसरी वृत्ति माननी होती है । वह है व्यञ्जना ।

कुछ समीक्षक व्यन्जना के पूर्व 'तात्पर्य'-नामक शक्ति भी स्वीकार करते हैं । यह शक्ति पदार्थों के सम्बन्ध का ज्ञान कराती है । सम्बन्ध के वाचक शब्द वाक्य में प्रयुक्त नही रहते अथापि सम्बन्ध का वोध होता रहता है, अतः यह शक्ति माननी होती है । कुछ आचार्य सम्बन्ध के ज्ञान के लिए तात्पर्य शक्ति की कल्पना अनावश्यक वतलाते हैं । वे इसका ज्ञान पदार्थों की आकाङ्क्षा, योग्यता और सन्निधि से मान लेते है । आनन्दवर्धन तात्पर्यशक्ति को शक्ति नहीं मानते । वे केवल अभिधा, गुणवृत्ति और व्यञ्जना को ही स्वीकार करते हैं शब्दवृत्ति के रूप में ।

यह हुआ आनन्दवर्धन का शब्दवृत्तिसिद्धान्त । इसका आधार शब्दवृत्ति को व्यापार या क्रिया मानकर उसमें विराम की कल्पना है ।

विरोधी आचार्य

कुछ आचार्य आनन्दवर्धन के शब्दवृत्तिसिद्धान्त की आलोचना करते और उसमें संशोधन प्रस्तुत करते हैं । इन आचार्यों के मुख्य वर्ग दो हैं—

१. विरामवादी आचार्य तथा
२. नैरन्तर्यवादी आचार्य ।

इनमें से विरामवादी आचार्य अभिधा को तो अपने अर्थ तक सीमित मानते हैं,

परन्तु अन्य अर्थों के लिए अन्य वृत्ति स्वीकार नहीं करते। उनका ज्ञान ये आचार्य अनेक अन्य साधनों से सम्भव मानते हैं। इन साधनों के तीन वर्ग हैं—

१ तात्पर्यशक्ति या भावनाशक्ति,
२ भोजकत्वशक्ति तथा
३ अनुमिति।

नैरन्तर्यवादी आचार्य अभिधा से ही सभी अर्थों का ज्ञान सम्भव मानते हैं। हम पहले नैरन्तर्यवादी विरामविरोधी आचार्यों को लेंगे। विरामवादी आचार्य ही ध्वनिसिद्धान्त के प्रमुख समीक्षक हैं, अतः उन्हें अन्त में ही स्थान देना उचित है।

[१] नैरन्तर्यवादी आचार्य

इस वर्ग के आचार्यों के दो उपवर्ग हैं। एक उनका जो केवल अभिधा के अतिरिक्त किसी शक्ति को स्वीकार नहीं करते और उसे अन्तिम अर्थ तक सक्रिय मानते हैं तथा दूसरा उनका जो अभिधा को तात्पर्यशक्ति से अभिन्न मानकर उसे अन्तिम अर्थ तक सचेष्ट मानते हैं। प्रथम और द्वितीय उपवर्ग का अन्तर प्राय नहीं के बराबर है तथापि प्रथम तात्पर्य का नाम नहीं लेते इसलिए औपचारिक अन्तर मानना होता है। इनके मत इस प्रकार हैं—

[क] शुद्ध अभिधावादी

इस उपवर्ग में उन तटस्थ आचार्यों की गणना करनी होती है जो न तो ध्वनि का उल्लेख करते और न खण्डन। ये अभिधा के अतिरिक्त अन्य किसी शब्द-वृत्ति का भी उल्लेख नहीं करते। ये आचार्य हैं—

१ धनञ्जय,
२ राजशेखर तथा
३ कुन्तक।

धनञ्जय

धनञ्जय अपने प्रसिद्ध नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थ दशरूपक में रस की मीमांसा करते और लिखते हैं—

रस की स्थिति वैसी ही है जैसी वाक्यार्थ की होती है। जिस प्रकार वाक्यार्थ में कारकों का सम्बन्ध क्रिया से रहता है उसी प्रकार रस में

विभावादि का सम्बन्ध स्थायी भाव के साथ रहा करता है। स्थायी भाव ही रस होता है और यह सामाजिक में रहता है[1]।

इस स्थापना से यह तो प्रतीत नहीं होता कि धनञ्जय रस को अभिधेय ही मानते हैं, किन्तु यह भी प्रतीत नहीं होता कि वे और कुछ मानते हैं। बलात् हमे धनञ्जय को अभिधावादी आचार्यों में गिनना होता है[2]।

राजशेखर :

अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ काव्यमीमांसा मे आनन्दवर्धन का नामोल्लेख करते और उनके अनेक सिद्धान्त उपस्थित करते हैं, किन्तु शब्दवृत्तियों मे वे केवल अभिधा का ही उल्लेख करते दिखाई देते हैं। लक्षणा, गौणी और व्यञ्जना या ध्वनि के विषय मे उनकी उदार लेखनी स्तब्ध है। वे इनका नाम नही लेते। आनन्दवर्धन के सिद्धान्तों को जानते हुए भी उनकी प्रमुख स्थापना ध्वनि का या उसके प्रमुख साधन व्यञ्जना का उल्लेख न करना आनन्दवर्धन के साथ राजशेखर की सैद्धान्तिक असहमति प्रकट करता है। उधर अन्य वृत्तियों का उल्लेख न होने से हम उन्हे अभिधावादी मानने हेतु बाध्य हैं।

कुन्तक :

कुन्तक भी आनन्दवर्धन से अत्यधिक प्रभावित हैं। आनन्दवर्धन कुन्तक के प्रेरणाकेन्द्र हैं। प्रथम अध्याय मे हम इसका दिग्दर्शन करा चुके हैं। इतने पर भी कुन्तक आनन्दवर्धन की ध्वनि और व्यञ्जना नामक शब्दशक्ति का उल्लेख नही करते। वे एकमात्र अभिधा का उल्लेख करते और काव्य की आत्मा वक्रोक्ति को मानते हुए यह कहते हैं कि यह उक्ति अभिधा ही है। यद्यपि इस अभिधा का अर्थ Expression है अर्थात् भावप्रकटन, तथापि इन्हें अभिधानामक शब्दवृत्ति

---

१. वाच्या प्रकरणादिभ्यो बुद्धिस्था वा यथा क्रिया।
वाक्यार्थः कारकैर्युक्ता स्थायी भावस्तथेतरैः॥
रसः स एव स्वाद्यत्वाद् रसिकस्यैव वर्तनात्॥ (दशरूपक ४।३७-८)

२. कुछ विचारक धनञ्जय के उक्त सिद्धान्त को उनके इसी पृष्ठ पर पादटिप्पणी में दिए मूल वाक्य से अन्य रूप में भी निकालते हैं। वे यही मानते हैं कि 'धनञ्जय रस को वाक्यार्थ मानते हैं'। हम ऐसा इसलिए नहीं मानते कि स्थायी भाव क्रियारूप नहीं हुआ करता, अतः उसे क्रिया से अभिन्न नहीं माना जा सकता।

का अनुयायी मानना होता है, क्योंकि ये लक्षणा, गौणी या तात्पयशक्ति का उल्लेख नही करते।

इन तीनो आचार्यों में हम केवल अभिधा का अस्तित्व पाते है, अत हम यह मानने को बाध्य है कि ये आचार्य इस शक्ति का सकोच नही मानते और ये इसे अन्तिम अर्थ तक प्रसरणशील स्वीकार करते है।

स्मरणीय है कि ये आचाय अभिधा के सन्दर्भ में तात्पय की चर्चा करते नही देखे जाते।

[ख] तात्पर्यरूप अभिधावादी

अब हम उन आचार्यों की ओर बढें जो अभिधा के सन्दभ में तात्पय का उल्लेख करते है। ये आचार्य मानते है कि अभिधा और तात्पर्यशक्ति अभिन्न है, तथा इनकी गति अन्तिम अर्थ तक अबाधित ही रहती है। ये आचार्य है—

१ भोजराज
२ साहित्यमीमासाकार तथा
३ शारदातनय।

भोजराज .

भोजराज अपने शृङ्गारप्रकाश में तीन भिन्न स्थापनाएँ प्रस्तुत करते है। ये निम्नलिखित है—

१ शब्दशक्ति का विराम नही होना
२ शब्दशक्ति और तात्पर्य अभिन्न है तथा
३ शब्दशक्ति और तात्पर्य को कुछ अनुच्छेदो में विभक्त माना जा सकता है।

[इन सब तथ्यो का निरूपण हमने अपने सस्कृत ग्रन्थ 'भोजदेवस्य ध्वनि-सम्बन्धिनो विचारा' में भली भाँति कर रखा है।] शब्दशक्ति को भोज ने—

१ अभिधा
२ लक्षणा तथा
३ गौणी

इन नामों से पुकारा है। इसी प्रकार उनने तात्पर्य को भी—

१ अभिधीयमान
२ प्रतीयमान तथा
३ ध्वनि

इन भागों मे विभक्त बतलाया है। स्मरणीय है भोज ध्वनिपर्यन्त शब्दशक्ति का प्रसार और उसकी सक्रियता भी स्वीकार करते हैं। उनका सिद्धान्त है कि शब्द और अर्थ मूलतः अभिन्न हैं। शब्द ही अर्थ के रूप में परिणत होते जाते हैं। यह परिणति कहीं अध्यासरूप होती है, कही विवर्त्तरूप और कहीं परिणाम-रूप। प्रतीयमान अर्थ को भोज शब्द का वैसा ही परिणाम बतलाते हैं जैसा दधि दूध का, घट मिट्टी का, यौवन आदि शरीर का[1]।

भोज के इस सिद्धान्त मे शब्दवृत्ति को ही अन्तिम अर्थ तक प्रसृत माना गया है, अभिधा को नही, तथापि यह उनका प्रतिपादनकौशल है। तत्त्वतः यह मत पूर्ववर्त्ती अभिधावादी मत से अभिन्न ही है, क्योंकि संस्कृत में जब केवल 'शक्ति' शब्द का प्रयोग होता है, उससे सीधे अभिधा का ही बोध होता है। यदि अन्तर ही करना चाहें तो हम यह कहेंगे कि अभिधावादी आचार्यों की जो अभिधा है वह भोज की शब्दशक्ति है और अभिधावादी आचार्यों की जो वाचकता है वह है भोज की अभिधा। किन्तु यह भेद केवल शाब्दिक भेद ही है।

शारदातनय :

ये अपने महत्त्वपूर्ण विशाल ग्रन्थ भावप्रकाशन में भोजराज के उक्त शब्द-शक्तिसिद्धान्त को अक्षरशः उपस्थित करते और उसका खण्डन नही करते। फलतः हम उन्हे भोजमत का समर्थक मानने हेतु बाध्य है।

साहित्यमीमांसाकार :

[कदाचित् मङ्ख] अन्तिम अर्थ रस को मानते हैं और उसके ज्ञान के लिए दो पक्ष प्रस्तुत करते हैं। एक पक्ष वह है जिसमें वे तात्पर्य[2] शक्ति को पृथक् मानते है, किन्तु दूसरा पक्ष वही है जिसे भोज ने स्वीकार किया है। ये वृत्ति को भोज के ही समान (१) मुख्य, (२) लक्षणा और (३) गौणी इन तीन भागों में विभक्त मानते किन्तु उसे मानते अखण्ड और अविरत ही हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि भोज ने वृत्ति के प्रथम भेद को अभिधा कहा था और साहित्यमीमांसाकार उसे मुख्य कहते हैं। इसका कारण है मीमांसाशास्त्र। उसमें अभिधा को मुख्या और अमुख्या दो भागों में विभक्त किया जाता है। प्राचीन वैयाकरण भी ये ही दो भेद स्वीकार करते हैं। अभिधावृत्तिमातृका-कार मुकुल-

---

१. द्र० हमारा ग्रन्थ 'साहित्यसन्दर्भाः' पृष्ठ—७

२. द्र० साहित्यमीमांसा २।१ तथा सातवाँ प्रकरण।

[क] तात्पर्यवादी या भावनावादी

हम अभी एक तात्पर्य की चर्चा ऊपर कर आये है। वह अभिधा से अभिन्न माना गया था। अभिप्राय यह कि उस तात्पर्य का नाम ही तात्पर्य था, था वह अभिधारूप ही। जिस तात्पर्य की चर्चा हम यहाँ कर रहे हैं वह अभिधा से भिन्न है। इसके अनुयायी हैं—

धनिक :

दशरूपक की अवलोकनामक टीक के रचयिता 'धनिक'। इनने 'काव्य-निर्णय'-नामक ग्रन्थ भी लिखा था, किन्तु इसके कुछ उद्धरण ही प्राप्त हैं जो स्वयं धनिक ने उपर्युक्त अवलोक में उद्धृत कर दिए है। उनसे धनिक का ध्वनिविरोधी मत स्पष्ट है।

धनिक अभिधा, लक्षणा, गौणी तथा तात्पर्यशक्ति नामक चार शक्तियों की चर्चा करते है। वे अभिधा को पदार्थज्ञान तक तथा लक्षणा और गौणी को सम्बन्ध-गत बाधाओं के परिहार में सक्षम अर्थ के ज्ञान तक सीमित बतलाते है। तात्पर्य-शक्ति के विषय में उनकी मान्यता अतीव उदार है। वे मानते है कि इस शक्ति का विराम तब तक नहीं होता जब तक अन्तिम अर्थ का ज्ञान नहीं हो जाता। वे ध्वनिवादी आचार्यों का पक्ष प्रस्तुत करते और उसका खण्डन भी करते हैं। उनको तात्पर्य और ध्वनि का निम्नलिखित अन्तर मान्य नहीं है—

> तात्पर्य वाक्यार्थपूर्ति के पहले की शक्ति है और ध्वनि वाक्यार्थ-पूर्ति के बाद[1] की।

इसके विरोध में वे अपने 'काव्यनिर्णय' की कारिकाएँ उद्धृत करते और लिखते हैं—

> तात्पर्य कोई तराजू पर रखा तत्त्व नहीं है जो वाक्यार्थ-पूर्ति के पहले तक ही सीमित माना जाए। वाक्यार्थ-पूर्ति का अर्थ है पदों से प्रतीत अर्थों के सम्बन्ध का निरपेक्ष और आत्मविश्रान्त होना। किन्तु यह सम्बन्धगत निरपेक्षता विश्रान्ति का अन्तिम बिन्दु नहीं है, क्योंकि वक्ता का प्रतिपाद्य अर्थ अभी तक प्राप्त नही रहता। उसकी अपेक्षा अभी बनी ही रहती है।

---

१. अप्रतिष्ठमविश्रान्तं स्वार्थे यत्परतामिदम्।
वाक्यं विगाहते तत्र न्याय्या तत्परतास्य सा।
यत्र तु स्वार्थविश्रान्तं प्रतिष्ठां तावदागतम्।
तत् प्रसर्पति तत्र स्यात् सर्वत्र ध्वनिना स्थितिः॥ (दशरूपक अवलोक ४।३६)

तात्पर्यशक्ति तब तक सक्रिय मानी जानी चाहिए जब तक यह अन्तिम अर्थ विदित नहीं हो जाता। ध्वनिवादी इसी अर्थ को ध्वनि से प्रतीत मानते हैं। जब इस अर्थ का ज्ञान तात्पर्यशक्ति से ही सम्भव है तब ध्वनि-नामक एक अतिरिक्त शक्ति की कल्पना अनुचित[1] है।

शारदातनय[2] और साहित्यमीमांसाकार भी धनिक के इस मत को उपस्थित करते हैं। सहित्यमीमांसाकार तात्पर्य को शब्दवृत्ति से भिन्न भी मानते[3] हैं।

भावना

उक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि धनिक अभिधा का तो विराम मानते हैं, परन्तु तात्पर्यशक्ति का नहीं। रस के ज्ञान के लिए ये तात्पर्य को भी अक्षम मानते और उसके लिए 'भावना[4]'-नामक व्यापार की ओर सङ्केत करते हैं। तदनुसार रस भावनीय हैं, काव्य भावनोत्थापक हैं तथा सहृदय भावक। धनिक के इस भावना-सिद्धान्त का मूल स्वयं भरत का नाट्यशास्त्र है। नाट्यशास्त्र में विभाव, अनुभाव, सञ्चारी भाव तथा स्थायी भाव को 'भाव' कहने का कारण यही बतलाया गया था कि ये 'काव्यार्थ को भावित करते हैं'—'काव्यार्थान् [रसान्] भावयन्तीति भावाः'[5]। भोजराज ने भी भावना को महत्व दिया, किन्तु उनने भावना को भाव तक ही सीमित रखा। रस को उनने भावना से परे माना[6]। यह प्रेरणा कदाचित् भट्टनायक की थी। भट्टनायक ने भी भावना को रस के पहले तक ही

---

१ तात्पर्यानतिरेकाच्च व्यञ्जकत्वस्य न ध्वनिः।
एतावत्येव विश्रान्तिस्तात्पर्यस्येति किं कृतम्।
यावत्कार्यप्रसारित्वात् तात्पर्यं न तुलाधृतम्।
प्रतिपाद्यस्य विश्रान्तिरपेक्षापूरणाद् यदि।
वक्तुर्विवक्षिताप्राप्तेरविश्रान्तिर्न वा कथम्॥ (दशरूपक अवलोक ४।३७)

२ भावप्रकाशन—६,

३ साहित्यमीमांसा—७

४ दशरूपक अवलोक ४।३७

५ नाट्यशास्त्र—७

६ आभावनोदयमनन्यधिया जनेन
यो भाव्यते मनसि भावनया स भावः।
यो भावनापथमतीत्य विवर्तमानः
साहङ्कृतौ हृदि परं स्वदते रसोऽसौ॥ (हमारा साहित्यसन्दर्भ पृ० १६)

सक्रिय माना था। उनके मत में भावना का सम्बन्ध केवल सहृदय के उद्वोधन से था[1]। भावना उन सभी प्रतिबन्धों को दूर कर देती है जो सहृदय के उद्वोधन मे रुकावट डालते हैं। उद्वुद्ध सहृदय को रस का लाभ होता है, किन्तु भावना से नहीं, अपितु—

[ख] भोजकत्ववादी

भोजकत्वनामक नवीन व्यापार से। यह व्यापार होता तो शब्द का ही व्यापार है किन्तु वह शब्द के अन्य व्यापारों से भिन्न होता है। शब्द के अन्य व्यापार हैं—

१. अभिधा तथा

२. भावना।

स्पष्ट ही भट्टनायक अभिधा का विराम मानते और अन्तिम अर्थ तक पहुँचने हेतु भावना तथा भोजकत्व नामक अन्य शब्दव्यापारों की कल्पना करते हैं। लक्षणा और गौणी का उल्लेख ये नहीं करते। विद्वानों की धारणा है कि भट्टनायक को अभिनवगुप्त मीमांसक मानते[2] हैं। कहा जा चुका है कि मीमांसाशास्त्री शब्दवृत्ति को अभिधारूप ही मानते हैं। केवल उसके मुख्य, अमुख्य भेद कर लेते हैं। संभव है भट्टनायक उसी मत के आधार पर केवल अभिधा का नाम लेते हों। अभिनव-गुप्त ने भट्टनायक की इस अभिधा को अर्थविषयक व्यापार कहा था। 'अर्थ की व्याप्ति वाक्यार्थ तक मानकर हम उसमें अभिधा, लक्षणा, गौणी और तात्पर्यशक्ति को अन्तर्भूत मान सकते हैं। किन्तु यह तात्पर्य वही तात्पर्य होगा जो सम्बन्धरूप वाक्यार्थबोध तक सीमित होता है, वह नही जिसे धनिक ने अन्तिम अर्थ तक प्रसारी माना है।

निश्चित ही भट्टनायक ध्वनिविरोधी आचार्य है, क्योंकि वे उसका उल्लेख नहीं करते। भट्टनायक ने हृदयदर्पण नामक कोई ग्रन्थ लिखा था जिसकी चर्चा प्रथम अध्याय में की जा चुकी है। इसे महिमभट्ट के व्यक्तिविवेक के टीकाकार ने 'ध्वनिध्वंसी'[3] ग्रन्थ कहा है। इससे भी स्पष्ट है कि भट्टनायक ध्वनिप्रस्थान के शब्दवृत्तिसिद्धान्त को स्वीकार नहीं करते।

---

१. लोचन, अभिनवभारती, काव्यप्रकाश।

२. द्र० पं० बलदेव उपाध्याय का भारतीयसाहित्यशास्त्र भाग—२

३. द्र० 'व्यक्तिविवेक' १।४ टीका, हमारे अनुवाद के साथ प्रकाशित ग्रन्थ का पृ० ५

[ग] अनुमितिवादी

मुकुलभट्ट, प्रतीहारेन्दुराज और महिमभट्ट अभिधा का विराम स्वीकार करते है, किन्तु रस तक पहुँचने हेतु किसी शब्दवृत्ति को स्वीकार नही करते। ये एतदर्थ 'अनुमिति' को कारण मानते हैं। न्यायमञ्जरीकार जयन्तभट्ट भी इसी कोटि मे आते हैं।

[१] मुकुलभट्ट :

अपनी अभिधावृत्तिमातृका में अभिधा को मुख्य और अमुख्य दो रूपों में स्वीकार करते हैं। अमुख्य वृत्ति को उनने लक्षणा कहा है, किन्तु माना यही है कि लक्षणा अभिधाव्यापार[1] की ही दूसरी सज्ञा है। लक्षणा से आगे ये शब्दवृत्ति की कल्पना नही करते। तदर्थ ये 'आक्षेप' की कल्पना करते हैं। इनके आक्षेप का अर्थ ध्वनिवादी आचार्य मम्मट ने अनुमान किया[2] है। मुकुलभट्ट ध्वनिसिद्धान्त का उल्लेख करते[3] है, किन्तु वे ध्वनि को शब्दवृत्ति स्वीकार नही करते। स्पष्ट ही मुकुलभट्ट अभिधा का विराम मानते और उसकी व्याप्ति लाक्षणिक कहे जाने वाले अर्थ के आगे नही मानते। उसके आगे के लिए वे 'आक्षेप' की कल्पना करते हैं जो ध्वनि-वादी आचार्य मम्मट के अनुसार अनुमान ही है।

[२] प्रतीहारेन्दुराज

प्रतीहारेन्दुराज का कहना है—

ध्वनिवादी ने जो तीन प्रकार की ध्वनि स्वीकार की है उनमें से रस आदि ध्वनियों का 'रसवद् आदि अलङ्कारो मे तथा वस्तु और अलङ्कार की ध्वनियों का पर्यायोक्त नामक अलङ्कार में अन्तर्भाव सम्भव है। न केवल ये तीन भेद ही, अपितु व्यङ्ग्यमात्र के और भी सब भेद अलङ्कारो मे ही अन्तर्भूत हो जाते है[4]। ये भेद कुल मिलाकर ४० होते[5] हैं। यथा—

---

१ मुख्यलाक्षणिकयोरभिधाव्यापारयोरत्र विवेकः क्रियते।
अभिधावृत्तिमातृका की आरम्भिक पङ्क्ति।

२ काव्यप्रकाश द्वितीय उल्लास।

३ ये उल्लेख प्रथम अध्याय में उद्धृत किए जा चुके हैं जहाँ कारिका और वृत्ति के कर्त्ता पर विचार किया गया है। पृ० ४१–४२

४ 'एतद् व्यञ्जकत्व पर्यायोक्तादिष्वन्तर्भावितम्' आदि वाक्य। द्र० लघुविवृति अन्तिम अश।'

५ इन ४० भेदो का सग्रह निम्नलिखित कारिकाओं में किसी आचार्य ने किया है— →

→ तदाहुः—विवक्ष्यमविवक्ष्यं च वस्त्वलङ्कारगोचरे।
वाच्यं ध्वनौ विवक्ष्यं तु शब्दशक्तिरसास्पदे ॥
भेदषट्के चतुर्धा यद् वाच्यमुक्तं विवक्षितम्।
स्वतः संभवि वा तत् स्यादथवा प्रौढिनिर्मितम् ॥
दश भेदा ध्वनेरेते विंशतिः पदवाक्यतः।
प्रधानवद् गुणीभूते व्यङ्ग्ये प्रायेण ते तथा ॥ इति।

(लघुविवृति अन्तिम अंश)

इस प्रकार व्यञ्जना नामक शब्दवृत्ति तथा उसपर निर्भर ध्वनित्व के विषय में प्रतीहारेन्दुराज आनन्दवर्धन से सहमत नहीं हैं। अपने विरोध के समर्थन में वे कोई तर्क प्रस्तुत नहीं करते, अत इन्हें अभिधावादी नैरन्तर्यवर्गीय आचार्यों में भी गिनना सभव है, किन्तु हमने इन्हें अनुमितिवादी विरामवर्गीय आचार्यों में गिनना उचित समझा है, कारण कि ये उपर्युक्त मुकुलभट्ट के शिष्य हैं, जैसा कि प्रथम अध्याय में कहा जा चुका है, और मुकुलभट्ट अनुमितिवादी हैं। लघुविवृति के अन्त में प्रतीहारेन्दुराज ने लिखा है कि 'मुकुलभट्ट साहित्यविद्यारूपी श्री के लिए मुरारि हैं', अर्थात् साहित्यविद्या मुकुल के हृदय में विराजमान रहती है, और उनने मुकुल से ही साहित्यविद्या के सिद्धान्तों को सुनकर यह टीका लिखी है[1]। किसी स्पष्ट प्रमाण के मिलने तक हम कल्पना नहीं कर सकते कि प्रतीहारेन्दुराज का उनके गुरु से मतभेद होगा और वह भी 'अनुमितिवाद'-को लेकर।

[३] महिमभट्ट

अनुमितिवाद के मुख्य आचार्य हैं महिमभट्ट। यदि यह कहा जाए कि ये इस वाद के कर्णधार हैं तो अत्युक्ति न होगी। उपर्युक्त आचार्यों ने ध्वनि की आलोचना की, किन्तु आनुषङ्गिक रूप से। उनने ध्वनिखण्डन पर कोई ग्रन्थ नहीं लिखा। भट्टनायक और धनिक के उपर्युक्त ग्रन्थों के नाम 'हृदयदर्पण' तथा 'काव्य-निर्णय' से लगता है कि इनमें भी काव्य के समूचे व्यक्तित्व पर विचार किया गया होगा, अत इनमें भी ध्वनि की आलोचना आनुषङ्गिक ही रही होगी। महिमभट्ट ने इसके विरुद्ध स्वतन्त्र ग्रन्थ ही ध्वनि के विरोध में लिखा—व्यक्तिविवेक। यह ग्रन्थ सौभाग्य से सुरक्षित रहा और प्रेस के अनुग्रह से अब यह सदा के लिए सुरक्षित हो गया है। इस ग्रन्थ का प्रथम प्रतिज्ञावाक्य है—

> अनुमानेऽन्तर्भावं सर्वस्यैव ध्वनेः प्रकाशयितुम्।
> व्यक्तिविवेकं कुरुते प्रणम्य महिमा परां वाचम्॥ १।१॥

अनुमान में ध्वनि के सभी भेदों का अन्तर्भाव दिखलाने के लिए व्यञ्जना के याथार्थ्य का परीक्षण करते हुए मैं 'व्यक्तिविवेक' नामक यह ग्रन्थ बना रहा हूँ।

महिमभट्ट के प्रमुख तर्क

महिमभट्ट ने ध्वनि के खण्डन में तर्क भी प्रस्तुत किए हैं। उनका कहना है कि—

---

[1] द्र० लघुविवृति की पुष्पिका का प्रथम अध्याय में पृ० ८३ पर उद्धृत पद्य।

[क] एकमात्र अभिधा ही शब्दवृत्ति है **'शब्दस्यैकाभिधा शक्तिः'**[1]। इसमें वे पूर्ववर्ती अभिधावादी आचार्यों से पर्याप्त भिन्नता रखते हैं। इनका कहना है कि अभिधा केवल उसी अर्थ तक पहुँच पाती है जो शब्दकोश या व्याकरण से प्राप्त रहता है। अर्थ यह कि अभिधा केवल प्रथम अर्थ तक ही पहुँचती और प्रथम अर्थ तक केवल अभिधा ही[2] पहुँचती है। लाक्षणिक, गौण और व्यङ्ग्य या ध्वनि कहलाने वाले अन्य अर्थ शब्दशक्ति से प्रतीत नहीं होते, क्योंकि शब्द तो प्रथम अर्थ का ज्ञान कराकर समाप्त हो जाता है। अन्य अर्थों के ज्ञान के समय यदि किसी की उपस्थिति रहती है तो केवल अर्थ की अर्थात् प्रथम अर्थ की। फलतः हमें अन्य अर्थों की प्रतीति में इसी अर्थ को कारण मानना होता है। परिणामतः दूसरे जो अर्थ हैं, वे, शब्द से प्रतीत न होकर अर्थ से प्रतीत होते हैं, यानी वे 'शाब्द' न होकर 'आर्थ' होते हैं। एक 'अर्थ' से होने वाली दूसरे अर्थ की प्रतीति एकमात्र अनुमान पर आश्रित होती है, जैसे पर्वतस्थ धूम से पर्वतस्थ वह्नि की प्रतीति। धूम अर्थ है और वह्नि भी अर्थ ही है। सभी दार्शनिक इनके बीच जिस व्यापार को सक्रिय मानते हैं वह व्यापार एकमात्र 'परामर्श' है। परामर्श का अर्थ है यह ज्ञान कि 'हेतु पक्ष में विद्यमान[3] है'। हेतु का अर्थ है साध्य से सम्बन्धित वस्तु जैसे धूम, और पक्ष का अर्थ है जहाँ किसी वस्तु का अनुमान किया जा रहा हो वह स्थल जैसे पर्वत। इस परामर्श को शब्दशक्ति कौन कह सकता है? अतः अन्य अर्थ की प्रतीति परामर्शव्यापार से निष्पन्न अनुमाननामक माध्यम से होती है, शब्द व्यापार से कथमपि नहीं, क्योंकि शब्द बहुत पीछे छूट जाता है। अनुमान का आधार अर्थ होता है और अर्थ का माध्यम केवल अनुमान, **'अर्थस्यैकैव लिङ्गता'**[4]। इस प्रकार महिमभट्ट एकशक्तिवादी है।

[ख] अनेकशक्तिवाद के खण्डन में वे एक और तर्क देते हैं। वे कहते हैं जब आश्रय एक होता और शक्तियाँ अनेक तो वे परस्पर में निरपेक्ष देखी जाती हैं। एतदर्थ वे अग्नि का उदाहरण देते हैं और कहते हैं कि 'अग्नि में दाहकता,

---

१. हमारे अनुवाद के साथ चौखम्बा से छपे व्यक्तिविवेक का पृष्ठ १११

२. 'अभिधा ही' का अभिप्राय यह है कि उसका खण्डन महिमभट्ट नहीं करते। हमें तो अभिधा भी अमान्य है।

३. **व्याप्यस्य पक्षवृत्तित्वधीः परामर्शः।**

४. शब्दस्यैकाभिधा शक्तिरर्थस्यैकैव लिङ्गता।
न व्यञ्जकत्वमनयोः समस्ति०० ॥
(व्यक्तिविवेक १११ पृष्ठ हमारा अनुवाद)

प्रकाशकता तथा पाचकता नामक शक्ति रहती है, किन्तु वे परस्परनिरपेक्ष हुआ करती हैं। शब्दगत शक्तियों में उनको मानने वाले आचार्य परस्पर सापेक्षता ही मानते हैं। उनकी व्यञ्जना, लक्षणा और अभिधा की अपेक्षा रखती है और लक्षणा अभिधा की। अभिधा भी अन्य अर्थों के लिए लक्षणा या व्यञ्जना की अपेक्षा रखती है। फलतः शब्दगत अनेकशक्तिवाद लोकविरुद्ध है।

ध्वनिवादी ने काव्यगत व्यञ्जना को शब्दगत स्वीकार करने के ही साथ अर्थगत भी स्वीकार किया था, जिसे ध्वनिवादी आर्थी व्यञ्जना कहता था। उक्त तर्कों से यह भी स्पष्ट है कि महिमभट्ट ने उसे भी व्यञ्जना स्वीकार नहीं किया। इसे भी महिमभट्ट ने अनुमान कहा।

महिमभट्ट और व्यञ्जना

महिमभट्ट ने व्यञ्जना के खण्डन के साथ ही उसकी वास्तविकता भी स्वीकार की है। वे लिखते हैं—

> व्यञ्जना दो प्रकार के पदार्थों की होती है सत् पदार्थ की और असत् पदार्थ की। इनमें से—

[१] सत् की तो व्यञ्जना तीन प्रकार की दिखाई देती है—

[क] कार्य का कारण से पृथक् से होकर इन्द्रियगोचरता के योग्य हो जाना है प्रथम व्यञ्जना, जैसे दूध से दही का। [सांख्यशास्त्र इसे अभिव्यक्ति कहता भी है किन्तु] यदि कार्य को कारण के शरीर में विद्यमान न मानना हो तो इसे उत्पत्ति भी कहा जा सकता है। सर्वथा, आविर्भाव है प्रथम व्यञ्जना।

[ख] आविर्भूत वस्तु का प्रकाशक के साथ प्रकाशित होना है, दूसरी व्यञ्जना, जैसे दीपक के साथ घट का प्रकाशित होना।

[ग] तीसरी व्यञ्जना है ज्ञात वस्तु का स्मरण, जैसे धूम से वह्नि का, अथवा जैसे चित्र, लेख, प्रतिबिम्ब, अनुकरण आदि से किसी वस्तु का [स्मरण]।

[२] असत् की व्यञ्जना का उदाहरण है—'सूर्य के प्रकाश से इन्द्रधनुष की व्यञ्जना'। यह एक ही प्रकार की होती है।

स्मरणीय है सत् पदार्थ की जो प्रथम दो व्यञ्जनाएँ हैं उनमें व्यक्त वस्तु का प्रत्यक्ष ज्ञान भी होता है, वे आँख से दिखाई भी देती हैं, काव्य में व्यञ्जना मानने पर उससे विदित अर्थ को भी प्रत्यक्ष मानना होगा, जो

सम्भव न होगा। अतः काव्य में 'आविर्भाव' और 'प्रकाशन' नामक व्यञ्जनाएँ नहीं मानी जा सकतीं। काव्य में तीसरी व्यञ्जना ही मानी जा सकती है। वह अनुमान ही है[१]।

इस प्रकार महिमभट्ट आर्थी व्यञ्जना को अनुमान के रूप में स्वीकार कर लेते है किन्तु शाब्दी व्यञ्जना को वे सर्वात्मना त्याज्य मानते हैं।

महिमभट्ट ध्वनिकार के प्रतीयमान अर्थ को स्वीकार करते हैं। वे इस प्रतीयमान अर्थ की प्रधानता भी स्वीकार करते और यह भी स्वीकार करते हैं कि काव्य की आत्मा रसादि ही हैं। उनका वाक्य है—

काव्यस्यात्मनि संज्ञिनि रसादिरूपे
न कस्यचिद् विमतिः।

काव्य की आत्मा जो रसादि हैं उनके स्वरूप के विषय में किसी को आपत्ति नही है।

वे आपत्ति करते हैं केवल संज्ञा के विषय में। यह संज्ञा है 'ध्वनि'। रस आदि को ध्वनि कहना ही उन्हें अनुभवविरुद्ध लगता है। इसका कारण भी वे प्रस्तुत करते हैं। यह कारण है व्यञ्जना में शब्दशक्तित्व का अभाव। यदि व्यञ्जना नाम की कोई अतिरिक्त शब्द-वृत्ति अनुभव में नही आती तो वैयाकरणों का अनुकरण करना और उनकी 'ध्वनिशब्द से स्फोट की अभिव्यञ्जना' के आधार पर काव्य में भी व्यञ्जना स्वीकार कर उक्त अतिरिक्त अर्थ को व्यङ्ग्य मानना महिमभट्ट को स्वीकार्य नहीं लगता। वे उक्त वाक्य के उत्तरार्ध में लिखते हैं—

काव्यस्यात्मनि संज्ञिनि रसादिरूपे न कस्यचिद् विमतिः।
संज्ञायां सा, केवलमेषापि व्यक्त्ययोगतोऽस्य कुतः॥

हमें न तो रस आदि के स्वरूप के विषय में कोई आपत्ति है और न उन्हें काव्य की आत्मा स्वीकार करने में। हमें आपत्ति है उनकी नवीन संज्ञा [ध्वनिसंज्ञा] में। वह भी इसलिए कि व्यञ्जना नाम की वृत्ति का स्वीकार करना सम्भव नहीं हो पाता।

इस प्रकार महिमभट्ट भी रसवादी आचार्य ठहरते हैं।[२] ध्वनिवाद से उनका मतभेद लक्ष्य को लेकर नहीं, केवल साधन को लेकर है।

---

१. हमारे अनुवाद के साथ छपा व्यक्तिविवेक, पृष्ठ ८०-८१

२. महिमभट्ट के मत का स्पष्टीकरण हमने अपने व्यक्तिविवेक की भूमिका में →

इस प्रकार आनन्दवर्धन के प्रमुख आलोचक महिमभट्ट हैं। इनने आनन्दवर्धन की भाषा की भी पर्याप्त मात्रा में आलोचना की है, जिसे हम शल्यचिकित्सा मानते हैं। यहाँ उस दिशा में जाना उचित नहीं है। हाँ! इस शल्यचिकित्सा ने भावाभिव्यक्ति के क्षेत्र में भाषा का अविस्मरणीय परिष्कार किया है और एतदर्थ न केवल संस्कृतभाषा ही, विश्व की समस्त भाषाएँ महिमभट्ट की ऋणी हैं।

महिमभट्ट तात्पर्यशक्ति और वक्रोक्तिसिद्धान्त का भी खण्डन करते हैं।

[क] तात्पर्यशक्ति के पूर्वोक्त प्रमुख दृष्टान्त 'बाण की दीर्घ दीर्घ गति' का विश्लेषण करते हुए वे लिखते हैं—'बाण का व्यापार भौतिक व्यापार हुआ करता है जबकि शब्द का व्यापार बौद्धिक। तात्पर्यशक्ति को शब्द का व्यापार माना गया है अतः इसकी तुलना बाण के व्यापार से नहीं की जा सकती। जो तात्पर्यशक्ति अभिधारूप होती है उसमें संकेतों और कोश आदि पर आधृत सम्बन्धों की अपेक्षा रहती है अर्थज्ञान हेतु। जहाँ तक संकेत या सम्बन्ध का प्रश्न है निश्चित ही ये केवल प्रथम अर्थ तक ही सीमित रहते हैं। शब्द का सम्बन्ध कोशों से या व्यवहार से केवल इसी अर्थ के साथ विदित होता है। शब्द इस अर्थ का ज्ञान कराकर शान्त हो जाता है। वह उसके आगे सक्रिय नहीं रहता। बाण का व्यापार बौद्धिक संकेतों या सम्बन्धों की अपेक्षा नहीं रखता। उसमें जो स्थान धनुष का है अथवा प्रक्षेपक यन्त्र का, अभिधा या तात्पर्य में वही स्थान है शब्द का। धनुष बाण के साथ प्राणापहरण कार्य तक जुड़ा नहीं रहता, वह अलग हो जाता है। फलतः प्राणापहरण धनुष के व्यापार का परिणाम न होकर बाण के व्यापार का परिणाम होता है। अभिधा में भी अन्तिम अर्थ तक होने वाला व्यापार शब्द का न होकर उससे प्रक्षिप्त प्रथम अर्थ का होगा और अर्थ का व्यापार अनुमान से पृथक् न माना जा सकेगा। अभिधा से भिन्न तात्पर्यशक्ति तो और भी सुख से अनुमान मानी जा सकेगी। इस प्रकार अन्य अर्थ का ज्ञान तात्पर्यशक्ति से नहीं माना जा सकता'[1]।

→ कर दिया है। डॉ० कान्तिचन्द्र जी पाण्डेय ने भी अपने 'स्वतन्त्रकलाशास्त्र' में महिमभट्ट पर पर्याप्त प्रकाश डाला है।

१ व्यक्तिविवेक पृ० १३७। हमने यहाँ इस अंश का और अधिक स्पष्टीकरण कर दिया है। धनुष का दृष्टान्त हमारी योजना है। व्यक्तिविवेक में दूसरा ही दृष्टान्त दिया गया है। कहा गया है कि घड़े से वृक्ष सींचा जाता है इसलिए घड़े को बनाने वाला कुम्हार कुसुमविकास में मधुमास जैसा कारण नहीं माना जा सकता।

[ख] वक्रोक्तिसिद्धान्त के विषय में वे लिखते है—'वक्रोक्ति में जो प्राणभूत है वह वक्रता और कुछ नहीं, अपितु प्रसिद्ध कथनप्रकार से भिन्न कथन-प्रकार ही है। जहाँ तक भिन्नता का सम्बन्ध है वह या तो औचित्य को लेकर सम्भव हो सकेगी या प्रतीयमान अर्थ को लेकर। दोनों ही स्थितियों में वक्रोक्ति कोई मौलिकता नहीं रखती। कारण कि औचित्य काव्य का स्वरूप ही होता है, अनौचित्य के रहते किसी काव्य को सरस काव्य नही कहा जा सकता और जो काव्य सरस नहीं होता वह काव्य ही नही होता। जहाँ तक प्रतीयमान का सम्बन्ध है उसको लेकर मानी जाने वाली वक्रता ध्वनिपथ का ही नामान्तर है। वक्रोक्ति-सिद्धान्त में वर्ण, पदैकदेश, पद, वाक्य और प्रबन्ध की जो विचित्रता मानी गई है वह भी ध्वनि की व्यञ्जकता की ही मौन स्वीकृति है। फलतः उपर्युक्त ध्वनिवाद के ही समान वक्रोक्तिवाद में भी नवीनता केवल 'नामकरण' तक सीमित है।'[१]

एक प्रश्न :

महिमभट्ट के समक्ष एक प्रश्न उपस्थित होता है। वह है रसानुभूति को लेकर ! अनुमान से वस्तु का बोधमात्र होता है, स्पर्श नहीं, अतः अनुमित पदार्थ का आस्वाद संभव नहीं होता। रस का आस्वाद होता है, अतः उसे अनुमित कैसे माना जा सकता है।

महिमभट्ट इसका उत्तर देते और एक नवीन कल्पना प्रस्तुत करते है। यह कल्पना है 'प्रतिबिम्बवाद' की। महिमभट्ट रस को 'प्रतिबिम्ब-कल्प' कहते है। इसके अनुसार काव्य या नाट्य पाठक या दर्शक के चित्त पर जिन जिन पदार्थों के प्रतिबिम्ब प्रस्तुत करते है उनमें रति आदि भाव भी हुआ करते है। इन भावों के प्रतिबिम्ब-जैसे ही रति आदि भाव पाठक या दर्शक के अपने चित्त में भी संस्कार रूप से विद्यमान रहते है। पाठक या दर्शक इन्हीं भावों का आस्वाद लेता है। ये भाव काव्यादि से आहित भावप्रतिबिम्बों के समान हुआ करते है, अतः इन्हें प्रति-बिम्बतुल्य या 'प्रतिबिम्बकल्प' कहा जा सकता है। अनुमिति केवल प्रतिबिम्बन तक सक्रिय रहती है। नट जो चेष्टाएँ दिखलाता है या काव्यपाठ से नाटक की जिन चेष्टाओं का ज्ञान होता है वे नायकगत भावों का अनुमान न कराएँ तो उन भावों का प्रतिबिम्बन भी संभव न हो दर्शक या पाठक के चित्त पर, अतः अनुमान रसप्रतीति में सहायक सिद्ध होता है। वह जिन भावों को प्रस्तुत करता है, वे तो

१. व्यक्तिविवेक पृष्ठ १४२

झूठे ही होते हैं, किन्तु उनके आधार पर प्रेक्षक के जो भाव जागते और उनका अनुभव होता है वे सर्वथा सत्य और यथार्थ हुआ करते हैं[1]। इस प्रकार

महिमभट्ट की रसानुभूतिप्रक्रिया में धनिक की भावकता और भट्टनायक की भोजकता का कोई विरोध नहीं रहता[2]।

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि महिमभट्ट ध्वनि के विरोध में और अनुमिति के समर्थन में सर्वाङ्गीण विचार प्रस्तुत करते हैं। उनकी कुछ अन्य स्थापनाएँ नीचे स्पष्ट होंगी।

[४] जयन्तभट्ट :

ध्वनिकार आनन्दवर्धन के प्राय समकालीन आचार्य जयन्तभट्ट ने अपनी न्यायमञ्जरी में ध्वनि का स्मरण किया है और उसे अनुमान से गतार्थ बतलाया है, परन्तु उनने अपने पक्ष के समर्थन में कोई तर्क प्रस्तुत नहीं किया। केवल इतना ही कहा है कि 'प्रमाणमीमांसा विद्वानों का विषय है, कवियों का नहीं, अत किसी कवि के द्वारा स्वीकृत 'ध्वनि'-नामक शब्दशक्ति के विषय में हम क्या कहें'[3]।

हमने देखा कि ध्वनि के विरोध में आचार्यों का एक बहुत बड़ा वर्ग था और उसकी शताब्दियों तक चलने वाली परम्परा भी थी। इन आचार्यों ने और

---

१ [क] स्थाय्यनुकरणात्मानो हि रसा ।

[ख] विभावादिभिर्भावैर् रत्यादिष्वसत्स्वेव प्रतीतिरुपजन्यते तदा तेषां तन्मात्रसारत्वात् प्रतीयमाना इति गम्या इति व्यपदेशा मुख्यवृत्त्या उपपद्यन्त एव, तत्प्रतीतिपरामर्श एव च रसास्वाद स्वाभाविक ।

यहाँ जो 'परामर्श' शब्द है वह महिमभट्ट की समस्त रसप्रक्रिया को सामाजिक के अपने भावसंस्कारों की ओर मोड़ देता है। शङ्कुक भी 'सामाजिक की वासना' का उल्लेख करते हैं और रसप्रक्रिया को सामाजिक के अपने संस्कारों से जोड़ देते हैं। इसलिए यह कहना संभव नहीं है कि अनुमितिवादी आचार्य अनुकार्यनिष्ठ भावों तक ही सीमित थे। उनके सिद्धान्तों को मनचाहे ढंग से प्रस्तुत किया गया है अभिव्यक्तिवादियों द्वारा।

२ डॉ० कान्तिचन्द्र पाण्डेय 'स्वतन्त्रकलाशास्त्र' में महिमभट्ट को शङ्कुक के मत के उसी स्वरूप से जोड़ते हैं जो अभिनवगुप्त ने प्रस्तुत किया है और जिसे मम्मट ने अपनी पदावली में बाँधा है।

३ न्यायमञ्जरी चौखम्बासंस्करण, पृष्ठ-४५ प्रथमखण्ड।

भी अनेक नवीन विचार प्रस्तुत किए हैं। उनका संक्षेप यहां प्रस्तुत किया जा रहा है—

काव्यभेद : महिमभट्ट काव्य को भेदों में विभक्त नहीं मानते। वे एकमात्र सरस काव्य को काव्य मानना चाहते हैं। इस कारण 'गुणीभूतव्यङ्ग्य'–जैसी कोई दूसरी विधा उनके मत में संभव ही नही होती। यह विधा जिन समासोक्ति आदि मे मानी जाती है, महिमभट्ट उनमें भी प्रतीयमान अर्थ को प्रधान ही मानते हैं। ध्वनिवादी ने भी विशिष्ट परिस्थिति मे गुणीभूत व्यङ्ग्य को ध्वनिरूप[1] स्वीकार किया था।

प्रधानताहेतु : महिमभट्ट साध्यसाधनभाव को प्रधानता और अप्रधानता का मानदण्ड मानते हैं, जबकि ध्वनिवादी चमत्कार के उत्कर्ष तथा अपकर्ष को। महिमभट्ट साधन में सदा ही चमत्कार का अपकर्ष मानते हैं और साध्य में उसी प्रकार सदा ही उत्कर्ष। आनन्दवर्धन साधन में भी चमत्कार का उत्कर्ष संभव मानते हैं।

काव्यप्रभेद : [क] महिमभट्ट और भोजराज प्रतीयमान अर्थ को एकमात्र अनुरणनोपम मानते और मानते हैं कि उसकी प्रतीति प्रत्येक स्थिति में केवल क्रम[2] से होती है। ध्वनिवादी इसमें क्रमाभाव पर ही अधिक बल देते हैं, यद्यपि कहीं कहीं क्रम भी मान लेते हैं।

भोजराज ध्वनि को प्रतीयमान से भिन्न मानते और उसको (१) अनुनादरूपध्वनि तथा (२) प्रतिशब्दरूपध्वनि, इन दो नवीन भेदों में विभक्त बतलाते[3] हैं।

---

१. ध्व० ३।४० तथा यही पृ० २१४
२. भोजराज के इस मत के लिए द्रष्टव्य हमारा 'साहित्यसन्दर्भाः' खण्ड-१ पृ० १६
३. द्रष्टव्य हमारा 'साहित्यसन्दर्भाः' पृ० ४

[ख] महिमभट्ट वाच्य की अविवक्षितता स्वीकार नहीं करते क्योंकि वे लक्षणा-नामक शब्दशक्ति स्वीकार नहीं करते। कहा जा चुका है कि वे शब्द की एक ही शक्ति मानते हैं—अभिधा। लक्षणा को वे अनुमान में ही अन्तर्भूत बतलाते हैं।[1]

विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि के विषय में भी महिमभट्ट का कहना है कि 'विवक्षित' वस्तु सदा प्रधान होती है और 'अन्यपर' वस्तु सदा ही अप्रधान। फलत जो वस्तु प्रधान होगी उसमें अप्रधानता का माना जाना सभव नहीं हो सकेगा।[2]

[ग] आनन्दवर्धन ने 'प्रासश्रीरेष' पद्य मे रूपकध्वनि स्वीकार की थी, किन्तु मुकुलभट्ट 'भेद में अभेद' से होने वाली अतिशयोक्ति मानते[3] हुए 'रामोऽस्मि सर्वं सहे'-जैसे स्थलो में वाच्य को अतिरस्कृत के साथ ही अत्यन्ततिरस्कृत और अत्यन्ततिरस्कृत के साथ अतिरस्कृत भी मानते हैं।[4]

चमत्कारसीमा महिमभट्ट इतने उदार हैं कि साध्य को एकमात्र प्रधान और चमत्कारी मानते है, किन्तु उनकी उदारता मे सकोच भी है और वे प्रतीयमान वस्तु से प्रतीत होने वाले उत्तरवर्ती वस्तुरूप प्रतीयमान अर्थों में चमत्कार स्वीकार नहीं करते। ऐसे काव्य को वे 'पहेली' मानते हैं।[5]

---

१ व्यक्तिविवेक पृ० ११४ हमारा अनुवाद

२ व्यक्तिविवेक पृ० १७१-७२

३-४ अभिधावृत्तिमातृका

५ व्यक्तिविवेक पृ० ८९-९२ = 'प्रहेलिकाप्रायमेतत् काव्यम्' [पृ० ९२] सञ्चारी भाव तथा अलङ्कार के प्रतीयमान होने पर उनके बाद आने वाले वस्तुरूप प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति में महिमभट्ट चमत्कार स्वीकार करते हैं।

उक्त विवरण से स्पष्ट है कि आनन्दवर्धन के ध्वनिप्रस्थान का विरोध मुख्यतः एक ही तत्त्व पर केन्द्रित रहा है—'व्यञ्जना'-पर। आचार्यों ने शब्दवृत्ति के रूप मे इसे अतिरिक्त वृत्ति स्वीकार नहीं किया और अर्थवृत्ति के रूप मे इसे तात्पर्य या अनुमान मे अन्तर्भूत बतलाया। शेष समस्त विरोध इसी एक मान्यता के परिणाम हैं।

उक्त सभी विरोधी आचार्यो का वर्गवृक्ष हम इस प्रकार बना सकते है—
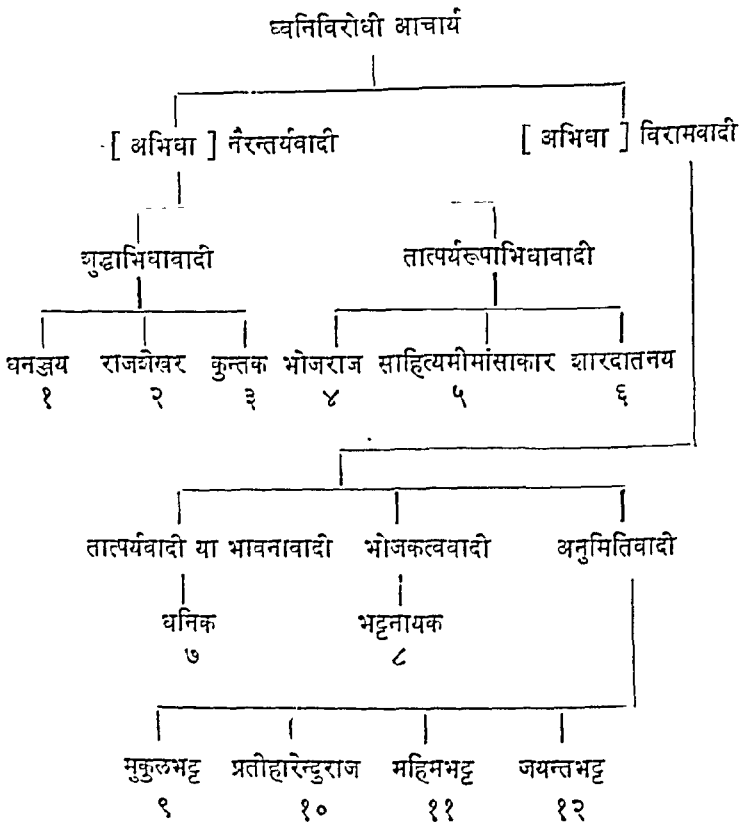
यदि हम चाहें तो अविरामवादी या नैरन्तर्यवादी आचार्यों को एक स्थान पर रख उनमें धनिक को भी जोड़ सकते हैं। तब इस चित्र का रूप यह होगा—
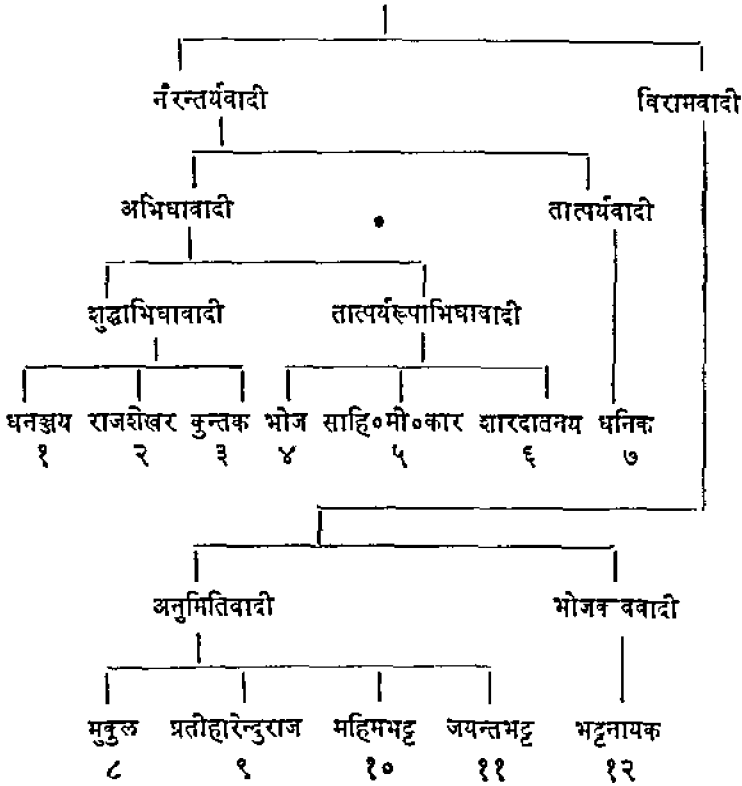
समर्थक आचार्य

व्यञ्जना पर आनन्दवर्धन का समर्थन अभिनवगुप्त, मम्मट, जयदेव, विश्वनाथ, अप्पयदीक्षित, विद्यानाथ तथा जगन्नाथ करते हैं, किन्तु ये भी अनेक संशोधन प्रस्तुत करते हैं। इन सबका निरूपण स्वतन्त्र ग्रन्थ की अपेक्षा रखता है।

वस्तुतः शब्दशक्ति का विचार मनोविज्ञानशास्त्र का विचार है। उसे काव्य-शास्त्र के क्षेत्र में आनुषङ्गिक विचार ही कहा जा सकता है। उक्त आचार्यों के विचारसंघर्ष को एक दृष्टि से अपने प्रत्येक अंश में मान्य और अन्य दृष्टि से अमान्य ठहराया जा सकता है। चाहिए यह कि हम तथ्य के याथार्थ्य का अनुशीलन दृष्टि की समग्रता पर केन्द्रित रह कर करें। इस भूमिका से किए गए अनुशीलन

से विरोध के स्वर समन्वय के स्वर में परिणत दिखाई देंगे और हम उलझन से ऊपर उठकर काव्यक्षेत्र की एक विश्रान्तिभूमिका तक पहुँचने का सुअवसर पा सकेंगे।

समुद्रबन्ध का समन्वयी वर्गीकरण

हमने आचार्यों का जो वर्गीकरण किया है उससे भिन्न एक अन्य प्रकार का वर्गीकरण अलङ्कारसर्वस्व की टीका में समुद्रबन्ध ने किया है। उनका कहना है—

'काव्य विशिष्ट शब्दार्थ का नाम है। इस मान्यता में किसी भी आचार्य को कोई आपत्ति नहीं है। आपत्ति है विशिष्टता के प्रतिपादन में। इसे कुछ आचार्य धर्म द्वारा निष्पन्न मानते, कुछ आचार्य व्यापार द्वारा और कुछ आचार्य व्यङ्ग्य द्वारा। धर्म भी दो प्रकार के हैं अलङ्कार और गुण। व्यापार भी दो प्रकार के हैं वक्रोक्ति तथा भोगकृत्व। इस प्रकार आचार्यों के पाँच मत हो जाते हैं। उनमें से—

१. अलङ्कारवादी	उद्भट आदि
२. गुणवादी	वामन
३. वक्रोक्तिवादी	कुन्तक
४. भोगकृत्ववादी	भट्टनायक तथा
५. व्यङ्ग्यवादी	आनन्दवर्धन

माने जाते हैं।'

समुद्रबन्ध के वर्गीकरण को वृक्षरूप में हम इस प्रकार देख सकते हैं—
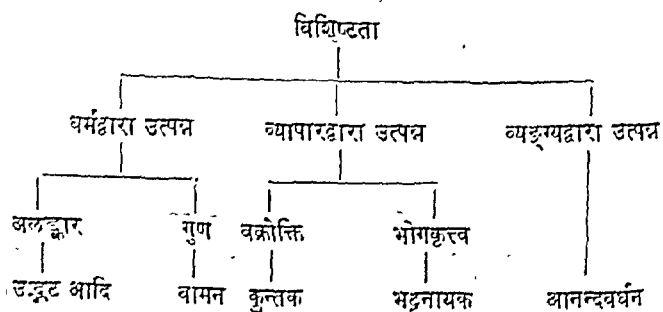
समीक्षा :

यह वर्गीकरण अतीव स्थूल है और इसीलिए इसे निर्णायक नहीं माना जा सकता। आनन्दवर्धन ने व्यञ्जना वृत्ति स्वीकार की है, अतः उन्हें व्यापारवादी क्यों न माना जाए। वक्रोक्ति का जो रूप कुन्तक ने उपस्थित किया है वह व्यापारात्मक है यह केवल कल्पना है। इसका समर्थन वक्रोक्तिजीवित ग्रन्थ के किसी भी वाक्य

से नहीं होता। भट्टनायक ने यदि अभिधा के अतिरिक्त भावकत्व और भोगकृत्त्व दो व्यापार माने तो क्या कारण है कि भावकत्व को छोड़ दिया गया।

इसी प्रकार के अनेक प्रश्न इस वर्गीकरण से जन्म पाते हैं। तथ्य यह है कि यह वर्गीकरण अलङ्कारसर्वस्व की आरम्भिक भूमिका में आए आचार्यों के नाम के आधार पर किया गया है। इसे सिद्धान्तभूत वर्गीकरण नहीं कहा जा सकता। इसमें सभी आचार्यों का सग्रह भी नहीं होता, मुकुलभट्ट, धनञ्जय और धनिक इसमें छूट जाते हैं। भोजराज और शारदातनय भी इसमें आ नहीं पाते, अत शब्दशक्ति के आधार पर किया वर्गीकरण ही अधिक अच्छा है।

कुप्पुस्वामी का समन्वयसिद्धान्त

म० म० कुप्पू स्वामी शास्त्री ने काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तो का समन्वय औचित्यसम्प्रदाय की दृष्टि से दिखलाया और उसको एक चित्र द्वारा प्रस्तुत किया है। यह चित्र इधर अनेक वर्षों से पर्याप्त प्रचलित है। चित्र है—
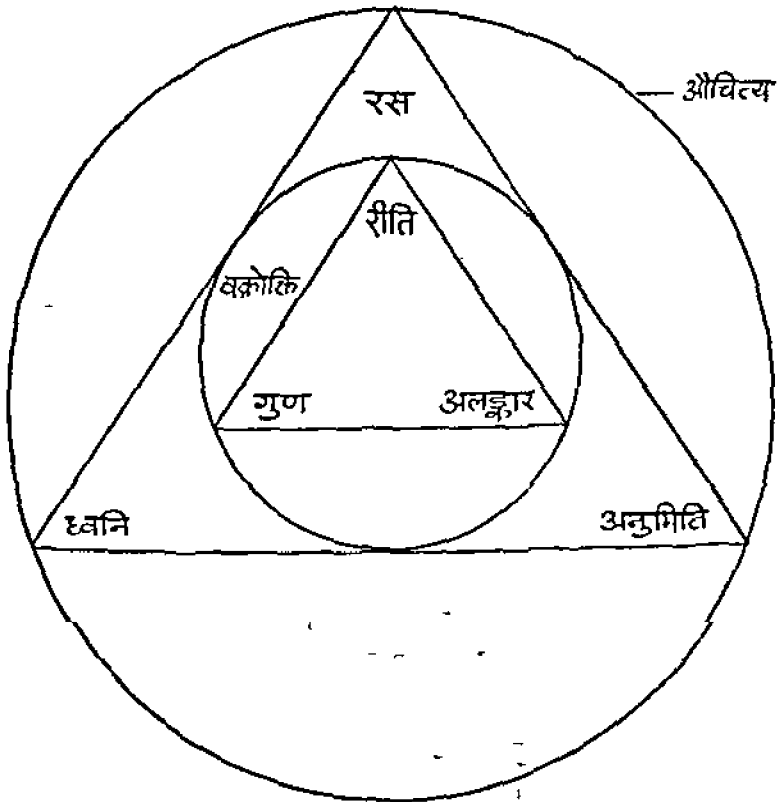
इसका अर्थ यह हुआ कि औचित्य के तीन कोण है १. रस २. ध्वनि ३. अनुमिति। इस त्रिकोण के बीच वक्रोक्ति नामक एक तत्त्व रहता है और उसके भी तीन कोने है १. रीति. २. गुण तथा ३. अलङ्कार। अभिप्राय यह हुआ कि औचित्य और वक्रोक्ति दो ही है वे प्रधान तत्त्व जो काव्य के समग्र व्यक्तित्व को अपनी परिधि में लिए हुए हैं। इनमें औचित्य भीतरी परिधि है और वक्रोक्ति वाहरी। हमारी दृष्टि से इस चित्र का निर्माण इस प्रकार होना चाहिए—
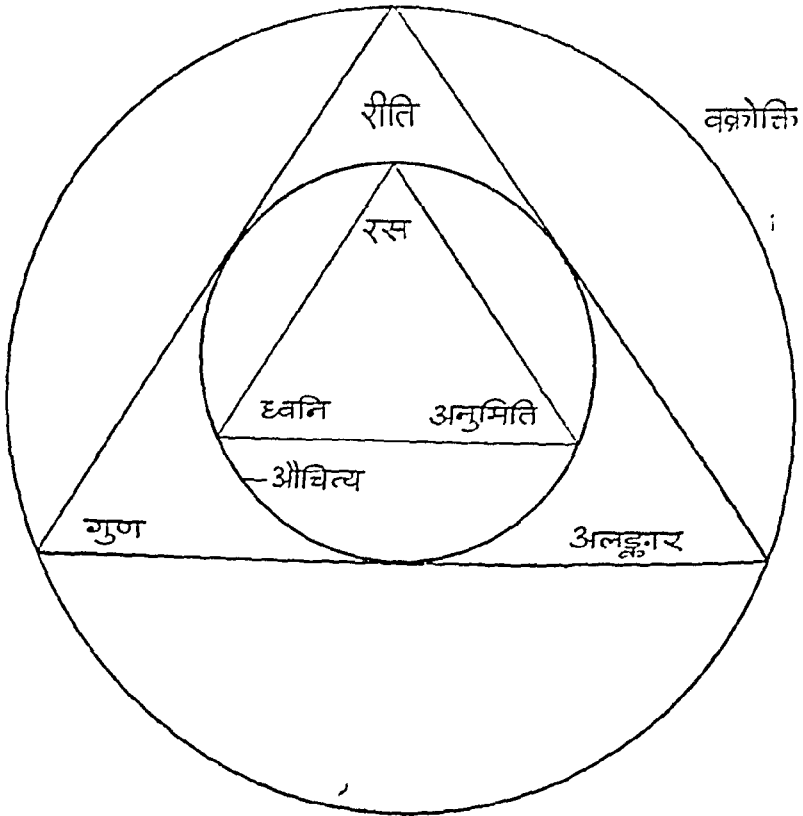
इस चित्र में वाह्य वस्तु को वाहर ही और आन्तरिक वस्तु को अन्दर ही रखा गया है, अतः कोई अन्यथाबुद्धि नहीं होती।

इस चित्र में ध्वनि और अनुमिति को समान स्थान दिया गया है रस की अभिव्यक्ति के लिए। वस्तुतः यह ठीक नहीं है। ध्वनिवाद केवल साधनवाद नहीं है। यह साध्यवाद भी है। अनुमिति में साध्य अंश का सर्वथा अभाव है। अच्छा

होता यदि अनुमिति की समकक्षता के लिए व्यञ्जना को चुना गया होता। इसी प्रकार इस चित्र में गुण और अलङ्कार को भी समान बतलाया गया है—रीति तत्त्व के आविष्कार में, किन्तु मूल सिद्धान्त इससे भिन्न है। उसमें गुण शोभाजनक हैं और अलङ्कार शोभावर्धक। रीति को गुणो से युक्त बतलाया गया है, न कि अलङ्कारो से। अलङ्कार रीति के बाहर के तत्त्व हैं। स्वय क्षेमेन्द्र, जो औचित्य-प्रस्थान के प्रवर्त्तक हैं उनका भी यह मत नही है।

समन्वय का पथ राजशेखर की काव्यमीमासा में आए काव्यपुरुष के व्यक्तित्व के वर्णन से भी निकल सकता है। राजशेखर ने यह प्रेरणा ध्वनिकार आनन्दवर्धन से ही पाई होगी, क्योंकि उनने अपने ध्वन्यालोक के आरम्भ में ही लिखा था 'शब्द और अर्थ हैं काव्य का शरीर'। दण्डी ने भी लिखा था 'इष्ट अर्थ से अवच्छिन्न पदावली है काव्य का शरीर'।

वस्तुत भोजराज का रसोक्ति, स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति का मार्ग ही समन्वय का सबसे अच्छा मार्ग है। सर्वथा

उपसहार

साहित्यशास्त्र के क्षेत्र में भारतीय प्रज्ञा ने कवि, काव्य और सहृदय तीनो के पक्ष से विचार किया है। स्वय काव्यक्षेत्र में भी उसने स्थूल शरीर, उसके गुण धर्म, सूक्ष्मशरीर, उसके गुण धर्म, चैतन्य और इन सबके निर्दोष, स्वस्थ, पुष्ट, उज्ज्वल, समृद्ध तथा सर्वाङ्गसम्पूर्ण रूपो पर विचार किया है। ध्वनिवादी आचार्यों की भूमिका सहृदय की भूमिका है, जिसमें काव्य और कवि दोनो के पक्ष कुछ अपेक्षित और कुछ अनपेक्षित रूप में समाविष्ट हैं। यही कारण है कि समालोचक आनन्दवर्धन को भारतीय साहित्यशास्त्र के ऐतिहासिक कालविभाजन का मानक बिन्दु मानते हैं। तदनुसार भामह तक का समय भारतीय काव्यशास्त्र का प्रारम्भिक काल है और आनन्दवर्धन तक का समय रचनाकाल। इसका अर्थ यह हुआ कि आनन्दवर्धन रचनाकाल की अन्तिम कडी है। परवर्त्ती समय को भारतीय साहित्य-शास्त्र का निर्णयकाल कहा गया है। वस्तुत है यह व्याख्याकाल।

प्रस्तुत ग्रन्थ के द्वारा हमने सस्कृत में लिखे गए भारतीय साहित्यशास्त्र के रचनाकाल के अन्तिम आचार्य आनन्दवर्धन के सिद्धान्तो को उनके शुद्ध रूप में

---

१ प० बलदेव उपाध्याय-कृत भारतीय साहित्यशास्त्र भाग–२, पृष्ठ–१३२

उपस्थित करने का यत्न किया है। उनकी आलोचना इस ग्रन्थ का विषय नहीं है। आधुनिक मस्तिष्क से हमे आशा है कि यह अपनी निराग्रह और शुद्ध बुद्धि को तर्क के सहृदयतापूर्ण पथ से इस दिशा मे आगे बढ़ाएगा और अपने अपने निष्कर्ष प्रस्तुत करता रहेगा। अन्त में 'ध्वनिसार' नाम से ध्वन्यालोक का सार-संक्षेप प्रस्तुत करने के पूर्व हमारी विनति है—

आनन्दवर्धनवचस्सु निविष्टधीभि-
र्योऽस्माभिरत्र निहितः श्रमलेश एषः।
एनं विदन्तु सुधियो ध्वनिविश्वनाथ-
प्राचीनमन्दिर-पुरोहित-धुण्डिराजम्[1] ॥

१. अनुवाद : आनन्दवर्धन की पदावली में भलीभांति निविष्टमति होकर हमने जो लघुकाय श्रम इस ग्रन्थ में प्रस्तुत किया है इसे सुधीजन ध्वनि-रूपी काशी-विश्वनाथ के दर्शन हेतु उनके प्राचीन मन्दिर का पुरोहित ढुण्ढिराज गणपति समझें।

व्यञ्जना : काशी में विश्वनाथजी के दर्शन के लिए पहले धुण्डिराज गणेश की शरण में जाना होता है। ध्वनि का प्राचीन मन्दिर = ध्वन्यालोक। विश्वनाथजी के प्राचीनतर मन्दिर नष्ट, प्राचीनतर ध्वनि ग्रन्थ भी नष्ट। विश्वनाथजी का नवीन मन्दिर विरक्त स्वामी करपात्री जी की कृति, ध्वनि का नवीन मन्दिर = लोचन विरक्त अभिनव-गुप्त की कृति। विश्वनाथजी का नवीनतर मन्दिर बिरलाजी की कृति, ध्वनि का नवीनतर ग्रन्थ = काव्यप्रकाश मम्मट की कृति।

ध्वनिसार

प्रथम उद्योत

[११२]

अर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मा यो व्यवस्थितः ।
वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ ॥ १ ॥

जो सहृदयश्लाघ्य अर्थ काव्यात्मा ठहराया गया है उसके दो भेद होते हैं [१] वाच्य तथा [२] प्रतीयमान ॥ १ ॥

[११३]

तत्र वाच्यः प्रसिद्धो यः प्रकारैरुपमादिभिः ।
बहुधा व्याकृतः सोऽन्यैः काव्यलक्ष्मविधायिभिः[१] ॥ २ ॥

इन दोनों में जो वाच्य अर्थ है वह [दूसरे शास्त्रों में भी] प्रसिद्ध है [और] उसका विश्लेषण अन्य काव्यशास्त्रियों ने [भी] उपमा आदि के रूपों में अनेक प्रकार से कर रखा है ॥ २ ॥

[११४]

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव
वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् ।
यत् तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं
विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ॥ ३ ॥

---

१ [क] अभिनवगुप्त ने 'काव्यलक्ष्मविधायिभिः' इस अंश को वृत्ति का अंश माना है और 'ततो नेह प्रतन्यते' को इसके स्थान पर मूल स्वीकार किया है। कारिका का सान्दर्भिक प्रवाह 'काव्य०' अंश में ही जमता है।

[ख] 'व्याकृत' से व्याकरणशास्त्र आदि का संकेत मिलता है और प्रसिद्ध शब्द से भी। अतः हमने 'भी' के द्वारा दूसरा अर्थ भी दे दिया है। अभिनवगुप्त इस कारिका पर अनावश्यक रूप से मितभाषी बने हुए हैं।

किन्तु जो प्रतीयमान अर्थ है वह महाकवियों की वाणिओं में प्रसिद्ध[1] अवयवों से उसी प्रकार भिन्न, पृथक् ही तत्त्व है जिस प्रकार सुन्दरियों में लावण्य ॥ ३ ॥

[१।५]

काव्यास्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः ॥ ४ ॥

यही [प्रतीयमान] अर्थ है 'काव्य की आत्मा'। उदाहरणार्थ स्मरण कीजिए [रामायण के आरम्भ में ही] क्रौञ्चमिथुन के वियोग से आदिकवि में जागा शोक ही श्लोकरूप में व्यक्त हुआ है ॥ ४ ॥

[१।९]

आलोकार्थी यथा दीपशिखायां यत्नवान् जनः।
तदुपायतया, तद्वदर्थे वाच्ये तदादृतः ॥ ५ ॥

वाच्य अर्थ कारण है और प्रतीयमान फल, ठीक वैसे ही जैसे दीपशिखा और आलोक। जैसे आलोकार्थी दीपशिखा को अपनाता है वैसे ही प्रतीयमान अर्थ का प्रेमी वाच्य अर्थ को ॥ ५ ॥

[१।१३]

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ॥ ६ ॥

उस विशिष्ट काव्य को विद्वानों ने 'ध्वनि' इस नाम से पुकारा है जिसमें शब्द हो या अर्थ, दोनों अप्रधान बनकर उसी प्रतीयमान अर्थ को व्यञ्जना द्वारा प्रस्तुत किया करते हैं ॥ ६ ॥

[१।१४]

भक्त्या बिभर्ति नैकत्वं रूपभेदादयं ध्वनिः।
अतिव्याप्तेरथाव्याप्तेर्न चासौ लक्ष्यते तया ॥ ७ ॥

यह ध्वनि [एक काव्य है, अतः] भक्ति[2] [लक्षणा या गुणवृत्ति

---

१. प्रसिद्ध=विख्यात तथा अलंकृत। ये दोनों अर्थ 'तत्र वाच्यः' कारिका में आए प्रसिद्ध शब्द से भी निकाले जा सकते हैं।

२. [क] जिस प्रकार काव्य को ध्वनिकाव्य कहा जाता है इस प्रकार भक्तिकाव्य कहने का प्रचलन नहीं है। इस कारण हमने भक्तिशब्द →

नामक शब्दव्यापार] से अभिन्न नही है, क्योंकि दोनो के स्वरूपो मे अन्तर है [ध्वनि धर्मी और भक्ति धर्म] और [धर्म होने पर भी] ऐसा भी नहीं है कि ध्वनि के सभी स्थलो में भक्ति रहती ही हो। वह उस काव्य में भी रहती है जो ध्वनि नही होता ॥ ७ ॥

[१।१८]

वाचकत्वाश्रयेणैव गुणवृत्तिर्व्यवस्थिता ।
व्यञ्जकत्वैकमूलस्य ध्वने स्याल्लक्षण कथम्[1] ॥ ८ ॥
कस्यचिद् ध्वनिभेदस्य सा तु स्यादुपलक्षणम् ॥

भक्ति सदा अभिधा पर निर्भर रहती है जबकि ध्वनि [काव्य] व्यञ्जना पर, अत भक्ति को ध्वनि [काव्य] का लक्षण कैसे कहा जा सकता है ॥ ८ ॥ हाँ वह ध्वनि [काव्य] के किसी भेद की परिचायिका या निशानी [उपलक्षण] भर बन सकती है ॥ ९ ॥

इति प्रथम उद्योत

→ का धर्मी-परक नही माना। यह व्याख्या हमारी स्वचिन्तित व्याख्या है।

[ख] अतिव्याप्ति अलक्ष्य में लक्षण का लागू होना, जैसे 'खुर से युक्त होना गो का लक्षण'। खुर अन्य पशुओ में भी होते है।
अव्याप्ति लक्ष्य के एक अश में लक्षण का लागू न होना, जैसे 'पीलापन गो का लक्षण'। यह सफेद गाय में लागू नही होता। इन दोनों का अनुवाद हमने अतीव व्यावहारिक किया है।

१ किन्ही व्याख्याकारों ने इस कारिका के ध्वनिशब्द को व्यापारपरक माना है।

द्वितीय उद्योतः

[२।१]

अर्थान्तरे संक्रमितमत्यन्तं वा तिरस्कृतम् ।
अविवक्षितवाच्यस्य ध्वनेर्वाच्यं द्विधा स्थितम् ॥ १ ॥

[इस ध्वनि के दो भेद होते हैं अविवक्षितवाच्य तथा विवक्षितवाच्य इनमे से] अविवक्षितवाच्य ध्वनि [जिसमे वाच्य अर्थ अपने मूल रूप, मे प्रतिपाद्य नही रहता उस] का वाच्य अर्थ या तो अर्थान्तर [दूसरे अर्थ] मे संक्रमित रहता है या अत्यन्त तिरस्कृत ॥ १ ॥

[२।२]

असंलक्ष्यक्रमोद्योतः क्रमेण द्योतितः परः ।
विवक्षिताभिधेयस्य ध्वनेरात्मा द्विधा मतः ॥ २ ॥

विवक्षितवाच्य ध्वनि में व्यन्यमान अर्थ दो प्रकार का हुआ करता है, क्योंकि उसके ज्ञान में कहीं क्रम का ज्ञान होता है कहीं नहीं । [प्रथम को असंलक्ष्यक्रम कहेंगे और द्वितीय को क्रमद्योत या अनुरणनोपम]॥२॥

[२।३]

रस - भाव - तदाभास - तत्प्रशान्त्यादि - रक्रमः ।
ध्वनेरात्माङ्गिभावेन भासमानो व्यवस्थितः ॥ ३ ॥

असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य होते हैं रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भाव-शान्ति आदि । यदि ये प्रधान रूप से व्यङ्ग्य हों तो ध्वनि कहलाते हैं ॥ ३ ॥

[२।५]

प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्गं तु रसादयः ।
काव्ये तस्मिन्नलङ्कारो रसादिरिति मे मतिः ॥ ४ ॥

रस आदि अलङ्कार उस काव्य में होते हैं जिसमें प्रधान हो कोई दूसरी वस्तु और रस आदि हो अप्रधान ॥ ४ ॥

[२।६]

तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः ।
अङ्गाश्रितास्त्वलङ्कारा मन्तव्याः कटकादिवत् ॥ ५ ॥

अङ्गी रूप उस [रस आदि रूप] अर्थ को अपनाकर रहने वाले होते हैं गुण। अलङ्कार इसके विरुद्ध अङ्गों पर आश्रित रहते हैं कटक आदि के समान ॥ ५ ॥

[२।७]

शृङ्गार एव मधुरः परः प्रह्लादनो रसः ।
तन्मयं काव्यमाश्रित्य माधुर्यं प्रतितिष्ठति ॥ ६ ॥

शृङ्गार ही है मधुर, क्योंकि वही है अतीव आह्लादकारी रस। माधुर्य-नामक गुण उसी से युक्त काव्य में प्रतिष्ठा पाता है ॥ ६ ॥

[२।९]

रौद्रादयो रसा दीप्त्या लक्ष्यन्ते काव्यवर्तिनः ।
तद्व्यक्तिहेतू शब्दार्थावाश्रित्यौजो व्यवस्थितम् ॥ ७ ॥

काव्य में रौद्र आदि रस दीप्ति से जान पड़ते हैं। जो शब्द और जो अर्थ उसको व्यक्त करने में सक्षम होते हैं उन्हीं को लेकर ओज नामक गुण की व्यवस्था होती है ॥ ७ ॥

[२।१०]

समर्पकत्वं काव्यस्य यत्तु सर्वरसान् प्रति ।
स प्रसादो गुणो ज्ञेयः सर्वसाधारणक्रियः ॥ ८ ॥

काव्य की जो सर्व-रस-समर्पकता है वह है प्रसाद गुण। वह सर्व-साधारण हुआ करता है ॥ ८ ॥

[२।१६]

रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत् ।
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलङ्कारो ध्वनौ मतः ॥ ९ ॥

ध्वनि काव्य में वही अलङ्कार अलङ्कार होता है जिसकी निष्पत्ति और अनुभूति रस-लीन चित्त से होती हो, जिसके लिए पृथक् यत्न न करना पड़ता हो ॥ ९ ॥

[२।२०]

क्रमेण प्रतिभात्यात्मा योऽस्यानुस्वानसन्निभः।
शब्दार्थ-शक्ति-मूलत्वात् सोऽपि द्वेधा व्यवस्थितः ॥१०॥

ध्वनि-काव्य का जो अर्थ अनुस्वान के समान क्रम से भासित होता है वह भी दो प्रकार का होता है शब्दशक्तिमूलक तथा अर्थशक्तिमूलक ॥ १० ॥

[२।२१]

आक्षिप्त एवालङ्कारः शब्दशक्त्या प्रकाशते।
यस्मिन्ननुक्तः शब्देन शब्दशक्त्युद्भवो हि सः ॥११॥

शब्दशक्ति से अलङ्कार भी व्यङ्ग्य होता है, यदि वह वाचकशब्द से नही कहा गया हो तो वही हो जाता है शब्दशक्तिमूलक ध्वनिकाव्यार्थ ॥ ११ ॥

[२।२२]

अर्थशक्त्युद्भवस्त्वन्यो यत्रार्थः स प्रकाशते।
यस्तात्पर्येण वस्त्वन्यद् व्यनक्त्युक्तिं विना स्वतः ॥१२॥

अर्थशक्तिमूलकध्वनिरूपी काव्यार्थ वह है जिससे कोई वस्तु वाचक शब्द के प्रयोग के विना तात्पर्य रूप से व्यक्त हो ॥ १२ ॥

[२।२५]

अर्थशक्तेरलङ्कारो यत्राप्यन्यः प्रतीयते।
अनुस्वानोपमव्यङ्ग्यः स प्रकारोऽपरो ध्वनेः[1] ॥१३॥

अर्थशक्ति से अलङ्कार की भी व्यञ्जना होती है, और उससे युक्त काव्य का अर्थ भी अनुस्वानोपम ध्वनिकाव्यार्थ होता है ॥ १३ ॥
[इस प्रकार अर्थशक्तिमूलक ध्वनिकाव्यार्थ वस्तुरूप भी होता है और अलङ्कार रूप भी। इनमें से—]

[२।२४]

प्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरः सम्भवी स्वतः।
अर्थोऽपि द्विविधः प्रोक्तो वस्तुनोऽन्यस्य दीपकः ॥१४॥

१-२. इन तीनों कारिकाओं को आनन्दवर्धन ने क्रम से रखा है, किन्तु उनके क्रम में तृतीय कारिका द्वितीय कारिका के रूप में पठित है।

वस्तु[२] का व्यञ्जक अर्थ दो प्रकार का होता है प्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्न [लोकोत्तर या कल्पित] तथा स्वत निष्पन्न [लोकसिद्ध] ॥ १४ ॥

[२।२९]

व्यज्यन्ते वस्तुमात्रेण यदालङ्कृतयस्तदा ।
ध्रुव ध्वन्यङ्गता तासा काव्यवृत्तिस्तदाश्रया ॥१५॥

अलकार जब केवल वस्तु से व्यङ्ग्य होते हैं तब वे निश्चित ही काव्य में ध्वनिकाव्यता के निष्पादक रहते हैं, क्योंकि वहाँ काव्यत्व केवल उन्हो पर निर्भर रहा करता है ॥१५॥

[२।३१]

यत्र प्रतीयमानोऽर्थ प्रम्लिष्टत्वेन भासते ।
वाच्यस्याङ्गतया वापि नास्यासौ गोचरो ध्वने ॥१६॥

प्रतीयमान अर्थ जहाँ अस्फुट[१] होता है या वाच्य अर्थ की निष्पत्ति में साधन रहता है उससे युक्त काव्य ध्वनिकाव्य नहो माना जाता ॥१६॥

इति द्वितीय उद्योत

---

१ प्रम्लिष्ट का अस्फुट अर्थ स्वय वृत्तिकार ने किया है। मम्मट अति अस्फुटता को ध्वनित्व का विरोधी बतलाते हैं।

तृतीय उद्योतः

[३।१]

अविवक्षितवाच्यस्य पदवाक्यप्रकाशता ।
तदन्यस्यानुरणनरूपव्यङ्ग्यस्य च ध्वनेः ॥ १ ॥

काव्य के अविवक्षितवाच्य तथा विवक्षितवाच्य के अनुरणनोपमव्यङ्ग्य नामक भेदों में प्रकाशक हुआ करते हैं पद और वाक्य ॥ १ ॥

[३।१५]

अनुस्वानोपमात्मापि प्रभेदो य उदाहृतः ।
ध्वनेरस्य प्रबन्धेषु भासते सोऽपि केषुचित् ॥ २ ॥

अनुरणनोपमव्यङ्ग्य काव्य के प्रबन्धगुण से द्योतित होता है ॥ २ ॥

[३।२]

यस्त्वलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो ध्वनिर्वर्णपदादिषु ।
वाक्ये संघटनायां च स प्रबन्धेऽपि दीप्यते ॥ ३ ॥

किन्तु, अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि में वर्ण, पदादि, वाक्य तथा संघटना भी प्रकाशक रहते हैं ॥ ३ ॥

[३।१६]

सुप्तिङ्वचनसम्बन्धैस्तथा कारकशक्तिभिः ।
कृत्तद्धितसमासैश्च द्योत्योऽलक्ष्यक्रमः क्वचित् ॥ ४ ॥

अलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य की व्यञ्जना सुप्, तिङ्, वचन, सम्बन्ध, कारक-शक्तियाँ, कृत्, तद्धित तथा समासों से भी होती है ॥ ४ ॥

[३।३३]

रसाद्यनुगुणत्वेन व्यवहारोऽर्थशब्दयोः ।
औचित्यवान् यस्ता एता वृत्तयो द्विविधा मताः ॥ ५ ॥

शब्द और अर्थ का जो रसादि के अनुरूप औचित्यपूर्ण व्यवहार वे ही हैं दो प्रकार की वृत्तियाँ ॥ ५ ॥

[३।३४]

प्रकारोऽन्यो गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्यस्य दृश्यते ।
यत्र व्यङ्ग्यान्वये वाच्यचारुत्व स्यात् प्रकर्षवत् ॥ ६ ॥

काव्य का एक प्रकार वह भी होता है जिसमें व्यङ्ग्य गुणीभूत रहता है क्योंकि उसमें प्रकर्ष रहता है वाच्यगत चारुत्व में। व्यङ्ग्य का सम्बन्ध उस प्रकर्ष में सहायक रहा करता है ॥ ६ ॥

[३।३५]

प्रसन्नगम्भीरपदा काव्यबन्धा सुखावहा ।
ये च तेषु प्रकारोऽयमेव योज्य सुमेधसा ॥ ७ ॥

जो काव्यबन्ध प्रसन्न और गम्भीर पद वाले तथा सुखकारी होते हैं उनमें यही काव्यभेद माना जाना चाहिए ॥ ७ ॥

[३।३६]

वाच्यालङ्कारवर्गोऽयं व्यङ्ग्याशानुगमे सति ।
प्रायेणैव परा छाया बिभ्रल्लक्ष्ये निरीक्ष्यते ॥ ८ ॥

वाच्य अलकार प्राय व्यङ्ग्याश से अधिक सौन्दर्य अर्जित करते हुए दिखाई देते हैं ॥ ८ ॥

[३।३७]

मुख्या महाकविगिरामलङ्कृतिभृतामपि ।
प्रतीयमानच्छायैषा भूषा लज्जेव योषिताम् ॥ ९ ॥

महाकवियो की वाणी की मुख्य भूषा यही प्रतीयमान अर्थ की छाया है, ठीक वैसे ही जैसे ललनाओ की लज्जा, भले ही उनमें अन्य अलङ्कार भी हो ॥ ९ ॥

[३।३९]

प्रभेदस्यास्य विषयो यश्च युक्त्या प्रतीयते ।
विधातव्या सहृदयैर्न तत्र ध्वनियोजना ॥१०॥

इस प्रकार के काव्य का क्षेत्र युक्ति से निश्चित कर लेना चाहिए। ऐसा न हो कि इसके क्षेत्र को ध्वनि का क्षेत्र मान लिया जाए ॥१०॥

[३।४०]

प्रकारोऽय गुणीभूतव्यङ्ग्योऽपि ध्वनिरूपताम् ।
धत्ते रसादितात्पर्यपर्यालोचनया पुन ॥११॥

गुणीभूतव्यङ्ग्य नामक काव्यप्रकार भी ध्वनिरूप ही सिद्ध हो जाता है, यदि उसमें प्राप्य रसांश पर ध्यान दिया जाए ॥११॥

[३।४६]

अस्फुटस्फुरितं काव्यतत्त्वमेतद् यथोदितम् ।
अशक्नुवद्भिर्व्याकर्त्तुं रीतयः संप्रवर्त्तिताः ॥१२॥

यह जो प्रतीयमानरूपी काव्यतत्त्व है, प्राचीन (वामन आदि) आचार्यों को इसका आभासमात्र मिला था, उन्हे इसका पूर्ण ज्ञान नहीं हुआ था। क्योंकि वे इस तत्त्व को ठीक से स्पष्ट नहीं कर सके इसलिए उनने रीतियों की स्थापना की ॥१२॥

[३।४१]

प्रधानगुणभावाभ्यां व्यङ्ग्यस्यैवं व्यवस्थिते- ।
काव्ये उभे, ततोऽन्यद् यत् तच्चित्रमभिधीयते ॥१३॥

इस प्रकार व्यङ्ग्य की प्रधानता और अप्रधानता को लेकर जो दो प्रकार के काव्य बतलाए गए है उनसे भिन्न जो [वाक्य] होता है वह 'चित्र' कहलाता है ॥१३॥

[३।४२]

चित्रं शब्दार्थभेदेन द्विविधं च व्यवस्थितम् ।
तत्र किञ्चिच्छब्दचित्रं वाच्यचित्रमथापरम् ॥१४॥

यह जो चित्र है यह भी शब्द और अर्थ के आधार पर दो प्रकार का होता है। इनमें से एक को शब्दचित्र कहा जा सकता है और दूसरे को वाच्यचित्र [अर्थचित्र] ॥१४॥

[३।४३]

सगुणीभूतव्यङ्ग्यैः सालङ्कारैः सह प्रभेदैः स्वैः ।
सङ्करसंसृष्टिभ्यां पुनरप्युद्योतते बहुधा ॥१५॥

इस ध्वनि को गुणीभूतव्यङ्ग्य अलंकार तथा अपने स्वयं के भेदों से सङ्कर तथा संसृष्टि द्वारा मिलाने पर यह और भी अनेक प्रकार का हो जाता है ॥१५॥

इति तृतीय उद्योतः

●

चतुर्थ उद्योत

[४११]

ध्वनेर्य सगुणीभूतव्यङ्ग्यस्याध्वा प्रदर्शित ।
अनेनानन्त्यमायाति कवीना प्रतिभागुण ॥ १ ॥

गुणीभूतव्यङ्ग्य-सहित ध्वनि का जो पथ हमने बतलाया है इस पर चलने से कवियो का प्रतिभारूपी गुण अनन्तता को प्राप्त होता है ॥१॥

[४१५]

व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावेऽस्मिन् विविधे सम्भवत्यपि ।
रसादिमय एकस्मिन् कवि स्यादवधानवान् ॥ २ ॥

व्यञ्जना अनेक प्रकार की होती है, तथापि कवि को उसके एक ही प्रकार पर अवहित रहना चाहिए। वह प्रकार है रसादि ॥ २ ॥

[४१४]

दृष्टपूर्वा अपि ह्यर्था काव्ये रसपरिग्रहात् ।
सर्वे नवा इवाभान्ति मधुमास इव द्रुमा ॥ ३ ॥

दृष्टपूर्व पदार्थ भी रसपरिग्रह से काव्य में नए-से लगने लगते है मधुमास में द्रुमो के समान ॥ ३ ॥

[४१७]

अवस्थादेशकालादिविशेषैरपि जायते ।
आनन्त्यमेव वाच्यस्य शुद्धस्यापि स्वभावत ॥ ४ ॥

अवस्था, देश, काल आदि की विशेषता के आधार पर स्वभावत शुद्ध वाच्य भी अनन्त प्रकार का हो जाता है ॥ ४ ॥

[४१९]

रस-भावादिसम्बद्धा यथौचित्यानुसारिणी ।
अन्वीयते वस्तुगतिर्देशकालादिभेदिनी ॥ ५ ॥

देश काल आदि के आधार पर भिन्न होते हुए भी वस्तु एक सी ही प्रतीत होती है यदि वह औचित्य से युक्त हो और रस भाव आदि से सम्बद्ध हो ॥ ५ ॥

[४।१०]

वाचस्पतिसहस्राणां सहस्रैरपि यत्नतः ।
निबद्धा सा क्षयं नैति प्रकृतिर्जगतामिव ॥ ६ ॥

सहस्र सहस्र वाचस्पति भी यदि उक्त वस्तु को कविताबद्ध करें तब भी वह समाप्त नहीं होती, जैसे सहस्र सहस्र ब्रह्माण्डों में बँटने पर भी प्रकृति ॥ ६ ॥

[४।११]

संवादास्तु भवन्त्येव बाहुल्येन सुमेधसाम् ।
नैकरूपतया सर्वे ते मन्तव्या विपश्चिता ॥ ७ ॥

जिनकी बुद्धि अच्छी होती है उनमें संवाद तो देखे ही जाते हैं, किन्तु उन्हें एक सा नहीं समझा जाना चाहिए ॥ ७ ॥

[४।१२]

संवादो ह्यन्यसादृश्यं तत् पुनः प्रतिबिम्बवत् ।
आलेख्याकारवत् तुल्यदेहिवच्च शरीरिणाम् ॥ ८ ॥

संवाद का अर्थ है दूसरे का सादृश्य । वह प्रतिबिम्ब, चित्र और आत्मा के समान होता है, अतः तीन प्रकार का होता है ॥ ८ ॥

[४।१३]

तत्र पूर्वमनन्यात्म तुच्छात्म तदनन्तरम् ।
तृतीयं तु प्रसिद्धात्म नान्यसाम्यं त्यजेत् कविः ॥ ९ ॥

इनमें प्रथम [प्रतिबिम्ब तुल्य] संवाद में तात्त्विक नवीनता का सर्वथा अभाव रहता है, द्वितीय में [आलेख्य या चित्रतुल्य] में नवीनता रहती है किन्तु ऊपरी, तात्त्विक नहीं । इन्हें छोड़ते रहना चाहिए । जो तृतीय संवाद है वह शरीर में समान दिखने पर भी आत्मा से सर्वथा नवीन रहता है । उसे कभी नहीं छोड़ना चाहिए ॥ ९ ॥

[४।१५]

अक्षरादिरचनेव योज्यते यत्र वस्तुरचना पुरातनी ।
नूतने स्फुरति काव्यवस्तुनि व्यक्तमेव खलु सा न दुष्यति ॥१०॥

जहाँ अक्षरलिपि के समान पुरानी रचना अपनाई जाती है, किन्तु उसमें वस्तु नवीन होती है उसे कभी सदोष नही कहा जा सकता ॥१०॥

[४।१७]

प्रतायन्ता वाचो निमितविविधार्थामृतरसा
न साद कर्त्तव्य कविभिरनवद्ये स्वविषये।
परस्वादानेच्छाविरतमनसो वस्तु सुकवे
सरस्वत्येवैषा घटयति यथेष्ट भगवती ॥ ११ ॥

कवि को विविध अमृत रसों की सुदर वाणी का प्रतान करते चलना चाहिए और अपने निर्दोष शिल्प में किसी भी प्रकार की ग्लानि नही करनी चाहिए। जब कोई भी सुकवि परकीय काव्यार्थ को ग्रहण करने की इच्छा से विमुख होकर काव्य-निर्माण करने में जुटता है तो स्वय यह भगवती सरस्वती ही अपनी इच्छा के अनुरूप घटना कराती रहती है ॥ ११ ॥

इति चतुर्थ उद्योत

●

पञ्चम उद्योतः

वृत्तिवचनानि

रस :

[क] मुख्या व्यापारविषयाः सुकवीनां रसादयः।
सुकवियों के व्यापार के मुख्य विषय है रस आदि।

(ध्व० पृ० ३६४)

[ख] नीरसस्तु प्रबन्धो यः सोऽपशब्दो महान् कवेः।
स तेनाकविरेव स्यादन्येनास्मृतलक्षणः॥

जो बन्ध नीरस होता है वह कवि का महान् अयश होता है। उसके निर्माण से तो अच्छा है कि वह अकवि ही रहे, जिससे उसकी नाम-रुसाई तो कम से कम न हो। (ध्व० पृ० ३६४)

[ग] पूर्वे विशृङ्खलगिरः कवयः प्राप्तकीर्त्तयः।
तान् समाश्रित्य न त्याज्या नीतिरेषा मनीषिणा॥

यह सोचकर नीतिपथ का त्याग करना उचित नहीं कि वैसा किसी पूर्ववर्त्ती कवि ने किया है। (ध्व० पृ० ३६५)

[घ] अनौचित्यादृते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा॥

अनौचित्य से बड़ा रसभङ्ग का कोई भी कारण नहीं। औचित्य का प्रसिद्ध सन्निवेश ही है रस का परम रहस्य। (ध्व० पृ० ३३०)

अलङ्कार :

[क] रसभावादितात्पर्यमाश्रित्य विनिवेशनम्।
अलङ्कृतीनां सर्वासामलङ्कारत्व-साधनम्॥

अलङ्कारों में अलङ्कारत्व की सिद्धि उनके रस भाव आदि रूप तात्पर्य के अनुरूप किए गए निवेश मे होती है। (ध्व० पृ० १९७)

[ग] रसवन्ति हि वस्तूनि सालङ्काराणि कानिचित् ।
एकेनैव प्रयत्नेन निर्वर्त्यन्ते महाकवेः ।
यमकादिनिबन्धे तु पृथग् यत्नोऽस्य जायते ।
शक्तस्यापि रसेऽङ्गत्वं तस्मादेषां न विद्यते ।
रसाभासाङ्गभावस्तु यमकादेर्न वार्यते ॥

महाकवियों को रस से युक्त वस्तु उसी यत्न से अलङ्कारयुक्त भी होकर सामने आती है। यमक आदि की योजना में कवि को पृथक् यत्न करना पड़ता है, अतः भले ही कवि शक्तिमान् हो तथापि उसके ये अलङ्कार रस के अङ्ग नहीं बन पाते। हाँ उन्हें रसाभास आदि में अङ्ग माना जा सकता है। (ध्व० पृ० २२२)

चित्र

रसभावादितात्पर्यविवक्षाविरहे सति ।
अलङ्कारनिबन्धो यः स चित्रविषयो मतः ॥

चित्र का क्षेत्र वह है जहाँ अलङ्कार की योजना रस, भाव आदि को तात्पर्य के रूप में प्रस्तुत न करके की जाती है। (ध्व० पृ० ४९७)

कवि

[क] अपारे काव्यसंसारे कविरेकः प्रजापतिः ।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते ॥

काव्य के अपार संसार में [ब्रह्मा आदि नहीं, अपितु] एकमात्र कवि ही होता है प्रजापति। उसे जैसा रुचता है यह विश्व वैसा ही परिवर्तित होता रहता है। (ध्व० पृ० ४९८)

[ख] शृङ्गारी चेत् कविः काव्ये जातं रसमयं जगत् ।
स एव वीतरागश्चेन्नीरसं सर्वमेव हि ॥

यदि काव्य में कवि शृङ्गारी हो तो सारा संसार रसमय हो जाता है और यदि वह वीतराग हो तो सबका सब नीरस रह जाता है।
(ध्व० पृ० ४९८)

[ग] अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कवेः ।
यस्त्वशक्तिकृतस्तस्य स झटित्यवभासते ॥

जो दोष अव्युत्पत्ति [ज्ञान की कमी] से आता है वह तो कवि की

शक्ति से छिप जाता है, किन्तु जो अ-शक्ति [शक्तिदारिद्र्य] से आता है वह झटिति प्रतीत हो जाया करता है। (ध्व० पृ० ३१६)

ध्वनिकाव्य :

[क] नित्याक्लिष्टरसाश्रयोचितगुणालङ्कारशोभाभृतो[1]
यस्माद् वस्तु समीहितं सुकविभिः सर्वं समासाद्यते।
काव्याख्येऽखिलसौख्यधाम्नि विविधोद्याने ध्वनिर्दर्शितः
सोऽयं कल्पतरूपमानमहिमा भोग्योऽस्तु भव्यात्मनाम्॥

काव्य सभी सुखों का धाम नन्दनवन है। उसमें ध्वनि है कल्पतरु, जो सदा अक्लिष्टरसाश्रय [अक्लिष्ट रस का आश्रय तथा अकठोर भूमि में उपजा] एवं गुण तथा अलङ्कार की शोभा से समृद्ध रहता है। साथ ही जिससे सुकविजन अपना समस्त अभीष्ट प्राप्त करते हैं। (ध्व० पृ० ५५१)

[ख] प्राप्तपरिणतीनां तु ध्वनिरेव काव्यम्।

प्रौढ़ कवियों का काव्य ध्वनिकाव्य ही होता है। (ध्व० पृ० ४६९)

सहृदय :

[क] वैकटिका एव हि रत्नतत्त्वविदः,
सहृदया एव हि काव्यानां रसज्ञाः।

रत्नपारखी जौहरी ही होते हैं और काव्यों के रसज्ञ सहृदय ही। (ध्व० पृ० ५१९)

[ख] रसज्ञतैव सहृदयत्वम्।

रसज्ञता ही है सहृदयता। (ध्व० पृ० ३५९)

प्रतीयमान अर्थ :

[क] सर्वथा नास्त्येव सहृदयहृदयहारिणः काव्यस्य प्रकारो यत्र न प्रतीयमानार्थसंस्पर्शेन सौभाग्यम्॥

---

१. 'नित्याक्लिष्ट०' के स्थान पर हमने इसके पूर्व 'इत्यक्लिष्ट०' पाठ रखा है। यहाँ मुक्तक पद्य के रूप में स्वीकार करने हेतु 'नित्या'-पाठ अपना रहे हैं।

सहृदय के हृदयो का हरण करने में समर्थ काव्य का कोई भी भेद ऐसा नही होता जिसमे प्रतीयमान अर्थ के स्पर्श का सौभाग्य न हो। (ध्व० पृ० ४७५)

[ख] न सर्वत्र ध्वनिरागिणा भवितव्यम्।
सभी जगह ध्वनि ही ध्वनि नही देखना चाहिए। (ध्व० ४८१)

रस

[क] रसवन्ध एव कवे प्राधान्येन प्रवृत्तिनिवन्धन युक्तम्।
कवि की प्रवृत्ति मुख्यत रसानुरूप बन्धयोजना में होनी चाहिए। (ध्व० पृ० ३६३)

[ख] कविना काव्यमुपनिवध्नता सर्वात्मना रसपरतन्त्रेण भवितव्यम्।
काव्यनिर्माण के समय कवि को चाहिए कि वह सर्वथा रसपरतन्त्र रहे। (ध्व० पृ० ३३६)

[ग] चित्तवृत्तिविशेपा हि रसादय।
रस आदि चित्तवृत्तिविशेपरूप होते हैं। (ध्व० पृ० ४९५)

शृङ्गार

[क] शृङ्गार एव रसान्तरापेक्षया मधुर, प्रह्लादनहेतुत्वात्।
अन्य रसो से शृङ्गार अधिक मधुर होता है, क्योकि वह प्रह्लादन का हेतु होता है। (ध्व० पृ० २०७)

[ख] शृङ्गाररसो हि ससारिणा नियमेनानुभवविपयत्वात् सर्वरसेभ्य कमनीयतया प्रधानभूत ॥
शृङ्गार रस ससार में सभी प्राणियो के अनुभव में आता है, अत अधिक कमनीय होता और अन्य रसो की अपेक्षा प्रधान हुआ करता है। (ध्व० पृ० ३९७)

[ग] शृङ्गाररसाङ्गैरुन्मुखीकृता सन्तो हि विनेया सुख विनयोपदेशान् गृह्णन्ति।
शृङ्गार रस के अङ्गो से उन्मुख सामाजिक सुखपूर्वक उपदेश का ग्रहण कर लेते हैं। (ध्व० पृ० ३९८)

उक्ति :

उक्तिर्हि वाच्यविशेषप्रतिपादि वचनम् ।

उक्ति जो है सो, वाच्यविशेष का प्रतिपादक वचन ही है।

(ध्व० पृ० ५४२)

प्रसादगुण :

सर्वत्र प्रसादोऽनुवर्त्तितव्यः ।

प्रसादगुण सर्वत्र अपनाए रहना चाहिए । (ध्व० पृ० ३२२)

अलङ्कार :

अनन्ता हि वाग्विकल्पास्तत्प्रकारा एव चालङ्काराः ।

वाग्विकल्प अनन्त होते हैं । अलङ्कार भी उन्हीं के भेद हैं ।

(ध्व० पृ० ४७३)

इति पञ्चम उद्योतः

ध्वन्यालोक - हविर्धानीस्तनोद्योत - चतुष्टयीम् ।
अदुग्ध ध्वनितारास्यमिदं दुग्धं 'सनातनः'[1] ॥

•

---

१. हविर्धानी = कामधेनु, सनातन = हमारा उपनाम ।

परिशिष्ट

नामसंक्षेप

हमने सन्दर्भग्रन्थों तथा लेखकों के नाम प्राय पूरे-पूरे दिए हैं, किन्तु यत्र तत्र उन्हें उनके संक्षिप्त रूपों में भी लिख दिया है। ये संक्षिप्त रूप निम्नलिखित हैं—

पूर्ण नाम	संक्षिप्त नाम
अभिज्ञानशाकुन्तल	शाकुन्तल
अभिनवभारती	अभि० भा० या अ० भा०
ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी	ई० प्र० वि०
ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी	ई० प्र० वि० वि०
डॉ० कान्तिचन्द्र पाण्डेय	डॉ० का० च० पाण्डेय
काव्यादर्श	काव्याद०
काव्यालङ्कारसारसङ्ग्रह	का० सा० स० या का० स०
चौखम्बासंस्कृतग्रन्थमाला	चौ० स० ग्र०
ध्वन्यालोक	ध्वन्या० या ध्व०
ध्वन्यालोकलोचन	ध्व० लोचन या लोचन
नाट्यशास्त्र	ना० शा०
निर्णयसागरप्रेस	नि० सा० प्रे०
निर्णयसागरसंस्करण	नि० सा० स०
पृष्ठ	पृ०

ग्रन्थ एवं ग्रन्थकार

ग्रन्थ

शास्त्रीयग्रन्थ	प्रकाशक	
अभिधावृत्तिमातृका	निर्णयसागरप्रेस	बम्बई
अभिनवगुप्त (अंग्रेजी)	चौखम्बासंस्कृतग्रन्थमाला	वाराणसी
अभिनवभारती १–४ भाग	ओरियण्टल इंस्टीटच्यूट	बड़ौदा
अलङ्कारसर्वस्व	चौखम्बा सं० ग्र० आदि	वाराणसी
अलङ्कारविमर्शिनी	चौखम्बा सं० ग्र०	वाराणसी
अवलोक (दशरूपकटीका)	नि० सा० प्रे०	बम्बई
अष्टाध्यायी	चौ० सं० ग्र०	वाराणसी
ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी	कश्मीरसंस्कृतग्रन्थमाला	श्रीनगर
ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी	क० सं० ग्र०	श्रीनगर
औचित्यविचारचर्चा	नि० सा० प्रे०	बम्बई
कालिदासभारती	सागरिका	सागर
काव्यप्रकाश	भण्डारकरप्राच्यविद्याप्रतिष्ठान	पूना
काव्यप्रकाशसंकेत	Poetic light भाग-२ परिशिष्ट मोतीलाल बनारसीदास	वाराणसी
काव्यप्रदीप	नि० सा० प्रे०	बम्बई
काव्यप्रदीपप्रभा	नि० सा० प्रे०	बम्बई
काव्यमीमांसा	ओ० इं०	बड़ौदा
काव्यानुशासन	नि० सा० प्रे०	बम्बई
काव्यानुशासनविवृति	नि० सा० प्रे०	बम्बई
काव्यालङ्कार	चौ० सं० ग्र०	वाराणसी

ग्रन्थ	प्रकाशक	स्थान
	भ० प्रा० वि० प्र०	पूना
काव्यालङ्कारसारसग्रह	हिन्दीसाहित्यसम्मेलन	प्रयाग
	हि० सा० स०	प्रयाग
काव्यालङ्कारसारसग्रह लघुविवृति	नि० सा० प्रे०	बम्बई
काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति	चौ० स० ग्र०	वाराणसी
	कुप्पूस्वामी शोधसस्थान	मद्रास
कौमुदी [लोचनटीका]	नि० सा० प्रे०	बम्बई
दशरूपक	नि० सा० प्रे०	बम्बई
दशरूपकटीका [अवलोक]	चौ० स० ग्र० लोचन	वाराणसी
ध्वन्यालोक		वि० स० १९९७
	चौ० स० ग्र० दीधिति	वाराणसी
	चौ० स० ग्र०	वाराणसी
		सन् १९६५
	गौतमबुकडिपो (विश्वेश्वर)	दिल्ली
	के० एल० मुखोपाध्याय	कलकत्ता
	काशी हिन्दू विश्वविद्यालय	वाराणसी
	नि० सा० प्रे०	बम्बई
	कुप्पूस्वामी शोध सस्थान	मद्रास
	चौ० स० ग्र०	वि० स० १९९७
ध्वन्यालोकलोचन		सन् १९६५
	नि० सा० प्रे०	बम्बई
	का० हि० वि० वि०	वाराणसी
	कु० स्वा० शो० स०	मद्रास
	ओ० इ०	बड़ौदा
नाट्यशास्त्र १–४	काशी प्र० जा० शोधसस्थान	पटना
न्यायबिन्दु	क० स० ग्र०	श्रीनगर
परात्रिंशिकाटीका	चौ० स० ग्र०	वाराणसी
बालप्रिया (लोचनटीका)	नन्दकिशोर एण्ड सन्स	वाराणसी
भारतीयसाहित्यशास्त्र १–२ भाग	डॉ० राघवन्	मद्रास
भोजाज् शृङ्गारप्रकाश		
मम्मटाभिमत लक्षणाया षड्विधत्व	सागरिका	सागर
हेत्वलङ्कारश्च	नि० सा० प्रे०	बम्बई
मन्दारमरन्दचम्पू		

रसगङ्गाधर	नि० सा० प्रे० संस्करण-६	बम्बई
वक्रोक्तिजीवित	चौ० सं० ग्र०	वाराणसी
वाक्यपदीय	भ० प्रा० वि० प्र०	पूना
व्यक्तिविवेक	चौ० सं० ग्र०	वाराणसी
व्यक्तिविवेकव्याख्यान	चौ० सं० ग्र०	वाराणसी
शृङ्गारप्रकाश	ज्योशेर	मैसूर
श्रीतन्त्रालोक	क० सं० ग्र०	श्रीनगर
श्रीमद्भगवद्गीतार्थसंग्रह	श्रीलक्ष्मण ब्रह्मचारी	श्रीनगर
संस्कृतसाहित्य का इतिहास (पोद्दार)	नागरीप्रचारिणी सभा	वाराणसी
सरस्वतीकण्ठाभरण	नि० सा० प्रे०	बम्बई
सांख्यकारिका	चौ० सं० ग्र०	वाराणसी
साहित्यतत्त्वविमर्श	सागरिका	सागर
साहित्यदर्पण	नि० सा० प्रे०	बम्बई
साहित्यदर्शने तात्पर्यस्वरूपम्	सारस्वती सुषमा	वाराणसी
साहित्यसन्दर्भाः	सागरिका	सागर
स्वतन्त्रकलाशास्त्र	चौ० सं० ग्र०	वाराणसी
हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोयटिक्स (काणे)	१९५१ संस्करण	बम्बई
हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोयटिक्स (डे)	के० एल० मुखोपाध्याय	कलकत्ता

काव्यग्रन्थ

अथर्ववेद	सातवलेकर संस्थान	पारडी
अभिज्ञानशाकुन्तल	नि० सा० प्रे०	बम्बई
ऋग्वेद	सातवलेकर संस्थान	पारडी
ऋग्वेदभाष्यभूमिका	चौ० सं० ग्र०	वाराणसी
कर्पूरमञ्जरी	नि० सा० प्रे०	बम्बई
किरातार्जुनीय	शारदाग्रन्थमाला	वाराणसी
कुमारसंभव	नि० सा० प्रे०	बम्बई
देवीशतक	नि० सा० प्रे०	बम्बई
प्रस्थानभेद	नि० सा० प्रे०	बम्बई
महाभारत	गीताप्रेस	गोरखपुर
महिम्नस्तोत्र	नि० सा० प्रे०	बम्बई
मीमांसासूत्र	अच्युतग्रन्थमाला	वाराणसी

मेघदूत	साहित्य अकादमी आदि	दिल्ली
रघुवंश	नि० सा० प्रे०	बम्बई
राजतरङ्गिणी	पण्डितपुस्तकालय	वाराणसी
रामायण	मइलापुर	मद्रास
विक्रमोर्वशीय	नि० सा० प्रे०	बम्बई
शतपथब्राह्मण	अच्युतग्रन्थमाला	वाराणसी
शिशुपालवध	नि० सा० प्रे०	बम्बई
सीताचरितम्	संस्कृतपरिषद्	सागर वि० वि०
स्तुतिकुसुमाञ्जलि		वाराणसी

●

ग्रन्थकार

अभिनवगुप्त	लोचन अभिनवभारती आदि
आनन्दवर्धन	ध्वन्यालोक, देवीशतक
ईश्वरकृष्ण	साङ्ख्यकारिका
उत्तुङ्गोदय	कौमुदी
उद्भट	काव्यालङ्कारसारसंग्रह
कल्हण	राजतरङ्गिणी
काणे [पाण्डुरङ्ग दा० काणे]	हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोयटिक्स सन् १९५१
कान्तिचन्द्र पाण्डेय	अभिनवगुप्त [अंग्रेजी] आदि
कालिदास	रघुवंश आदि
कुन्तक	वक्रोक्तिजीवित
क्षेमेन्द्र	औचित्यविचारचर्चा
गोविन्दठक्कुर	काव्यप्रदीप [काव्यप्रकाशटीका]
जगन्नाथ पण्डितराज	रसगङ्गाधर
जयरथ	अलङ्कारविमर्शिनी
जैमिनि	मीमांसासूत्र
त्रिपुरहरभूपाल [तिप्पभूपाल]	काव्यालङ्कारकामधेनु
दण्डी	काव्यादर्श
धनञ्जय	दशरूपक
धनिक	दशरूपकावलोक
पाणिनि	अष्टाध्यायी
पिपारोडि	बालप्रिया
पुष्पदन्त	महिम्नस्तोत्र
प्रतीहारेन्दुराज	काव्यालङ्कारसारलघुविवृति
बलदेव उपाध्याय	भारतीयसाहित्यशास्त्र

भरतमुनि	नाट्यशास्त्रम्
भर्तृहरि	वाक्यपदीयम्
भवभूति	उत्तररामचरितम्
भामह	काव्यालङ्कार
भोजदेव	सरस्वतीकण्ठाभरण आदि
भट्ट	व्यक्तिविवेकव्याख्यान आदि
मधुसूदन सरस्वती	प्रस्थानभेद
मम्मट	काव्यप्रकाश
महिमभट्ट	व्यक्तिविवेक
मुकुलभट्ट	अभिधावृत्तिमातृका
राघवन्	भोजाज् शृङ्गारप्रकाश [अंग्रेजी]
राजशेखर	काव्यमीमांसा
रामजीउपाध्याय	सागरिका आदि
रुय्यक	अलङ्कारसर्वस्व
रेवाप्रसाद द्विवेदी	सीताचरित आदि
वामन	काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति
वाल्मीकि	रामायण
विश्वनाथ	साहित्यदर्पण
व्यासदेव	महाभारत
श्रीकृष्णकवि	मन्दारमरन्दचम्पू
श्रीहर्ष	नैषधीयचरित
सायण	ऋग्वेदभाष्यभूमिका
सुशीलकुमार डे	हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोयटिक्स
हेमचन्द्र	काव्यानुशासन

पारिभाषिक पदावली

[अध्याय निर्देश सहित]